भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत

आधुनिक परिवहन

(MODERN TRANSPORT

[भारतीय विश्वविद्यालयों की एम० ए० एवं एम० ए
के हेतु एक सर्वांगपूर्ण, विस्तृत एवं प्रामाणिक ग्र

लेखक
डॉ० शिवध्यानसिंह चौहान
एम० कॉम०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग,
...नवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा

विषय-सूची

प्रथम पुस्तक—सामान्य (General)

चतुर्थ—पुस्तक जल परिवहन (Water Transport)

पंचम पुस्तक—विमान परिवहन (Air Transport)

१.

परिवहन का उद्भव

(Evolution of Transport)

परिवहन की परिभाषा

परिवहन शब्द संस्कृत की 'वह्' धातु से बना है जिसका अर्थ खींचकर अथवा सिर या कंधे पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना है। हिन्दी में 'वह्' का 'वहन' हुआ और उसमें 'परि' उपसर्ग लगाकर 'परिवहन' शब्द उक्त विशेष अर्थ । का सूचक समझा गया। 'भार वहन करना', 'रथ वहन करना', 'कंधे या सिर प । लेना' अथवा 'उठाना' इत्यादि अर्थों में भी इसका प्रयोग होता है। अंग्रेजी में इसके पर्यायवाची शब्द ट्रान्सपोर्ट (Transport) है जिसका अर्थ है (ट्रान्स=पार+पोर्ट ≈ =ले जाना) पार ले जाना अथवा केवल ले जाना मात्र है। इसका प्रयोग मनुष्य माल और विचारों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए बहुधा ... जाता है। अपने आधुनिक अर्थ में परिवहन शब्द का प्रयोग सारे परिवहन ... (Organization) और उस तन्त्र द्वारा की जाने वाली सेवा के लिये हो... परिवहन का प्रधान उद्देश्य मनुष्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ... ले जाना और पदार्थों अथवा माल को उस स्थान से, जहाँ उनका उत्पादन ... जहाँ वे बनते हैं अथवा जहाँ पर उनको रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगी ... जाता है, उस स्थान को ले जाना है जहाँ उपयोग के लिए उनकी आवश्य... बहुधा कम सीमान्त उपयोगिता वाले क्षेत्रों से माल और वस्तुएँ अधिक..., उपयोगिता वाले क्षेत्रों को ले जाई जाती है। परिवहन के मुख्य साधन ... नदी, नहर, समुद्र और वायु हैं। ... में ... वों

आधुनिक परिवहन से तात्पर्य शीघ्रगामी और सस्ते साधनों ... मोटर, जहाज व विमान ऐसे ही शीघ्रगामी एवं सस्ते साधन हैं। रेल, ... का चालित जहाज एवं विमान के आगमन से पूर्व ढुलाई का काम अत्यन्त ... हवी यात्रा दूभर थी। प्राचीन साधन मानव अथवा पशु-शक्ति का प्रयोग क... ट पर चाल अत्यन्त धीमी होती थी; ढलाई में समय अधिक लगता था, ... वहन का प्रयो होता था। आधुनिक परिवहन के साधन भाप, तेल अथवा बिज... स्तियाँ इसे नदियों प्रयोग करते हैं; उनकी चाल और भार-क्षमता अधिक होती है; उ... हन के लिये प्रयोग बहुत प्रयत्न करना

क्रिया कम समय मे पूरी की जा सकती है; ढुलाई-व्यय अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। इस भाँति आधुनिक परिवहन के दो मुख्य गुण उनकी **अधिक चाल और** उनका **सस्तापन है**। आधुनिक उद्योगो की भाँति आधुनिक परिवहन के साधनों का संगठन व आकार भी बडा होता है जिनमे प्रारम्भिक पूँजी की मात्रा अधिक होती है। इनका मुख्य उद्देश्य ढुलाई की क्रिया को सस्ता, नियमित, सुरक्षित, विश्वसनीय एवं सुविधाजनक बना ना है। आज माल अथवा मनुष्यो को निश्चित समय मे, निश्चित व्यय से, निश्चित स्थान पर ले जाया जा सकता है।

परिवहन के अंग (Elements of Transport)

प्रत्येक परिवहन के साधन के **तीन मुख्य अंग** होते हैं: (अ) **पथ** (अथवा मार्ग), (आ) **वाहन** (अथवा गाडी) और (इ) **चालक शक्ति**। कभी-कभी **सीमान्त स्थान (Terminal) अर्थात् अन्तिम स्थान** को एक चौथा अंग समझा जाता है, किन्तु यह प्रत्येक परिवहन के साधन के लिए महत्वपूर्ण नही है। साधारणत: ये अवयव प्रत्येक साधन मे एक दूसरे से भिन्न रहते है किन्तु कुछ साधन ऐसे है जो द्वितीय और तृतीय अवयवो को एकत्र करके प्रयोग करते हैं।

परिवहन के उद्भव एवं विकास का इतिहास इन्ही आवश्यक अवयवो के उद्भव और विकास का इतिहास है। अतएव इनमे से प्रत्येक का वर्णन प्रसंग से ...हर नही समझा जा सकता।

पथ (Way)—किसी भी परिवहन के साधन के संचालन के लिये मार्ग आवश्यक है। पथ अथवा मार्ग पर ही विविध प्रकार की गाडियाँ और यान ... है। रेल की अनुपस्थिति मे रेलगाडी, जल की अनुपस्थिति मे जलयान अथवा ...के अभाव मे विमान चलना सम्भव नही है। पथ उतना ही प्राचीन है जितना कि ...। ज्योही मनुष्य ने चलना सीखा, उसे पथ की आवश्यकता प्रतीत हुई। **कविवर** ...शरण **गुप्त** के शब्दो मे 'पाए बिना पथ पहुँच सकता कौन इष्ट स्थान मे'।

पथ दो प्रकार का होता है: (क) प्राकृतिक जैसे समुद्र, नदी और वायु, तथा ...त्रिम जैसे नहर और रेल। प्राकृतिक मार्ग को कृत्रिम प्रयत्नो द्वारा सुधारा भी ...ा है। उदाहरणार्थ, प्राकृतिक बन्दर (Harbour) को कृत्रिम दीवारो ...vaters) द्वारा सुरक्षित बनाना अथवा भूमि-पथ को समतल धरातल और सडक मे परिवर्तित करना।

...नुष्य-जीवन का आविर्भाव आखेटावस्था मे हुआ है। भारत का आदि ...युगीय मनुष्य था। वह वृक्षो के नीचे और प्राकृतिक गह्वरो में ...। उसके आहार शिकार किये हुए बनैले जानवरो का माँस और प्रकृति ... कन्द, मूल, फल आदि थे। उसके हथियार पत्थर, हड्डी और लकडी के ...गमन अपने ठिकानो अथवा गुफाओ से नदियो, झरनो अथवा ...कडी की खोज मे) निकटवर्ती वनो तक ही सीमित था। पथ का ... इन जंगलो से जाने वाली **पगडंडियाँ** मात्र थी जो इन मनुष्यों और

वन-पशुओं के पद संघर्ष से बन गई थी अथवा जिनसे जंगल काट कर साफ कर दिये गये थे।

उत्तर प्रस्तर-युग में मनुष्य घास-फूस की झोंपड़ियां बना कर रहने लगा तथा शिकार के अतिरिक्त मछली मारना, पशु पालन और कृषि-कर्म भी सीख गया। वह पत्ते, वल्कल और पशु चर्म आदि के वस्त्र भी धारण करने लगा। इस भांति उसकी आवश्यकतायें बढ़ीं और साथ ही उसके आवागमन का क्षेत्र भी बढ़ा। अतएव उसने अपनी पगडंडियों को समतल और सुविधाजनक मार्गों में परिवर्तित करना प्रारम्भ किया। अब तक वह अपने हथियार आखेट भोज्य पदार्थ इत्यादि स्वयं अपनी पीठ, कंधे अथवा सिर पर रखकर ले जाता था। अब वह अपने पालतू पशुओं की पीठ पर लादकर ले जाने लगा। उसका गमनागमन-क्षेत्र भी विस्तृत होगया। कालान्तर में वह वस्तु विनिमय भी करने लगा। प्रारम्भ में यह व्यापार स्थानीय रहा होगा किन्तु फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। मार्गों में जीव-जन्तुओं अथवा चोर-डाकुओं के भय की आशंका सदैव बना रहती थी। अतएव व्यापारीगण इकट्ठे होकर झुण्ड बनाकर चला करते थे। इन झुण्डों को सार्थवाह (कारवां) कहा जाता था। बैलों घोड़ों गधों ऊंटों कुत्तों तथा अन्य पशुओं की पीठ पर लादकर माल ले जाते थे जिनकी संख्या कभी-कभी पांच हजार तक होती थी। अरब के इतिहास में ६०,००० ऊँटों के महान कारवां का उल्लेख मिलता है जिसने दमिश्क से मक्का तक यात्रा की थी। कारवां-मार्गों का साधारण मार्गों से चौड़े होना स्वाभाविक था। दूरवर्ती यात्रा के लिये मार्गों के निकट अनेक प्रकार की सुख सुविधायें जुटाने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई।

चित्र १—कारवां

किन्तु जैसे जैसे मनुष्य सभ्य होता गया वैसे-वैसे उसे नदियों के तट पर सुविधाजनक प्रतीत हुआ क्योंकि नदियां उसे जल देने के अतिरिक्त परिवहन का प्राकृतिक मार्ग भी प्रदान करती थीं। यही कारण है कि अति प्राचीन बस्तियां हमें नदियों के तट पर स्थित मिलती हैं। अब मनुष्य नदी के प्रवाह को परिवहन के लिये प्रयोग में लाने लगा। थल-मार्ग को उपयोगी बनाने के लिये उसे थोड़ा बहुत प्रयत्न करना

पड़ता था। नदी का प्राकृतिक मार्ग उसे मिल गया जिसमे उसे किसी प्रकार से प्रयत्न और धन-व्यय की आवश्यकता न थी। हाँ, माल लादने के लिए अथवा सवारी बिठाने के लिए बेडे की आवश्यकता अवश्य थी। बेड़ा बनाने से पूर्व उसे 'लकड़ी पानी पर तैरती है' सिद्धान्त का ज्ञान हो चुका था। अतः वह अनेक लकडी के लट्ठों को मजबूत घास से साथ-साथ बाँध कर बेडा बनाने लगा जो पानी पर तैरते चले जाते थे। लकडी के अभाव मे घास-फूस, सरकंडे, नरकट इत्यादि के भी बेड़े बनाए जाते थे। ये जलमार्ग आदिकालीन व्यापारी के लिए बड़े सुविधाजनक थे। किन्तु नदी का मार्ग बहुधा टेढा और घुमावदार होता है जिसके द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने मे अधिक समय और शक्ति का व्यय करना पड़ता है। फलतः मनुष्य ने **कृत्रिम जलमार्ग** बनाने की बात सोची, जिनका प्रवाह सीधा हो और जो मनोवाछित स्थान को ले जाए जा सके, क्योंकि नदी का मार्ग प्राकृतिक होता था जो सभी मनोवाछित क्षेत्रों के लिए मार्ग नही बनाता था। इन कृत्रिम जलमार्गों का बनाना भी भौगोलिक परिस्थितियो पर ही निर्भर था। जहाँ नदियाँ ही नही वहाँ कृत्रिम जलमार्ग बनाने का कोई प्रश्न नही उठता। अतः विवश होकर मनुष्य का ध्यान थलमार्गों को ही अधिक उपयोगी बनाने की ओर गया।

पीठ, कंधे अथवा सिर पर रखकर जितना भार ले जाया जा सकता है उमसे कही अधिक भूमि पर घसीट कर अथवा खीचकर ले जाया जा सकता है। इस युक्ति का ज्ञान होने पर मनुष्य का ध्यान वाहन के उपयोग की ओर गया। प्रारम्भ में वाहन का खीचने वाला मनुष्य स्वयं ही था, किन्तु कालान्तर मे पशु द्वारा वाहन खीचे जाने लगे। पशु-पथ की अपेक्षा वाहन-पथ अधिक चौडा और समतल बनाया जाने लगा। प्रारम्भिक वाहन बिना पहिए का था, किन्तु फिर पहिए का आविष्कार हो गया और मार्ग वाहन के अनुरूप अधिक सुदृढ और सुन्दर बनाया जाने लगा। कालान्तर मे स प्रकार के मार्ग को **महापथ, वणिकपथ, राजमार्ग** अथवा **सड़क** की संज्ञा मिली। मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयो से सिद्ध हो चुका है कि ३२०० ई० पूर्व भारतवासी चौडी[1] और सुन्दर सडकें बनाना जानते थे जिन पर बैलगाडी और रथ से वाहन चलते थे। इन सडको के दोनो ओर पानी के निकास के लिए उत्तम पक्की नालियाँ थी। बहुधा ये सडकें कच्ची होती थी, किन्तु कभी-कभी रेत और कीचड से बचने के लिए ईंट की गिट्टी एवं खपरे बिछा कर उन्हे पक्का भी किया जाता था।

---

1. मोहनजोदडो की मुख्य सडक ३३ फीट चौडी और अन्य सड़कें ९ से १२ फीट चौडी पाई गई है। गलियो की चौडाई ५ से १० फीट तक नापी गई हैं। (Ernest Mackay—Early Indus Civilizations, 1948, p. 19 and Sir Mortimer Wheeler : Indus Civilization Supplement to the Cambridge History of India, p. 36. 1953.)

६०० ई० पूर्व राजा बिम्बिसार द्वारा बनवाई हुई पहाडी सडक के अवशेष पटना जिले मे आज भी मिलते हैं। भारतीय सडक-निर्माण कला का अधिकृत विवरण शुक्रनीति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिलता है। शुक्रनीति के अनुसार उत्तम पुलयुक्त कछुवे की पीठ के तुल्य ढालू, चिकनी और दृढ पक्की सडकें कंकड और कलई (चूना) से कूट कर बनाई जाती थी[2] जिनके बनाने मे राजा अभियुक्तो, कैदियो तथा गाँव के लोगो के श्रम का उपयोग करता था। चौडाई के अनुसार वे राजमार्ग उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट गिने जाते थे जिनकी चौडाई क्रमशः तीस हाथ, बीस हाथ तथा पन्द्रह हाथ होती थी। पुर और ग्रामो के बाजारो की सडकें भी इतनी चौडी अवश्य होनी चाहिये। नगर और गाँवो की अन्य आन्तरिक सडकें दस हाथ, पाँच हाथ अथवा तीन हाथ चौंडी हो सकती थी जिन्हे क्रमश. मार्ग, वीथि अथवा पद्या कहते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी सडको के सम्बन्ध म सुन्दर विवरण मिलता है (देखो अध्याय २०)।

पाश्चात्य देशो मे रोम सडक-निर्माताओ का पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। रोम वालो ने अपने शासनकाल (१५०-७८ ई० पू०) मे ब्रिटेन मे सुन्दर सडके बनाई। मार्ग की सम्पूर्ण बाधाओ को पार करते हुये सीधा मार्ग प्रदान करने के लिए ये सडके अपूर्व हैं। अपनी दृढता के लिए वे सदैव अद्वितीय रही हैं। इनकी चौडाई १४ से १६ फीट तक होती थी। मिट्टी को कूट कर इनका प्रथम परत अर्थात् धरातल (Pavimentum) बनाया जाता था, दूसरा परत बडे पत्थरो और चूने का होता था जिसे स्टेट्यूमेन्टम (Statumentum) कहते थे, तीसरा परत पत्थर के छोटे टुकडो और चूने का होता था। इसके ऊपर चूने, खडिया के चूर्ण अथवा पिसी ईंट का परत लगाय जाता था जिसे न्यूक्लेअस (Nucleus) कहते थे और तदुपरान्त अन्तिम पट्टी होत थी जिसे डॉरसम (Dorsam) कहते थे। पाँचवी शताब्दी मे रोम राज्य के पतन साथ सडक-निर्माण कला का भी पतन हो गया। सन् १५९७ मे फ्रांस-निवासी स (Sully) नामक व्यक्ति ने इसके पुनरुद्धार की ओर सर्वप्रथम प्रयत्न किया। काल (Colbert) ने सले के कार्य को कुछ और आगे बढाया। सन् १७७५ मे ट्रास (Tresaquat) नामक फ्रांसीसी ने आधुनिक सड़क-निर्माण कला का एक नया सिद्ध उपस्थित किया। किन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार सडक-निर्माण-कला आविष्कार करने वालो मे स्कॉटलैंड के दो व्यक्ति टामस तेलफोर्ड (Tho Telford) (१७५७-१८३४) और जॉन लाउडन मैकेदम (John Lau McAdam) (१७५६-१८३६) के नाम जगत प्रसिद्ध है। उनके सिद्धान्त का आ

---

2. कूर्मपृष्ठामार्ग भूमि: कार्या ग्राम्यै: सुसेतुका।
कुर्यान्मार्गान्पारवखातान्निर्गमार्थं जलस्य च ॥२६५॥
पक्तिद्वयगतानाट्टिगेहाना कारयेत्तथा।
मार्गान्सुधाशर्करैर्बंधटितान्प्रतिवत्सरम् ॥२६७॥
(अध्याय १, पृ० ७३—पं० गगाप्रसाद शास्त्री)

पालन किया जाता है। तैलफोर्ड के सिद्धान्त के अनुसार बड़े-बड़े पत्थरों द्वारा सड़क की नींवें जमाई जाती थी। उनके ऊपर छोटे-छोटे पत्थर बिछाए जाते थे और तदुपरान्त पत्थर के अति बारीक टुकड़ो द्वारा उसका ऊपरी धरातल बनाया जाता था। मैंकेदम ने बड़े-बड़े पत्थरो के स्थान पर छोटे पत्थर के टुकड़ो द्वारा सड़क-निर्माण कार्य प्रारम्भ करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कुछ इन्च मोटे पत्थर के टुकड़ो को भारी बेलन द्वारा कूट देने पर सड़क के धरातल को इतनी शक्ति प्राप्त हो सकती है कि वह सड़को से ढोए जाने वाले बोझ को आसानी से सहन कर सकती है। इस सिद्धान्त द्वारा बनी हुई सड़को मे व्यय भी कम होता था तथा वे पतली और हलकी भी होती थी। मैंकेदम का सिद्धान्त सड़क बनाने मे आज भी काम मे लाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि उसका ऊपरी धरातल चाहे रोड़ी (Concrete) का हो, तारकोल (Asphalt) का अथवा सीमेंट (Cement) का।

नाव और जहाज का आविष्कार होने के उपरान्त मनुष्य **समुद्र-मार्ग** का उपयोग करने लगा और दूर-दूर देशों को जाने लगा। आदिकालीन बेड़े, नाव अथवा जहाज पतवार की सहायता से चलते थे, बाद मे वे पाल का उपयोग करने लगे। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ, मनुष्य को बहुत बड़े आकार की भारी वस्तुओं के स्थानान्तरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस दिशा मे मनुष्य के प्रयत्न के द्वारा **रेल**
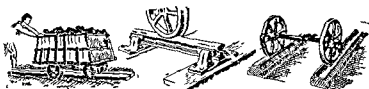
चित्र २—प्राचीन रेल पथ

पथ मार्ग का आविष्कार हुआ।[1] रेलें अन्तर्देशीय स्थलमार्गों मे सर्वोत्तम एवं उपयोगी सिद्ध हुई क्योंकि उन्होने एक विशेष यान्त्रिक सिद्धान्त (Mechanical iple) का उपयोग करके समाज का अपूर्व हित किया। चिकनी और ऊँची ो पर पहियो के चलने से अच्छी से अच्छी सड़क की अपेक्षा खिंचाव कम पड़ता लतः आदिकालीन रेलो ने परिवहन व्यय मे भारी कमी कर दी।

1. रेल मार्ग प्रारम्भ मे लकड़ी का होता था। लकड़ी के तख्तो का स्थान कालान्तर मे लोहे की चद्दरों ने ले लिया। सन् १७६७ की पटरियो मे मार्ग के आन्तरिक भाग मे बेठने लगी रहती थी जो कुछ वर्ष उपरान्त पहियो मे लगा दी गई।

इस भाँति प्राचीन काल की साधारण पगडण्डियाँ आधुनिक से आधुनिक धरातल वाली सडकों और रेल-पथ में परिणत हो गईं। मनुष्य ने प्रकृति प्रदत्त जल-मार्गों का भी उपयोग किया। अब तो वह वायु का उपयोग भी करने लगा है और वायुयान का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है।

वाहन (Vehicle)—प्राचीन मानव अपने सिर, पीठ अथवा कंधे पर लाद कर बोझ ले जाया करता था। स्त्री को सबसे पहला भार-वाहक कहा जाता है, किन्तु इस क्षेत्र में उसकी प्रशिक्षा अपने स्वामी के लिए इतनी आवश्यक न थी जितनी कि अपने बच्चों के लिए। मनुष्य जंगली जीव-जन्तुओं एवं शत्रुओं से आत्मरक्षा के हेतु अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर चलता था तो स्त्री सारा बोझ लेकर उसकी अनुगामिनी बनती थी। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की भार-वाहक शक्ति सीमित थी। कालान्तर में उसे इस बात का ज्ञान हुआ कि वह कंधे, पीठ अथवा सिर पर रखकर ले जाने की अपेक्षा खींचकर अधिक बोझ ले जा सकता है। अतएव उसे खींचने की कोई युक्ति निकालने की सूझी। इस दिशा में सबसे पूर्व प्रयत्न **स्लेज** (Sledge) जैसी गाडी बनाने में सफलीभूत हुआ। वाहन के उद्भव की इस अवस्था में अंग्रेजी के अक्षर 'V'

चित्र ३—स्लेज

की आकृति का एक ढाँचा उत्तरी अमेरिका में बना जिसको ट्रावाइस (Travois) कहते थे। स्लेज (Sledge) गाडी के स्थान पर अमरीकी भारतीय चमड़े के थैले सीकर बर्फीली भूमि पर खींचते थे। होते-होते वे लोग डेरे के डंडों को एक साथ बाँधकर उनका एक सिरा कुत्ते (कालान्तर में घोडे) के दोनों ओर बाँधने लगे जिसके सिरे भूमि पर खिसकते थे। इनसे चमड़े का थैला बाँध दिया जाता था जिस पर माल लाद दिया जाता था। इस भाँति धीरे-धीरे मनुष्य वाहन का आधार बनाने में सफल हुआ। जब मनुष्य जलमार्गों का उपयोग करने लगा तो उसे वाहन का ऊपरी भाग बनाने की चिन्ता हुई। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त प्रकार की गाडी द्वारा उस काल भद्दी सडकों पर माल ढोना एक कठिन काम था। फलत. मनुष्य ने जल मार्गों को अपनाया जिस पर गाडी ले जाना सरल काम था और उसमें कम शक्ति का प्रयोग करना पड़ता था। **प्रथम जलयान** (चित्र ४) एक बेडे के रूप में रहा होगा जो कि लकडी के कुन्दो, घास, सरकंडो, बाँसो अथवा ऐसी ही अन्य हलकी वस्तुओं को बाँधकर बनाया गया होगा जिसे मनुष्य तैरा कर ले जा सकता था। इस प्रकार के जलयान

पर इस बात का भय सदैव बना रहता था कि वायु के झोंकों अथवा लहरों के झकोरों से कहीं वह डूब न जाए। अतएव मनुष्य ने नाव के समान ऊपर उठा हुआ

चित्र ४—नाव

ढांचा बनाने का प्रयत्न किया। फरात और दजला नदियों पर चलने वाली गोल आकृति की कुफा (Qufa) प्राचीनतम नाव का स्वरूप है। यह टोकरी की तरह बुनी

चित्र ५—कुफा नाव

हुई होती है जिसमें भीतर की ओर चमड़ा लगा रहता है। इस प्रकार की नावें कावेरी, भवानी, तुंगभद्रा, कृष्णा नदियों में अब भी चलती हैं। बंगाल प्रान्त में चलने वाली तिगरी (Tigari) अथवा गमला नामक नावें भी प्राचीन नावों के ही स्वरूप

हैं। एस्कीमो लोगों की उमेयक (Umiak) और कायक (Kayak) इस प्रकार की नावों के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। चमड़े की बनी हुई इस प्रकार की नावों को बड़ी
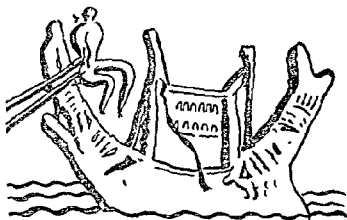
चित्र ६—पेड़ के तने की नाव

सावधानी से प्रयोग करना पड़ता है, क्योंकि यदि उन्हें पानी में ही छोड़ दिया जाए तो चमड़ा कुछ ही काल में सड़ कर व्यर्थ हो जाता है।

चित्र ७—तख्तों की प्राचीन नाव

कुछ काल के उपरान्त ही मनुष्य को इस बात ज्ञान हुआ कि पेड़ के तने को खोदकर बनाई हुई नाव तैरने की अधिक शक्ति प्राप्त कर सकती है और इस प्रकार हलकी नाव बन सकती है। फलतः कैनो (Canoe) जैसी नावें बनने लगी (चित्र ६)। आज भी भारत में और अन्य देशों में इस प्रकार की नावें बनाई जाती है। ब्रिटिश कोलम्बिया में इस प्रकार की सर्वोत्तम नावें बनती हैं। ये नावें छोटी होती थी; उनका आकार पेड़ के आकार के समान सीमित रहता था। समय पाकर मनुष्य लकड़ी चीरना सीख गया और तख्तों को जोड़कर **बड़ी बड़ी नावें** बनाने लगा (चित्र ७)। इस भाँति बनी हुई नावें सदियों तक प्रचलित रहीं। आज भी ऐसी नावें संसार के विभिन्न भागों में बनती है।

जलमार्गों के उपयोग के लिए जब यह प्रगति हो रही थी, उसी समय स्थल पर भी बे-पहिए की स्लेज जैसी गाड़ियों को पेड के गोल तनों की सहायता से खींचने के प्रयत्न किए जा रहे थे। **पहिये का प्राचीनतम स्वरूप** बेलन के समान मिलता है। उसे हलका बनाने के लिए छोटा और बीच में से खाली किया जाने लगा। इस प्रकार खोखला होने पर उसकी भार-वाहक शक्ति कम हो जाने पर उसमें आरा व तिल्लियाँ (Spokes) का लगाना आवश्यक हो गया। इस भाँति धीरे-धीरे पहिए का आविष्कार हुआ। यह आविष्कार परिवहन के क्षेत्र में एक एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। अब अधिक बोझ अपेक्षाकृत कम शक्ति और सरलता से खींचा जा सकता था और गाड़ी की चाल भी अधिक हो गई जिससे समय की भी बचत होने लगी। हमारे प्राचीनतम

चित्र ८—भारत की प्राचीन बैलगाड़ी

साहित्य में पहिए वाली गाड़ी का उल्लेख मिलता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में पहिए वाली गाड़ी (रथ) की एक ताँबे की मूर्ति और कुछ गाड़ी की

आकृति के खिलौने मिले हैं जो पाँच हजार वर्ष पूर्व के हैं (चित्र ८)। बस्ती जिले के एक गाँव मे रथ की मूर्ति मिली है जो पत्थरकाल की बताई जाती है। सिन्धु सभ्यता काल (३२०० ई० पू०) मे भारत मे रथों और गाड़ियों का व्यापारिक क्षेत्र मे प्रयोग होता था। यह नहीं कहा जा सकता कि पहिए का आविष्कार कब हुआ। केवल यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व यह आविष्कार हुआ होगा। बैलगाड़ी, इक्का, ताँगा, ठेला, रथ, रेलगाड़ी, मोटर इत्यादि के आधुनिक पहिए प्राचीन पहिए के ही विकसित रूप हैं। केवल मोटर के पहिए मे एक विशेष गुण यह है कि ठोस न होने के कारण अन्य पहियों की अपेक्षा साधारण सड़क पर अधिक भार अधिक तीव्र गति से ले जाने मे समर्थ है। रेल का पहिया अधि‍क भार ऊँची पटरी के कारण ले जाता है।

चित्र ६—मानव शक्ति

चालक शक्ति (Moti- Power)—मानव प्रयत्न के प्र मे क्षेत्र मे मनुष्य ने आरम्भ मे अपने ही की ही शक्ति का उपयोग किया मनुष्य जब अपनी आखेटावस्था (H ting Stage) मे था तो स्त्री ही भार-वाहक का कार्य करती थी। म युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र से सुस होकर चलता था और स्त्री उसका लेकर अनुगमन करती थी। अ विश्व के अनेक भागों में पानी लकड़ी लाने, फल-फूल एकत्रित तथा तरकारियाँ लाने का काम द्वारा ही कराया जाता है। ठेले, रिक्शा इत्यादि चलाने मे मानव-शक्ति का उपयोग किन्तु यह चलन असभ्य अवशेषमात्र समझा जाता है। अतः इसे वैधानिक रूप मे बन्द करने के प्रयत्न हैं और उसके स्थान पर किसी यान्त्रिक यान के आविष्कार हो रहे हैं, कि यह बड़ा सन्देहात्मक है कि कुली और ठेले वाले को मनुष्य उसके दुरूह कार्य से छुटकारा दिला सकेगा।

प्राचीन भारत मे पालकी का प्रचार बहुत दिन तक रहा। इङ्गलैंड की स्त्रियाँ भी एक समय मनुष्य द्वारा ले जाई जाने वाली कुर्सियों (Sedan Chairs) में बैठकर यात्रा किया करती थी।

दूसरी अवस्था परिवहन शक्ति के क्षेत्र में उस समय आती है जब मनुष्य पशुपालन में लग जाता है और पालतू पशुओं का परिवहन के लिए प्रयोग करने लगता है। डलिया, टोकरी, थैले इत्यादि जिनमें भर कर वह बोझ ढोता था अब मनुष्य की पीठ से उठकर पशुओं की पीठ पर लादे जाने लगे। कुत्ता, बैल, घोड़ा, गधा, रेनडीयर, ऊँट और हाथी इत्यादि पशुओं का पुरानी दुनियाँ और कुत्ते और लामा का नई दुनियाँ में प्रयोग परिवहन के क्षेत्र में महान् प्रगति प्रदान करने वाली ...ना थी। गाड़ियाँ खींचने के लिए पशु-शक्ति का प्रयोग आज भी विश्व भर में लोक... है, किन्तु यान्त्रिक-शक्ति का विकास होने के कारण आजकल पशुओं को बहुत से ...ी कामों से छुट्टी मिल गई है और अब उनका उपयोग सीमित क्षेत्र में ही होता ... परिवहन-पशुओं का प्रचार उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ वे प्राकृतिक सुविधाओं ...ारण पनप सकते हैं अथवा जहाँ पर उनके लिए उपयुक्त चारा उग सकता है। ...यर काई वाले क्षेत्रों से बाहर नहीं पनप सकता; लामा का क्षेत्र दक्षिणी ...का के सीराज प्रदेश में ही बहुधा सीमित है और हाथी केवल दक्षिणी एशिया ...लों में ही उपयोगी है।

कुत्ता पहला पशु था जो परिवहन के लिए प्रयोग में आया। ऋग्वैदिक काल में ...में अन्य पशुओं के अतिरिक्त गाड़ियाँ खींचने के लिए कुत्ते का प्रयोग होता था। ...न भारतीय कुत्ते की ईरान और मैसोपोटामिया में भारी माँग थी और उसका ...त निर्यात होता था। इसके छोटे आकार और सीमित शक्ति के कारण इसका ...उन्हीं प्रदेशों में होता था जहाँ कोई दूसरा उपयोगी पशु नहीं था। सारे आर्क... ...श में कुत्ता अद्वितीय परिवहन-पशु समझा जाता है, क्योंकि अपने छोटे और ...रीर से बर्फ पर चलने के लिए यह विशेष उपयोगी है।

...रिवहन-पशुओं में बैल सम्भवतः सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में पाया जाता ...ी अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप और एशिया में बैल की कई जंगली नस्लें पाई ... अमरीकी बिसन (Bison) बैल कभी पालतू पशु नहीं रहा किन्तु यूरोप ...ा का बैल प्रस्तर युग में भी घरेलू पशु था। प्राचीन काल में मैसोपोटामिया ...े बैलगाड़ी (Ox-wagon) एक सामान्य परिवहन का साधन था। आज- ...ागर के चारों ओर यह बहुधा देखने में आता है और दक्षिणी अफ्रीका व ...अमेरिका तक फैल गया है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैल ही एकमात्र ...वहन-पशु है और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह महान् उपयोगी है। याक एशिया के ...ड़ी क्षेत्रों में विशेष उपयोगी पशु है।

घोड़ा विस्तृत क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयोग में आया। घोड़े का प्रयोग सवारी और बोझ ले जाने के लिए लोकप्रिय है। रानी अने (Anne) के काल तक ...लैंड में केवल घोड़ा ही एकमात्र परिवहन-पशु था। वह अपनी पीठ पर लगभग ...० पौंड बोझ ले जा सकता था। उस देश में सबसे पहले रेलें भी घोड़ों द्वारा ही चलती थीं। भारत के नगरों में इक्का-ताँगा खींचने के लिए घोड़े का प्रयोग होता है।

शुष्क देशो मे घोडे से भी अधिक उपयोगी पशु खच्चर है, क्योकि वह थोडे माल को ले जाने म समर्थ है और ऐसे सब स्थानो तक जा सकता है जहाँ मनुष्य का प्रवेश सम्भव है। एशिया की बगाल जातियाँ चढने के लिए गधे का उपयोग करती हैं। वैदिक काल मे भारत मे गधे का प्रयोग रथों मे भी होता था। भारतीय गधा अपनी पीठ पर चार-पांच मन बोझ ले जा सकता है। धोबी, कुम्हार और इसी प्रकार के गरीब लोगो के लिए गधा बडा उपयोगी पशु है। उसका प्रयोग वे लोग ईट, चूना, रेत, भूसा इत्यादि वस्तुएँ ढोने के लिए करते हैं।

रेनडीयर उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रान्तो के निवासियो को न केवल परिवहन का साधन प्रदान करता है, वरन् दूध, मांस, चमडा इत्यादि भी देता है और इस भाँति साइबेरिया वालो के लिए अमूल्य सम्पदा है।

सहारा के मरुद्यानो मे ऊँट ने सम्पदा एकत्रित कर दी है। ऊँट ही ऐसा पशु है जो रेगिस्तान की वनस्पतियो को खाकर और कम पानी पी कर मरुस्थल मे पनप सकता है। उसके पैरो की बनावट ऐसी होती है कि वे रेत मे धसकते नही हैं। एशिया के शुष्क क्षेत्रो मे यह घोडे का प्रतियोगी है और आस्ट्रेलिया के मरुस्थलो की खोज मे इसने अपार सेवा की है। परिवहन के अतिरिक्त यह दूध, मांस, खाल, ऊन और बाल भी देता है। सवारी वाला अच्छा ऊँट दिन भर मे १५० मील की यात्रा कर सकता है और लदाऊ ऊँट एक हजार पौंड से ऊपर बोझ ले जा सकता है। भारत मे ऊँटगाडी मे इसका प्रयोग किया जाता है।

भारत मे अति प्राचीन काल मे ढुलाई और युद्ध के लिए हाथी को पालना प्रारम्भ किया गया था, किन्तु अफ्रीका के हाथी को कभी भी पालतू अवस्था मे रखा जा सकेगा, इसमे सन्देह है। ऐसे जगलो मे जहाँ मार्ग बनाना दूभर कार्य है, हाथी की अपार शक्ति और चातुर्य का उपयोग भली-भाँति किया जा सकता है। सडके और मकान बनाने तथा भारी बोझ ले जाने के लिए भी यह बडा उपयोगी है। किन्तु ... कारणो से इसका उपयोग सीमित है। बैल, घोडा, खच्चर इत्यादि की अपेक्षा एक इसके लिए अधिक चारा चाहिए। अत यह वही पनप सकता है जहाँ वनस्पति बाहुल्य हो। दूसरे, उक्त पशुओ की अपेक्षा इसका शरीर भी कोमल होता है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि परिवहन के उद्भव की द्वितीय स्थिति मे मनुष्य जलमार्गों का उपयोग करने लगा था। जलमार्गों के उपयोग के लिए उसे नावो की आवश्यकता हुई जिन्हे वह पतवार द्वारा खेने लगा। कालान्तर मे उसे पाल का ज्ञान हुआ और वह नाव खेने के लिए वायु-शक्ति का उपयोग करने लगा। बारहवी शताब्दी मे ही मनुष्य नाव चलाने के लिए पालो का प्रयोग करने लगा था।

प्राचीनतम भाप का इञ्जिन कैनन (Cannon) था जिसका प्रयोग तेरहवी शताब्दी के अन्त मे किया गया था। १७८२ मे वाट (Watt) के इञ्जन के आविष्कार के उपरान्त ही भाप की शक्ति का प्रयोग हर प्रकार की मशीनो के सचालन के लिए किया जाने लगा था। 'रेल की सडक' (Rail road) शब्द का सम्बन्ध सदैव से भाप

के इन्जन से रहा है और एक के कथनमात्र से दूसरे का अनायास ही स्मरण हो आता है। सबसे पहला सफल भाप का इन्जन जार्ज स्टीफेंसन का राकेट (Rocket) था जो सन् १८२६ मे लिवरपूल-मानचेस्टर रेल पर चालू किया गया था।

कोयले से बनी हुई गैस से चलने वाला इञ्जिन १८६० में लीनायर (Lenair) ने बनाया था। १८७६ मे ओटो (Otto) नामक व्यक्ति ने इस विचार को एक परिष्कृत रूप दिया। सन् १८८३ में डेमलर (Daimler) ने कोयले के स्थान पर पेट्रोल का प्रयोग किया और सन् १८६४ तक मिट्टी के तेल इत्यादि का भी प्रयोग होने लगा। इसके एक वर्ष उपरान्त डीजिल (Diesel) नामक व्यक्ति ने डीजिल तेल से चलने वाला इन्जन बनाया जो कि सबसे सस्ता तेल होता है। वायुयानो मे इसका उपयोग उत्तम समझा जाता है।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसा अनुमान लगाया जाता था कि रेलो मे बिजली की शक्ति का व्यापक उपयोग हो सकेगा, किन्तु अभी तक बिजली का प्रयोग सीमित क्षेत्रो मे ही हो सका है। सुरंगो मे, बडे शहरो के स्टेशनो के निकट और पहाड़ी स्थानो मे जहाँ पानी से सस्ती बिजली बनाई जा सकती है इसका प्रयोग हुआ है। धुआँ और गैस के दूषित प्रभाव से बस्तियो को बचाने के लिए भी कहीं कहीं बिजली से रेलगाडियाँ चलाई जाती हैं। जहाँ पर बिजली मिल सकती है वहाँ पर भी सारी रेलो का बिजली द्वारा संचालन इसलिए संभव नही प्रतीत होता कि उसके लिए इतनी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है कि रेलो का संचालन हानिकर कार्य हो जाता है। ट्राम-गाडियो, बसो और दो निकटवर्ती शहरो को मिलाने वाली रेलो के संचालन के लिए तथा पहाडी ढालो और सुरंगो मे बिजली की शक्ति का उपयोग अति लाभदायक सिद्ध हुआ है।

२.

आधुनिक परिवहन के कार्य

(Functions of Modern Transport)

आधुनिक सभ्यता आधुनिक परिवहन के साधनो की पुत्री है। जहाँ मनुष्य और माल की ढुलाई की सुविधा नही आज हम उस देश को सभ्य राष्ट्र नही कह सकते। परिवहन के साधनो के विकास के साथ-साथ सभ्यता का विकास हुआ है, इस बात का इतिहास साक्षी है। जब मनुष्य ने सामाजिक और नागरिक जीवन को अपनाया तभी वह बुद्धिमान और सभ्य कहलाया और इसमे सन्देह नही कि मनुष्य मे सामाजिक और नागरिक भाव तब तक नही जागृत हुआ जब तक कि वह दूसरो के सम्पर्क मे नही आया। दूसरो के सम्पर्क मे लाने का एकमात्र श्रेय परिवहन के साधनो को है।

परिवहन के सुविकसित साधन आधुनिक जीवन का एक आवश्यक अग हैं। रेल-युग से पूर्व परिवहन अत्यन्त महँगा था और यात्रा करना दूभर कार्य। सन् १८०७ मे नौ-परिवहन (Navigation) के लिए भाप के इञ्जन का प्रयोग और सन् १८२६ मे रेल के इञ्जन (Locomotive Engine) के आविष्कार द्वारा उसका अन्तर्देशीय परिवहन के लिये उपयोग, ऐसी घटनाये थी जिन्होंने सुविकसित परिवहन का मार्ग खोल दिया और इस प्रकार सस्ती ढुलाई के युग का आविर्भाव हुआ। परिवहन की नई यान्त्रिक-युक्तियो (Mechanical devices) ने ढुलाई का कार्य अधिक नियमित, सुविधाजनक, गतिशील एवं सस्ता बना दिया। इस भाँति परिवहन के क्षेत्र मे दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रथम यह कि ढुलाई व्यय बहुत कम हो गया और द्वितीय परिवहन के साधनो की चाल भी बहुत बढ गई।

परिवहन के सुविकसित साधनो से मनुष्य जाति को अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं। उसके आर्थिक जीवन मे महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र पर भी कम प्रभाव नही पडा। किन्तु आर्थिक क्षेत्र म आधुनिक परिवहन के साधनो का योग सर्वाधिक रहा है। सस्ती ढुलाई ही एक ऐसा आधार स्तम्भ है जिस पर कि उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी के आर्थिक जीवन की नीव जमी है।

मनुष्य की अगणित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवहन बहुत कुछ उत्तरदायी है। यह उत्पादन में सहायक होता है और उपयोगिता का सृजन करता है तथा धन के उपभोग, विनिमय और वितरण में सहयोग देता है।

आर्थिक उत्पादन

आर्थिक अर्थ में उत्पादन का तात्पर्य वस्तुओं को उपयोगी बनाना है। मनुष्य किसी पदार्थ का निर्माण करने में असमर्थ है। उसकी सामर्थ्य इतनी ही है कि प्रकृति द्वारा दी हुई वस्तुओं का रूप अथवा स्थान परिवर्तन करके एवं उन्हे उपयुक्त समय के लिए रख कर अपने लिए अधिक उपयोगी बना ले। परिवहन और उत्पादन की क्रियाओ में क्या अन्तर है, यह बतलाना लगभग असम्भव सा ही है। जिस रूप मे प्रकृति ने हमें पदार्थ प्रदान किए हैं उससे भिन्न रूप मे वे कही अधिक उपयोगी होते हैं; जिस स्थान पर वे उत्पन्न होते हैं उससे भिन्न स्थान पर वे अधिक लाभदायक हो सकते हैं। इसी भाँति कुछ वस्तुयें एक समय की अपेक्षा दूसरे समय अधिक उपयोगी होती है। अत: मनुष्य बीज का स्वरूप परिवर्तन कर फल उत्पादन मे और कच्ची धातु को शुद्ध धातु के रूप मे परिवर्तित करने मे संलग्न रह कर प्रकृति को उत्पादन कार्य मे सहायता प्रदान करता है। इस भाँति परिवहन और वितरण तथा सम्पूर्ण वणिक्-तन्त्र का वर्तमान स्वरूप प्रस्तुत होता है। परिवहन का प्रमुख कार्य वस्तुओ को उस स्थान से, जहाँ उनकी सीमान्त उपयोगिता कम है, उस स्थान पर पहुँचाना है जहाँ उनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक है। वस्तुओ के रूप परिवर्तन के साथ यह क्रिया इस भाँति मिली-जुली है कि किसी भी वस्तु की अन्तिम उपयोगिता का अनुमान लगाने के लिये हमे उपयोगिता के विभिन्न रूपो (रूप, स्थान व समय उपयोगिता) का अनुमान लगाना आवश्यक है। उत्पादन क्रिया की तीन अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था मे भूमि से वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है; द्वितीय अवस्था मे उन वस्तुओ को रूप परिवर्तन द्वारा अधिक उपयोगी बनाया जाता है और तृतीय अवस्था में उन्हे उपभोक्ता तक पहुँचाया जाता है। उत्पादन क्रिया तब तक पूर्ण नही समझी जाती जब तक कि उत्पन्न की हुई अथवा निर्माण की हुई वस्तुओ को वास्तविक उपभोक्ता के घर तक नही पहुँचाया जाता। उक्त तीन अवस्थाओ में से अन्तिम अवस्था के लिए केवल परिवहन ही उत्तरदायी है और वह इस भाँति सारी उत्पादक सामग्री को उपभोग योग्य बनाने मे समर्थ है।

(क) रूप उपयोगिता (Form Utility)—खेत से, खान से और वन से वस्तुओ को मानव उपभोग के योग्य बनाने के निमित कारखाने मे ले जाया जाता है जहाँ उनसे विविध उपयोगी वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इस रूप-परिवर्तन की क्रिया को गतिविधि परिवहन से प्राप्त होती है क्योंकि सभी कच्चे पदार्थों को कारखाने तक ले जाने का काम रेल, मोटर, जहाज व विमान इत्यादि का ही है।

(ख) स्थान उपयोगिता (Place Utility)—परिवहन के साधन माल और वस्तुओ को उत्पादन केन्द्र से उपभोक्ता तक पहुँचा कर उनकी उपयोगिता वृद्धि करते

हैं। अन्न की उपयोगिता खेत की अपेक्षा खलियान में और खलियान की अपेक्षा बस्ती और बाजार में अधिक है। खान से निकले कोयले का खान के निकट इतना मूल्य नहीं जितना कारखाने, स्टेशन अथवा बन्दरगाह पर होता है। कुछ वस्तुओं की उत्पादन केन्द्र में कोई उपयोगिता नहीं होती, उन्हें उपभोक्ता के निकट भेजने पर ही उपयोगिता प्राप्त होती है; जैसे कारखाने की भट्टी और रेल के इन्जन से निकली हुई राख। कारखाने अथवा रेल-पथ पर उसका कोई मूल्य नहीं, वरन् निषेधात्मक मूल्य (Negative price) होता है। राख को स्थान परिवर्तन द्वारा भवन निर्माण के काम में लिया जाता है। वनों की लकड़ी, पहाड़ों के पत्थर और जंगलों की जड़ी-बूटियों को मूल्य प्रदान करने का श्रेय भी परिवहन के साधनों को ही है।

बहुधा कच्चे माल और ईंधन के भण्डार औद्योगिक केन्द्रों अथवा उपभोक्ताओं के निवास स्थान से दूर स्थित होते हैं। यदि सस्ती ढुलाई के साधन उपलब्ध न हों तो उनका औद्योगिक केन्द्र में संग्रह सम्भव नहीं। परिणाम यह होगा कि संसार के अनेक कच्चे माल के भण्डार बिलखते रहेंगे और जनसंख्या उनके बिना उतनी उपभोग्य वस्तुयें प्राप्त करने से वंचित रहेगी अर्थात् संसार की उपभोग्य वस्तुओं का भण्डार कम हो जायगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लोहा और कोयला लगभग १५ मील के अन्तर से पाये जाते हैं। यदि सस्ते साधनों द्वारा कच्चा लोहा कोयले के निकट न पहुँचे तो वहाँ का लोहे और इस्पात का उद्योग ठप्प हो जाय।

(ग) समय उपयोगिता (Time Utility)—परिवहन माल और वस्तुओं को उस स्थान पर पहुँचा कर ही उपयोगी नहीं बनाता जहाँ पर उनकी माँग है, वरन् उस समय के लिए भी संचित करने में सहयोग देता है जब उनकी अधिक माँग होगी। गेहूँ, चावल, चीनी इत्यादि वस्तुएँ किसी ऋतु विशेष में ही यहाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव उन्हें गोदामों में ले जाकर भर दिया जाता है ताकि वर्ष भर उनका उपयोग हो सके। परिवहन और भण्डार सुविधाओं की सम्मिलित सेवा द्वारा ही उद्योग-धन्धे अथवा कारखाने ऋतुकालीन पदार्थ वर्ष भर प्राप्त कर सकते और अपना कार्य-संचालन जारी रख सकते हैं।

विशेषीकरण (Specialization)

विशेषीकरण वह उत्पादन प्रणाली है जिसके अनुसार प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र एक अथवा अधिक वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करता है क्योंकि उस वस्तु अथवा वस्तुओं के उत्पादन में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कच्चे माल, जलवायु, श्रम और पूँजी इत्यादि के प्राप्त करने में उसे विशेष सुविधायें प्राप्त हैं। कुछ देशों की भूमि अन्य देशों की अपेक्षा अधिक उर्वर है। अतः वे खेती बारी करके खाद्य पदार्थ और कच्चे माल के उत्पादन में संलग्न हैं। कुछ देश ऐसे हैं जहाँ खनिज सम्पदा अधिक है। अतः वे बहुधा वस्तु निर्माण कार्य अधिक सफलता से करते हैं। एशिया के अधिकतर देश प्रथम कोटि में और यूरोप के देश और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के कुछ

क्षेत्र द्वितीय कोटि में आते हैं। अर्जनटाइना गेहूँ के उत्पादन में विशेषता प्राप्त किये हुए हैं तो बेलजियम एक औद्योगिक केन्द्र है। ब्रिटेन अपनी खाद्य सामग्री का एक बड़ा भाग विदेशों से आयात करता है और स्वयं औद्योगिक वस्तुयें निर्माण करके संसार के देशों को भेजता है। इस प्रकार के विशेषीकरण के लिए भूमि, श्रम और पूँजी का विभाजन अत्यन्त आवश्यक है और इस प्रकार के विभाजन के लिये परिवहन अनिवार्य है। कुछ मात्रा में श्रम विभाजन बिना परिवहन के भी सम्भव है। ग्रामीण शिल्पी, कुम्हार, सुनार, लुहार, नाई, धोबी, मोची इत्यादि इस देश में अनन्त काल तक अपने अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ रहे हैं। किन्तु भूमि और पूँजी के क्षेत्रों में बिना परिवहन के विशेषीकरण सम्भव नहीं और आज के युग में इनके विशेषीकरण के बिना महामात्रोत्पादन सम्भव नहीं, क्योंकि न भूमि के और न पूँजी के ही पैर होते हैं। इस भाँति सुविकसित परिवहन की सहायता से आज दिन श्रम और पूँजी के उपयोग के क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गये है और भूमि का क्षेत्र किसी कार्य विशेष के लिए सीमित हो गया है।

यह बात विचारणीय है कि ज्यों-ज्यों विशेषीकरण के सिद्धान्त का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है, त्यों त्यों उत्पादन प्रणाली अधिकाधिक फेरदार होती जाती है और परिवहन का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जाता है। कारण यह है कि उत्पादन क्रिया कई उपक्रियाओं में बँट जाती है और प्रत्येक उपक्रिया द्वारा निर्मित माल दूसरी उपक्रिया के लिए कच्चा माल होता है। बहुधा आधुनिक औद्योगिक कार्यालय किसी एक उपक्रिया के सम्पन्न करने में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं और दूसरी उपक्रिया के लिए माल को अन्य कार्यालयों में भेजते हैं। सूती कपड़ा बुनने के कार्य में रुई ओटने (Ginning) का कार्य एक कार्यालय अथवा विभाग द्वारा किया जाता है; सूत कातने का दूसरे द्वारा और बुनाई का कार्य तीसरे द्वारा। इसी भाँति लोहे और इस्पात के उद्योग का कार्य धातु को गर्म करने वाली भट्टियों (Blast Furnaces), गलाने वाली दूकानों और ढालने वाली मिलों में परस्पर बँटा रहता है।

विशेषीकरण के सिद्धान्त के लागू होने के कारण उपभोक्ता को अनेक लाभ हैं। उसे न केवल विशेषज्ञों द्वारा निर्मित अच्छी और उच्च श्रेणी की वस्तुयें ही मिलती हैं; वरन् वे उसे सस्ते मूल्य पर और अधिक मात्रा में मिल जाती हैं। विशेषीकरण की अनुपस्थिति में प्रत्येक क्षेत्र स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करेगा और बड़े पैमाने पर उत्पादन न हो सकेगा। फलत: उक्त सब लाभ उपभोक्ता को न मिल सकेंगे। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' देशों में से दोनों 'क' और 'ख' पदार्थ उत्पन्न कर सकते हैं। 'अ' देश उत्पादन के साधनों की एक इकाई द्वारा 'क' पदार्थ की ५ इकाइयाँ उत्पन्न कर सकता है और 'ख' की ३ इकाइयाँ। इसके विपरीत 'ब' देश 'ख' पदार्थ के उत्पादन में विशेष योग्यता रखता है। उत्पादक साधनों की एक इकाई द्वारा वह 'ख' की ५ इकाइयाँ और 'क' की ३ इकाइयाँ उत्पन्न करता है। अब यदि दोनों देश स्वावलम्बी होना चाहें तो वे आठ-आठ पदार्थ बना सकेंगे। इस भाँति उपभोक्ता को कुल १६

इकाइयाँ मिल सकेगी, किन्तु यदि वे विशेषीकरण के सिद्धान्त को अपनाये तो 'अ' देश उत्पादक साधनो की दो इकाइयो से 'क' पदार्थ की १० इकाइयाँ बना लेगा और उतनी ही इकाइयाँ 'ब' देश 'ख' पदार्थ की बना लेगा। इस भाति प्रत्येक देश एक पदार्थ को दूसरे से बदल कर प्राप्त कर लेगा जो उस अच्छा और सस्ता पडेगा। साथ ही साथ कुल उत्पादन की मात्रा १६ से बढ कर २० इकाई हो जाएगी। सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी सिद्धान्त के ऊपर निर्भर है। इस सिद्धान्त को तुलनात्मक परिव्यय का सिद्धान्त (Principle of Comparative Cost) कहते हैं। परिवहन के साधनो के अभाव मे यदि कोई देश अपनी आवश्यकता की वस्तुये विदेश से नही मँगा सकता अथवा अपने बचे हुए माल को विदेश ले जाकर नही बेच सकता, तो वह विशेषीकरण का लाभ नही उठा सकता।

महामात्रोत्पादन (Large Scale Production)

विशेषीकरण के सिद्धान्त ने ही आज लोगो को बडे पैमाने पर उत्पादन करने की प्रेरणा दी है। महामात्रोत्पादन की सफलता का प्रमुख कारण परिवहन की सुविधायें ही हैं, क्योकि या तो कच्चा माल या बना हुआ माल दूर दूर तक ढोना पडता है। उद्योग-धन्धे या तो वहाँ स्थित होते हैं जहाँ कच्चा माल प्रचुरता से मिलता है या जहाँ विस्तृत बाजार बिक्री के लिए होता है। यदि उद्योग कच्चे माल के निकट केन्द्रीभूत है, तो तैयार माल दूर दूर बाजारो मे भेजना पडता है। इसके विरुद्ध यदि उद्योग का स्थान बाजार के निकट है तो कच्चा माल दूर-दूर से एकत्रित करना पडता है। दोनो का एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत होना सम्भव नही। ऐसी स्थिति मे सस्ते और शीघ्रगामी परिवहन के अभाव मे उद्योग का बडे पैमाने पर उत्पादन सम्भव न हो सकेगा। आज सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन की लोहे की खानो के निकट के कार्यालय भारत, अर्जनटाइना, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि दूर देशों को मोटरें, बाईसकिलें, रेल के लिए चलयानादि और भारी मशीनें इत्यादि भेजते हैं। इसी प्रकार लकाशायर का सूती-व्यवसाय भारत, मिश्र, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से आने वाली रुई पर निर्भर है। कच्चे माल के सग्रह और बने माल के वितरण के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे आवश्यक पदार्थ होते हैं जो एक बडे उद्योग को दूरस्थ देशो से मँगाने पडते हैं।

सस्ते ढुलाई के साधनो के अभाव मे वस्तुये इतने दूर-दूर देशो मे न आ-जा सकेंगी और उनका बाजार सीमित रहेगा। बाजार सीमित होने का फल यह होगा कि बडी मात्रा मे उत्पादन न होगा और बडे पैमाने पर उत्पादन न होने के फलस्वरूप उपभोक्ता को अच्छी और सस्ती वस्तुयें न मिल सकेंगी अर्थात् उनका जीवन स्तर गिरने लगेगा।

भारत में आधुनिक उद्योगों का आविर्भाव तभी हुआ जब यहाँ रेलें बन गईं। इससे पूर्व देश मे परिवहन के साधन इतनी शोचनीय अवस्था मे थे कि ऐसे बडे उद्योगो

की स्थापना सम्भव न थी । प्रथम सूती मिल की स्थापना १८५१ मे हुई; प्रथम जूट मिल की १८५४ मे और सबसे पहिली रेल १८५३ मे चालू हुई । इन घटनाओं से इस कथन की पूर्णत: पुष्टि होती है ।

साधनों का उपयोग

प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग परिवहन के साधनो की सहायता से ही सम्भव है । रेल और मोटर के अभाव मे वन की लकडी, खान के खनिज पदार्थो तथा पर्वत के पत्थरो और औषधियो का कोई उपयोग सम्भव नही । परिवहन सुविधाओ के कारण ही कनाडा और फिनलैंड की लुग्दी से भारत जैसे दूर देश मे कागज बनता है । यदि खनिज लोहा, कोयले तक न पहुँचाया जाय तो विश्व के खनिज लोहे के भण्डार अदोहित पड़े रहे और समाज उनके उपभोग से वंचित रहे ।

विविध वस्तुओं का उपभोग

आधुनिक परिवहन द्वारा ही आज हमे देश-देशान्तर की विविध वस्तुयें उपभोग के लिए उपलब्ध है । जब तक परिवहन के तीव्रगामी साधनो का आविर्भाव नही हुआ था तब तक लगभग प्रत्येक देश स्वावलम्बी था और अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओ का उत्पादन करता था । आज ऐसी बात नही है । यदि अपने देश की आयातित वस्तुओ की सूची पर दृष्टिपात करे तो इस कथन की सत्यता का हमे भली-भाँति विश्वास हो जायगा ।

समान वितरण

सस्ते ढुलाई के साधनो ने आज संसार भर मे वस्तुओ के वितरण को समान बना दिया है । अतिरेक उपयोग से बची उपज कमी वाले क्षेत्र को तुरन्त भेजी जा सकती है । आधुनिक परिवहन के आविर्भाव के पूर्व जब एक देश मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी तो दूसरे देश मे खाद्य पदार्थों की प्रचुरता रहती थी । यही नही वरन् एक देश के विभिन्न भागो मे भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती थी । सन् १६३०-३१ मे गुजरात में भीषण अकाल पडा । इस समय उत्तरी भारत मे प्रचुर मात्रा मे खाद्यान्न उपलब्ध थे, किन्तु परिवहन की कठिनाइयो के कारण उनका गुजरात पहुँचाना असम्भव था । अतएव सूरत के अंग्रेज व्यापारियो ने फारस से अन्न मँगा कर लोगो की प्राण-रक्षा की । १९४३ के बगाल के अकाल मे भी पंजाब और अन्य गेहूँ उत्पादक क्षेत्रो मे अन्न उपस्थित था किन्तु जापान के आक्रमण के कारण हमारी रेलें युद्ध-कार्य मे इतनी संलग्न थी कि खाद्यान्नो का बंगाल मे समय पर पहुँचना सम्भव न था और जो कुछ अनाज बंगाल पहुँच जाता था, बंगाल सरकार की 'नाव निषेध नीति' (Boats Denial Policy) के कारण उसका वितरण सम्भव नही था । उस समय बंगाल मे ६६,५६३ नावें चलती थी, जिनमे से ४६,१४६ नावें उक्त नीति के अनुसार हटा दी गई थी । उनमे से कुछ तो युद्ध-कार्य मे ले ली गई थी, कुछ जलमग्न कर दी गई थी और कुछ अन्यत्र कार्य प्राप्त करने के लिए क्षेत्र छोड़कर

चली गई थी। बंगाल मे नावें ही परिवहन का मुख्य साधन है। अतएव इस नीति का निवासियो पर घातक प्रभाव पडा।[1] आधुनिक परिवहन के साधनो ने ऐसी विषम स्थिति मे बचाने मे भारी सहायता की है। अर्जनटाइना, आस्ट्रेलिया, रूस, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा आदि दूर देशो से आज हम गेहूँ मँगा कर अपनी अन्न की कमी पूरी करते है।

मूल्य की स्थिरता और समता (Stabilization and Equalization of Prices)

सस्ते और दक्ष परिवहन की अनुपस्थिति मे बाजार का क्षेत्र सीमित रहता है और विशेषत: क्षीण होने वाली वस्तुओ के लिए। सुविकसित परिवहन ने अनेक पदार्थों के बाजार का क्षेत्र विश्वव्यापी बना दिया है। क्षीण होने वाले पदार्थ जैसे ताजे फल और तरकारियाँ भी आजकल दूर-दूर क्षेत्रो मे भेजे जा सकते है। अगूर, केले, आम इत्यादि फल प्रशीतन-क्रिया द्वारा विश्व भर मे बिकते हैं। उन सब पदार्थों के लिए जो परिवहन-व्यय सहन करने मे समर्थ है, आज विश्वव्यापी-बाजार और विश्वव्यापी-मूल्य होते हैं। किसी उत्पादन-क्षेत्र का मूल्य विश्व भर के उस पदार्थ के मूल्य से निकट सम्बन्ध रखता है। आज हम किसी भी बाजार के मूल्य मे कम उत्पादन के कारण भारी उतार-चढाव नही देखते। आजकल फसल नष्ट होना उतना भयानक नही होता जैसे पहले होता था, क्योकि हम देश-विदेश से आवश्यक अन्न मँगा सकते हैं। किसी क्षेत्र मे उत्पादन की प्रचुरता के कारण मूल्य गिर जाते हैं तो उस स्थान के अतिरेक (Surplus) उत्पादन को अन्यत्र भेज कर मूल्यो मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

लगभग सभी वस्तुओ की मूल्य-सूचियाँ प्रतिदिन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती रहती ह अथवा आकाशवाणी (Radio) द्वारा प्रसारित की जाती है। यदि किन्ही दो बाजारो के मूल्यो मे थोडा भी अन्तर हुआ तो सटोरिये सक्रिय हो जाते हैं और सस्ते बाजार मे माल मोल लेकर मँहगे बाजार मे बेचने लगते है। इस भाँति वे मूल्यो मे स्थिरता और समता लाने मे सफल होते हैं।

प्राचीन काल मे सामान्य मूल्यो मे और फसल के मूल्यो मे भारी अन्तर होते थे। इसी भाँति बन्दरगाहो पर मूल्य कुछ होता था और देश के अन्तर्गत कुछ और। "सन् १६६१ के अगस्त मास मे मिदनापुर जिले के चन्द्रकोण स्थान पर शकर का भाव ६) से ७) प्रति गाँठ (२ मन १३ सेर) था, किन्तु विदेश भेजने के समय हुगली बन्दर पर उसका भाव ९) से १०) प्रति गाँठ था।...... घी और तेल के मूल्यो मे और भी अधिक अन्तर था। दिसम्बर मे घी का भाव ४ रु० से ५ रु० मन तक था, किन्तु विदेशगमन (Shipping Time) के समय ८ रु० से १० रु० तक था।"[2]

---

1. Famine Inquiry Commission Report on Bengal, 1945, p. 27.
2. R. K. Mukerji : Economic History of India 1600 ... pp. 40 42.

. किन्तु देश मे

जैसे-जैसे रेलो का जाल बिछता गया, देश के आन्तरिक भाग मे भी उद्योगो की उन्नति होने लगी।

उद्योगो के स्थानीयकरण के मुख्य कारण कच्चा माल, श्रम, पूँजी और बाजार है। किन्तु इन चारो के बीच मे ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय परिवहन को ही है। कोई उद्योग कच्चे माल के निकट स्थित होगा, जहाँ दक्ष श्रम अथवा पूँजी मिलती है उस स्थान पर, बाजार के निकट अथवा इन सबके किसी मध्यवर्ती स्थान पर, इन बातों का निश्चय परिवहन व्यय के ऊपर निर्भर है। किसी भी उद्योग को कच्चा माल और ईंधन संचित करने मे परिवहन व्यय करना पडता है। इसी भांति बने हुये माल को बाजार तक पहुँचाने में भी किराया-भाड़ा देना पडता है। ये दोनो ही सुविधाये ऐसी है जो सब उद्योगो के लिये एक ही स्थान पर उपलब्ध नही होती। अतएव उद्योग को एक ऐसा मध्यवर्ती स्थान ढूँढना पड़ता है जहाँ से ढुलाई-खर्च कम से कम पडता है।[1] इस प्रकार परिवहन ही एकमात्र वह कडी है जो उत्पादन के विभिन्न साधनो मे परस्पर संबंध स्थापित करती है और जो उद्योगो के स्थानीयकरण मे केन्द्रबिन्दु का कार्य करती है।

प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन-व्यय मे परिवहन-व्यय सम्मिलित होता है। अतएव प्रत्येक उद्योग की स्थापना के पूर्व इसका अनुमान लगा लिया जाता है। यदि परिवहन व्यय उत्पादन-व्यय का एक बड़ा भाग है, तो उपभोक्ता को अधिक मूल्य देना पडता है। ऐसी स्थिति मे उद्योग उपभोक्ता अर्थात् बाजार के निकट स्थापित होता है।

उद्योगो के स्थानीयकरण मे परिवहन अधिकारियो की भाडा सम्बन्धी नीति का भी कम हाथ नही होता। भारत के औद्योगिक विकास के आदि काल मे यहाँ परिवहन के साधन अपर्याप्त और शोचनीय दशा मे थे। अतएव जो भी उद्योग पनप सके वे समुद्र अथवा नदियो के तट पर थे। कालान्तर मे जब देश मे रेले बनी तो भी

---

१. 'The general principle governing the location of industries, *in so far as transportation costs are concerned can be* stated simply. An industry will tend to locate where the aggregate transportation charges are the least. This may be at the source of supply of some important raw material; it may be at the market for the finished products, it may be at the source of fuel supply or it may be at some intermediate point.'

(*D P. Locklin. Economics of Transportation, p. 114*).

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एक सर्वेक्षण से १०८ कारखानो के पुनर्संस्थापन मे परिवहन ५४ बार, बाजार ५३ बार, भवन सुविधायें ४७ बार, श्रम ४२ बार, कच्चा माल २७ बार और 'महाजनी सुविधायें' ३ बार उत्तरदायी पाई गई।

उनकी भाडा सम्बन्धी नीति राष्ट्रीय उद्योगो के लिये प्रतिक्रियावादी थी। वे बन्दरगाहो को जाने वाले कच्चे माल पर और विदेश से आने वाले बने हुये माल को देश के आतंरिक भागो मे भेजने के लिये कम भाडा लेती थी और इसके विपरीत देश मे बने हुये माल को वितरित करने के लिये अधिक भाडा लेती थी। इस नीति स कच्चे माल के निर्यात और विदेशी बने हुये माल के आयात को प्रोत्साहन मिलता था और देशी उद्योगो के उन्नत होने मे बाधा पडती थी। परिणाम यह हुआ कि हमारे देश मे जो कुछ उद्योग स्थापित हुये वे बन्दरगाहो म ही केन्द्रीभूत रहे। देश के अन्तर्गत औद्योगिक विकास बिलकुल न हो सका। इस नीति के परिवतन करने के उपरान्त ही देश के आन्तरिक भाग म औद्योगिक प्रगति होनी प्रारम्भ हुई। जिन उद्योगो को रेले प्रोत्साहन प्रदान करती है, उनसे कम भाडा लेती हैं और इस प्रकार उन उद्योगो को उन्नत होन का अवसर मिलता है। किन्तु जिन उद्योगो का रेले पक्षपात नही करती, वे पिछड जाते हैं और उनके कृपापात्र उद्योगो की प्रतियोगिता म नही खडे रह सकते।

कभी-कभी रेलो की भाडे सम्बन्धी नीति से उत्पन्न हुई अनुकूल परिस्थितियो से लाभ उठाने के लिये उद्योग-धन्धे अपने स्थान को छोड कर अन्य स्थान को भी चले जाते हैं। रेलो के भाडे म परिवर्तन आने के उपरान्त सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अनेक उद्योग अपना स्थान छोडकर अन्यत्र जा बसे। भाडे की नीति मे परिवर्तन आने के कारण पूर्वी क्षेत्रा के प्राचीन उद्योग मध्यवर्ती अथवा मध्य-पश्चिमी क्षेत्रो के उद्योगो स प्रतियोगिता करने म असमर्थ रहे। फलत वहाँ से उठकर वे मध्य अथवा मध्य-पश्चिम मे जा स्थापित हुए। इसी भाँति कुछ उद्योग मध्य-पश्चिम से उठकर अटलाटिक तट पर जा बसे हैं। इस प्रकार न्यू इगलैण्ड का प्राचीन औद्योगिक वैभव धीरे-धीरे समाप्त हो चला है। अटलाटिक तट से पनामा नहर के जल-मार्ग से पैसिफिक तट के साथ व्यापार करने मे कम किराया लगता है। रेल द्वारा पश्चिम से पूर्वी तट को माल लाने म भाडा अधिक लगता है।

श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)

सुविकसित परिवहन द्वारा उपस्थित की हुई सुविधाओ ने आज श्रम को अपूर्व गतिशीलता प्रदान की है जिसके फलस्वरूप विभिन्न उद्योगो मे श्रम का वितरण समान हो गया है। दूरी के कम हो जाने के कारण पारिवारिक मोह आज किसी मनुष्य की विदेश-यात्रा मे बाधक नही होता। पाश्चात्य देशो के निवासी जीवन निर्वाह के लिए विश्व के कोने-कोने म दूर-दूर देशो और उपनिवेशो मे जा बसे हैं। अग्रेज लोग भारत, ब्रह्मा, लका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, चीन, मलाया, दक्षिणी अफ्रीका, कनाडा, दक्षिणी अमेरिका आदि देशो मे काम करते पाए जाते हैं। उनम से अनेक ऐसे हैं जो वहाँ स्थायी रूप मे जाकर नही बसे। यद्यपि भारतवासियो को मोहजाल अधिक सताता है और वे अन्यत्र जाना अच्छा नही समझते तो भी वे अब देश-विदेशो मे

कार्य की खोज मे जाने लगे हैं। ब्रह्मा, लंका, मलाया, चीन, रूस, इंगलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि दूर देशों में अनेक भारतवासी कार्य करते हुए पाए जाते हैं। देश के विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में बिना रोकटोक श्रम का आवागमन होता है। बंगाली लोग दिल्ली, वम्बई और मद्रास आदि स्थानों में काम करते हैं; मद्रासी लोग उत्तरी भारत में और उत्तर-प्रदेश और बिहार के निवासी बंगाल के जूट-कार्यालयों और आसाम के चाय के बागों मे काम करते हैं। इस परिवर्तन का श्रेय परिवहन के साधनों को है। दिल्ली का रहने वाला व्यक्ति अपने परिवार को वहीं छोड़कर कलकत्ता में काम करने जा सकता है और वहाँ से उनकी देख-रेख कर सकता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर थोड़े से समय में थोड़े खर्च से वह तुरन्त वहाँ पहुँच सकता है। यही नहीं स्वास्थ्य की दृष्टि से आजकल श्रमजीवियों को भारी सुविधायें प्राप्त हैं। कारखाने के निकट घनी आबादी से दूर जहाँ न नगर की भीड़-भाड़, धुआँ-धाड़ और न चीख-पुकार है, अपने परिवार को रख सकता है और सस्ते किराए पर काम करने के लिए कुछ घण्टों के लिए शहर जाता है। प्रत्येक औद्योगिक देश में श्रमजीवियों और कर्मचारियों को सस्ते वापिसी और सामयिक टिकिट मिलते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों के निकट उनके लिए विशेष गाड़ियाँ, ट्राम, अथवा बसें चलती हैं। इन सुविधाओं के कारण वे स्वच्छ, स्वस्थ, और सुखी जीवन बिता सकते हैं और शहर के जीवन के दोषों का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता।

जीवन-निर्वाह के साधनों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण श्रमजीवियों का जीवन-स्तर आज ऊँचा हो गया है और उन्हे जीवन की अनेक सुविधाये उपलब्ध है। इसका फल भी श्रम की गतिशीलता पर बहुत पड़ा है।

औद्योगिक जीवन पर प्रभाव

इन सार्वलौकिक लाभों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लाभ हैं जो केवल औद्योगिक क्षेत्र मे विशेष प्रभाव रखते हैं।

(क) आधुनिक परिवहन के द्वारा औद्योगिक क्षेत्र मे एक **नूतन कार्य-प्रणाली (Technique)** का आविर्भाव हुआ है जिसने उद्योग-धन्धों को मनुष्य की अधिकाधिक सेवा करने की शक्ति प्रदान की है। अच्छी से अच्छी वस्तुये सस्ते से सस्ते मूल्य पर थोड़े समय मे मिलने लगी है। 'चाल और व्यय' इन दो शब्दों मे उद्योगपतियों को होने वाले सब लाभों का समावेश हो जाता है।

(ख) तेज चाल का प्रभाव : (१) उत्पादन की तीव्र-गति : परिवहन की चाल और औद्योगिक उत्पादन मे घनिष्ट सम्बन्ध है। परिवहन जितनी तीव्र-गति से होगा, उतनी ही शीघ्र आवश्यक माल औद्योगिक केन्द्र तक पहुँच सकेगा, जिससे **उत्पादन क्रिया तीव्र गति से हो सकेगी।** यदि कच्चा माल और दूसरे आवश्यक उपकरण तेजी से औद्योगिक केन्द्र तक नहीं पहुँचते और बना हुआ माल बाजार मे नहीं वितरित होता, तो उत्पादन क्रिया मन्दगति से हो सकेगी। परिवहन की चाल-

वृद्धि से औद्योगिक केन्द्र को पहुँचने वाली आवश्यक सामग्री का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। बैल, ऊँट, घोडा अथवा अन्य पशुओ से खीची जाने वाली गाडियो की चाल तीन चार मील प्रति घन्टे से अधिक नही होती जबकि धीमी से धीमी मोटर अथवा रेलगाडी की चाल पच्चीस-तीस मील होती है। अतएव प्राचीन गाडियाँ दिन भर में अधिक से अधिक पन्द्रह-बीस मील की दूरी पार कर सकती है जबकि नूतन गाडियाँ (रेल या मोटर) पाँच छः सौ मील तक की दूरी पार करने म समर्थ हैं। इसम सन्देह नही कि परिवहन के साधनो की चाल द्विगुणित होने से औद्योगिक केन्द्र की परिधि दुगुनी और चाल तीन गुनी होने से उसकी परिधि तिगुनी हो जाती है और जितनी उसकी परिधि होती है उससे कई गुना विस्तार माल के आने-जाने का हो जाता है। दुगुनी चाल से माल के आने-जाने का क्षेत्र चार गुना और तिगुनी चाल से नौ गुना हो जाता है अर्थात् वर्ग के अनुपात से बढता चला जाता है।

(२) मार्गवर्ती माल की मात्रा मे कमी—चाल अधिक होने से मार्ग मे रहने वाले माल की मात्रा कम हो जाती है। संचित माल की मात्रा कम होने मे उत्पादन और विक्रय क्रियाओ के बीच की खाई कम चौडी होकर विक्रय-राशि (Turnover) की गति तीव्रतर हो जाती है। उत्पादक को अपने बाजार की ठीक-ठीक गतिविधि जानने का अवसर मिल जाता है क्योकि माल भेजने के दिन से उसके विक्रय तक का समय बहुत कम हो जाता है।

(३) कम पूँजी—उत्पादक क्रिया की गति तीव्र होने, सत्वर परिवहन और शीघ्र बिक्री हो जाने के कारण सक्रिय पूँजी (Working Capital) की मात्रा बहुत कम हो जाती है और पूँजी पर दिये जाने वाले ब्याज का भार कम हो जाता है। साथ ही साथ विविध साधनो के उपयोग द्वारा पूँजी की मात्रा अत्यन्त बढ गई है और ब्याज की दर बहुत कम हो गई है।

(४) उपभोक्ता से सीधा सम्पर्क—उद्योगपति को एक बडा लाभ यह होता है कि एक विस्तृत क्षेत्र म बसे हुए उपभोक्ता वर्ग के साथ वह सीधा सम्पर्क रख सकता है और उसकी इच्छानुसार आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है। इससे उत्पादक और उपभोक्ता दोनो को लाभ होता है। उपभोक्ता अपनी रुचि व आवश्यकता के अनुसार माल प्राप्त करता है जिससे उसे भरपूर सन्तोष होता है, उत्पादक का उत्पादन अधिकाधिक होने से उसका क्षेत्र विस्तृत होता चला जाता है जिससे वह अधिकाधिक लाभ कमा सकता है। यदि उत्पादक अपने माल की अच्छाई मे अन्तर न आने दे तो उसकी ख्याति बढती ही चली जाती है। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली का मूल सिद्धान्त यही है कि उत्पादक स्वय अथवा अपने प्रतिनिधियो द्वारा विस्तृत क्षेत्र म फैले हुये ग्राहक वर्ग के सम्पर्क म रहकर कार्य करे। रेलो और अन्य सुविकसित परिवहन के साधनो ने ही वाणिज्य यात्री (Commercial traveller) प्रथा को जन्म दिया है।

(ग) ढुलाई व्यय कम होने के लाभ—किराए-भाड़े के कम होने से उद्योगपति को और भी अधिक लाभ हुआ है :—

(१) मूल्य में कमी—सुविकसित परिवहन के द्वारा वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी हो गई है जिससे समाज का महान् हित हुआ है। उत्पादक के लिये उत्पादन के साधनों (पूंजी, श्रम इत्यादि) का मूल्य कम हो जाने से, उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा है और उपभोक्ता को वे सब वस्तुयें सुलभ है जो उसके निकटवर्ती क्षेत्र में न उत्पन्न हो सकती हैं और न बन सकती है।

(२) प्रतियोगिता वृद्धि—बाजार का क्षेत्र विस्तृत होने के फलस्वरूप प्रतियोगिता बढ़ती है और प्रतियोगिता बढ़ने से माल अच्छा बनाने की प्रेरणा मिलती है। उपभोक्ता को अच्छा और विविध प्रकार का ही माल नहीं मिलता, वरन् उसे वह सस्ते मूल्य पर मिल जाता है।

उत्पादन केन्द्र से उपभोक्ता तक माल पहुँचाने के ढुलाई-व्यय में कमी करके सस्ते परिवहन के साधन वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी करते है। उपभोक्ता को माल जिस मूल्य पर मिलता है उस मूल्य में दो प्रकार के व्यय सम्मिलित रहते हैं: मूल उत्पादन-व्यय (अर्थात् वह व्यय जिस पर निर्माणकर्त्ता कारखाने मे माल बना कर तैयार करता है) और उपभोक्ता तक भेजने का ढुलाई-व्यय। विविध उत्पादकों के प्रथम प्रकार के व्यय मे बहुधा अधिक अन्तर नहीं होता, वह लगभग एक समान होता है। केवल ढुलाई-व्यय ही ऐसा व्यय है जो दो उत्पादक केन्द्रों के बाजार की सीमा बाँध देता है। अधिक परिवहन-व्यय से वस्तुओं का मूल्य अधिक और कम परिवहन व्यय से उनका मूल्य कम हो जाता है।

कारखानों मे बने हुए माल का अन्तिम मूल्य प्रधानतः कच्चे माल के मूल्य पर निर्भर है। सस्ती ढुलाई से कच्चे माल के एकत्रित करने का मूल्य कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप उत्पादक उपभोक्ता को सस्ता माल दे सकता है।

परिवहन की सुविधाओं द्वारा ही विशेषीकरण का सिद्धान्त सफल हो सकता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्ण प्रतियोगी परिस्थितियों मे विशेषज्ञों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होता है जो कि सस्ते मूल्य पर हो सकता है। सस्ते परिवहन के बिना यह असम्भव है। विभिन्न विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण भी मूल्यों मे भारी कमी हो जाती है। इस प्रतियोगिता का एकमात्र कारण विस्तृत बाजार है और विस्तृत बाजार का अस्तित्व सस्ते परिवहन पर निर्भर है।

बचत और पूंजी का सचय

पूंजी का संचय परिवहन की सुविधाओं पर ही निर्भर है। कुछ काल पूर्व भारत की पूंजी को सकोचशील कहा जाता था, किन्तु अब यह कथन आंशिक रूप में ही ठीक हो सकता है, क्योंकि नगर निवासी और पढ़े-लिखे लोग अपनी बचत के रुपये को उद्योग-धन्धों मे लगाने मे कोई संकोच नही करते। तो भी गाँवो मे अपार धन-

राशि उपस्थित है। निम्न श्रेणी के लोगो जैसे किसान और मजदूर को अभी हमे बचत के पैसे को विनियोजित करने के लिये प्रेरणा प्रदान करनी है। यह प्रेरणा उन्हे तभी मिल सकती है जबकि ग्रामीण क्षेत्र मे परिवहन की प्रगति द्वारा बैंको और सहकारी समितियो की सुविधाये बढाई जाये। हमारे गावो मे डाकखाने के सचय बैंक (Post Office Savings Banks) भी अधिक लोकप्रिय इसी कारण नही हो सके कि परिवहन की सुविधाओ के अभाव मे वे ग्रामीण लोगो के साथ सम्बन्ध स्थापित नही रख सकने। सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण और विभिन्न प्रान्तीय सरकारो की सडक विकास सम्बन्धी योजनाओ के सफल होने के उपरान्त गांवो मे सचय-बैंको और सहकारी समितियो की सख्या बढती जा रही है, जिनके द्वारा ग्रामीण बचत औद्योगिक उन्नति के लिये सुलभ होती जा रही है।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव

(क) सम्पर्क वृद्धि—सुविकसित परिवहन के साधनो ने दूरी कम करके मानव जाति का महान् उपकार किया है। सामाजिक व सास्कृतिक क्षेत्रो म सुविकसित परिवहन के होने वाले लाभ किसी से छिपे नही हैं। परिवहन के द्वारा ही मनुष्यो, जातियो, क्षेत्रो व विचारो म सम्पर्क स्थापित हो सका है।

हमारी विविध धार्मिक गोष्ठियों, पारमार्थिक प्रवचनो, सास्कृतिक सम्मेलनो, साहित्यिक सगठनो आदि का राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अस्तित्व व सफलता जो विश्व की सारी सामाजिक सहिष्णुता का मूल आधार है, एकमात्र सुविकसित परिवहन पर निर्भर हैं। पहले जो यात्रायें महीनो म पूरी होती थी, वे आज कुछ घटो मे समाप्त हो जाती हैं। आज एक देश के ही नही सारे विश्व के लोग एक परिवार की भाँति रहते हैं। पारस्परिक सम्पर्क द्वारा आचार विचारो के प्रसार व सूचना के सचार से सुधार की भावना बलवती हो गई है।

(ख) व्यापक दृष्टिकोण—देश-काल की सीमाओं को लांघ कर आज का मानव विश्वव्यापी वातावरण मे भ्रमण करता है, उसका दृष्टिकोण व्यापक हो गया है और उसका ज्ञान विस्तृत हो चला है।

(ग) उच्च जीवन स्तर—यह ऊपर बताया जा चुका है कि आधुनिक परिवहन ने विशेषीकरण के सिद्धान्त को जन्म दिया है, उसने मनुष्य के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने म कुछ उठा नही रखा, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार बडे पैमाने पर विशेषज्ञो द्वारा सस्ता माल बनाया जाता है और ससार की उत्पादन क्षमता उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। आधुनिक परिवहन ने मनुष्य को अधिकाधिक यात्रा करने के अवसर ही नही प्रदान किए, वरन् उसके जीवनयापन के साधनो और सकिर शक्तियो मे अपार वृद्धि की है। इस प्रकार वह अधिक धन-सम्पदा जुटाने मे समर्थ हुआ है और उसका जीवन-स्तर उच्च हो गया है।

(घ) समता एवं भ्रातृभाव—विश्व में हम जो समता और भ्रातृ-भाव देखते हैं उसका मूल कारण परिवहन का विकास ही है। हम एक भाषा बोलते हैं; हम एक सी पुस्तकें पढते है; साधारणत: हम एक ही प्रकार के वस्त्र धारण करते हैं; हम एक से खाद्य पदार्थ खाते है; हम एक से मकानो मे रहते हैं और सम्पूर्ण व्यक्तिगत् विरोधी भावो के होते हुए भी आज हमारी अन्तरात्मा मे समभाव और आत्मीयता की प्रधानता है। यद्यपि इस समता के अनेक कारण हो सकते है किन्तु सम्भवत: सबसे बडा और मूल कारण परिवहन का विकास ही है।

(ङ) अंध-विश्वास एवं रूढ़िवाद का अन्त—भारत मे आधुनिक परिवहन के विकास के फलस्वरूप सदियो पुराने अन्ध-विश्वास कम हो गये है। हम मुहूर्त देख कर ही यात्रा किया करते थे या विशेष दिन विशेष दिशा मे यात्रा करते थे। अब ये रूढियाँ बहुत कम हो गई है क्योकि रेले प्रतिदिन प्रत्येक दिशा मे चलती हैं। छुआछूत का भूत भी अब हट चुका है। अब रेलो और जहाजो मे बिना जाति-पाँति का भेद-भाव किये सब जाति के लोग चलते है। न किसी का स्पर्श मात्र से शरीर दूषित होता है और न उसके खाद्य-पदार्थ ही खराब होते है।

(च) जन-संख्या का वितरण—नगरो व शहरो की स्थिति निर्धारित करने और जनसख्या के वितरण मे परिवहन का महत्वपूर्ण योग रहा है। आज के नगरो की जनसंख्या कारखानो के निकट ही केन्द्रीभूत नही होती, वह निकटवर्ती प्रदेश में शहर से मीलो दूर बस जाती है और कर्मचारी प्रतिदिन कार्य करने के लिये कारखानो मे आते हैं और संध्या समय लौटकर घर पहुँच जाते है। नगर की भीड-भाड, चहल-पहल, कारखानो की धूआँ-धाड और दूषित वातावरण से दूर स्वच्छ वायुमण्डल में रह कर श्रमजीवी स्वस्थ और सुखी जीवन विताते हैं। नगर की घनी आबादी के कारण उत्पन्न होने वाली सामाजिक कुरीतियाँ आज कम हो गई हैं।

राजनीतिक क्षेत्र

(क) आन्तरिक शान्ति—किसी देश का सुयोग्य शासन और सफल सुरक्षा सुविकसित परिवहन पर ही निर्भर है। भारत जैसे विस्तृत देश मे शान्ति स्थापित रखना बिना द्रुतगामी परिवहन के सम्भव नही। देश के किसी भाग मे झगड़ा-फिसाद या शान्ति-भंग होने पर तुरन्त पुलिस या फौज भेज कर शान्ति स्थापित की जाती है। प्राचीन काल मे यह सम्भव न था। राजाओ के प्रतिनिधि कभी-कभी स्वयं शासक बन बैठते थे।

(ख) साम्राज्यों का आविर्भाव—राजनीतिक क्षेत्रो अथवा राज्यो की सीमा निर्धारित करने का श्रेय परिवहन को ही है। परिवहन के विकास के साथ ही यूनान के "नगर-राज्य" छिन्न-भिन्न हो गये। एक नगर के अन्तर्गत सीमाबद्ध रहने वाले राज्य प्राचीन हो गये और बडे-बडे साम्राज्यो का मार्ग खुल गया। ब्रिटेन जैसे

साम्राज्य बनने लगे, जिनका अधिकार विश्व भर के सभी महाद्वीपो और अनेक द्वीपो म फैल गया ।

(ग) सीमा व देश-रक्षा—राज्यो की स्वतन्त्रता स्थिर रखने के लिय सैनिक बल और सुरक्षा अनिवार्य है । सीमा को सुरक्षित रखने के लिये परिवहन की सुविधायें अत्यन्त आवश्यक ह ताकि आवश्यकता पडने पर तुरन्त सैन्य-बल और तत्सम्बन्धी सामग्री (अस्त्र-शस्त्र) वहा भेजी जा सके । कोरिया जैस दूर दश म अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास आदि मित्र राष्ट्रा द्वारा युद्ध म भाग लेना परिवहन की सुविधाओ द्वारा ही सम्भव हो सका । भारत म रेलो का निर्माण राजनीतिक कारणो स ही हुआ था ।[1] रोम वालो के सन्मुख सडकें बनाते समय प्रशासनात्मक व सैनिक ध्येय ही मुख्य थे । सयुक्त राष्ट्र अमेरिका म यूनियन पैसिफिक व अन्य रेल रूस म ट्रास साइबेरियन रेल, अफ्रीका की कप से काहिरा तक और जर्मनी की बलिन से बगदाद तक की योजनाओ इत्यादि के पीछे भी सम्भवत यही उद्देश्य प्रमुख रहा है ।

दो विश्वव्यापी युद्धो ने सुरक्षा के दृष्टिकोण स परिवहन का महत्व भलीभाँति जतला दिया है । सडक परिवहन और वायुयानो ने युद्धक्षेत्र म महत्वपूर्ण काम किया है । इन्ही दो महत्वपूर्ण हथियारो के द्वारा युद्ध नीति और सैनिक प्रणाली म क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गय हैं ।

(घ) सरकारी आय वृद्धि—परिवहन के विकास से औद्योगिक उन्नति होती है जिसका प्रतिफल देश की सरकार को करो के रूप म मिलता है । भूमि की मूल्य वृद्धि से भी सरकारी कोष मे वृद्धि होती है । परिवहन का व्यक्तिगत स्वामित्व हो, तो आयकर के रूप म सरकार को आय प्राप्त होती है यदि उनका स्वामित्व सरकारी हो तो सरकार उनसे लाभाश प्राप्त करती है । भारतीय रेलें प्रतिवर्ष सरकारी कोष म एक निश्चित धन राशि देती हैं । देश की सरकार को अपना माल ले जाने के लिए

---

1 It cannot be necessary for me to insist upon the importance of speedy and wide introduction of railway communication throughout the length and breadth of India A single glance cast upon the map recalling to mind the vast extent of the Empire we hold, the various classes and interests it includes the wide distances which separate the several points at which hostile attacks may at any time be expected the perpetual risk of such hostility appearing in quarters where it is least expected the expenditure of time of money and of life that are involved in even the ordinary routine of military movements, would convince the urgency of speedy communications '

—*Lord Dalhousie*

कम भाड़ा देना पड़ता है। सभी देशों में डाक, सरकारी माल, सैनिक सामग्री इत्यादि ले जाने के लिये रेलें कम किराया-भाड़ा लेती हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **परिवहन किसी जाति की उन्नति का दर्पण है। वह वाणिज्य, व्यापार व उद्योग इत्यादि के बीच की एक कड़ी है। परिवहन आज प्रत्येक व्यक्ति एवं वस्तु की एक अनिवार्य आवश्यकता है।** आधुनिक विज्ञान के सारे आविष्कार और सफलतायें; कला, साहित्य, संस्कृति और सभ्यता की सारी प्रगति; वाणिज्य, व्यापार और उद्योग की सारी उन्नति, शून्यवत् हो गई होती यदि उनके संदेश को संसार के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिये आधुनिक परिवहन के साधन न होते।

३.

परिवहन के साधन

(Means of Transport)

आज भारत देश मे उन सभी परिवहन के साधनो का प्रयोग होता है जिनका किसी भी समय किसी भी देश के इतिहास में प्रयोग हुआ है। पिछले पृष्ठो मे परिवहन के आवश्यक अंगो (Elements) का वर्णन किया जा चुका है। पथ, वाहन अथवा शक्ति के अनुसार परिवहन के साधनो का वर्गीकरण किया जाता है। पथ के अनुरूप वाहन होना आवश्यक है। अतएव मुख्यत: पथ अथवा वाहन और चालक शक्ति को ध्यान मे रखकर विभिन्न साधनो का वर्गीकरण किया जाता है। चालक शक्ति को आधार मानकर परिवहन के साधनो को निम्न तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :—

(क) मनुष्य अथवा पशु-शक्ति—इस साधन मे मनुष्य अथवा पशु की मांस-पेशी-शक्ति का प्रयोग होता है। पहाड़ी अथवा वनाच्छादित प्रदेशो और पिछड़ी हुई जातियो मे मनुष्य ही बहुधा ढुलाई का काम करते हैं। सिर, कन्धे अथवा पीठ पर ये बोझा ले जाते है। कुली और मजदूर भी इसी भाँति परिवहन कार्य करते हैं। कहीं-कहीं हाथ के ठेलो का भी प्रयोग किया जाता है। घोड़ा, गधा, खच्चर, ऊँट, हाथी, बैल, भैंसे, रेनडीयर, याक, कुत्ता इत्यादि पशु संसार के विभिन्न भागो मे ढुलाई का कार्य करते हैं। बैलगाड़ी और घोड़ा-गाड़ियाँ इत्यादि भी इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ख) यांत्रिक शक्ति (Mechanical Power)—मोटर, रेल, ट्राम, जहाज, विमान इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं। यांत्रिक वाहनो मे भाप, तेल अथवा बिजली की शक्ति से चलने वाले यंत्रो अथवा इ जनो का प्रयोग होता है।

(ग) वायु-शक्ति—आज के सभ्य संसार मे भी कहीं-कहीं पाल वाले जहाजो अथवा नावो का प्रयोग होता है, यद्यपि आजकल बहुधा जहाज भाप अथवा तेल की शक्ति से ही चलते हैं।

वाहन अथवा मार्ग के अनुसार भी परिवहन के साधनो के तीन वर्ग किए जाते है :—

(१) स्थल परिवहन—इसके अन्तर्गत स्थल मार्ग का उपयोग करने वाले सभी साधन सम्मिलित हैं। (क) सड़क परिवहन, (ख) रेल मार्ग, (ग) नल (Pipe line) इत्यादि इसके मुख्य सदस्य हैं।

(२) जल परिवहन—जल-मार्गों के दो उपवर्ग किये जाते है : (क) अन्तर्देशीय जल-मार्ग जिनमे नदी, नहरें अथवा झीलें सम्मिलित है, (ख) सामुद्रिक मार्ग जिनकी दो उपश्रेणियाँ मानी जाती है : प्रथम समुद्रतटीय मार्ग और दूसरे समुद्र के आन्तरिक मार्ग।

(३) वायु अथवा विमान परिवहन के भी दो अंग माने जाते हैं। एक का सम्बन्ध नागरिक आवश्यक्ताओ की पूर्ति करना है और दूसरे का सम्बन्ध सैनिक एवं सुरक्षा से है। यद्यपि इन दोनो के सगठन मे भारी अन्तर पाया जाता है, किन्तु तो भी दोनो एक ही वंश अथवा परिवार के सदस्य हैं और दोनो की रगो मे एक ही रक्त का संचार होता है।

सडक, रेल, पोतचालन, वायुयान इत्यादि आधुनिक परिवहन के प्रमुख साधनो मे गिने जाते है और यही परिवहन-सेवा के प्रधान प्रतीक है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक बडे भाग का सुचारु संचालन इन्ही चारो साधनो की कृपा पर निर्भर है; वस्तुओ अथवा मनुष्यो के गमनागमन के भी यही मुख्य साधन हैं। अतएव परिवहन सम्बन्धी अध्ययन इन्ही के पारस्परिक सम्बन्धो व व्यवहारो एवं इन्ही के विकास के अध्ययन का इतिहास समझा जाता है।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और यातायात का एक बडा भाग अथवा लगभग सवका सब समुद्र के मार्ग से आता-जाता है (केवल कुछ अंश वायुयान ले जाते हैं) और सामुद्रिक मार्ग का प्रधान साधन एकमात्र पोतचालन है। राष्ट्रीय यातायात के लिए रेले, सडके, आन्तरिक जलमार्ग एव वायुयान प्रमुख-साधन है।

नल—जिन देशो मे मिट्टी के तेल की प्रचुरता है, वहाँ नलो (Pipe lines) का भी राष्ट्रीय यातायात ले जाने मे महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु इनका महत्व केवल मिट्टी के तेल के लिए ही माना जाता है, यद्यपि सभी आधुनिक नगरों मे पानी और मलमूत्र नलो द्वारा ले जाए जाते है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और मध्यपूर्व के कुछ देशो मे इस साधन का विशेष प्रयोग होता है। हाल मे भारत मे मिट्टी का तेल साफ करने के कई कारखाने खोले गए हैं जिनका तेल नलो द्वारा वितरित किया जायगा। आसाम मे भी नहरकटिया स्थान पर स्थित तेल के कुँए से दिगवोई के तेल स्वच्छ करने के कारखाने तक तथा नहरकटिया से ननमती व बरौनी (बिहार) तक नल द्वारा तेल ले जाने की योजना बनाई गई है। इस भाँति भारत मे भी इस साधन की स्थापना हो

गई है। इस योजना के अन्तर्गत डिगबोई के निकट नहरकटिया की तेल शोधनशाला से बरौनी (बिहार) तक ७२० मील नल डाले जायेंगे। इसका प्रथम चरण (Stage)
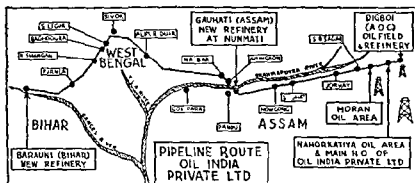
चित्र १०—नल योजना

नहरकटिया से गोहाटी के निकट ननमती तक २७० मील का होगा जो अक्टूबर १९६१ तक पूरा होगा। इसके नल १६ इन्च व्यास के होंगे। इसका दूसरा चरण ननमती शोधनशाला से ४५० मील बरौनी शोधनशाला तक १९६२ के अन्त तक पूर्ण होगा जिसमे १४ इन्च व्यास के नल डाले जाएंगे। पूरे होने पर ये नल प्रतिवर्ष ४० लाख टन तेल की ढुलाई किया करेंगे।

एक दूसरी बडी योजना भी भारत सरकार के विचाराधीन है। यह २००० मील लम्बी विशाल योजना है जिसके द्वारा अशोधित तेल और तेल पदार्थ देश के विभिन्न भागो मे ले जाए जाया करेंगे। यह नल-योजना तीन क्षेत्रो म बाँटी गई है : (१) उत्तरी क्षेत्र ६०० मील जो बरौनी से कानपुर, लखनऊ और इलाहाबाद हो कर दिल्ली तक होगा, (२) केन्द्रीय क्षेत्र १०७० मील लम्बा होगा जो बम्बई-अहमदाबाद (३०० मील), बम्बई-भुसावल (३५० मील), बम्बई-पूना (१२० मील), तथा पूना-हैदराबाद (३०० मील) को जोडेगा। (३) दक्षिणी क्षेत्र की लम्बाई ३५० मील होगी। यह कोचीन बन्दरगाह को मद्रास और बंगलौर से मिलाएगा।

राष्ट्रीय यातायात की ढुलाई के चार प्रमुख साधनो मे सडके और सडक परिवहन का सर्वोपरि स्थान है। देश मे इन चारो साधनो की लम्बाई इस प्रकार हैं—

परिवहन के साधन	लम्बाई (मीलो मे)	कुल का प्रतिशत
रेले	३५,२००	८
सडकें	३,९८,०००	८६
नदिया व नहरें	५,८००	१
वायु मार्ग	२३,०००	५

उक्त तालिका मे स्पष्ट है कि भारत मे सडकें सबसे महत्वपूर्ण परिवहन पथ हैं। सडकों और आन्तरिक जल मार्गों द्वारा ले जाए जाने वाले यातायात के आँकड़े उपलब्ध नहीं। यदि इस प्रकार के आँकड़े उपलब्ध हुए होते तो सड़क परिवहन की महत्ता पर और भी अच्छा प्रकाश पड सकता था। राष्ट्रीय योजना समिति ने स्पष्ट कहा है कि सडक परिवहन सब साधनो से अधिक माल और यात्रियों को ले जाता है।* यह साधन अपने ही देश मे नहीं अन्य देशो मे भी सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे परिवहन के सब साधनो की लम्बाई मे सडको का वही अनुपात है जो भारत मे, जैसा कि नीचे की तालिका से विदित होता है :—

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में आधारभूत परिवहन सुविधायें†

सेवा	लम्बाई (मीलो मे)	कुल का प्रतिशत
सडकें	१७,५७,०००	८०
रेलें	२,२६,४३८	१०
वायुपथ (राष्ट्रीय)	३६,३६८	२
नल (मिट्टी का तेल)	१,४१,८८७	७
अन्तर्देशीय जल मार्ग	२७,३००	१
कुल लम्बाई	२१,६१,६६३	१००

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के यातायात सम्बन्धी आंकडो से भी सड़क परिवहन के नेतृत्व का ज्ञान होता है।

---

* On the road or in surface transport, which is still the most commonly used medium, carrying the largest quantity of goods and passengers, we have all kinds of vehicles-both ancient and modern, pack animals in your trackless areas as well as human porters on our mountain ranges.
(*Report of the National Planning Committee on Transport, p. 19*).

† Charles L. Dearing and Wilfred Owen: *National Transportation Policy 1949, p. 413.*

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे परिवहन प्रसार*

सेवा	टन मील		यात्री मील	
	संख्या (करोड)	कुल का प्रतिशत	संख्या (करोड)	कुल का प्रतिशत
रेलें	६६,४४७	६६·७८	४,५९३	१३·०८
सडकें	७,७९२	७·८३	२९,७४१	८४·५७
आन्तरिक जलमार्ग	१४,८३६	१४·९१	१८५	०·५३
नल (तेल)	१०,४२५	१०·४७	—	—
वायुमार्ग (राष्ट्रीय)	१०	·०१	६०६	१·७२
कुल	९९,५००	१००·००	३५,१२५	१००·००

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि माल के लिये रेलें और यात्रियो के लिये सडके प्रधान है, किन्तु दोनो प्रकार के यातायात का सम्मिलित प्रभाव देखे तो सडक परिवहन ही सर्वोपरि साधन है। कुल यातायात का लगभग ४६ प्रतिशत सडकें, ४० प्रतिशत रेलें, ८ प्रतिशत जलमार्ग, ५ प्रतिशत नल और १ प्रतिशत वायुयान ले जाते हैं।

विभिन्न साधनों के लाभ-हानि

(१) रेलें—विस्तृत भूभाग पर अमित यातायात के निमित्त परिवहन सुविधाये प्रस्तुत करने मे रेले अद्वितीय साधन हैं। पर्याप्त मात्रा म यातायात मिल सके तो सभवत कुछ जलमार्गों और नलो को छोडकर रेलो के समान कोई भी साधन सस्ता नही हो सकता और न कोई भी स्थलीय साधन दूरवर्ती यातायात के लिये इतना तेज ही हो सकता है जितना रेले और जहा जलमार्ग अथवा नल अधिक सस्ते होते हैं, वहाँ भी उनकी सेवा केवल कुछ ही प्रकार के यातायात के लिय सीमित होती है।

तो भी रेलो के निम्न लाभ उल्लेखनीय हैं: (१) सडको की भाँति रेले स्थल के किन्ही दो स्थानों तक सभवत: नहरो की अपेक्षा कम व्यय से बनाई जा

* Ibid P. 414.

सकती हैं, किन्तु सड़कों की अपेक्षा इनका व्यय अधिक पड़ता है। भारत में एक मील रेल-पथ बनाने में ७ लाख रु० और एक मील सड़क-पथ बनाने में ८५००० रु० व्यय होते हैं। (२) नलों को छोड़कर अन्य सभी साधनों से रेलें ऋतु परिवर्तन से कम प्रभावित होती हैं। न सड़कें और न हवाई मार्ग ही इतने सुरक्षित होते हैं और न इतने भरोसे वाले जितनी रेलें। अधिक वर्षा कुहरा एवं आँधी के कारण मोटरों और विमानों को अपना कार्यक्रम बदलना पड़ता है, किन्तु रेलें बराबर काम करती रहती हैं। (३) अधिक चाल के लिये रेलों को अपेक्षाकृत कम चालक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। (४) अधिक मात्रा में यातायात ले जाने के लिये रेलें सभी साधनों से सर्वोपरि हैं। लम्बी और भारी रेलगाड़ियाँ सुविधापूर्वक सचालित की जा सकती हैं। (५) बड़े आकार की किन्तु सस्ती वस्तुओं (खाद्यान्न, रुई, जूट, तिलहन एवं अन्य औद्योगिक कच्चे पदार्थ) तथा दूरवर्ती (सामान्यत: १५० मील से अधिक) यातायात के लिये रेलें अद्वितीय साधन हैं।

सीमान्त नियाओं मे लगने वाले समय और व्यय द्वारा रेलों के ये लाभ बहुत कुछ निष्फल हो जाते हैं। प्रेषित स्थान पर माल लादने एवं गाड़ियाँ पूरी करने में बहुत समय और धन व्यय होता है। इसी भाँति मध्यवर्ती तथा अन्तिम स्थान पर धन व समय लगता है। इन क्रियाओं से भाड़ा बहुत कुछ बढ़ जाता है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि मालगाड़ियाँ मोटर ठेलों की अपेक्षा सामान्यत: धीमी चाल से चलती हैं, किन्तु तेज गाड़ियाँ (Express Trains) भी १५० मील से कम दूरी तक ठेलों से कम चाल प्राप्त कर पाती हैं, यद्यपि साधारणत: १०० मील से अधिक दूरी के लिये रेलें मोटरों से तेज समझी जाती हैं। अमेरिका का अनुभव यह भी बतलाता है कि (२० मील से कम दूरी को छोड़कर) डिब्बे भरे माल के लिये मोटर ठेले की अपेक्षा रेल की सेवा सस्ती पड़ती है, किन्तु थोड़े माल और ७५ मील (कभी-कभी १५० मील) से कम अन्तर के लिये मोटर ठेले की सेवा सस्ती पड़ती है।[1] रेल की सेवा मे सड़क की सेवा के समान लचक नहीं होती और न यह मोटर की भाँति द्वार तक सेवा प्रदान करने मे समर्थ है।

(२) जलमार्ग—माल ढोने के दृष्टिकोण से समुन्नत जलमार्ग रेल से दूसरे स्थान पर है। यह भी याद रखना चाहिये कि रेलें सभी प्रकार के माल के लिये लोक-वाहक (Common Carriers) संस्थाएँ हैं, किन्तु जलमार्गों से केवल कुछ ही

1. Truman C Bigham : *Transportation, Principles and Problems*, 1947, p 81. The over-all speeds were as follows highway 15 miles per hour, railway 5 miles; waterway 3 to 10 miles; and pipe.line 1 to 5 miles. Operative cost per (net) ton-mile (excluding interest and expenditures made by other than carriers) of rail carriers was 8 3 mills; of water carlot carriers, 6 mills; of water cargo carriers, 1·25 mills; and of pipe lines, 3 2 mills.

सस्ती व बडे आकार वाली वस्तुये जैसे लकडी, भूसा, फूस, करवी, तरकारियाँ, कोयला, रेत, ईंट, चूना, पत्थर इत्यादि ढोई जा सकती हैं। तो भी जल परिवहन का एक बडा लाभ उसके लिये अपेक्षाकृत कम चालक शक्ति की आवश्यकता है जबकि चाल धीमी हो। जलयान सम्बन्धी चालक शक्ति की एक सामान्य इकाई कई माल-गाडियों से अधिक माल खीचने मे समर्थ है। इसी भांति प्राकृतिक जलमार्गो को परिवहन योग्य बनाने के लिये कम पूंजी और पोषण व्यय की आवश्यकता पडती है। इन विशेषताओ के कारण जल परिवहन रेल की अपेक्षा सस्ता पडता है। उदाहरणार्थ, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका म रेल द्वारा १०० मील दूर कच्चा लोहा ले जाने म जितना खर्च पडता है, डूलथ से एरी झील के बन्दरो तक लगभग १००० मील की दूरी तक जलमार्ग से उसे ले जाने मे कही कम खर्च पडता है।[1] जल परिवहन के गुण-अवगुणो का विस्तृत विवरण तत्सम्बन्धी विशेष अध्याय म दिया गया है।

(३) नल—नलो का उपयोग कम वस्तुओ के लिये और कम लोगो द्वारा किया जाता है। यातायात पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध हो तो तेल ले जाने के लिए नलो से कोई भी धरातलीय साधन सस्ता नही हो सकता। नलो का संचालन साधारणत: सरल होता है और उसके लिये कम परिश्रम की आवश्यकता पडती है। पोषण व्यय भी कम होता है। यातायात एक ही दिशा मे एक ही चाल से चलता रहता है और आयहीन यातायात (dead weight) कुछ भी नही होता। आग लगने और भाप से उडने की हानि नलो द्वारा न्यूनतम होती है। मार्ग अधिकार (Right-of-way) सम्बन्धी व्यय अधिक नही होता, क्योकि मार्ग सकुचित होता है। नल भूमि म दबे रहते हैं और वे बहुधा ग्राम्य क्षेत्र से हो कर जाते है। तेल जैसे तरल पदार्थ ले जाने के लिय उक्त कारणो से नल सभी साधनो से सस्ते पडते हैं। सन् १९४६ मे सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे मोटर ठेला द्वारा तेल ले जाने का भाडा ६ १२५ सेन्ट प्रति टन मील रेलो द्वारा १ ०६६ सेन्ट, तथा नलो द्वारा ० ३४४ सेन्ट आंका गया था। नलो के भाडे की दरें रेलो की दरो की अपेक्षा दो से चार गुने तक कम होती हैं।[2]

(४) सडक परिवहन—सडक-वाहन का महत्व दो विशेषताओ पर निर्भर है। एक यह कि वाहन की इकाई छोटी होती है, और दूसरी यह है कि वाहन अपने मार्ग से सर्वथा सम्बद्ध नही होता। देश के किसी भाग से किसी भाग तक सडक वाहन लघु भार-वाहन सम्बन्धी सेवा प्रदान करने मे समर्थ है और आवश्यकता हो तो द्वार-द्वार तक, ऊंची चढाइयो पर और टूटी-फूटी सडको पर भी यह सेवा प्रदान की जा सकती है। इस भांति सडक-वाहन अन्य साधनो की अपेक्षा अत्यन्त लचक के साथ और विभिन्न प्रकार के कार्य कर सकता है। जिन क्षेत्रो तक अन्य साधनो की पहुँच

---

1. Ibid, p 84.
2 Truman C Bigham. *Transportation, Principles and Problems,* 1947, p 87.

सम्भव नहीं सड़क-वाहन उनके विकास का भी मार्ग प्रशस्त कर सकता है और नई-नई सेवायें उपलब्ध करने में समर्थ है। देश के अनेक क्षेत्र और देश की एक बड़ी जनसंख्या ऐसी है जो किसी रेल, जलमार्ग अथवा वायुमार्ग से कोसों दूर है और केवल सड़क सेवा पर निर्भर है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है—कम दूरी और कम माल ढोने के लिए सड़क परिवहन अपनी चाल और व्यय दोनों प्रकार से अन्य साधनों से उत्तम है।

(५) वायुमार्ग—यातायात की मात्रा के विचार से अन्तर्देशीय परिवहन के सभी साधनों में वायु परिवहन का महत्व कम है। बहुधा इस साधन का उपयोग यात्री यातायात के लिये किया जाता है। भारतवर्ष जैसे अविकसित राष्ट्र का तो कहना ही क्या, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे समृद्ध देश में वायुमार्ग से यात्रा करने वाले अनुसूचित यात्रियों की संख्या रेल-यात्रियों की संख्या के एक प्रतिशत से भी कम है। १६४३ में संयुक्त राष्ट्र में बड़े नगरों के बीच आने-जाने वाले माल का केवल $\frac{1}{10}$ प्रतिशत भाग वायुमार्ग से ले जाया गया। इसी भाँति नगरों के बीच के यात्री-मीलों की संख्या का केवल ०·६ प्रतिशत वायुयानों द्वारा उक्त वर्ष में ले जाया गया। परिमाण की ओर ध्यान न देकर केवल गुणों को देखें तो वायु परिवहन सर्वोत्तम समझा जा सकता है। तीव्र चाल इसका सबसे बड़ा गुण है। ३०० मील प्रति घण्टे की चाल आज सामान्य समझी जाती है। नये आविष्कृत वायुयान १००० मील प्रति घण्टे की चाल से जाने की क्षमता रखते हैं। भौगोलिक रुकावटों से मुक्ति इसका दूसरा गुण है। जहाज अथवा रेलगाड़ी की अपेक्षा वायुयान एक छोटी इकाई होती है। अतएव इसकी सेवा का अनुसूचन सरल एवं सुविधाजनक है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि वायुयान बहुत कम यातायात ले जाने की क्षमता रखता है अर्थात् प्रति इकाई व्यय बहुत अधिक पड़ता है। जोखिम भी इसमें सब साधनों से अधिक होती है। अमेरिका का अनुभव बतलाता है कि रेलें विमान की अपेक्षा २४ गुनी सुरक्षित समझी जाती हैं। ऋतु का प्रभाव भी इस पर तुरन्त पड़ता है। आराम भी इसमें अन्य साधनों की बराबर नहीं मिलता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रेलें अन्तर्देशीय साधनों में माल की ढुलाई के विचार से सर्वोपरि और सम्पूर्ण यातायात (माल और यात्री) के विचार से दूसरे स्थान पर समझी जाती हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में माल यातायात में रेलों का भाग ६७%, आन्तरिक जलमार्गों का १५%, नलों का ११% और सड़कों का ८% है; यात्री यातायात में सड़कों का भाग ८५%, रेलों का १३% और विमानों का २% है। आँकड़ों के अभाव में हम भारतीय साधनों की ऐसी तुलना करने में असमर्थ हैं। इस समय भारतीय रेलें ४६७१ करोड़ टन मील माल और ४२२६ करोड़ यात्री मील प्रतिवर्ष ले जाती है, मोटरों का यातायात ३७७० करोड़ टन मील माल तथा ११४४ करोड़ यात्री मील यात्री यातायात आँका गया है। इससे ज्ञात होता है कि यात्री यातायात में रेलों का भाग ८०% और माल यातायात में ५५% है; मोटरों का भाग

यात्री यातायात म २०% और माल यातायात में ४५% है। ये आँकडे पूर्ण नही हैं, क्योंकि भारत म सडक परिवहन का तात्पर्य केवल मोटर गाडिया से ही नही है। भारत की एक करोड बैलगाडियाँ और अनेक पशु भी सडक मार्ग से सम्भवत: उतना ही यातायात ले जाते हैं जितना रेलें। यदि आँकडे उपलब्ध हो तो संयुक्त राष्ट्र की भाँति हमारे देश म भी सडक परिवहन रेलो से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा।

आँकडो के अभाव मे आन्तरिक जलमार्गो की अन्य अन्तर्देशीय साधनो से तुलना सम्भव नही है। तो भी यह निर्विवाद है कि आसाम के चाय और जूट यातायात तथा बगाल के जूट यातायात के लिये जलमार्ग रेलों व सडको दोनो से अधिक उपयोगी हैं।

जलमार्गो पर विचार करते समय हम समुद्रतट पर चलने वाले धुआँकशो और पालपोतो को न भूल जाना चाहिए। भारत के पश्चिमी तट पर इनकी सेवा विशेष उपयोगी है। कोयला, नमक, सीमेन्ट, अन्न इत्यादि की ढुलाई मे इनका महत्वपूर्ण हाथ है। समुद्रतट पर लगभग २६ लाख टन माल की ढुलाई के लिए ये उत्तरदायी हैं।

जल परिवहन के अन्तर्गत सामुद्रिक जहाज भी सम्मिलित हैं, किन्तु इनकी सेवा का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है। अन्य साधन केवल देश के अन्तर्गत सेवा प्रदान करते हैं, सामुद्रिक जहाज विदेशी व्यापार के प्रमुख साधन हैं। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ९९% सामुद्रिक मार्ग से होता है।

४.

परिवहन-समन्वय

(Transport Co-ordination)

समन्वय का अर्थ

परिवहन समन्वय का अर्थ प्रत्येक परिवहन-सेवा को केवल वह काम सुपुर्द करना है जिसे वह दूसरों की अपेक्षा कुशलतापूर्वक करने में समर्थ हो, और जिसे करने से उसका उस क्षेत्र में पूर्णतम विकास सम्भव हो। इस कार्य-विभाजन के अंतर्गत परिवहन क्षेत्र में अस्वस्थ्य प्रतियोगिता का निवारण अन्तर्निहित है ताकि प्रत्येक परिवहन-सेवा से उसके विशेष गुणों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। प्रत्येक देश का हित सस्ती से सस्ती एवं कुशल से कुशल परिवहन-सेवा जुटाने में है और समन्वय का ध्येय अकुशल सेवाओं को हटाकर अधिकतम कुशल सेवा निम्नतम व्यय द्वारा प्रदान करना है। समन्वय से विविध परिवहन सेवाओं अथवा संस्थाओं का पारस्परिक विरोध मिट जाता है तथा उनमें मैत्री-भाव बढ़ता है। प्रत्येक पक्ष केवल उसी यातायात को ले जाने में हाथ डालता है जिसके ले जाने में वह निम्नतम भाड़े ले सकता है।

जहाँ परिवहन सेवाओं की माँग संयुक्त होती है अथवा वे एक दूसरी की अनुपूरक होती हैं, वहाँ परिवहन के विभिन्न साधनों अथवा संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे परस्पर उच्चकोटि का सहयोग प्रदर्शित करेंगी। यह सहयोग मिलजुल कर सेवा-सुविधा का प्रवर्तन जैसा कि पेसलवेनिया लोक कार्य[1] में किया गया, अथवा दो या अधिक साधनों द्वारा यातायात सम्मिलित रूप में ले जाना, अथवा मिलजुल कर केवल सीधा बुक करना (through booking) इत्यादि रूपों में हो सकता है।

---

१. पेसलवेनिया प्रायोजना संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १८३४ में चालू हुई थी। यह रेल और नहर कम्पनियों के सहयोग का आदर्श उदाहरण है। इसके अन्तर्गत ८१ मील रेल-पथ, १७३ मील ऊपरी नहर-मार्ग, ३६ मील रेल उठाई मार्ग तथा १०५ मील निचली नहर बनाई गई और इस भाँति फिलेडलफिया से पिट्सवर्ग तक अनवरत परिवहन सेवा चालू की गई।

समन्वय का तात्पर्य विभिन्न साधनो के सतुलित एवं आयोजित विकास से भी है। भारत मे रेलो ने अन्य परिवहन के साधनो (सड़क एव आन्तरिक जलमार्ग) को बुरी तरह पछाड़ डाला है। अतएव समन्वय द्वारा सतुलन अत्यन्त आवश्यक है।

समन्वय के मुख्यत: दो रूप होते हैं : (१) "समन्वित सचालन" और (२) "कार्य विभाजन"। प्रथम युक्ति के द्वारा परिवहन के विविध साधनों का सम्मिलित रूप में अधिकतम उपयोग किया जाता है और इस भांति सेवा मे सुधार और व्यय में कमी की जाती है। इसके अन्तर्गत बाहरी एजेन्सी (Out agency) की भांति माल अथवा यात्रियो के विस्तार के लिए रेल सेवा के साथ ही साथ सड़क अथवा आन्तरिक जलमार्ग का प्रयोग किया जाता है। इस म (क) रेल-सड़क अथवा रेल-नदी के अवसान केन्द्रो (terminals) का सम्मिलित प्रयोग किया जाता है, अथवा (ख) रेल-सड़क व रेल-नदी से यात्रा करने के निमित्त सीधे टिकट दिए जाते है। द्वितीय क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक यात्री और माल की ढुलाई के लिए किसी साधन विशेष अथवा कई साधनो का सम्मिलित प्रयोग करने की बात विचारपूर्वक निश्चित की जाती है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न (क) वस्तुओ अथवा (ख) मार्गों का विविध साधनो के बीच ऐच्छिक अथवा वैधानिक बटवारा कर दिया जाता है।

किसी क्षेत्र म उपलब्ध यातायात के लिए परिवहन सुविधाओ के अभाव और आधिक्य पर भी समन्वय का रूप निर्भर करता है। युद्धकाल म परिवहन सुविधाये अपर्याप्त होती हैं और सचालन व्यय का प्रभाव गौण रह जाता है। अतएव भिन्न प्रकार का नियत्रण लगाना पडता है। भारत म इस समय समन्वय के दोनो ही रूप महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि देश मे परिवहन सुविधाओ का अभाव है, तो भी कुछ क्षेत्र (कुछ बडे नगर) ऐसे हो सकते हैं जहां उनका आधिक्य हो। भारतीय सविधान के अन्तर्गत परिवहन विषय का उत्तरदायित्व केन्द्रीय और राज्य दोनो ही सरकारो को दिया गया है। अतएव परिवहन समन्वय की हमारी एक समस्या राज्यो मे परस्पर तथा राज्यो एव केन्द्र के बीच सम्बन्ध स्थापित करना भी है। मोटर वाहनो पर कर लगाने की प्रथाएँ एव राज्य सरकारो की विविध परिवहन नीति भी देश मे सड़क एव आन्तरिक जल-मार्गो की दुर्दशा की सूचक तथा परिवहनस मन्वय के महत्वपूर्ण प्रश्न का एक पहलू है। विभिन्न राज्यो मे व्यक्तिगत मोटर वाहनो के साथ-साथ राष्ट्रीय सड़क सेवाओं का चालू रहना भी हमारी परिवहन समन्वय समस्या म जटिलता उत्पन्न कर देता है। सक्षेप में भारत म परिवहन समन्वय का सम्बन्ध (क) रेल और सड़क, (ख) रेल और आन्तरिक जलमार्ग तथा (ग) रेल और समुद्रतटीय जहाज परिवहन से है। अभी विमान परिवहन किसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा नही करता।

समन्वय के उद्देश्य

समन्वय का मुख्य उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धी साधनो की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त करना अथवा उसे सीमित करना है। केवल अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को दूर करना इसका मुख्य मन्तव्य है, वस्तुत: स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा वाछनीय समझी जाती है क्योंकि

यह प्रतिस्पर्द्धी साधनों को सदैव सचेत रखती है और उनका कार्य-कौशल बढ़ाती है। समन्वय का दूसरा उद्देश्य उपभोक्ता को सस्ती से सस्ती एवं अच्छी से अच्छी सेवा प्रदान करना है। इसके लिए अकुशल साधनों को हटाया जाता है और अनुपूरक संयुक्त सेवाओं को शान्त वातावरण में प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है। इसका तीसरा बड़ा उद्देश्य उपलब्ध परिवहन सुविधाओं के अधिकतम उपयोग द्वारा उनका संचालन व्यय न्यूनतम करना और समाज को अधिकतम लाभ पहुँचाना है। समन्वय का चौथा उद्देश्य परिवहन के साधनों का संतुलित एवं आयोजित विकास है। आवश्यकतानुसार समन्वय के लिए सभी साधनों का सरकार अथवा पूर्णतः जनहित का प्रतिनिधित्व करने वाली किसी स्वायत्त संस्था द्वारा नियंत्रण और नियमन किया जाता है। इस भाँति प्रत्येक साधन को देश की परिवहन व्यवस्था में उचित स्थान दिया जाता है। भारत में यद्यपि रेलों का आविर्भाव सब से पीछे हुआ, किन्तु उन्होंने अन्य साधनों को बुरी तरह पछाड़ दिया। परिवहन समन्वय का इस देश में एक महान् उद्देश्य यह भी है कि रेलों के अतिरिक्त अन्य साधनों के प्रति श्रद्धाभाव जाग्रत किया जाए और उनमें रुचि उत्पन्न की जाए।

समन्वय की आवश्यकता

किसी भी समृद्ध राष्ट्र का केवल परिवहन के किसी एक साधन से काम नहीं चल सकता। सड़कें, अन्तर्देशीय जलमार्ग, समुद्रतटीय जहाज और रेलें इत्यादि सभी एक दूसरे के अनुपूरक साधनों के रूप में विकसित होने आवश्यक हैं। गत दो तीन दशक में अनेक देशों में इसी प्रकार की नीति निर्धारित करने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। भारत में यद्यपि रेलों का अविर्भाव सबसे पीछे हुआ, तो भी सौ वर्ष से अधिक समय तक सरकारी प्रोत्साहन पाकर उनका इतना विस्तार हुआ कि उन्होंने अन्य तीनों अन्तर्देशीय साधनों का दम निकाल दिया। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इस भूल को अब स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु व्यवहार में अभी सरकारी मनोवृत्ति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और रेलों के प्रति पक्षपात की नीति अब भी जारी है। पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न साधनों के लिए निर्धारित धनराशि से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। जब कभी परिवहन के विकास विस्तार के किसी प्रश्न पर विचार विमर्श होता है तो हमारी सरकार केवल रेलों के ही विषय में चर्चा करती है, सड़कों, आन्तरिक जलमार्गों एवं तटीय जहाज परिवहन की ओर बहुत कम ध्यान जाता है। यह मनोवृत्ति देश के सतुलित आर्थिक विकास के लिए घातक है। अतएव इस समय हमारे योजनाबद्ध कार्यक्रम की सफलता की प्रथम सीढ़ी राष्ट्रीय परिवहन नीति की घोषणा है। भारत सरकार ने देश की इस आवश्यकता को स्वीकार करके जुलाई १९५९ में नियोगी समिति[1] की नियुक्ति करदी थी।

---

1. The Committee on Transport Policy and Coordination. (*Chairman...K. C. Neogy*)

भारत मे रेलो का विकास आर्थिक एवं परिवहन सिद्धान्तो के अनुसार नहीं वरन् राजनीतिक सिद्धान्तो के अनुसार हुआ और सरकार की विकृत मनोवृत्ति के कारण अन्य साधनो की उपेक्षा की गई। अतएव इस समय देश की परिवहन व्यवस्था अत्यन्त अव्यवस्थित है। उसे समन्वय द्वारा व्यवस्थित रूप देना हमारे आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अव्यवस्थित परिवहन के दुष्परिणाम हमें पिछले दो युद्धो मे भली भाँति ज्ञात हो चुके हैं। जबसे देश मे हमने नियोजित अर्थ-व्यवस्था का कार्यक्रम उठाया है, तब से हम और भी अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। देश म परिवहन सुविधाओ का भारी अभाव है। इस अभाव का विकृत प्रभाव उत्पादन और वितरण पर पडता है तथा हमारे नियोजन कार्यक्रम को ठेस पहुँचती है।

हमारे विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र के पिछडेपन का प्रमुख कारण वहाँ परिवहन सुविधाओ का अभाव है। वहाँ की कृषि का पिछडापन, प्रति एकड उपज की कमी, उपज की बिक्री सम्बन्धी कठिनाइयाँ, काम के साधनो का अभाव, न्यून आय इत्यादि अनेक समस्याएँ वस्तुत परिवहन के अभाव की समस्याएँ हैं। यदि हम गाँवो को सडको अथवा अन्य उपयुक्त साधनो द्वारा नगरो से, रेल स्टेशनो से और मुख्य सडको से जोड दें तो कुछ ही समय मे हमारे गाँव समृद्ध और समुन्नत हो जायेंगे।

अन्तर्देशीय जलमार्गों की पतितावस्था के कारण देश के उत्तरी-पूर्वी भाग को भारी कठिनाइयो का सामना करना पडता है और उपभोक्ता एक सस्ते साधन का लाभ उठाने से वंचित रह जाता है।

अकेली रेलें देश की आवश्यकताओ की पूर्ति करने म सर्वथा असमर्थ हैं। उनकी पथ-क्षमता (Line capacity) अपर्याप्त है, उनके पास डिब्बों और इजनो का भारी अभाव है, अन्य साज-सज्जा भी अनुपयुक्त है। इसका दुष्प्रभाव उद्योग व्यापार पर पडता है। अतएव अब सभी देश भक्त लोग यह स्वीकार करने लगे हैं कि देश की नियोजित अर्थ व्यवस्था तभी सफल हो सकती है जब रेलो के अतिरिक्त सडक परिवहन और आन्तरिक जलमार्गो का भी समुचित विकास किया जाए।

समन्वय के सिद्धान्त

सर्व प्रथम समन्वय सम्बन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन १९३३ मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (International Chamber of Commerce) द्वारा नियुक्त एक स्वतंत्र विशेषज्ञ समिति ने किया। इन सिद्धान्तो को राष्ट्र-संघ (League of Nations) द्वारा सब देशों से अपनाने का आग्रह किया गया। इन सिद्धान्तो का अनेक देशो ने कालान्तर मे अपनी परिवहन नीति मे समावेश किया। इसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ ने १९५० मे एक और आदर्श परिवहन नीति का प्रतिपादन किया तथा उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ के सम्मुख रखा। १९५० मे भारत सरकार द्वारा बिठाई गई मोटर-वाहन कर जांच समिति ने इन सिद्धान्तो को भारत के लिए उपयुक्त बताया तथा अन्य अधिकारियो और समितियो ने भी उनका समर्थन किया। ये सिद्धान्त निम्नांकित हैं:

(१) उत्पादन और वितरण वस्तुतः कुशल और सस्ते परिवहन पर निर्भर हैं और परिवहन उन्नतिशील उत्पादन और वितरण की अपेक्षा करता है। अतएव परिवहन के समन्वय की समस्या के दो पहलू है; उसे केवल परिवहन के दृष्टिकोण से नही देखना चाहिए।

(२) इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश मे ऐसी व्यवस्था हो जिसके द्वारा विविध परिवहन के साधनों और प्रयोक्ताओं (कृषि, उद्योग व व्यापार) के बीच किराए-भाडो, सेवाओ, ढुलाई व्यवस्था, तथा समस्या के अन्य आर्थिक पहलुओ पर विचार-विमर्श संभव हो सके।

(३) परिवहन के विविध साधनों मे से किसी भी साधन के प्रयोग करने की प्रयोक्ता (User) को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(४) निजी परिवहन पर किसी प्रकार की रुकावट न होनी चाहिए।

(५) प्रत्येक देश मे अन्तर्देशीय परिवहन से सम्बन्धित राष्ट्रीय महत्व के ऐसे अध्ययन होने चाहिये जिनमे प्रत्येक परिवहन के साधन के व्यय सम्बन्धी तत्वो का ठीक-ठीक निर्णय हो सके।

(६) चाहे परिवहन के साधनो का प्रबन्ध पृथक हो और चाहे किसी वैधानिक अधिकारी द्वारा केन्द्रीय नियन्त्रण मे, उन्हे प्रतियोगिता की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, किन्तु यह स्वस्थ प्रतियोगिता हो, विनाशकारी नही। किराए-भाड़े की दरें प्रत्येक साधन की अधिक से अधिक कुशलता और लागत व्यय का ध्यान रखकर निर्धारित की जानी चाहिये।

(७) ऐसा कोई काम न करना चाहिए जिससे किसी एक साधन को कृत्रिम सहायता मिलती हो और किसी दूसरे साधन के विकास मे बाधा पडती हो। उसे हतोत्साहित किया जाता हो अथवा उसके लाभ छिपाए जाते हो। समन्वय का आधार परिवर्तन हो, स्थिरता नही।

(८) राष्ट्र-रक्षा अथवा राष्ट्रीय कल्याण के दृष्टिकोण से यदि किसी साधन को निम्नतम स्तर पर बनाए रखना आवश्यक हो, तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस साधन की हानि का अतिरिक्त भार प्रयोक्ता के ऊपर न पड़े; उसे राष्ट्र को सहन करना चाहिए।

१९५१ मे परिवहन परामर्श परिषद ने उक्त सिद्धान्तो पर विचार करते हुए निम्नांकित व्यावहारिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए :

(क) सभी परिवहन के साधनो का नियमन इस भाँति प्रशासित हो कि प्रत्येक साधन के स्वाभाविक लाभ पूर्णतः स्वीकार कर लिए जाये और उन्हे सुरक्षित किया जाए।

(ख) विविध साधनों के बीच सुदृढ आर्थिक सिद्धान्तो का प्रतिपालन हो तथा सुरक्षित, पर्याप्त, सस्ती एवं कुशल सेवाओं को प्रोत्साहन मिले।

मे इकट्ठा करने और निर्दिष्ट स्टेशन से सड़क मार्ग द्वारा प्राप्तकर्ता के सुपुर्द करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती हैं। इससे माल शीघ्र यथा-स्थान पहुँच जाता है। अमेरिका की कुछ रेलें भी ऐसी सेवा प्रदान करती हैं।

समन्वय के लाभ

समन्वय का मुख्य लाभ अस्वस्थ प्रतियोगिता का अन्त है। इससे विभिन्न साधनों के सम्बन्ध अच्छे हो जाते हैं और सभी को विकास के समान अवसर प्राप्त होते है। प्रतियोगिता जनित क्षय मे भारी कमी हो जाती है। इससे माल वाहकों को ही लाभ नही होता, वरन् जनता का भार भी कम हो जाता है। यातायात का चालान छोटे से छोटे मार्ग से होने लगता है जिससे माल शीघ्रता से निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है और समय की बचत होती है। कभी-कभी परिवहन के दो या अधिक साधन दुहरी तिहरी सेवाये एक ही मार्ग अथवा क्षेत्र मे चलाते रहते हैं। ऐसी अनावश्यक सेवाओ का अन्त हो जाता है। किसी भी समन्वय व्यवस्था के अन्तर्गत परिवहन के साधनो का वैज्ञानिक प्रबन्ध आवश्यक है। इसमे सभी साधनो का कार्य-कौशल बढता है और समाज को उच्च कोटि की एव सस्ती सेवा सहज सुलभ होने लगती है। सभी साधनो का समुचित विकास होने से कार्य के साधनो मे वृद्धि होती है।

भारत में परिवहन-समन्वय

परिवहन-समन्वय परिवहन के विविध साधनो की प्रतिस्पर्द्धा का परिणाम है। रेल-युग मे रेलो की प्रतिस्पर्द्धा करने वाला कोई साधन न रहा; उनका निर्बाध अधिकार स्थापित हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त देश मे मोटर व्यवसाय की इतनी उन्नति हुई कि १९२६-२७ मे रेलो को उनके विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी। उन्हे सडक परिवहन की प्रतिस्पर्द्धा से हानि होने लगी। तभी से देश मे रेल-सडक समन्वय की आवश्यकता प्रतीत हुई। १९४७ तक परिवहन-समन्वय का प्रश्न भारत मे केवल रेल-मोटर समन्वय का प्रश्न था। स्वतंत्र भारत मे आन्तरिक जलमार्गों तथा समुद्रतटीय जहाज परिवहन के समन्वय का भी प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। आज हमारे सामने देश के सभी साधनो के समुचित समन्वय एव एक आदर्श परिवहन नीति की आवश्यकता है। १९२६-२७ से अब तक जो, और समय-समय पर जो-जो यत्न किए गए है उनका संक्षिप्त विवरण नीचे उपस्थित किया जाता है।

मिकेल-किर्कनैस समिति (Mitchell-Kirkness Committee)—आर्थिक मन्दी के वर्षों मे सडक परिवहन रेलो से यातायात छीन कर उन्हे हानि पहुँचाने लगा। रेलो को इस हानि से बचाने के यत्न मे ही भारत सरकार ने १९३२ मे मिकेल-किर्कनैस समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने बताया कि रेलो की मोटरो के विरुद्ध शिकायत ठीक थी और उनकी हानि का अनुमान १९० लाख रुपए लगाया। इस समिति ने वस्तु-स्थिति का अध्ययन करके रेल-मोटर के बीच समन्वय स्थापित करने के विचार से मोटर व्यवसाय के नियंत्रण का सुझाव दिया। यह कहा जाता था कि रेल-व्यवसाय कानून-बद्ध एव नियम-बद्ध था, किन्तु मोटर व्यवसाय स्वतंत्र एवं

अनियमित। यह स्थिति उनके पारस्परिक सम्बन्धों के लिए उचित न थी। मोटर व्यवसाय के नियंत्रण का प्रथम पहलू उनके लिए ५० मील का क्षेत्र निर्धारित करना और उनकी सेवा उसी क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित रखना था। रेलों के समानान्तर सड़कों पर प्रतिस्पर्द्धी मोटरें चलाने का सुझाव दिया गया, किन्तु जहाँ सम्भव हो वहाँ रेलों को मोटर-सेवाएँ चलाने की छुट्टी दी गई। ग्रामीण सेवा के लिए मोटरों को एकाधिकार दिया गया जहाँ रेलें कोई सेवा करने में असमर्थ थीं, परिवहन के प्रबन्ध-प्रशासन के लिए एक केन्द्रीय सवहन बोर्ड बनाने का सुझाव दिया गया। मोटर गाड़ियों द्वारा कर देना, भाड़ा एवं समय की सारणियाँ रखना आवश्यक ठहराया गया।

रेल-सड़क सम्मेलन १९३३—मिचेल-किर्कनेस समिति के सुझावों को कार्यान्वित करने के विचार से भारत सरकार ने अप्रैल १९३३ में प्रान्तीय सरकारों का शिमला में एक सम्मेलन बुलाया क्योंकि मोटर परिवहन प्रान्तीय सरकारों का उत्तरदायित्व था और उनकी अनुमति के बिना कोई समन्वय योजना लागू नहीं की जा सकती थी। सम्मेलन ने रेल सड़क समन्वय अत्यन्त आवश्यक बताया और कहा कि (क) ग्रामीण क्षेत्र में मोटर परिवहन को प्रोत्साहन देना चाहिए क्योंकि वहाँ वह रेलों का अनुपूरक है (ख) सम्मेलन ने मिचेल किर्कनेस समिति का सुझाव कि समानान्तर मार्गों पर रेलों को मोटर सेवायें चलाने का अधिकार मिलना चाहिए स्वीकार कर लिया, (ग) सम्मेलन ने मोटरों पर कड़ा नियन्त्रण रखने का सुझाव देते हुए उनके लाइसेन्स लेने की बात पर जोर दिया और उनमें प्रान्तीय सरकारों के आदेशानुसार सुख-सुविधाएं एवं सुरक्षा व्यवस्था करने का आग्रह किया, (घ) सम्मेलन ने मोटरों के कर एवं उनके संचालन नियमों के सम्बन्ध में सभी राज्यों में समानता बरते जाने की भी इच्छा प्रगट की।

भारत सरकार ने सम्मेलन के उक्त सुझाव स्वीकार कर लिए और तुरन्त भारतीय रेल कानून में संशोधन करके रेलों को समानान्तर मार्गों पर मोटरें चलाने का अधिकार दे दिया।

परिवहन परामर्श परिषद् १९३५—उक्त नीति को व्यावहारिक रूप देने के विचार से १९३५ में भारत सरकार ने परिवहन परामर्श परिषद की स्थापना की जिसने परिवहन-समन्वय के लिए निम्नांकित कदम उठाने को कहा. (क) मिचेल-किर्कनेस समिति द्वारा बताई गई क्षेत्र-व्यवस्था चालू करनी चाहिए, (ख) मोटर यात्रियों का अनिवार्य बीमा होना चाहिए, (ग) मोटरों को अतर्प्रान्तीय संचालन की आज्ञा न दी जानी चाहिए, केवल विशेष अवसरों पर विशेष अनुज्ञापत्र दिए जा सकते थे, (घ) मोटर गाड़ियों को निर्धारित प्रतिमानों के अनुसार सुसज्जित रखना चाहिए, (ङ) बस ड्राइवरों का सामयिक स्वास्थ्य परीक्षण होना चाहिए, (च) ग्रामीण क्षेत्र में मोटरों का एकाधिकार होना चाहिए, तथा (छ) रेल मार्गों की सहायक पूरक सड़कें बननी चाहिये।

वैजवुड समिति १९३६-३७—वेजवुड समिति ने अनुमान लगाया कि रेलो को मोटरों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ४½ करोड़ रुपए वार्षिक की हानि उठानी पड़ रही है। अतएव उसने दोनो साधनों के समन्वय पर विशेष जोर दिया तथा बताया कि दोनों साधनों के समुचित नियंत्रण-नियमन से ही समन्वय सम्भव है। समिति ने रेलो का नियमन समुचित पाया, किन्तु मोटर परिवहन की कोई नियमन-व्यवस्था न थी। अतएव कानून द्वारा बसो और लारियो की नियमन-व्यवस्था का सुझाव दिया। समिति ने आशा व्यक्त की कि रेलें सडक-सेवाएँ चलाने का उत्तरदायित्व शीघ्र ग्रहण करके समन्वय की समस्या को सहज-सुलभ बना सकती हैं। समिति ने रेलो से अपना कार्य कौशल बढाने का भी आग्रह किया।

मोटर वाहन कानून १९३९—वेजवुड समिति ने रेल-मोटर समन्वय के निमित्त मोटर-व्यवसाय का नियमन आवश्यक ही नहीं ठहराया था, नियमन-व्यवस्था का एक प्रारूप भी उपस्थित किया था। समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया गया और १९३९ का मोटर वाहन कानून बनाया गया। इस के द्वारा सडक परिवहन के स्वस्थ विकास के नियम निर्धारित किए गए और प्रान्तीय सरकारो को मोटर गाडियो के नियंत्रण का पूर्ण अधिकार दे दिया गया। इसके अन्तर्गत प्रान्तीय और क्षेत्रीय परिवहन अधिकारियो की नियुक्ति की गई और मोटर वाहनो का संचालन-क्षेत्र सीमित कर दिया गया।

सिद्धान्त-व्यवहार-संहिता १९४५ (Code of Principles and Practices)—मोटर वाहन कानून के लागू होने के उपरान्त भी रेल-सडक समन्वय की समस्या का वाञ्छनीय हल न हो सका और कुछ ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्तो के प्रतिपादन की आवश्यकता प्रतीत हुई जिनके द्वारा सभी परिवहन के साधनो का समुचित विकास हो सके और अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हो जाए। अतएव परिवहन परामर्श परिषद ने सिद्धान्तो और व्यवहारो की एक नियमावली बनाई जिसके अन्तर्गत मोटर-व्यवसाय का क्षेत्र सामान्यत: ७५ मील तक सीमित कर दिया गया और प्रान्तीय सरकारो को रेल-हितो की सुरक्षा की ओर ध्यान रखने का आग्रह किया गया। ७५ मील से अधिक दूरी तक माल ले जाने की मोटर-गाडियो को तभी अनुमति दी जा सकती थी जब यह देख लिया जाता था कि रेले उक्त क्षेत्र का यातायात ले जाने में सर्वथा असमर्थ हो।

सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण—रेल-मोटर के बीच समन्वय लाने के विचार से १९४३ मे भारत सरकार की एक विशेषज्ञ समिति ने त्रिपक्षीय कम्पनियाँ (Tripartite Companies) बनाने का सुझाव दिया था। इन कम्पनियो के भागीदार तत्कालीन मोटर मालिक, राज्य-सरकारें और भारतीय रेलें होने की बात कही गई। यह आशा की जाती थी कि ऐसी कम्पनियाँ बनने से रेल-मोटर की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा दूर हो जाएगी। दुर्भाग्यवश यह योजना विफल रही। स्वतन्त्रता के उपरान्त कई राज्य-सरकारो ने भी ऐसी त्रिदलीय योजनाएँ बनाईं, किन्तु मोटर-चालको के

असहयोग के कारण ये योजनाएँ भी विफल रही। विवश होकर राज्य-सरकारो को सडको पर यात्री-सेवाएँ प्रदान करने का काम अपने हाथ मे लेना पडा। राष्ट्रीयकरण की इन योजनाओ के अनेक उद्देश्यो मे एक उद्देश्य रेल-सडक-समन्वय भी था। व्यवहार मे यह उद्देश्य-लाभ न हो सका।

मोटर वाहन कर जाँच समिति १९५०—१९३९ के मोटर-वाहन कानून तथा १९४५ की सिद्धान्त-व्यवहार-संहिता द्वारा सडक-वाहनो पर लगाई गई रुकावटो तथा उच्च कर-भार के कारण मोटर-गाडियों की स्थिति बडी शोचनीय हो गई थी और मोटर मालिको की ओर से अपार शिकायतें आने लगी थी। अतएव १९५० मे भारत सरकार ने मोटर-वाहन कर जाँच समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने अन्य बातो के साथ-साथ रेल मोटर समन्वय के प्रश्न पर भी विचार किया। समिति को ज्ञात हुआ कि उस समय इन दोनो साधनो म परस्पर कोई प्रतिस्पर्द्धा न थी। इसके विपरीत मोटर-व्यवसाय का मोटर-वाहन कानून और सिद्धान्त-व्यवहार-संहिता ने बुरी तरह गला घोट रखा था। राष्ट्रीय यात्री सडक सेवाओ के कारण भी मोटर परिवहन के स्वतत्र विकास मे बाधा उपस्थित हो रही थी। समिति ने बताया कि जब तक तत्कालीन कर-भार मोटरो पर लदा रहेगा तब तक रेल-मोटर प्रतिस्पर्द्धा की कोई सम्भावना भी नही। अतएव समिति ने एक ओर मोटर-वाहनो के निगमन मे सशोधन करने की बात पर जोर दिया और दूसरी ओर सडको के निर्माण व सुधार के लिए अधिक धन लगाने तथा सडक-परिवहन के विकास की ओर अधिक ध्यान देने की बात कही (समिति के अनुसार देश मे रेल-मार्ग पर्याप्त था)। इस समय तक यह विचारधारा सर्वत्र फैल गई थी कि उपभोक्ता को सस्ती एव कुशल परिवहन सेवा प्रदान करने के लिए परिवहन के सभी साधनो का समुचित एव समन्वित विकास होना चाहिए। अतएव समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ द्वारा घोषित परिवहन-समन्वय एव परिवहन-नीति सम्बन्धी आदर्शों की ओर भारत सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए देश के लिए एक परिवहन-नीति बनाने का सुझाव दिया।

परिवहन आयोजन अध्ययन समुदाय (Study Group on Transport Planning)—प्रथम पचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के उपरान्त यातायात तेजी से बढने लगा और उद्योग-व्यापार के सम्मुख परिवहन सम्बन्धी भारी कठिनाइयाँ आने लगी। माल के आवागमन के लिए डिब्बे मिलना दुर्लभ हो गया। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने १९५३ मे एक परिवहन आयोजन अध्ययन समुदाय की नियुक्ति की। समुदाय ने देखा कि वस्तुतः देश की तत्कालीन परिवहन माँग के अनुरूप न तो रेल-मार्ग-क्षमता ही थी और न डिब्बे अथवा इन्जन ही। दूसरी ओर लगभग ३० से ४०% तक सडक-मार्ग-क्षमता का उपयोग नही हो रहा था। समुदाय ने यह भी देखा कि रेलो की यातायात ले जाने की इस विवश स्थिति मे भी वे मोटरो से, आन्तरिक जल मार्गों से और तटीय जहाजो से प्रतिस्पर्द्धा कर रही थी। इसका विकट प्रभाव देश के उद्योग-व्यापार एव उत्पादन पर पडता है। अतएव

अध्ययन समुदाय ने देश के लिए एक दीर्घकालीन परिवहन नीति निर्धारित करने का सुझाव दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ द्वारा प्रतिपादित आदर्शों को अपनाने को कहा। समुदाय के अनुसार सड़क परिवहन, आन्तरिक जलमार्ग, तटीय जहाज एवं रेल सभी साधनो को अनुपूरक मानकर उनका समुचित विकास होना चाहिए। कोई एक साधन किसी देश की परिवहन सम्बन्धी मांग-पूर्ति नहीं कर सकता।

परिवहन नीति एवं समन्वय समिति १६५६ (Transport Policy and Coordination Committee)—गत वर्षों मे, विशेषत: द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ देश के उत्पादको के लिए एक भारी सिर-दर्द बन गई हैं। देश की सरकार इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए पूर्णत: जागरूक रही है। एक ओर सड़क और आन्तरिक जल परिवहन जिन्हे कि अभी तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था के विकास-विस्तार के यत्न किए गये हैं और दूसरी ओर परिवहन के विविध साधनो के बीच समन्वय स्थापित करने के यत्न किए गए हैं। वर्षों से परिवहन परामर्श परिषद, केन्द्रीय परिवहन बोर्ड एव उसकी स्थायी समिति समन्वय के यत्न करते रहे थे। सन् १६५८ मे इस व्यवस्था मे महत्वपूर्ण सुधार किए गए और उक्त परिषद एवं बोर्ड के स्थान पर निम्नांकित तीन संस्थाएं स्थापित की गईं : (१) परिवहन विकास परिषद (Transport Development Council), (२) सड़क एव अन्तर्देशीय जल परिवहन सलाहकार समिति (Road & Inland Water Transport Advisory Committee), तथा (३) केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति।

परिवहन विकास परिषद् एक उच्च स्तरीय संस्था है जो केन्द्रीय सरकार को सड़कों, सड़क परिवहन एवं अन्तर्देशीय जल मार्गों से सम्बन्धित नीति विषयो पर सलाह देती है। परिवहन के विविध साधनो के समन्वय से सम्बन्धित उन प्रश्नो पर भी परिषद परामर्श देती है जो इससे पूछे जाते हैं। सडक एव अन्तर्देशीय जल परिवहन सलाहकार समिति भी सड़कों, सडक परिवहन एवं अन्तर्देशीय जल परिवहन से सम्बन्धित प्रश्नो पर विचार करने तथा इस विषय मे विकास परिषद को सुझाव देने के लिए नियुक्त की गई है। केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति का उद्देश्य भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयो को दिन-प्रतिदिन उपस्थित होने वाली परिवहन समस्याओं को सुलझाना है।

रेलो की देश के सम्पूर्ण बढते हुए यातायात को ले जाने की विवशता के कारण भारत सरकार सडकों एवं सड़क परिवहन तथा अन्तर्देशीय जल-मार्गों की उन्नति के लिए चिन्तित रही है और उनके मार्ग की बाधाओ को हटाने के विविध यत्न किए है। १६५६ मे मोटर-वाहन कानून मे महत्वपूर्ण संशोधन करके मोटर-वाहनो की अनेक बाधाओं को हटाया गया तथा उन्हे साख सुविधाएं प्रदान की गईं। मई १६५८ मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति नियुक्त की गई जिसने मार्च १६५६ मे अपना प्रतिवेदन दिया। इस समिति ने मोटर वाहनो के मार्ग की अनेक बाधाओ की ओर संकेत

करते हुए उन्हे हटाने, विशेषत सडक परिवहन प्रशासन से सम्बन्धित केन्द्रीय और राज्यो की वर्तमान व्यवस्था म क्रान्तिकारी परिवर्तन के बहुमूल्य सुझाव दिए। मोटर-परिवहन के मार्ग की एक बडी बाधा विभिन्न राज्यो के बीच समान नीति एव नियमो का अभाव है। इस बाधा को हटाने और राज्या के बीच समन्वय स्थापित करने के विचार से १९५८ म अन्तर्राज्य परिवहन आयोग (Inter-State Transport Commission) बिठाया गया।

इन सब समितियो एव सस्थाओ के अपने-अपने प्रयत्न जारी हैं। तो भी यह स्वीकार किया जाने लगा है कि देश को एक दीर्घकालीन परिवहन नीति की आवश्यकता है। ऐसी नीति किसी उच्च स्तरीय सस्था द्वारा गहन अध्ययन के उपरान्त ही निर्धारित की जा सकती है। अतएव मई १९५९ मे भारत सरकार ने श्री के० सी० नियोगी के सभापतित्व मे परिवहन नीति एव समन्वय समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने १९६१ के प्रारम्भ म अपना प्रारम्भिक प्रतिवेदन प्रकाशित किया। इस प्रतिवेदन म समिति ने अभी किसी समन्वय नीति की ओर सकेत नही किया, केवल वर्तमान स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करक उन प्रश्नो को स्पष्ट किया है जो उसके गहन अध्ययन एव सर्वेक्षण के कारण उपस्थित हुए हैं। समिति का कार्य पूरा होने पर ही परिवहन के साधनो का पूर्ण समन्वय सभव हो सकेगा। समिति के विचार म ऐसी महत्वपूर्ण समस्या के सुलझाने के लिए देश के वर्तमान परिवहन सगठन पर ही विचार कर लेना पर्याप्त नही है, वरन् पाच अथवा दस वर्ष आगे के परिवहन सगठन का ध्यान रखना आवश्यक होगा। समिति ने अपना प्रारम्भिक प्रतिवेदन प्रकाशित करके देशवासियो से अपनी विचारधारा का विश्लेषण करने एव उस पर विचार-विमर्श करने का आग्रह किया है। इस सम्बन्ध मे हम परिवहन समन्वय की एक व्यावहारिक योजना उपस्थित करते हैं।

व्यावहारिक समन्वय योजना

भारत मे सभी परिवहन के साधन उपलब्ध है, किन्तु उनका व्यवस्थित विकास नही हुआ। इसके दुष्परिणाम हमे पिछले दो युद्धो मे भली-भाति ज्ञात हो चुके हैं और जब से देश मे हमने नियोजित अर्थ व्यवस्था का कार्य क्रम उठाया है, तब से हमे और भी अधिक कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। देश म परिवहन सुविधाओ का भारी अभाव है। इस अभाव का विकृत प्रभाव उत्पादन और वितरण पर पडता है तथा हमारे नियोजन कार्यक्रम को ठेस पहुँचती है।

रेलो के आविर्भाव के साथ भारत म अन्य परिवहन के अन्तर्देशीय साधनो की भारी उपेक्षा की गई। गत सौ वर्ष की अवधि म हमारे अन्तर्देशीय जलमार्ग और सडक परिवहन की भारी अवनति हुई और देश उनकी उपयोगी सेवा से वचित रह गया। देश मे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था प्रधान है। अतएव देश के उस भाग का विकास सडक परिवहन के विकास से सम्बद्ध है। अन्र्देशीय जलमार्गों के अभाव मे देश के

उत्तरी-पूर्वी भाग को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और प्रयोक्ता एक सस्ते साधन का लाभ उठाने से वंचित रहता है। अकेली रेलें देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे सर्वथा असमर्थ रही हैं। रेलों की पथ-क्षमता (Line capacity) अपर्याप्त है; उनके पास डिब्बों और इन्जनो का भारी अभाव है; अन्य साज-सज्जा भी अनुपयुक्त है। इसका दुष्प्रभाव उद्योग-व्यवसाय पर पड़ता है। अतएव अब सभी देश-भक्त लोग यह स्वीकार करने लगे हैं कि देश की नियोजित अर्थ-व्यवस्था तभी सफल हो सकती है जब रेलो के अतिरिक्त देश के सडक परिवहन और आंतरिक जलमार्गों का भी समुचित विकास किया जाए।

इस पृष्ठ-भूमि के साथ देश के विविध साधनो के समुचित **समन्वय की निम्नांकित व्यावहारिक योजना** उपस्थित की जाती है।

(१) देश मे परिवहन के साधन हमारी आवश्यकता पूर्ति के लिए अपर्याप्त हैं। अतएव सभी साधनों का प्रसार-विस्तार आवश्यक है। इस प्रसार कार्य में सड़कों को प्रधानता दी जानी चाहिए, अन्तर्देशीय जलमार्गों को पुनर्जीवित करना चाहिए तथा रेल-निर्माण को तृतीय स्थान देना चाहिए। जिस क्षेत्र मे हमारी ८२% जन-संख्या रहती है तथा जिससे देश की आय का एक प्रमुख भाग प्राप्त होता है वह क्षेत्र अत्यन्त पिछड़ा हुआ है और उसका विकास सडको के विकास पर निर्भर है। बड़े-उद्योगो के क्षेत्र मे रेल-निर्माण आवश्यक है।

(२) सडक परिवहन को प्रधानता देना आधुनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। सभी देशो म सडक परिवहन का महत्व बढता जा रहा है। १९३८ और १९५४ के बीच इटली में रेलों का यातायात ६८·८% से घट कर ३१·०% रह गया, किन्तु सडक यातायात ३१·२% से बढकर ६९% हो गया। १९२५ और १९५६ के बीच स्वीडन मे रेल-सवारी-डिब्बो मे केवल १६% वृद्धि हुई, जबकि मोटर बसो की संख्या मे ६ गुनी वृद्धि हुई। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे १९३९ और १९५३ की अवधि मे सडक यातायात मे रेल यातायात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई; सडको पर यात्री यातायात मे ११८% और माल यातायात मे २८९% वृद्धि आँकी गई, जबकि रेलो के दोनो प्रकार के यातायात मे क्रमश: ३५% और ८३% वृद्धि हुई।

(३) १९५१-५२ और १९५३-५४ के बीच की यातायात वृद्धि को ध्यान में रखकर नियोजन अध्ययन समुदाय ने (Study Group on Planning) १९५५ में देश की परिवहन क्षमता मे ३०% वृद्धि का सुझाव दिया था। तब से देश का उत्पादन बहुत आगे बढ गया है और तृतीय योजना काल मे उसके और भी अधिक तीव्रगति से बढने की संभावना है। अतएव हमे देश की परिवहन-क्षमता मे ५०% वृद्धि का लक्ष्य रखना चाहिए। इस वृद्धि के समय हमे विभिन्न साधनो के बीच संतुलन का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

(४) देश की अर्थ-व्यवस्था मे रेलो का महत्व सर्वोपरि रहना स्वाभाविक है और वे निकट भविष्य मे हमारी परिवहन-व्यवस्था का आधार-स्तम्भ बनी रहेंगी,

और अतिरिक्त यातायात का अधिक भार उन्ही के ऊपर पडेगा, किंतु इसका यह तात्पर्य नही है कि जिन क्षेत्रो की रेलें इस समय सेवा कर रही हैं उन क्षेत्रो में नई रेलें ही अतिरिक्त सेवा प्रदान करेंगी और सडको अथवा जलमार्गों का उस क्षेत्र से सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाएगा। जिन क्षेत्रो में अन्य परिवहन के साधन सन्तोष-जनक सेवा प्रदान कर रहे हैं उन क्षेत्रो मे रेल-निर्माण को कोई प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए।

(५) जैसे-जैसे मोटर-परिवहन का विकास होता जा रहा है, यात्री यातायात रेलो से मोटरो की ओर हटता जा रहा है। अतएव रेलो को चाहिए कि वे अपनी क्षमता का समायोजन इस भांति करें कि माल यातायात के ऊपर उनकी निर्भरता अधिक बढती जाए और यात्री यातायात पर कम। यात्री यातायात की कमी से होने वाली हानि की पूर्ति रेलें राज्यो द्वारा सचालित सडक परिवहन सस्थानो म भाग लेकर करें।

(६) छोटे चालान जो १५० मील तक जाने-आते हैं उनके लिए सडक परिवहन अधिक उपयोगी है। उसमे माल की सुरक्षा अधिक, चोरी का भय कम और द्वार से द्वार तक की सेवा प्रदान की जाती है। ऐसे यातायात को सडक से जाने का प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(७) रेलो की कठिनाई उनकी यातायात-क्षमता की कमी की है, किन्तु सडक परिवहन की क्षमता का पूर्ण उपयोग नही हो रहा। न तो हमारी सडको का और न मोटरो का ही पूरा उपयोग हो रहा है। देश मे सडक-परिवहन की क्षमता का ३० से ४०% तक अप्रयुक्त अवस्था मे है। इस बात की आवश्यकता है कि इसका पूर्ण उपयोग किया जाए।

(८) देश के लिए समन्वय सगठन की उचित व्यवस्था होनी चाहिए,

(९) किराए-भाडे की दरें आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिएँ और उनके समन्वय के लिए कोई स्वायत्त राष्ट्रीय संस्था होनी चाहिए।

(१०) उपभोक्ता की स्वतन्त्रता का ध्यान रखकर परिवहन सेवाओ का समन्वय आवश्यक है।

५.

रेल उद्योग की विशेषता

(Nature of Railway Industry)

अन्य आधुनिक उद्योगो की भाँति रेल भी वर्तमान युग का एक सुसंगठित व्यवसाय है। इसके संचालन मे वही सब नियम लागू होते है जो अन्य किसी वृहत्काय उद्योग मे लागू होते हैं। इसकी उन्नति व विकास भी उन्ही सब नियमो व उपकरणो पर निर्भर है जिन पर अन्य किसी उद्योग का। इस उद्योग का विस्तृत रूप-रंग भी *अपने सहगामी साधनो से मिलता-जुलता है। तो भी इस उद्योग की कुछ अपनी विशेष*-तायें हैं और कुछ अपने निराले गुण हैं, जिनके कारण यह अन्य आधुनिक उद्योगो और विशेषत: अन्य परिवहन के साधनो से भिन्न समझा जाता है।

एकाधिकार (Monopoly)

आजकल प्राय: चार प्रकार के एकाधिकार माने जाते है। (१) प्राकृतिक, (२) सामाजिक, (३) कानूनी एवं (४) ऐच्छिक। रेल-उद्योग की गणना सामाजिक एकाधिकार के अन्तर्गत की जाती है और समाज के हित मे उसके इस एकाधिकार को बनाए रखना आवश्यक समझा जाता है। अतएव उसके इस एकाधिकार को कानून और सरकार का आश्रय प्राप्त है।

प्राचीनतम सड़क निर्माताओ की भाँति अपने जीवन के आदि काल मे रेलें केवल मार्ग निर्मात्री सस्थायें थी। आज की भाँति वे लोक-वाहक (Public Carrier) कार्य नही करती थी, किन्तु उनके लिये विशेष प्रकार की साज-सज्जा और भाप-शक्ति की आवश्यकता हुई। ये दोनो ही ऐसी मूल्यवान् वस्तुयें थी कि जिनका उपयुक्त मात्रा मे उपलब्ध करना किसी व्यक्ति विशेष के लिये व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव था। अतएव चलयानादि (Rolling Stock) व चालक शक्ति (Motive Power) की पूर्ति स्वयं रेल कम्पनियो को ही करनी पड़ी। इस प्रकार उनका आकार और शक्ति बढती ही गई। **अब मार्ग निर्माण, चलयानादि व शक्ति जुटाना तथा सेवा प्रदान करने के तीनों कार्य एक ही संस्था के हाथ में आ गये।** इस भाँति रेलो ने स्वभावत: एकाधिकार का स्वरूप धारण कर लिया। उनका आकार इतना बड़ा हो गया और उन्हे

इतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता पडने लगी कि किसी अन्य पूँजीपति को उनके निर्माण का साहस न हो सका। उन्हे निर्बाध एकाधिकार प्राप्त हो गया।

इस क्षेत्र म प्रतियोगिता का प्रारम्भ से ही नाम नही। सभी देशो ने इस बात को सिद्धान्तत स्वीकार कर लिया कि एक ही क्षेत्र म प्रतियोगी समानान्तर रेले बनाना राष्ट्रीय क्षय है। चाहे सैद्धान्तिक दृष्टि से देखे और चाहे व्यावहारिक दृष्टि से, रेले एक एकाधिकारी व्यवसाय है। कुछ देशो मे रेलो का निर्माण व सचालन देश की सरकार का एकाधिकार है, किन्तु जिन देशो म यह सरकारी एकाधिकार नही है वहाँ भी उन्हे कुछ ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो अन्य व्यवसायों को प्राप्त नही है।

आशिक एकाधिकार (Partial Monopoly)—रेल उद्योग को पूर्ण एकाधिकार प्राप्त नही केवल आशिक एकाधिकार प्राप्त है। पूर्ण अथवा निरपेक्ष एकाधिकारी मनमाना मूल्य लेने म स्वतन्त्र होता है। अपने क्षेत्र म वह अकेला होता है, उसमे प्रतियोगिता का नाम नही। इस प्रकार के निरपेक्ष एकाधिकार व्यावहारिक नही हैं। अत रेलो को ऐसा निरपेक्ष एकाधिकार प्राप्त नही तो यह कोई आश्चर्य की बात नही।

व्यावहारिक एकाधिकारो की भाति रेल भी एक आशिक एकाधिकारी व्यवसाय है। न यह पूर्ण एकाधिकार है और न पूर्णत. प्रतियोगी उद्योग। एक ओर इसे कुछ ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त हैं[1] जो साधारणत. अन्य प्रतियोगी उद्योगो को प्राप्त नही हैं और दूसरी ओर इसे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रतियोगिता का भी सामना करना पडता है अर्थात् यह एक अर्द्ध एकाधिकारी उद्योग है।

उनका अपना हित भी इसी बात म है कि वे स्वेच्छाचारी नीति न बरते। पूर्ण एकाधिकारी की भाँति मनमाने ऊँचे किराये भाडे लगाने से उनका यातायात कम हो जाएगा और उनका सचालन हानिकर। अतएव उन्हे ग्राहक की देय-शक्ति का ध्यान रखना पडता है। ग्राहक की देय-शक्ति के विपरीत मूल्य लगाने से उन्हे सरकारी नियम भी रोकते हैं। इस प्रकार उनका एकाधिकार केवल आशिक रह जाता है।

लोकोपयोगी सेवा (Public Utility Service)

कुछ पदार्थ अथवा सेवायें ऐसी होती हैं जो प्रत्येक राष्ट्रीय जीवन की प्राण समझी जाती हैं। किसी भी मूल्य पर समाज के लिये उन्हे उपलब्ध करना आवश्यक है। ऐसी सेवायें सडके, पुल, प्रारम्भिक शिक्षा, चिकित्सा सुविधायें डाक, जल, प्रकाश एव परिवहन इत्यादि है। समाज हित एव नागरिक जीवन की सुख शान्ति इनके ऊपर निर्भर है। जिस जाति को ये पदार्थ अथवा सेवाएँ पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध हैं वह जाति समृद्ध एव सम्पन्न समझी जाती है, किन्तु जिस जाति के पास इनका

---

१. देखो, पृष्ठ ६०

अभाव होता है वह जाति कंगाल, वैभवहीन व पिछड़ी हुई समझी जाती है। रेलों की गणना ऐसी ही जीवनोपयोगी सेवाओं में की जाती है। ये ऐसी सेवाएँ हैं जो एक बड़ी जनसंख्या को प्रभावित करती है।

इन आवश्यक सेवाओं में से कुछ को देश की सरकार स्वयं प्रत्येक नागरिक के लिए मुफ्त उपलब्ध करती है और उसे उपलब्ध करने के निमित्त जनता पर कर लगाती है, जैसे डाक, जल इत्यादि। किन्तु इनमें से कुछ ऐसी सेवायें है जो जीवन के लिए यद्यपि किसी भी भाँति कम उपयोगी नही, तो भी उनका उत्तरदायित्व सभी सरकारें अपने ऊपर नही लेती, जैसे रेलें, गैस, बिजली इत्यादि। संसार के अनेक देशो में बहुधा ये सेवायें व्यक्तिगत अधिकार में ही हैं। इन पर समाज का अधिकार यद्यपि वांछनीय है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे ऐसा करना उचित नही समझा जाता, क्योंकि राज्य के अधिकार मे इनकी प्रगति धीमी होने की संभावना है। इसके विपरीत इन्हे पूर्णत: स्वच्छन्द प्रतियोगिता और व्यक्तिगत अधिकार मे भी नही छोड़ा जा सकता। इनका संचालन बहुधा व्यक्तिगत अधिकार और सरकारी नियंत्रण में होता है। यही सिद्धान्त रेलो पर लागू होता है।

इन सेवाओं का संगठन (Organization) सामाजिक एकाधिकार के रूप में होता है जहाँ प्रतियोगिता की पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती, किन्तु इन्हे कुछ ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य उद्योगो को प्राप्त नही। समाज मे इनका स्थान अन्य उद्योगो से ऊँचा होता है। अपने आर्थिक, सामाजिक व विधि विहित (Legal) महत्व के कारण वे सदैव सरकारी सहयोग और अनुग्रह की अपेक्षा करते हैं। **भूमि प्राप्त करने का अधिकार और निर्बाध क्षेत्राधिकार ('Eminent Domain') इनके जन्म-सिद्ध अधिकार हैं।** ठीक यही स्थिति रेलो की है। यदि रेलो को भूमि प्राप्त करने का अधिकार न हो तो उनका निर्माण असंभव हो जाय अथवा किसी भी भू-स्वामी के हठ से उनका निर्माण और प्रगति रुक जाय। इसी भाँति यदि उन्हे क्षेत्रीय एकाधिकार प्राप्त न हो तो उनका संचालन सर्वथा हानिपूर्ण हो जाय। दोनों दिशाओ मे सामाजिक अहित होता है, क्योंकि समाज इस सेवा से वंचित रहता है। इसलिये रेलो को कुछ विशेषाधिकार मिलने वाछनीय हैं।

जहाँ उन्हे विशेषाधिकार प्राप्त है, वहाँ उन्हे कुछ विशेष कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। उन्हे अपनी व्यावसायिक सफलता के साथ-साथ अपने लोकहितकारी स्वरूप का भी ध्यान रखना पड़ता है। किराये-भाड़े की दर अथवा सेवा-सुविधाओं के निमित्त वे स्वेच्छाचारिता की नीति नही बरत सकती। स्वार्थपरता को सामने रखकर भी उन्हें उदार और दूरदर्शितापूर्ण नीति का पालन करना पड़ता है। उन्हे अपना निजी हित जनता और उपभोक्ता के हित मे मिलाना पड़ता है। ऐसा न करें तो सरकारी अंकुश सदैव उनके सिर पर रखा रहता है। जनता की सुख-सुविधाओ को ध्यान मे रखकर ही वे लाभ कमा सकती हैं। उदाहरणार्थ, यदि रेलो का संचालन हानिप्रद हो तो देश की सरकार और जनता उनकी सहायता करती है। इसके विपरीत

यदि उन्हे असित लाभ होने लगे तो उसका ँग. ३१५६ करोड व १०५८ करोड डालर
के रूप मे दिया जाना चाहिए। रेलो और अन्य राष्ट्र की रेलो की पूँजी वार्षिक
साथ ऐसा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। उन्हे आलोकित ५.३ गुनी है। कुछ विद्वानो के अनु-
interest) की नीति अपनानी पडती है। ग्क बतलाई जाती है। इस

रेलो का जनता के साथ ऐसा निकट सम्बन्ध होने के न उद्योगो मे की जा
कर्त्ता की स्थिति बडी विचित्र है। वह व्यक्तिगत निगम (Priv.
का अधिकारी होते हुये भी एक लोकोपयोगी सेवा का संचालक है। मा-लक बडा भाग
मितव्यय सचालन और प्रबन्ध से सम्बन्धित बातो मे वह निगम का ना के सचालन
निगम द्वारा बनाए गये नियमो के अनुसार कार्य करता है, किन्तु लोकहितवान्धे तक
बातो मे उसे सरकारी नीति का पालन करना पडता है और वैधानिक नियन्त्र
मानने पडते हैं।

जिन देशो मे रेलो का स्वामित्व व संचालन व्यक्तिगत पूँजीपतियो के अधि-
कार मे है, वहाँ भी किराए-भाडे की दरे एवं वस्तुओ व खनिज पदार्थों के वर्गीकरण
निर्धारित करने मे सरकार का पूर्ण हाथ रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रेलें
अबाध एकाधिकार नही, नियन्त्रित एकाधिकारी उद्योग हैं।

लोक-वाहन (Public carrier)

सामाजिक एकाधिकारी व्यवसाय होने के नाते रेलें लोक-वाहक संस्थाएँ हैं
अर्थात् व्यक्तिगत की अपेक्षा उनका सार्वजनिक स्वरूप अधिक महत्वपूर्ण है। उन्हे
स्वार्थ से परार्थ की ओर अधिक झुकना पडता है। अतएव वे अन्य परिवहन के साधनो
से सर्वथा भिन्न हैं। लोक-वाहन को दूसरो का यातायात किराए पर ले जाना पडता
है। किसी वस्तु, माल अथवा यात्री को ले जाने के लिए लोक-वाहन मना नही कर
सकते, वरन् उन्हें उचित किराया-भाडा लेकर और भेद-भाव की भावना को सर्वथा
त्याग कर सेवा प्रदान करनी पडती है। इस भाँति उनका अपना हित लोक-हित के
साथ मिला रहता है। दूसरो के माल की उन्हे निजी माल की भाँति रक्षा भी करनी
पडती हैं और उसे सुरक्षित अवस्था मे यथास्थान पहुँचाना पडता है। अन्य परिवहन
के साधनो पर ये बन्धन और नियम लागू नही होते।

बृहत्काय व्यवसाय

इस बृहत्काय व्यवसायी युग का सबसे बडा व्यवसाय रेल है। हिमालय पर्वत
से जैसे अन्य पर्वतो की तुलना नही, ऐसे ही रेल व्यवसाय के समान विश्व मे दूसरा
व्यवसाय नही। आकार, प्रसार, पूँजी, सगठन, आय-व्यय, लाभ हानि सभी बातो
मे यह व्यवसाय अन्य व्यवसायो से अग्रणी है।

किसी बडे व्यवसाय का आकार बहुधा उसमे लगी हुई स्थायी पूँजी अथवा
वार्षिक उत्पादन से नापा जाता है। रेलो मे जितनी पूँजी लगी है उतनी अन्य किसी
व्यवसाय मे नही। भारतीय रेलो मे लगभग १४३६ करोड रुपए की पूँजी लगी हुई

पूँजी लगी है अर्थात् रेलें देश के सारे संगठित उद्योगों के सम्मिलित आकार से तिगुनी बड़ी हैं। देश की राष्ट्रीय आय का ग्यारहवाँ भाग रेलों में लगा हुआ है। रेलों के अतिरिक्त अन्य सभी परिवहन के साधनों में मिलाकर १९५० में १६२ करोड़ रुपए[1] की पूँजी लगी हुई थी, जबकि रेलों की उसी वर्ष की पूँजी ८३८ करोड़ रुपए थी अर्थात् पोतचालन, वायुपरिवहन व मोटर परिवहन के सम्मिलित आकार से रेलें पाँच गुनी बड़ी हैं। सूती वस्त्र व्यवसाय देश का सबसे बड़ा संगठित व्यवसाय है जिसमें पूँजी की मात्रा १३२ करोड़ रुपए है। रेलें उसमें लगभग ग्यारह गुनी बड़ी है।[2] देश में स्थित छोटे-बड़े सभी कारखानों में लगी हुई पूँजी लगभग १११० करोड़ रुपए है अर्थात् रेलें देश के सारे छोटे-बड़े कारखानों के सम्मिलित आकार से भी बड़ी हैं। पूँजी की इस अमित मात्रा के कारण रेलों को वर्तमान पूँजीवादी युग का एक महान् पूँजीकृत उद्योग कहा जाता है। रेलों की आय भी देश की कुल आय का $\frac{1}{3}$ भाग है।

जिस आधुनिक उद्योग के वार्षिक उत्पादन का मूल्य उसमें लगी हुई पूँजी के बराबर हो उसे वर्तमान युग का एक महत्काय संगठित उद्योग समझा जाता है। १९५२ में भारत की रेलों की पूँजी ८६९ करोड़ और उनकी वार्षिक आय २७२ करोड़ रुपए थी अर्थात् पूँजी की मात्रा तिगुनी थी। उसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र अमेरिका

1. The First Five Year Plan, p. 32.
2. रासायनिक उद्योग से अट्ठाइस गुनी, जूट उद्योग से बत्तीस गुनी, इंजीनियरिंग उद्योग से २९ गुनी, लोहा व इस्पात उद्योग से १८ गुनी तथा चीनी व गुड़ उद्योग से ३२ गुनी पूँजी रेलों में लगी हुई है। नीचे के आँकड़े रेलों के सापेक्षक आकार पर प्रकाश डालने के लिए रुचिकर होंगे :—

उद्योग	पूँजी करोड़ रु० में	कर्मचारी
रेलें	१४३९	११,५०,०००
सूती वस्त्र	१३२	७,८७,०००
रासायनिक	५१	५९,०००
जूट	४४	२,५०,०००
इञ्जीनियरिंग	५०	२,०६,०००
लोहा-इस्पात	८१	९०,०००
चीनी-गुड़	४६	१,४०,०००
वनस्पति घी-तेल	१७	५५,०००
सीमेंट	३६	२७,०००

(उद्योगों के आँकड़े १९५७ की औद्योगिक गणना से लिए गए हैं)

और ब्रिटेन के पूंजी और आय के आंकडे क्रमशः ३१५६ करोड व १०५८ करोड डालर और १४५ करोड व ४० करोड पौंड थे। संयुक्त राष्ट्र की रेलो की पूंजी वार्षिक आय की तीन गुनी और ब्रिटेन की रेलो की पूंजी ३½ गुनी है। कुछ विद्वानो के अनुसार रेलो की पूंजी वार्षिक आय के पांच से दस गुने तक बतलाई जाती है। इस दृष्टिकोण से देखे तो भी रेलो की गिनती महान् से महान् उद्योगो मे की जा सकती है।

आधुनिक कहे जाने वाले अनेक उद्योगो के सचालन-व्यय का एक बडा भाग अस्थिर होता है। रेलें इस बात मे अन्य उद्योगो से सर्वथा भिन्न हैं। रेलो के सचालन व्यय का आधे से दो-तिहाई तक स्थिर होता है और केवल एक-तिहाई से आधे तक अस्थिर होता है। अन्य उद्योगो के सचालन-व्यय बहुधा उत्पादन की मात्रा के अनुपात से घटते-बढते रहते हैं। रेलो म यह नियम लागू नही होता, उनका सचालन व्यय उसी अनुपात से नही घटता-बढता जिस अनुपात से यातायात।

अमित स्थायी पूंजी (Huge Fixed Capital)

रेल-निर्माण के लिए जितनी प्रारम्भिक पूंजी की आवश्यकता होती है उतनी किसी अन्य उद्योग के लिए नही होती। यह पूंजी जब एक बार रेल-उद्योग मे लग जाती है तो फिर वह उसमे बंध जाती है वह अन्य किसी काम की नही रहती, क्योंकि सम्पूर्ण रेल-साज-सज्जा के उपकरण कुछ विशेष प्रकार के होते है जिनका अन्य उद्योगो मे कोई उपयोग सम्भव नही। रेल-पूंजी न केवल उस उद्योग से बंध जाती है, वरन् उस स्थान विशेष से भी बंध जाती है जहां उसे लगाया जाता है। उसे अन्यत्र ले जाना भी सम्भव नही।

रेल पूंजी के इस अमित आकार और स्थायी स्वभाव के महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। (क) **क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि और क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम रेलों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।** जितना ही अधिक यातायात उन्हे मिल सकता है उनका स्थायी व्यय उतनी ही अधिक इकाइयो पर बंट जाता है और सेवा उतनी ही सस्ती पडती है। (ख) इस प्रवृत्ति के कारण रेलो मे **प्रतिस्पर्द्धा की भावना स्वभावत ही होती है।** वे अधिकाधिक यातायात आकर्षित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती हैं। (ग) कभी कभी यह प्रतिस्पर्द्धा अपनी स्वार्थपरता की चरम-सीमा को पहुंच जाती है और घातक सिद्ध होने लगती है। इसमे सभी प्रतियोगी इकाइयो को हानि होने लगती हैं। अतएव विवश होकर उन्हे **सम्मिलन और समामेलन** के द्वारा बचाव करना आवश्यक हो जाता है।

रेलो की पूंजी मे अन्य उद्योगो की भांति गतिशीलता नही होती। कोई उद्योग एक स्थान पर सफल न हो तो उसकी साज-सज्जा को हम अन्य क्षेत्रो मे ले जाकर काम चालू कर सकते हैं। रेलो मे यह परिवर्तन सम्भव नही। पूंजी की मात्रा मे भी रेलो मे अन्य उद्योगो की अपेक्षा बडी इकाइयो मे वृद्धि करनी पडती है। व्यापारिक मन्दी आने और लाभ की मात्रा कम होने पर अन्य व्यवसायो को कुछ दिन

के लिए बन्द किया जा सकता है। अच्छे दिन आने पर उसे फिर चालू किया जा सकता है। रेलों में स्थिर व्यय की मात्रा अधिक होने के कारण इस प्रकार की क्रियायें सम्भव नहीं। कभी-कभी वर्षों तक रेलों को हानि पर चलना पड़ता है। अतएव रेलों की सफलता उपयुक्त यातायात पर निर्भर है; उनका वैभव साज-सज्जा के परिपूर्ण उपयोग से सम्बद्ध है।

संयुक्त उत्पादन (Joint production) अथवा संयुक्त-व्यय (Joint costs)

एक ही क्रिया द्वारा अथवा एक ही उत्पादन केन्द्र से दो अथवा अधिक वस्तुयें उत्पन्न की जा सकें, तो ऐसे उत्पादन को संयुक्त उत्पादन कहते हैं। चीनी का कारखाना खोलने का उद्देश्य चीनी प्राप्त करना होता है, किन्तु साथ ही साथ शीरा भी उत्पन्न होता है। रुई के लिए कपास उगाई जाती है, किन्तु रुई के साथ बिनौला भी निकलता है। तेल पेरने के लिए तेल का कारखाना खोला जाता है किन्तु तेल के साथ-साथ उसी कारखाने से खली भी मिलती है। चीनी-शीरा, रुई-बिनौला, तेल-खली इत्यादि संयुक्त-उत्पादन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसे व्यवसाय में वाछित वस्तु प्राप्त करने के निमित्त व्यय किया जाता है किन्तु उसी व्यय के फलस्वरूप एक अवांछित उप-पदार्थ (Bye-Product) और उपलब्ध हो जाता है। संयुक्त उत्पन्न होने वाली दोनों ही वस्तुओं से आय होती है। अतः यह स्वाभाविक बात है कि संयुक्त व्यय भी दोनों ही पदार्थों पर पड़ना चाहिए। जैसे मुख्य पदार्थ उत्पन्न करने के प्रयत्न द्वारा उप-पदार्थ मिलता है। वैसे ही मुख्य पदार्थ के लिए किए गए व्यय से दूसरा उप-पदार्थ मिलता है। सम्पूर्ण व्यय दोनों पदार्थों पर वैज्ञानिक ढंग से बँटना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है। अतएव ऐसे व्यवसायों को संयुक्त-व्यय वाले व्यवसाय भी कहते हैं। इस प्रकार के उत्पादन अथवा व्यय में इच्छा का उपयोग नहीं किया जा सकता। हम चाहें कि हमें चीनी ही चीनी मिले, शीरा कुछ भी न निकले तो यह सम्भव नहीं। शीरे की मात्रा घटाकर हम चीनी की मात्रा बढ़ाना चाहें, सो भी सम्भव नहीं, क्योंकि गन्ने के रस में चीनी और शीरे का जो प्राकृतिक अनुपात है उसमें घटा-बढ़ी करना मानव-शक्ति के बाहर है। यही कठिनाई व्यय के सम्बन्ध में उपस्थित होती है। संयुक्त व्यय को संयुक्त वस्तुओं की माँग और उनके मूल्य के अनुसार अनुमानतः बाँटा जा सकता है; उसका ठीक-ठीक वैज्ञानिक विभाजन सर्वथा असम्भव है।

कुछ विद्वानों[1] का मत है कि रेलें अनेक प्रकार का यातायात ले जाती हैं, माल भी ले जाती है, यात्री भी ले जाती है। माल और यात्री यातायात में भी कई

1. When any large plant is used for diverse products the, case is so far one of production at joint cost. So it is with a railway. The same roadbed is used for passengers and freight, and for the different kinds of passengers and freight. (*F. W. Taussig, Principles of Economics, Vol. II, P. 395.*)

वर्ग व उपवर्ग होते हैं। इस भाँति एक ही संयंत्र (Plant) कई कार्यों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः रेल-व्यवसाय भी एक संयुक्त-व्यय व्यवसाय है। कई अन्य विद्वानों के अनुसार यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं, क्योंकि रेलो के लिए कई प्रकार का यातायात ले जाना उसी भाँति अनिवार्य नहीं जैसे चीनी के कारखाने को शीरा बनाना अनिवार्य है। तो भी विशेष परिस्थितियों में वे रेल-उद्योग में संयुक्त व्यय-सिद्धान्त लागू होना स्वीकार करते हैं।[1] इस सम्बन्ध में टॉसिग (Taussig) एवं पीगू (Pigou) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा उपस्थित किए गए तर्क-वितर्कों को तीन मापदण्डों के अनुसार अध्ययन किया जा सकता है : (क) यातायात, (ख) साज-सज्जा तथा (ग) व्यय।

(क) यातायात—केवल विविध प्रकार का यातायात ले जाना रेलो में मे संयुक्त-व्यय-सिद्धान्त लागू होने का कारण नहीं माना जा सकता। यदि एक ही प्रकार का यातायात किसी रेल के डिब्बो को पूरा भरने के लिए पर्याप्त हो तो उसे दूसरे प्रकार के यातायात की कोई आवश्यकता नहीं। व्यवहार में यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है। कुछ गाडियाँ सवारियाँ ले जाती हैं, कुछ माल। अन्नगाडियों में भी कुछ गाडियाँ कोयला ले जाने के लिए प्रयुक्त होती हैं तो कुछ तेल। कुछ गाडियाँ पशु ले जाती हैं, कुछ फल व तरकारियाँ। कुछ गाडियाँ उच्च दर्जे की सवारियाँ ले जाती हैं तो कुछ निम्न श्रेणी की। जनता नामक गाडियाँ केवल तृतीय श्रेणी की सवारियाँ बिठाती हैं। इंगलैण्ड की प्रारम्भिक रेलें कोयला ले जाने के लिए बनी थी, वे सवारियाँ नहीं बिठाती थी। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रेल उसी अर्थ में संयुक्त-उत्पादन वाला व्यवसाय नहीं जैसे चीनी व शीरा, रुई व बिनौला अथवा तेल व खली हैं। इन वस्तुओं के उत्पादन में इच्छा का आरोप तनिक भी नहीं होता। इच्छानुसार एक वस्तु की मात्रा बिना दूसरी वस्तु की मात्रा पर प्रभाव डाले घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। रेलो के यातायात के विषय में यह अनिवार्यता नहीं है। एक प्रकार के यातायात से रेल चल सकती है, यदि वह पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

हाँ, एक प्रकार का यातायात रेल के डिब्बो को पूर्णतः भरने के लिए पर्याप्त न हो, तो रेल के सम्मुख कठिनाई उपस्थित होती है। उसे अपने व्यवसाय को लाभ-

---

1. At the same time it should be clearly recognised that, in the services rendered by railway companies, joint supply does play *some* part. This is conspicuously true as between transportation from A to B and transportation in the reverse direction from B to A. The organisation of a railway, like that of a steamship company, requires that vehicles running from A to B shall subsequently return from B to A. The addition of a million pounds to the expenditure on moving vehicles necessarily increases both the number of movements of vehicles from A to B and the number of movements from B to A. This implies true jointness.
(*A.C. Pigou—Economics of Welfare. 1916, p. 300*).

प्रद बनाने के लिए दूसरे प्रकार के यातायात को आमंत्रित करना पड़ता है। यदि कोई क्षेत्र अथवा देश इतना विकसित न हो कि वहाँ रेल की आर्थिक सफलता के लिए एक ही प्रकार का यातायात पर्याप्त उपलब्ध हो सके, तो रेल को दूसरे प्रकार के यातायात के बिना संचालन बन्द करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में रेल एक संयुक्त-उत्पादन व्यवसाय कहा जायगा।

(ख) **साज-सज्जा**—रेल के साज-सज्जा के उपयोग के विचार से भी रेलें, पूर्णतः संयुक्त उत्पादन उद्योग नहीं। पूर्णतः संयुक्त-उत्पादक व्यवसायों में कोई भी साज-सज्जा केवल एक वस्तु के उत्पादन के लिए इस भाँति प्रयुक्त नहीं होती जैसे रेल की साज-सज्जा हो सकती है। माँग घटने-बढ़ने के साथ-साथ रेल की साज-सज्जा में घटा-बढ़ी की जा सकती है, किन्तु पूर्ण संयुक्त व्यवसायों में ऐसा कदापि सम्भव नहीं होता। रुई की माँग बढ़ने और बिनौले की माँग घटने पर रुई ओटने की चर्खियाँ इस प्रकार नहीं बढ़ाई जा सकती कि बिनौला कुछ भी न निकले, किन्तु यात्री यातायात में वृद्धि होने पर रेलें सवारी गाड़ियों और सवारियों के डिब्बों की संख्या बढ़ा सकती है। किसी क्षेत्र में माल ढोने के लिए रेल बनाई गई। जब तक रेल बनकर तैयार हुई माल का यातायात कम अथवा समाप्त हो गया और यात्री यातायात की माँग बढ़ गई, तो रेल उसी पटरी का उपयोग यात्री यातायात के लिए सरलता से कर सकती है। हाँ, एक प्रकार के यातायात की मात्रा अपर्याप्त होने पर रेलों की विवशता बढ़ जाती है और उन्हें हम संयुक्त-उत्पादक व्यवसाय कहने लगते हैं।

(ग) **व्यय**—व्यय की दृष्टि से भी रेलें पूर्णतः संयुक्त-उत्पादक व्यवसाय नहीं। पूर्णतः संयुक्त-उत्पादक व्यवसायों में सारे व्यय इस भाँति मिले रहते हैं कि उनके किसी अंश का भी विभाजन संभव नहीं। रेलों में ऐसी बात नहीं। रेलों के व्यय की एक बड़ी मात्रा स्थायी अवश्य होती है किन्तु उनके व्यय का एक भाग यातायात की विभिन्न इकाइयों में बाँटा जा सकता है। चीनी के कारखाने में शीरे की माँग समाप्त होने पर यह सम्भव नहीं कि कुल व्यय में कोई कमी हो सके। किन्तु रेल-व्यवसाय में विशेष यातायात की माँग कम होने से तत्सम्बन्धी अस्थायी व्यय अवश्य कम हो जाएगा। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी के यात्रियों की सुविधा के लिए रेलों को गद्दे दार सीटें रखनी पड़ती है, सवारियों के सोने का प्रबन्ध रखना पड़ता है; हाथ-मुँह धोने, नहाने व पीने के लिए पानी रखना पड़ता है और भी अनेक सुख-सुविधायें उपलब्ध करनी पड़ती हैं जो अन्य श्रेणियों के यात्रियों के लिए उतनी नहीं करनी पड़ती। यदि प्रथम श्रेणी का यातायात कम हो जाता है अथवा बन्द हो जाता है तो रेलों को उक्त व्यय नहीं करना पड़ेगा और कुल व्यय में कुछ कमी अवश्य हो जायगी। पूर्णतः संयुक्त-व्यय वाले व्यवसायों में यह कमी-बेशी सम्भव नहीं। हाँ, उपर्युक्त यातायात वाला प्रश्न फिर उपस्थित होता है। यदि अन्य श्रेणी का यातायात अपर्याप्त हो, तो रेलों को प्रथम श्रेणी के यातायात को आकर्षित करने के लिए प्रयत्न करने पड़ेंगे और उसके लिए कम से कम कुछ डिब्बे अवश्य ही रखने पड़ेंगे।

इस अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रेलो मे संयुक्त व्यय अथवा संयुक्त उत्पादन का नियम पूर्णत: लागू नही होता, केवल आंशिक रूप में लागू होता है। रेलो के लिए इस सिद्धान्त का महत्व केवल गौण रूप में है, मुख्यत: नही।

तो भी निम्न दशाओ मे रेलो म यह सिद्धान्त लागू होता है :—

(१) विरुद्ध दिशा म आने वाली गाडियो के भरन के सम्बन्ध में संयुक्त-व्यय का सिद्धान्त लागू होता है, जबकि दोनो दिशाओ मे समान मात्रा मे यातायात उपलब्ध न हो। 'क' स्थान से 'ख' स्थान को सेवा-सुविधाये बढाने का तात्पर्य है उतनी ही सेवा-सुविधाएं 'ख' से 'क' को बढाना। यदि 'ख' से 'क' तक उतना यातायात उपलब्ध नही कि लौटने वाली सब गाडियो के डिब्बे पूर्ण भर जायें तो रेल को उन्हें भरने के प्रयत्न मे उस दिशा के यातायात से कम किराया-भाडा लेना आवश्यक हो जाएगा। ऐसा न करन पर 'क' से 'ख' जाने वाले यातायात का भार खाली गाडियों के लौटने के व्यय के बराबर और बढ जाएगा।

(२) अविकसित क्षेत्र अथवा बिखरे बसे हुए देश की नई रेले भी इसी प्रकार के उदाहरण उपस्थित करती हैं। ऐसे देशो अथवा क्षेत्रों मे कोई एक ही प्रकार का यातायात (माल अथवा यात्री) रेलो को सफल बनाने के लिए अपर्याप्त होता है। विवश होकर रेलो को अनेक प्रकार के यातायात का मुंह ताकना पडता है।

(३) किसी क्षेत्र मे एक प्रकार के यातायात की माँग बढ़ने पर रेलो को अतिरिक्त सेवा-सुविधाऐं जुटानी पड़ती हैं और न्यूनतम साज-सज्जा बढानी पडती है। इस न्यूनतम साज-सज्जा को पूरा काम देने के लिए बटा हुआ यातायात अपर्याप्त हो तो रेलो को अन्य प्रकार के यातायात की आवश्यकता होती है और उन्हें संयुक्त-व्यय उद्योग कहा जाता है।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि संयुक्त-व्यय के सिद्धान्त का रेल-व्यवसाय मे लागू होना न होना रेल के रिक्त स्थान पर निर्भर है। रेल मे कभी भी रिक्त स्थान रहता है तो रेल को विविध प्रकार के यातायात का मुखापेक्षी होना पडता है, अन्यथा नही। रेलो का व्यवसाय स्वभावत: ऐसा है कि उसमे कुछ न कुछ रिक्त स्थान हर समय (युद्ध काल अथवा ऐसे ही विशेष अवसरो को छोडकर) बना ही रहता है और उसी सीमा तक उसमें संयुक्त-व्यय सिद्धान्त लागू होता है।

असंक्रामकता (Non-transferability)

रेल-सेवा हस्तातरणहीन होती है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई इकाई दूसरी इकाई का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। एक बाजार की परिवहन सेवा दूसरे बाजार मे नही बिक सकती और न एक बाजार की माँग दूसरे बाजार की माँग पूर्ति के लिए भेजी जा सकती है। इसका कारण इस सेवा का उपभोक्ता अथवा ग्राहक के व्यक्तित्व से सीधा लगाव है। जैसे वैद्य, डाक्टर, वकील, गवैये अथवा अन्य कलाकारो की सेवा हस्तातरणहीन होती है, उसी प्रकार रेल की सेवा है। ऐसी सेवा मे, मध्यजनो की कूटनीति नही सफल हो

सकती। एक डाक्टर धनी लोगो से अधिक और निर्धन लोगो से कम फीस ले सकता है। कोई धनी व्यक्ति डाक्टरी के हेतु निर्धन होकर कम मूल्य पर डाक्टरी सेवा का सञ्चय इस नीयत से नही कर सकता कि कालान्तर में वह उसे धनी लोगों को अधिक मूल्य पर बेच कर लाभ कमा लेगा। इसी भाँति कोयले से कम और चाँदी से अधिक भाड़ा लेने की रेल की नीति से मध्यजनो का प्रादुर्भाव नही होता क्योकि केवल परिवहन के निमित्त चाँदी को कोयले में परिवर्तित कर लेना और तदुपरान्त उसे चाँदी में बदल लेना किसी भी भौतिक विज्ञान द्वारा सम्भव नही।

रेल की सेवा के इस असंक्राम्य स्वभाव का परिणाम यह होता है कि इस सेवा में प्रतीक्षा करने अथवा रुकने की तनिक भी शक्ति नही होती। यह सेवा अन्य वस्तुओ की भाँति सञ्चित करके नही रखी जा सकती। अन्य वस्तुओ का मूल्य प्रतिकूल होने के कारण उनकी बिक्री बन्द कर दी जाती है और अनुकूल मूल्य होने तक माल को रोक रखते हैं। रेल की सेवा के लिए इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव नही। परिवहन सेवा एक ऐसा पदार्थ है जिसका तुरन्त उपभोग आवश्यक है। माँग उत्पन्न होते ही उसकी पूर्ति होनी चाहिए। यात्रियो के लिए तुरन्त सेवा उपलब्ध होनी चाहिए; माल के लिए उचित समय के अन्तर्गत। अन्य पदार्थों की बिक्री मे विक्रेता अपनी सुविधानुसार माल बाजार मे लाता है; क्रेता उसे तुरन्त ले या न ले, उसे इसकी अधिक चिन्ता नही। रेल की सेवा के सम्बन्ध मे इसके विपरीत नियम लागू होता है। रेलों को अपनी सुविधा का ध्यान न रखकर सदैव ग्राहक की सुविधा का ध्यान रखना पडता है।

भेद-भाव (Discrimination)

ऊपर रेल-उद्योग के जो विशेष गुण बताए गए हैं, उन सबके सम्मिलित प्रभाव से इस उद्योग मे एक और विशेषता उत्पन्न हो जाती है। यह विशेषता भेद-भाव करने की शक्ति है। रेल-उद्योग के एकाधिकार, उसमे स्थिर व्यय की अधिक मात्रा, संयुक्त-व्यय के सिद्धान्त का लागू होना और उसकी सेवा का असंक्राम्य स्वरूप इत्यादि ऐसे गुण है जो रेलो को विभेदात्मक नीति अपनाने के लिए बाध्य करते है। अन्य वस्तुओ के मूल्य मे लागत मूल्य के कारण भिन्नता होती है, किन्तु रेल की सेवा के मूल्य (किराए-भाडे) मे लागत मूल्य से अधिक भिन्नता पाई जाती है। यही उसकी विभेदात्मक नीति है। मूल्यवान वस्तुओ से रेलें अधिक भाडा लेती हैं; सस्ती वस्तुओ से कम। धनी यात्रियो से अधिक किराया लिया जाता है, निर्धनों से कम।

सैद्धान्तिक दृष्टि से रेलो के इस भेद-भाव के तीन रूप हो सकते हैं : (क) विभिन्न वस्तुओ अथवा ग्राहको से उनकी माँग की तीव्रता के अनुसार भिन्न-भिन्न किराया-भाड़ा लेना और इस भाँति उनके लिए कतई उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) न छोड़ना। यह चरम सीमा का भेदभाव माना जाएगा। यह भेदभाव सम्भव

नही है। (ख) दूसरे प्रकार का भेदभाव कुछ निश्चित मूल्य-श्रेणियां निर्धारित करना और ग्राहको की मांग की तीव्रता के अनुसार उनसे मूल्य लेना हो सकता है। अर्थात् यह घोषणा की जा सकती है कि जिन वस्तुओ की मांग १०० रु० तक हो उनसे १ रु० मन अथवा ३ रु० टन किराया-भाडा लिया जाएगा, जिनकी मांग १००·रु० से २०० रु० तक है उनसे २ रु० मन अथवा ६ रु० टन, जिन की मांग २०१ रु० से ऊपर है उनसे ३ रु० मन अथवा ९ रु० टन किराया-भाडा लिया जाएगा। (ग) तीसरी भेदभाव नीति के अनुसार मूल्य-श्रेणियां न बनाकर ग्राहको की श्रेणियां बनाई जा सकती हैं और प्रत्येक ग्राहक-श्रेणी के लिए एक मूल्य निश्चित किया जा सकता है। व्यवहार मे रेले इस तीसरी नीति को अपनाती हैं। इसका विशेष अध्ययन तत्सम्बन्धी विशेष अध्याय मे किया गया है।

६

भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर रेलों का प्रभाव

(Effect of Railways on Indian Economy)

रेल युग से पूर्व भारतवर्ष छोटे गावो और छोटे उद्योग-धन्धो का देश था। लोगो की आवश्यकतायें कम थी। बहुधा गाँव स्वाबलम्बी होते थे। बिक्री के लिए उत्पादन कम होता था। बहुधा व्यापार स्थानीय था। देश का विदेशी व्यापार बहुत छोटे पैमाने पर होता था। जो कुछ व्यापार होता था वह छोटे आकार वाली, हलकी किन्तु मूल्यवान वस्तुओ का। माल स्थल मार्ग से बैलो और ऊँटो की पीठ पर लाद कर अथवा नावो व छोटे जहाजा मे समुद्र के किनारे-किनारे ले जाया जाता था। मध्य एशिया और यूरोप के कुछ देशो के साथ ही भारत का व्यापारिक संसर्ग था। देश मे जाति-बन्धन कठोर थे। व्यवसाय और जाति मे घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्राह्मण भूखा रहकर भी कृषि अथवा वणिक् व्यवसाय करने के लिए लालायित नही होता था। मूल्यो मे गाँव-गाँव मे भारी विषमता थी; नाप-तोल के परिमाण, सिक्के और व्यापारिक प्रथाओ मे भी स्थान-स्थान पर अन्तर पाया जाता था। अनेक कर और बाधायें व्यापारिक विकास मे बाधक थी। एक स्थान पर यदि अन्न की प्रचुरता होती थी तो दूसरे स्थान पर उसका अभाव और तीसरे स्थान पर भीषण दुर्भिक्ष पड़ता था।

रेलो के आगमन के उपरान्त देश मे भारी परिवर्तन और अपूर्व विकास हुआ है। यह विकास कार्य अब भी जारी है। जिन क्षेत्रो मे अभी तक रेलें नहीं हैं वे उन क्षेत्रो की अपेक्षा जिनमे रेले बन चुकी हैं, बहुत पिछडी हुई अवस्था मे हैं। अतएव रेल-निर्माण द्वारा उन क्षेत्रो के विकास का मार्ग खोला जा रहा है। गत सौ-सवासौ वर्षों मे देश मे जो विकास और प्रगति हुई है उसके अनेक कारण हो सकते है, किन्तु उसका सबसे बडा कारण और बहुत कुछ श्रेय रेलो को ही है। रेलो ने ही देश की अर्थ-व्यवस्था को वर्तमान स्वरूप देने एव सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति लाने मे सहायता दी है। रेलो ने ही लोगो मे अधिक यात्रा करने की आदत डाली है और

उन्हें स्थानीय वातावरण से निकाल कर राष्ट्रीय भावना से परिप्लावित किया है, उनके लिए उद्यम सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की हैं, नई कार्य प्रणाली सिखाकर एवं तत्सम्बन्धी शिक्षा और प्रशिक्षण देकर हमारी कार्य-क्षमता और योग्यता में वृद्धि की है। रेलों ने व्यापार-व्यवसाय और कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी है, गांवों को कस्बों में और कस्बों को बड़े-बड़े नगरों में परिवर्तित कर दिया है, अर्थात् सारी अर्थ-व्यवस्था को एक नवीन स्वरूप दे दिया है। नीचे के अध्ययन से इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

विदेशी व्यापार

रेलों की सबसे बड़ी विशेषता भारी व बड़े आकार की वस्तुओं का सस्ते किराए पर ले जाना है। रेलें एक ऐसा व्यवसाय है जिसे अपार यातायात की आवश्यकता पड़ती है। बड़े आकार की सस्ती वस्तुओं को रेलें सस्ते दामों पर ले जाना बन्द कर दें तो उनका सचालन अलाभकर एवं असम्भव हो जाए। अतएव प्रारम्भ से ही उनकी किराए-भाड़े की नीति ऐसी रही है कि बड़े आकार वाली सस्ती वस्तुओं का भाड़ा अपेक्षाकृत कम रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन वस्तुओं का बाजार स्थानीय था वे भी अब दूर-दूर तक जाने लगीं। रेलों के आने से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार बारीक कपड़े, मसाले, जड़ाऊ वस्तुओं इत्यादि तक ही सीमित था। इसका क्षेत्र भी मध्य एशिया तथा यूरोप के कुछ देशों तक ही सीमित था। रेलों के आगमन से हमारे विदेशी व्यापार की मात्रा ही नहीं बढ़ गई, उसके स्वरूप व उसकी दिशा में भी परिवर्तन हो गया। अन्न और कच्चे पदार्थ जैसे जूट, रुई, तिलहन इत्यादि विदेश जाने लगे। ज्यों-ज्यों देश में रेलों का जाल बिछता गया, हमारे विदेशी व्यापार की मात्रा व मूल्य बढ़ता गया। इंगलैंड, अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, जापान, चीन, अफ्रीका इत्यादि अनेक नवीन देशों के साथ हमारा व्यापारिक सम्पर्क बढ़ गया। स्वावलम्बन की अवस्था से उठ कर देश-विश्वव्यापी व्यापारिक परिधि में क्रीड़ा करने लगा।

रेल-निर्माण के प्रथम दस वर्ष में भारत के विदेशी व्यापार का मूल्य ३६ करोड़ रुपए से बढ़कर ८४ करोड़ रुपए अर्थात् दुगुने से अधिक हो गया और उत्तरोत्तर तीव्रगति से बढ़ता चला गया, यहाँ तक कि प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ तक उसमें दस गुनी वृद्धि आँकी गई।

व्यापार व्यवस्था

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक परिवहन के साधन सड़कें और जलमार्ग थे जिनकी चाल अत्यन्त धीमी थी। रेल की चाल उनसे कई गुनी अधिक है। रेलें जितनी विश्वसनीय हैं, सड़क व जल-परिवहन उतने विश्वसनीय भी नहीं। कोई भी व्यापारी आवश्यक माल अल्प काल में निश्चित समय पर मंगा सकता है। अतएव उसके लिये अमित भण्डार भरकर रखना आवश्यक नहीं। जैसे-जैसे माल बिकता जाता है, वैसे-वैसे वह लगातार माल मँगाता रहता है। फलतः थोड़े धन से व्यापार

संचालन सम्भव है। माल भरने के लिये गोदामों में कम स्थान की आवश्यकता होती है। रेलों के आगमन से पूर्व व्यापार का क्षेत्र बहुधा स्थानीय मण्डियाँ और मेले होते थे। इन मण्डियो और मेलों में माल बेचने वाले व्यापारी अमित मात्रा में माल लाते थे क्योंकि बहुधा क्रेता लोग एक लम्बे समय की आवश्यकता पूर्ति के लिये माल लेते थे। इन व्यापारियों को वर्ष भर अथवा कम से कम छः महीने के लिये माल संचित करके रखना पड़ता था। अब इन **मण्डियों और मेलों का वैभव समाप्त हो गया और बड़े बड़े धनी थोक विक्रेताओं के स्थान पर छोटे-छोटे व्यापारियों एवं फुटकर विक्रेताओं की संख्या अत्यन्त बढ़ गई।** व्यापारिक क्षेत्र विस्तृत होने के फलस्वरूप **अनेक मध्यजनों का जन्म हुआ।**

व्यापारिक प्रतियोगिता

परिवहन को तीव्रगति से व्यापारिक प्रतियोगिता में अपूर्व वृद्धि हुई। पहले अत्यन्त धनी लोग ही व्यापारिक क्षेत्र मे काम करने का साहस करते थे। अब साधारण हैसियत के लोग भी व्यापारी-व्यवसायी बनने लगे। पहले व्यापार का क्षेत्र स्थानीय अथवा राष्ट्रीय होता था, अब विश्वव्यापी हो गया। दूरी और अन्य प्राकृतिक बाधाओं के हटने के कारण ससार एक राष्ट्र जैसा बन गया। **वस्तुओं और माल का आवागमन अल्पकाल में होने लगा। उधार व्यापार की मात्रा बढ़ गई। व्यापारिक विश्व में प्रत्यय-पत्रों (Credit instruments) का प्रचार होने लगा। इन सब प्रवृत्तियों का सम्मिलित परिणाम प्रतियोगिता वृद्धि हुआ।** प्रतियोगिता वृद्धि से व्यापारियो के लाभ की दर कम हो गई। अनेक छोटे व्यापारी बडे व्यापारियो की प्रतियोगिता मे व्यापारिक क्षेत्र मे ठहरने मे असमर्थ हो गये। इस प्रकार संयोजन (Combination) की भावना को प्रोत्साहन मिला। व्यापारिक संयोजन (Combination), न्यास (Trusts), तथा गुट्ट (Rings) बनने लगे जिनका अनेक क्षेत्रों में एकाधिकार स्थापित हो गया।

कृषि

कृषि का स्वरूप सर्वथा परिवर्तित हो गया। पहले भारतीय किसान अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये फसल उगाता था। अब वह बिक्री के लिये भी फसलें बोने लगा। रेल व अन्य आधुनिक परिवहन के साधनो द्वारा विशेषीकरण के सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। जूट, कपास, तिलहन, कहवा, चाय, तम्बाकू आदि नगदी फसलें विदेशियो की माँग पूर्ति के निमित्त ही अधिक बोई जाने लगी। नील की खेती से भारत को अपार धन मिलता था। सस्ते और चमकीले विदेशी रंगो के आयात के उपरान्त नील की खेती का देश से लोप हो गया। विदेशी उद्योग-धन्धो के कच्चे माल की माँग पूर्ति का देश एक प्रधान क्षेत्र बन गया।

दूरवर्ती बाजार से प्रेरणा पाकर किसान नए यंत्र-उपकरणो, सुधरे बीजो, आधुनिक खादों और नूतन ज्ञान का उपयोग करने लगा। उसकी आय मे वृद्धि हुई और उसका जीवन-स्तर ऊँचा हुआ। अब वह कुछ सहायक धन्धे भी करने लगा है।

औद्योगिक विकास

गत सौ वर्ष मे जो कुछ औद्योगिक विकास देश मे हुआ है जिसके कारण भारत अनेक प्रकार के निर्मित माल मे स्वावलम्बी ही नही हो गया, वरन् निर्यात भी करने लगा है, उसका बहुत कुछ श्रेय रेलो को ही है। रेलो का प्रभाव छोटे-बडे दोनो प्रकार के उद्योगो पर पडा है।

(क) बड़े उद्योग—बडे उद्योगो और रेलो का आविर्भाव देश मे एक साथ ही हुआ।[1] भारी-भारी कच्चे पदार्थो को नियमितता से और सस्ते भाडे पर दूर-दूर क्षेत्रो से सचित करके और बडे पैमाने पर बनाए हुए माल को शीघ्रता से वितरित करके रेलो ने आधुनिक सगठित उद्योगो की भारी प्रगति की है। जूट, सूती-वस्त्र, कोयला, सीमेट, लोहा-इस्पात, चीनी, चाय, कागज, खाद इत्यादि उद्योगो को अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय भारतीय रेलो को ही है।

रेलें अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए करोडो रुपए का माल, मशीने और साज-सज्जा प्रति-वर्ष मोल लेती है और तत्सम्बन्धी उद्योगो के लिए एक महत्वपूर्ण बाजार उपस्थित कर उनकी उत्पादन वृद्धि और उनका विकास करती हैं। भारत की सरकारी रेलो ने सन् १९५७-५८ मे २२२ करोड रुपए विविध माल और वस्तुओ पर व्यय किए। इसमे पटरियाँ, स्लीपर (लोहे, इस्पात और लकडी के), इञ्जन, डिब्बे और उनके भाग (Parts), भवन-निर्माण सामग्री, रंग-रोगन का सामान, लकडी, जलन तेल, फर्नीचर, सर्वेक्षण एव अन्य यंत्र, छापेखाने का सामान, बिजली का सामान, तार और टेलीफोन-उपकरण इत्यादि मुख्य थे। रेलें कुछ वस्तुओ की सबसे बडी उपभोक्ता है। वे देश के कुल उत्पादन का आधा इस्पात, एक-तिहाई कोयला और एक बडी मात्रा मे सीमेंट प्रति वर्ष उपभोग करती हैं। इतना उपभोग करने के उपरान्त भी उनकी इन वस्तुओ की सारी माँग-पूर्ति नही हो पाती। सन् १९५७-५८ मे रेलो की सीमेंट की केवल ६८·५% माँग-पूर्ति की जा सकी। सन् १९५६-५७ मे रेलो की स्लीपरो की केवल ५०% माँग-पूर्ति की जा सकी।

कई बडे पैमाने के उद्योगो को रेलें स्वय चलाती है। योजना-काल मे भारतीय रेलो ने चलयान के सम्बन्ध मे स्वावलम्बन की नीति अपनाई है और चितरंजन इञ्जन कारखाना, पैराम्बूर सवारी डिब्बा कारखाना तथा वाराणसी इञ्जन पुर्जा कारखाने खोले हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक भारतीय रेले अपने लिए कोयला स्वयं ही खानो से खोदती

---

१. प्रथम रेल (जी० आई० पी०) सन् १८५३ मे और दूसरी (ई० आई० आर०) सन् १८५४ मे चालू हुई। प्रथम लोहे का कारखाना (East India Iron Co) सन् १८५३ मे, प्रथम जूट का कारखाना सन् १८५४ मे और प्रथम सूती कपडे का कारखाना सन् १८५४ मे खुला। ई० आई० रेल की प्रथम टुकडी के खुलते ही कोयले की खान खोदेने के अनेक कारखाने चालू हो गए।

थी। अब इन खानो को भारत सरकार ने ले लिया है। रेलें अपने छापेखाने, शिल्पिशालायें (Workshops), बिजलीघर इत्यादि भी स्वयं चलाती है।

(ख) छोटे उद्योग—रेल युग मे बडे पैमाने के उद्योगो के विकास के कारण भारत के छोटे और कुटीर उद्योगो का वैभव समाप्त हो गया। ये उद्योग बड़े उद्योगो की प्रतियोगिता मे खडे न रह सके और इनका पतन होता चला गया। स्वतन्त्रता के उपरान्त इन उद्योगो को पुनर्जीवित करने की ओर हमारा ध्यान गया है और रेलें भी इस कार्य मे हाथ बँटा रही हैं। भारतीय रेलें प्रतिवर्ष लगभग साढ़े तीन से पौने चार करोड़ रुपए तक के मूल्य का छोटे और कुटीर उद्योगो मे बना माल लेती है और इस भाँति इन उद्योगो को प्रोत्साहन देती हैं। सन् १६५७-५८ में ३·५८ करोड रुपए का छोटे व कुटीर उद्योगो का बना माल हमारी रेलो ने खरीदा। इस माल मे हाथ से चलाये जाने वाले छोटे औजार, फर्नीचर, कपडा (मुख्यत: खादी) इत्यादि सम्मिलित है। कुछ वर्षों से अपने कर्मचारियों की वर्दी के लिए रेलें खादी का कपड़ा खरीदने लगी हैं। सन् १६५७-५८ मे ६१·६७ लाख रुपए की खादी सरकारी रेलो ने खरीदी थी। रेलो को फैक्ट्री कानून के अन्तर्गत ऐसे स्थानो मे जहाँ कर्मकरो की संख्या २५० से अधिक है, भोजनालय और जलपानगृह रखने पडते हैं। अब रेलें ऐसे स्थानो के अतिरिक्त भी अपने भोजनालय और जलपानगृह चलाने लगी हैं। प्रत्येक बडे स्टेशन पर एक पुस्तको की दुकान भी होती है। इस भांति रेले कूटीर उद्योगो को प्रोत्साहन और सहायता प्रदान करके उनकी उन्नति मे सहायक हो रही हैं।

नगरों की वृद्धि (Growth of Cities)

आधुनिक सभ्यता नगरो मे निवास करती है। औद्योगिक उत्पादन, व्यापारिक क्रिया, सामाजिक संगठन, बौद्धिक विकास और नागरिक जीवन के नगर प्रतीक हैं। नगरो की वृद्धि का श्रेय एक मात्र रेलो को ही है। रेलो के आगमन से पूर्व भारत पूर्णत: गाँवो का देश था, बम्बई और कलकत्ता जैसे नगरो का यहाँ नाम भी न था। दिल्ली, इलाहाबाद और पटना इत्यादि नगर जो बड़े-बड़े साम्राज्यो के शासन-केन्द्र थे, उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे भी कस्बे मात्र थे। जमशेदपुर, अहमदाबाद, आसनसोल और हावडा जैसे औद्योगिक नगरो का उस समय नाम भी न था। रेलो ने औद्योगिक केन्द्रीयकरण द्वारा इनको इतना बड़ा बनाया है। हावड़ा, मुगलसराय, सिकन्दराबाद, बेजवाडा, इटारसी, गुन्तकल इत्यादि नगर तो केवल रेलो के जंकशन होने के कारण ही अपनी वर्तमान स्थिति को पहुँच गए हैं। रेलें न हो तो इन नगरो मे रहने वाली जनसंख्या का दैनिक भरण-पोषण असंभव हो जाए। दूध, मक्खन, घी, मछलियाँ, शाक-तरकारियाँ, फल इत्यादि प्रतिदिन नियमित रूप से बीसो और पचासो मील से लाकर रेले इतने बडे जनसमूह का पालन-पोषण करती है।

नूतन कार्य-प्रणाली (New Technique)

नए ज्ञान और नूतन कार्य-प्रणाली का आगमन और प्रसार भारत मे रेलो के आगमन के उपरान्त ही हुआ है। यद्यपि नए ज्ञान के लिए जहाज, विमान, तार

इत्यादि भी उत्तरदायी हैं, तो भी देश के आन्तरिक भागो मे उसका प्रवेश और प्रसार रेलो द्वारा ही हुआ है। रेले ही बडी-बडी मशीनो और विशेषज्ञो को कोने-कोने मे पहुँचाती हैं। नागपुर, जबलपुर इत्यादि नगरो मे सूती वस्त्र उद्योग का आविर्भाव रेल-निर्माण के उपरान्त ही हुआ।

गवेषणा (Research)

नूतन ज्ञान और नूतन कार्य विधि का प्रसार ही रेलों ने, नही किया, वरन् उन्होने अन्वेषण-कार्य करके भी देश का भारी उपकार किया है। वे हर समय रेल-निर्माण और सचालन विषयो पर खोज-कार्य और प्रयोग करती रहती हैं। उन प्रयोगो का लाभ देश के अन्य उद्योगो को भी मिलता रहता है। इस कार्य के लिए भारतीय रेलो का एक अलग सगठन है, जिसे गवेषणा, रूपाकरण और प्रतिमानीकरण सगठन (Research, Design and Standardization Organization) कहते है। इसके मुख्य केन्द्र दिल्ली और लखनऊ म तथा उप-केन्द्र (Sub-centre) चितरजन म है। अपने प्रयोगा के परिणामो को रेले शैल्पिक-लेखा (Technical Papers) के रूप में प्रकाशित करती हैं। अब तक भारतीय रेले ३३४ ऐसे शैल्पिक-लेख प्रकाशित कर चुकी हैं। उक्त सगठन अपनी एक त्रैमासिक पत्रिका (Quarterly Bulletin) भी निकालता है। अभिनवीकरण के प्रयोग भी सर्व प्रथम भारतीय रेलो ने ही अवसाद काल के वर्षो मे करके देश के अन्य उद्योगो को लाभ पहुँचाया था।

डाक सेवा (Postal Service)

सस्ती, नियमित और कुशल डाक-सेवा का श्रेय भी भारतीय रेलो को ही है। सन् १८५४ से पूर्व डाकघर विभिन्न प्रान्तो म छुट-पुट और अव्यवस्थित सेवा का स्थान था, प्रत्येक प्रान्त मे अलग नियम थे, डाक व्यय भी अब से बहुत अधिक था। एक तोले के एक पत्र को कलकत्ता से बम्बई भेजने मे एक रुपया और आगरे भेजने मे बारह आना लगते थे। पार्सल जाने की कोई व्यवस्था उस समय नही थी। रेलो के आगमन के साथ ही डाक शीघ्रता से एवं सुरक्षित अवस्था मे दूर-दूर के स्थानो को सस्ते महसूल पर ले जाई जाने लगी। सन् १९०७ मे रेल मेल सेवा (Railway Mail Service) चालू हो गई, जो आधुनिक डाक-व्यवस्था का आधार है। यद्यपि आज भी देश के कुछ भागो म ऊँट, घोडे, घोडा-गाडियाँ, नावें इत्यादि डाक ले जाने के साधन हैं, किन्तु देश भर की आधुनिक डाक व्यवस्था का आधार-स्तम्भ रेले ही हैं।

अकाल (Famines)

प्राचीन काल से अकाल भारतीय अर्थ व्यवस्था की एक सामान्य घटना समझी जाती रही है। रेल-निर्माण द्वारा इनसे देश को छुटकारा देने की बात १९ वी शताब्दी मे सोची गई और इस उद्देश्य म रेलो को भारी सफलता भी मिली। देश मे रेलो का जाल बिछ जाने के उपरान्त चालीस-पैतालीस वर्ष तक देश मे कोई भीषण अकाल नही पडा और यदि रेलें युद्ध-कार्य मे इतनी व्यस्त न हुई होती तो सभवत. सन् १९४३ का बगाल का अकाल भी देश मे न पडा होता।

जब कभी अकाल पड़ता है, वह देश-व्यापी नही होता। एक क्षेत्र अभावग्रस्त होता है तो दूसरे क्षेत्र मे खाद्यान्न की प्रचुरता होती है। रेलें प्रचुर मात्रा के क्षेत्रो से अभावग्रस्त क्षेत्रों को खाद्यान्न अथवा अन्य आवश्यक पदार्थ पहुँचाकर अनेक लोगों की प्राण-रक्षा करती हैं और अकाल-यातनाओं को कम करती हैं। अब देश में खाद्यान्न के अभाव के कारण अकाल नही पड़ते, वरन् धन-साधनों की कमी के कारण पड़ते है।

मूल्य-समता (Price Equalization)

रेलो के आगमन से पूर्व देश मे मूल्यो मे भारी विषमता और उतार-चढ़ाव होते रहते थे। अब इतनी विषमता और उतार-चढाव नही होते, क्योंकि किसी क्षेत्र मे मूल्य चढने पर केवल यह जानकारी कि अन्य क्षेत्रो से माल शीघ्र आने वाला है, मूल्यो को औचित्य की सीमा से आगे नही बढने देती। रेल-निर्माण के साथ-साथ केन्द्रीय और व्यवस्थित बाजारो का आविर्भाव होता है, जहाँ उत्पादक, व्यापारी और दलाल परस्पर सम्पर्क मे आते है और सौदा करते है।

यात्रा सुविधायें (Travel Habits)

समय, दूरी और यात्रा-व्यय कम करके रेलों ने यात्रा अत्यन्त सुविधाजनक बना दी है। अतएव लोगो को अधिक यात्रा करने की आदत पड़ गई है। सन् १८७० और सन् १६०० के तीस वर्ष मे रेल-मार्ग मे ५१६ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि यात्री-संख्या ६६७ प्रतिशत बढी और माल-यातायात मे १,२४६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी भाँति सन् १८८० और सन् १६०० के बीस वर्ष मे रेल-मार्ग मे १७५% की वृद्धि हुई, किन्तु यात्री और माल मे क्रमशः २६६% और ३११% की वृद्धि हुई। प्रति पथ-मील (Route-mile) घनत्व के अनुसार विचार करें तो सन् १६०१ की अपेक्षा सन् १६५४-५५ मे यात्री-यातायात मे ३६० प्रतिशत और माल-यातायात मे ३३६ प्रतिशत बढ़ोतरी हुई।

रेलो के युग से पूर्व तीर्थ स्थानो की यात्रा मे वर्षों लग जाते थे और जीवन भर की बचत खर्च कर देनी पड़ती थी। अब कुछ ही दिन मे थोड़े व्यय से देश-भर की तीर्थ-यात्रा की जा सकती है। अब प्रत्येक धार्मिक मेला अथवा पर्व के अवसर पर देश भर के यात्री लाखो और करोडो की संख्या मे एकत्रित हो जाते हैं। रेलो ने श्रम को भी अत्यन्त गतिशील बना दिया है। रेलें अब पर्यटन सम्बन्धी सुविधायें भी प्रदान करने लगी है और पर्यटको को प्रोत्साहित करती हैं। अनेक विदेशी पर्यटक भी भारत प्रति वर्ष आते हैं, जिनसे हमे दुर्लभ विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है तथा हमारे देश की प्रतिष्ठा बढती है।

सहकारी समितियाँ (Cooperative Societies)

रेलो ने सहकारिता के सन्देश को फैलाने मे भी सहयोग दिया है। सन् १६५७-५८ मे रेल कर्मचारियो की २६ सहकारी साख समितियाँ और ४ सहकारी बैंक थे। ६० प्रतिशत से अधिक रेल कर्मचारी इनके सदस्य थे। उसी वर्ष रेल कर्मचारियो के

१२० उपभोक्ता भण्डार और ४ भवन निर्माण समितियाँ भी काम कर रही थी। साख-समितियो ने उक्त वर्ष मे १५·५२ करोड रुपए सदस्यो को ऋण के दिए, उपभोक्ता भण्डारो ने ७७ करोड रुपए का माल क्रय किया और ७६ रुपए का माल बेचा; तथा निर्माण समितियों ने वर्षान्त तक ५६ मकान बनवाए, जिनका मूल्य २·४२ लाख रुपए आंका गया। सहकारिता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने मे भारतीय रेलें सतत् प्रयत्नशील रहती हैं।

शिक्षा प्रसार (Expansion of Education)

शिक्षा-प्रसार म भी रेलें सक्रिय भाग लेती हैं। सामान्य और विशेष दोनो प्रकार की शिक्षा रेलें प्रदान करती हैं। भारतीय रेलें २ इण्टर कालेज, ३१ हाई-स्कूल, २० मिडिल स्कूल और १०३ प्राइमरी स्कूल चलाती हैं, जिनमे लगभग ४४,००० विद्यार्थी पढते हैं। बडौदा मे उच्च अधिकारियो की एक शिक्षण संस्था है, जहाँ प्रति वर्ष सैकडो अधिकारी शिक्षा प्राप्त करके कुशल प्रबन्धकर्त्ता बनते है। विशेष शिक्षा देने के लिए १० प्रशिक्षणालय (Training School) हैं, जहाँ स्टेशन मास्टर, तार बाबू (Signaller), गार्ड, टिकटबाबू, पार्सल-बाबू, माल-बाबू इत्यादि का काम सिखाया जाता है। लखनऊ, अजमेर और बगलौर मे यांत्रिक और बिजली सम्बन्धी प्रशिक्षण सुविधाये की गई हैं। शाहजहाँपुर, मऊ और माधोपुर मे भवन-निर्माण, चित्रकारी और मिस्त्रियो का काम सिखाया जाता है। सिकदराबाद मे तार-संचार स्कूल खोला गया है। लगभग दो हजार शिक्षार्थी प्रतिवर्ष उक्त प्रशिक्षणालयो से प्रशिक्षित होकर निकलते हैं।

रेलें प्रतिवर्ष लगभग १३॥ करोड टन माल और १४३ करोड यात्री (देश की जनसख्या का चारगुना) देश के एक भाग से दूसरे भाग को ले जाती है। वे ११ लाख से ऊपर लोगो को काम देती हैं। यदि ५ व्यक्तियो का परिवार मान लें तो प्रत्येक ६ व्यक्तियो मे से एक व्यक्ति रेल कर्मचारी है अथवा उसका आश्रित। वे देश के औद्योगिक उत्पादन का १५ प्रतिशत प्रति वर्ष उपभोग करती हैं और केन्द्रीय कोष को ५५ करोड रुपए वार्षिक लाभांश देती ह। यदि रेलो का सचालन बन्द कर दिया जाय तो सारा देश सकट मे पड जाए और सुख-शान्ति के स्थान पर अराजकता और अशान्ति का राज्य हो जाय। कच्चे माल, कोयले एव अन्य आवश्यक सामान न मिलने से उद्योग-धन्धे बन्द हो जायेंगे, माल और मनुष्यो का दूरवर्ती आवागमन बन्द होने से व्यापार ठप्प हो जायगा; बम्बई, कलकत्ता जैसे बडे नगरो मे दैनिक उपभोग्य वस्तुयें जैसे दूध, फल और तरकारियाँ पहुँचनी बन्द होने से त्राहि-त्राहि मच जाएगी; सरकारी काम-काज रुक जायेंगे, छोटे-बडे उद्योगो को कोयला पहुँचना बन्द हो जाएगा और बिजली बननी भी बन्द हो जाएगी, खाद्यान्न और पशु-चारे का वितरण रुकने से अभावग्रस्त क्षेत्रो मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि सारा आधुनिक जीवन सकटमय हो जाएगा। रेलो के आधुनिक जीवन के इसी महत्व को ध्यान मे रखकर उन्हें राष्ट्र की जीवन-रेखा कहा जाता है।

विदेशी पूँजी का आगमन

वृहत्काय व्यवसाय के लिए अमित मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है। कुछ उद्योग ऐसे होते है (रेले उनमे से एक हैं) जिनमे उद्योग की स्थापना के वर्षो उपरान्त लाभ होना प्रारम्भ होता है। देश मे वृहत्काय उद्योगो के संचालन के लिए पर्याप्त पूँजी नही थी, फिर रेल जैसे व्यवसाय की तो बात ही दूर रही। महान् साहसी विदेशी पूँजीपति भी सरकार द्वारा न्यूनतम लाभ का उत्तरदायित्व ओढे बिना रेलो के निर्माण के लिए प्रस्तुत न थे। ऐसी स्थिति मे रेल-निर्माण-कार्य विदेशी पूँजी की सहायता से करना पडा। रेलो के लिए अन्य किसी भी आधुनिक व्यवसाय की अपेक्षा अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है। इस भाँति न केवल रेल-निर्माण के लिए एक बडी मात्रा मे विदेशी पूँजी का देश मे प्रवेश हुआ, वरन् जूट, चाय इत्यादि अन्य बडे व्यवसायो का विकास भी विदेशी पूँजी द्वारा हुआ। देश से अपार धनराशि विदेशी पूँजी के व्याज अथवा लाभ के रूप मे प्रतिवर्ष जाने लगी। भारतीय रेले लगभग ६० वर्ष तक हानि उठाती रही। यह हानि-पूर्ति जनता पर नए-नए कर लगा कर अथवा पुराने कर दुगुने करके की जाती रही। भारतीय जनता के ऊपर भारी बोझ लद गया। अब भी हमे विदेशी पूँजी से पूर्णत: छुटकारा नही मिला।

परिवहन के अन्य साधनों की उपेक्षा

जिस समय यहाँ रेलो का आविर्भाव हुआ, उस समय देश मे परिवहन के मुख्य साधन सडक और जलमार्ग थे। मुगल राजाओ ने सडको के निर्माण व सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया था। अतएव यहाँ अच्छी सडको की कमी न थी। किन्तु १८५० से पूर्व के सौ वर्षो मे सेनाओ के आवागमन और अशान्त वातावरण के कारण ये दुर्दशा को पहुँच गई थी। आन्तरिक जल परिवहन १८५० और उसके उपरान्त लगभग एक चौथाई शताब्दी तक उन्नत दशा मे था। किन्तु रेलो के प्रारम्भ के साथ ही इन दोनो साधनो की भारी उपेक्षा की गई। हमारे अँग्रेज शासको को भारत मे रेलें बनाने की ऐसी सनक सवार हुई कि उन्होने देश के प्राचीन परिवहन के साधनो की उन्नति व सुधार की ओर तनिक भी ध्यान न दिया। परिणाम यह हुआ कि ये दोनो ही साधन घोर पतितावस्था को पहुँच गए, यहाँ तक कि आन्तरिक जल परिवहन तो सर्वथा शून्यवत् हो गया। सड़क परिवहन की उन्नति की ओर १९२९ से कुछ ध्यान अवश्य दिया गया, किन्तु आन्तरिक जल परिवहन की अभी भी बुरी दशा है। सडक और जल परिवहन की इतनी उपेक्षा न हुई होती तो सम्भव था कि १९४३ का बंगाल का अकाल न पड़ता और पड़ता भी तो उसके परिणाम उतने भयानक न हुए होते जितने कि वस्तुत: हुए।

सामाजिक प्रभाव

देश की सामाजिक व्यवस्था पर भी रेलो का भारी प्रभाव पड़ा। जाति बन्धन ढीले पड़ गए; अन्धविश्वास दूर हुए; विदेश यात्रा का मार्ग खुला और लोगों

को गमनागमन की आदत पडी। रेल-युग से पूर्व जाति-बन्धन इतने कडे थे कि पूर्वजों के व्यवसाय को छोडकर दूसरा काम करना पाप समझा जाता था। ऐसा करने वालो का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। देश-विदेश जाने और सम्पर्क बढने से लोगो को अपनी ऐसी अनेक भूलो का ज्ञान हुआ। अब इस प्रकार के व्यावसायिक बन्धन नाममात्र को रह गए है और बिना जाति-पाँति के भेदभाव के लोग सभी उद्यम और व्यवसाय अपनाने को प्रस्तुत रहते हैं। आज ब्राह्मण पुत्रो को हम जूते का व्यवसाय, क्षत्रियों को वणिज-व्यापार और शूद्रों को अध्यापन-कार्य करते देखते हैं। यह सब रेलो का ही प्रभाव है।

रेलो के प्रभाव से हमारे यहाँ का श्रम अन्य समृद्धशाली देशो की भांति ही गतिशील हो गया है। अब से कुछ काल पूर्व भी हमारे देशवासी विदेश जाना घृणित कार्य समझते थे किन्तु आज भारतीय लोग संसार के सभी देशो मे काम करते पाए जाते हैं। अफ्रीका, लका, ब्रह्मा इत्यादि देशों और अनेक द्वीपो मे तो हमारे देशवासी जाकर स्थायी रूप से बस गए है। यह सब भी रेलो का ही प्रभाव है।

इस भाँति रेलो ने देश की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था मे महान् परिवर्तन कर डाले हैं। इन परिवर्तनो की प्रगति अभी जारी है और दिन पर दिन भारत और भारतवासी प्रगतिशील होते जा रहे हैं।

७.

रेल-व्यय
(Railway Expenses)

रेल के व्यय को हम दो भागो मे बांट सकते हैं: (१) रेल की पूंजी, (२) रेल का संचालन-व्यय। रेल बनाने के लिए पूंजी के रूप मे प्रारम्भिक व्यय की आवश्यकता पड़ती है और उसके संचालन के लिए वार्षिक व्यय की। पूंजी और आय में अन्तर है। इसी प्रकार पूंजीगत व्यय और वार्षिक व्यय मे अन्तर है। किसी उपवन के वृक्षों को हम पूंजी कहे तो फलो को आय कह सकते हैं। पेड़ो से आय प्राप्त करने के लिए उन्हे सुरक्षित दशा मे रखने के लिये उनकी चौकसी करनी पड़ती है। तत्संबंधी व्यय को वार्षिक व्यय अथवा संचालन व्यय कहेंगे। किसी रेल को बनाने और उसे सुसज्जित करने के लिए जो पदार्थ काम आते हैं अथवा जो धन व्यय किया जाता है वह उसकी पूंजी है तथा उस पूंजी से काम लेने के हेतु उसे ठीक स्थिति मे रखने के लिए जो पोषण व्यय किया जाता है जैसे मजदूरी, वेतन, ईंधन-व्यय, मूल्य ह्रास इत्यादि उन्हे संचालन-व्यय कहते है।

भारतीय रेलो के कुछ वर्ष के पूंजीगत व्यय और संचालन व्यय निम्नांकित है:—

(करोड रुपए)

वर्ष	पूंजीगत व्यय	संचालन व्यय
१९५५-५६	९७५·९१	२६०·१७
१९५६-५७	१०७८·२३	२८०·१३
१९५७-५८	१२२८·६७	३११·१७
१९५८-५९	१३६२·८९	३२४·५८
१९५९-६०	१४३८·७५	३३७·४८

भारतीय रेलो का पूंजीगत व्यय लगभग १४०० करोड रुपए और संचालन व्यय लगभग ३०० करोड रुपए वार्षिक है। इस व्यय की पूर्ण जानकारी के लिए उसका विश्लेपण आवश्यक है।

रेल योजनाओं के व्यय का विश्लेषण[1]

(प्रति मील व्यय)

विवरण	विल्लूपुरम त्रिचनापल्ली (१९३८)		रामगंज त्रिक्षमपुर (१९४८)		हपर तनौरा (१९४८)		चुनार राबर्टगंज (१९५२ ५४)	
	मझली रेल (१०१ मील)		मझली रेल (२३ मी०)		बड़ी रेल (२५ मी०)		बड़ी रेल (४७ मी०)	
	रु०	%	रु०	%	रु०	%	रु०	%
प्रारम्भिक व्यय	१ २८२	० ७	१ ९९५	० ६	१ ६६४	० ५	६ ७८७	१ ४
भूमि	२२ ७३१	१२ ८	२८ ०५४	८ ३	२१ २३४	६ ३	१३ ३१९	२ ७
निर्माण (Formation)	१४ ३०२	८ ०	५७ ७४९	१७ २	८१ ०२४	२३ ८	१ १८ ०६७	२४ १
पुल	६५ ३४७	३६ ६	५३ ६४३	१५ ९	११९ ७५२	३५ १	७१ ९३३	१४ ७
बाड	३ ८५१	२ २	८ ९९४	२ ६	१ ०९०	० ३	२ ९२१	० ६
स्थायी मार्ग	३९ ४४८	२२ १	९७ ९३५	२८ ८	६५ २१०	१९ २	१ ३८ ७९१	२८ ३
स्टेशन व भवन	११ ५२०	६ ४	३२ ४३७	९ ६	३१ ९०३	९ ३	४७ ०९२	९ ६
सामान्य व्यय, उपकरण इत्यादि	१९ ९८९	११ २	५६ ९३८	१७ ०	१८ ९९६	५ ५	९१ ४८९	१८ ६
जोड	१ ७८ ४७१	१००	३ ३७ ४४५	१००	३ ४० ८७३	१००	४ ९० ३९९	१००

1 Thirty First Report of Estimates Committee, 1955 56, page 37

पूंजी

रेल की पूंजी के दो स्वरूप हो सकते है : (१) रेल की सेवा प्रदान करने के लिए जो साधन-सामग्री उपस्थित की जाय जैसे स्थायी मार्ग, पुल-पुलिया, भवन, इंजिन, सिगनल, डिब्बे, साज-सामान इत्यादि, अथवा (२) इन वस्तुओ का वास्तविक मूल्य । जो पूंजी रेल की सेवा के लिए बार-बार स्थायी रूप मे उपयोग की जा सके जैसे रेल-मार्ग, स्टेशन इत्यादि उसे स्थिर या अचल (Fixed) पूंजी कहते हैं किन्तु जो केवल एक बार ही प्रयुक्त की जा सके जैसे कोयला, तेल, पानी, मजदूरी इत्यादि उसे अस्थिर अथवा चल (Circulating) पूंजी कहते है । वस्तुत: रेलो की पूंजी से तात्पर्य यहाँ अचल पूंजी से है क्योकि चल पूंजी रेलो के संचालन व्यय का अग समझी जाती है जिसका अध्ययन अलग किया गया है ।

रेल-पूंजी को सामान्यत: पांच वर्गों मे बांट सकते हैं : (क) प्रारम्भिक व्यय, (ख) भूमि का मूल्य, (ग) रेल-पथ, रेल-मार्ग तथा भवन निर्माण, (घ) चलयानादि एवं (ङ) विविध सम्पत्ति ।

इनमे से प्रत्येक मद पर भारतीय रेलो ने कितना व्यय किया, यह विवरण उपलब्ध नही है । गत-वर्षो मे कार्यान्वित की गई कुछ रेल-योजनाओ के प्रति-मील पूंजीगत व्यय का विवरण लोक-सभा की प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) ने अपने प्रतिवेदनो मे उपस्थित किया है । इससे विविध विषयो के पूंजीगत व्यय का सापेक्षक महत्व जाना जा सकता है ।

पृष्ठ ८१ की तालिका से ज्ञात होता है कि युद्ध पूर्व की अपेक्षा युद्धोत्तरकाल मे रेल-निर्माण व्यय मे द्विगुणित वृद्धि हो गई है । परिस्थितियो के अनुसार रेल-पूंजी की मात्रा भिन्न-भिन्न रेलो मे भिन्न होती है ।

३१ मार्च १९६० को भारतीय रेलो मे विनियोजित कुल धन-राशि १७३९ करोड रुपए थी जिसमे से १७३२·६५ करोड रुपए सरकारी रेलो मे और शेष ६·४७ करोड़ रुपए गैर सरकारी रेलो मे लगे थे । सरकारी रेलो मे लगी हुई वास्तविक पूंजी १४३२·२८ करोड रुपए थी जो भारत सरकार ने समय-समय पर रेलो को ऋण रूप मे दी है । शेष ३००·३७ करोड रुपए की धन-राशि रेलो ने निजी लाभ से बचाकर लगाई है । इसमे से ८२·८५ करोड रुपए मूल्य ह्रास निधि से ले कर सम्पत्ति के नवकरण एवं सुधार मे लगाई गई, १४३·०८ क० रु० विकास निधि से विकास योजनाओ मे लगाई गई तथा ७४·४४ करोड रुपए आगम निधि से ली गई है ।

सरकारी रेलो मे लगी हुई १४३२·२८ क० रु० की पूंजी का विवरण इस प्रकार है :

सरकारी रेलो मे ३१ मार्च १९६० को लगी पूँजी

प्रकार	क० रु०	कुल का प्रतिशत
(क) रेल-पथ, भवन इत्यादि	७०८·१६	४९·५
(ख) चलयानादि	४८०·४९	३३·५
(ग) सामान्य व्यय अथवा सम्पत्ति	५८·६८	४·१
(घ) भण्डार	१३२·०४	९·२
(ङ) अन्य अमूर्त सम्पदा	५२·९१	३·७
कुल जोड	१४३२ २८	१००

इन आँकडो से ज्ञात होता है कि लगभग ५०% पूँजी रेल-पथ, रेल-मार्ग व भवनो इत्यादि मे, लगभग एक-तिहाई चलयानादि (इञ्जन व डिब्बे) मे और शेष लगभग १७% विविध सम्पत्ति मे लगी हुई है।

(क) प्रारम्भिक व्यय—रेल-मार्ग बनाने से पूर्व बहुत-सा रुपया प्रारम्भिक व्यय के रूप में लगाना पडता है। **इसमे सर्वेक्षण (Survey) और कानूनी व्यय मुख्य** होते हैं। प्रत्येक सयुक्त स्कध प्रमण्डल (Joint Stock Company) को कुछ न कुछ प्रारम्भिक व्यय करने पडते है। इन्हे प्रथम कुछ वर्षो मे लेखा-पुस्तको मे दिखाया जाता है किन्तु दो-तीन वर्ष मे उन्हे हटा दिया जाता है क्योकि यह व्यय बहुत अधिक नही होता और ऐसा करने मे कोई कठिनाई नही होती। रेल को इस मद मे बहुत व्यय करना पडता है जिसे इस प्रकार आसानी से नही हटाया जा सकता। रेल की सडक बनाने से वर्षों पहले मार्ग के सम्बन्ध मे खोजबीन करनी पडती है। किस मार्ग से होकर रेल जायगी ? उस मार्ग की आर्थिक स्थिति कैसी है ? पर्याप्त यातायात (Traffic) मिल सकेगा अथवा नही ? वर्तमान यातायात पर्याप्त न हो तो यह देखना होता है कि भविष्य मे उसके बढने की सम्भावना है अथवा नही ? जिस मार्ग से होकर रेल बनने का प्रस्ताव किया जाता है, उस मार्ग की भूमि के स्वामी बाधा उपस्थित कर सकते है। देश और जाति अथवा सार्वजनिक हित को व्यक्तिगत हित से ऊपर मानने वाले कुछ लोग अपनी भूमि मे से रेल-मार्ग के लिए भूमि देने के लिए तुरन्त सहमत हो जाते हैं, किन्तु कुछ लोग जो सामाजिक हित के लिए व्यक्तिगत हित को नही त्याग सकते, वे भूमि देने को प्रस्तुत नही होते। ऐसे लोगो के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करनी पडती है जिसके लिए चतुर वकीलो की आवश्यकता पडती है जिन्हे उचित पारिश्रमिक देना पडता है। साथ ही साथ मुकद्दमेबाजी मे पर्याप्त धन भी व्यय करना पडता है। भारत मे रेलो को भूमि सरकार ने प्रदान की थी। अत: इस सम्बन्ध मे उन्हे कोई धन व्यय नही करना पडा। किन्तु ब्रिटेन को इस निमित्त बहुत-सा धन व्यय करना पडा। कुछ विद्वानो का मत है कि वहाँ लगभग ७००० पौंड प्रति मील के हिसाब से प्रारम्भिक व्यय करना पड़ा जो वहाँ की सब रेलो के लिए लगभग ६

करोड पौंड होता है। इस कार्य का महत्व इससे भलीभाँति समझ मे आ सकता है कि भारत मे ग्रेट इन्डियन पेनुन्सला रेल और ईस्ट इण्डिया रेल के सम्बन्ध में क्रमश: सन् १८४३ और १८४४ मे प्रस्ताव रखे गए थे और ठीक दस वर्ष उपरान्त वे प्रस्ताव कार्यान्वित हो सके।

उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि वर्तमान परिस्थितियो मे प्रारम्भिक व्यय कुल रेल-निर्माण व्यय का ० ५% से १ ४% तक होता है। सामान्यत: इसे कुल व्यय का १% माना जा सकता है।

(ख) भूमि का मूल्य—सर्वेक्षण कार्य समाप्त होने और रेल-पथ का मार्ग निश्चित होने के उपरान्त भूमि प्राप्त करनी होती है जिसका मूल्य चुकाना पडता है। साथ ही साथ उन भूमि-धरो को प्रतिकर (Compensation) देना होता है जिनकी भूमि *रेल-पथ बनने से टुकडा मे बँट जाती है। भारतीय रेलो का इस सम्बन्ध में कुछ व्यय नहो करना पडा था किन्तु भारत सरकार ने भूमि का मूल्य १८४५ मे २००* पौंड (२००० रुपया) प्रति मील आँका था।[1] वर्तमान रेल-याजनाओ मे भूमि का मूल्य *कुल निर्माण व्यय के २'७% से १२'८% तक अर्थात् सामान्यत: ७'५% होता है।*

(ग) रेल-पथ, रेल-मार्ग तथा भवन निर्माण—भूमि प्राप्त करने के उपरान्त रेल-पथ बनाने का कार्य आरम्भ होता है। ऊँची-नीची भूमि को समतल किया जाता है; गड्ढे-खाइयो को भरा जाता है, ऊँची भूमि से कटान अथवा घाटियाँ काटी जाती है; पहाडी भूमि से सुरगे निकाली जाती हैं; नदी, नालो व नहरो के पुल बाधे जाते है, जगल काटने पडते है। इन विषयो पर अपार धन व्यय होता है। समतल रेल-पथ प्रस्तुत करने के लिए अनेको मजदूर रखकर मिट्टी डलवाई जाती है और मार्ग भूमि से थोडा ऊँचा किया जाता है। तदुपरान्त उस पर रेल की पटरियाँ बिछाई जाती है जिनके लिए लकडी और लोहे के सिलीपर आवश्यक है। स्टेशन, प्लेटफार्म (Platforms) बनाए जाते है। दफ्तर, टिकिट घर, गोदाम इत्यादि के लिए मकान बनाये जाते है। ब्रिटेन की रेलो मे कुल पूँजी का ८० प्रतिशत धन भूमि प्राप्त करने और सडक तथा भवन-निर्माण मे व्यय करना पडा था। भारतीय रेलो के कुल निर्माण व्यय का लगभग ६०% इस निमित्त अनुमानित *किया गया* है तथा *भारतीय* रेलो मे लगी हुई कुल पूँजी की लगभग ५०% इस मद के अन्तर्गत है।

(घ) चलयानादि (Rolling Stock)—मार्ग और भवन-निर्माण के उपरात इञ्जन, डिब्बे इत्यादि चलसम्पत्ति जुटानी होती है। ब्रिटेन मे पूँजीगत व्यय का १५ *प्रतिशत इस मद में व्यय हुआ था। ३१ मार्च १९६० को भारतीय रेलो में १०,०००* इञ्जिन, २०,००९ सवारी गाडियो के डिब्बे और ३·३० लाख मालगाडियो के डिब्बे थे जिसमें लगभग ४८० करोड रुपए लगे हुए थे जो कुल पूँजीगत व्यय का ३३'५ प्रतिशत है।

1. **Indian Railways, One Hundred Years (1853-1953), page 18.**

(ड) विविध सम्पत्ति—रेलो को कुछ विविध सम्पत्ति भी रखनी पड़ती है जैसे टलीफोन व टेलीग्राफ का सामान, बिजलीघर, शिल्पशालाए (Workshops) छापेखाने, कोयले की खाने, होटल, जलपान-गृह, अस्पताल, गोदाम, सडके, मोटरे, ठेले, भण्डार इत्यादि। ३१ मार्च १९६० के भारतीय रेलो म २४४ करोड रुपए भण्डार और विविध सम्पत्ति म लगे थे जो कुल पूंजीगत व्यय का १७% है। ब्रिटेन मे कुल पूंजी का ५ प्रतिशत इस प्रकार व्यय हुआ था।

रेल-पूंजी की विशेषताएं

(१) विशाल आकार—रेल-पूंजी की सबसे बडी विशेषता उसका विशाल आकार है। बडे से बडे आधुनिक व्यवसाय के लिए सामान्यत. उतनी पूंजी की आवश्यकता होती है जितना उसका वार्षिक उत्पादन होता है। रेलो की पूंजी उनके वार्षिक उत्पादन (वार्षिक आय) से पाँच से दस गुनी तक होती है। भारत के सभी सगठित उद्योगो म ५४४ करोड रुपए की पूंजी लगी है, जबकि अकेले रेल-उद्योग म १४३९ करोड रुपए अर्थात् रेलो म देश के सगठित उद्योगो से लगभग तिगुनी पूंजी लगी है। रेलो म देश के अन्य परिवहन के साधनो की अपेक्षा भी बहुत अधिक पूंजी लगी है। सूती-वस्त्र उद्योग देश का सबसे बडा सगठित व्यवसाय है किन्तु रेलो म उससे ग्यारह गुनी अधिक पूंजी लगी है। उसी भाति लोहा-इस्पात उद्योग से १८ गुनी, रासायनिक उद्योग से २८ गुनी, इञ्जीनियरी उद्योग से २९ गुनी, जूट तथा चीनी उद्योगो से ३२ गुनी अधिक पूंजी भारतीय रेलो म लगी है।

भारतीय रेलो के प्रतिमील रेल-मार्ग म ४,०९,००० रुपए पूंजी के लगे है। अनेक क्षेत्रो म प्रतिमील पूंजीगत व्यय इससे कही अधिक है जो ४,५४,००० रु० से १०,००,००० रु० तक आंका गया है जिसका औसत ७ लाख रुपए प्रति मील है।

(२) स्थिरता—रेलो की पूंजी की दूसरी विशेषता उसकी स्थिरता है। किसी रेल के बनवाने म एक बार जो धन व्यय किया गया वह उस रेल-मार्ग से सर्वथा सम्बद्ध हो जाता है। उसे हटाकर हम अन्यत्र नही ले जा सकते। यदि वह मार्ग सफल सिद्ध नही होता तो न तो हम उस पूंजी को हटा कर अन्य मार्ग म लगा सकते हैं और न उस सारे तन्त्र को किसी अन्य कार्य के लिए प्रयोग कर सकते है। निम्न भूमि मे बाँध बाँधे जाते हैं, उच्च भूमि से घाटियां काटी जाती हैं, पहाडो से सुरगे बनाई जाती हैं, नदी-नालो पर पुल और सेतु बाधे जाते हैं, स्टेशनो के निकट मचक (Platforms) बनाये जाते हैं, पानी के निकलने के लिए पुल पुलिया और नालियाँ बनाई जाती है पत्थरियो को यथास्थान स्थिर रखने के लिए निभार (ballast) के रूप म रोडी डाली जाती है। उक्त बाध, सुरग, घाटियाँ, सेतु, पुल पुलिया, मचक, रोडी इत्यादि सभी वस्तुये ऐसी हैं जो उखाड कर अन्यत्र नहीं लगाई जा सकती। यदि रेल की सेवा के लिए उनका उपयोग नही हो सकता तो अन्य किसी काम के नही आ

सकती। यहाँ तक कि रेल द्वारा निर्मित मकान भी एक विशेष प्रकार के होते हैं जिनको हम और काम के लिए उपयोग नहीं कर सकते।[1]

(३) यातायात से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध—रेलो की पूँजी की तीसरी विशेषता यह है कि यातायात (Traffic) की मात्रा से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नही। रेल को अपनी सेवा प्रारम्भ करने से पूर्व एक न्यूनतम मात्रा मे साधन-सामग्री लगानी पड़ती है। यह सर्वदा संभव नही कि यातायात उतना तुरन्त मिल जाए जो रेल के सारे डिब्बो को पूरा भर सके। बहुधा यातायात समय पाकर उतना होता है जितना रेल ले जा सकती है और कुछ समय तक उसको अधूरा काम मिलता है। नए और अविकसित देश अथवा क्षेत्रों के सम्बन्ध मे यह नियम विशेषत: लागू होता है। कालान्तर मे यातायात बढ़ने पर यदि रेल को अपनी पूँजी की मात्रा बढ़ानी पड़े तो यह वृद्धि भी बडी-बडी इकाइयो मे करनी पडती है जो कि तुरन्त पर्याप्त काम नही प्राप्त कर पाती। इसका प्रभाव यह होता है कि रेल की सेवा तभी लाभदायक सिद्ध होती है और सस्ती हो सकती है जब उसे पूरा काम मिलता रहे। युद्ध काल अथवा अन्य अभिवृद्धि काल (boom period) को छोड़कर इसकी संभावना कम ही होती है। अतएव यह आवश्यक है कि रेलें ऐसी दूरदर्शिता की नीति बरतें कि उनकी समस्त पूँजी और यन्त्रादि (स्थायी मार्ग, इंजन, डिब्बे, स्टेशन इत्यादि) पूर्णत: उपयोग किए जा सकें। साथ ही साथ उन्हे इस बात को कभी न भुला देना चाहिए कि उनकी पूँजी का सदैव पूर्णत: उपयोग सभवत: न हो पाएगा। परिणाम यह होता है कि जितना अधिक यातायात उन्हे मिलता है, उतनी ही सस्ती सेवा वे प्रदान कर सकती हैं क्योंकि ऐसी स्थिति मे पूँजी व्यय (जो स्थिर होता है) अधिक इकाइयो पर बँट जाता है।

संचालन व्यय (Working Expenses)

सन् १९५८-५९ का भारतीय रेलो का संचालन व्यय ३२३ करोड़ रुपए था जिसमे से ४५ करोड़ रुपए मूल्य ह्रास निधि मे दिया गया धन था। इसे निकाल दें तो सामान्य संचालन व्यय २७८ करोड रुपए रह जाता है जिसका विवरण इस प्रकार है:

---

1. "If the railway that results from all this expenditure is not useful as a railway, it is useful for nothing else. It represents sheer waste of capital, a well sunk without finding water, a ship built and fitted that will not float. The embankments and cuttings, the tunnels and viaducts, the bridges and platforms, the culverts and ballast, all are fixed to the spot for ever. If the railway is a failure, they can neither serve any other purpose where they are, nor be taken up and employed elsewhere. Even the very buildings are of too special a nature to be adaptable to other uses." (W. M. Acworth : *the Elements of Railway Economics*, 1932, p. 15).

	करोड रुपए
(१) भवन और मार्ग का भरण-पोषण (Maintenance of Structural Works)	४० ३
(२) प्रचलन-शक्ति का सचय और भरण-पोषण (Maintenance and Supply of Locomotive Power)	१०६ ५
(३) सवारी और मालगाडी के डिब्बा का भरण पोषण (Maintenance of Carriage and Wagon Stock)	३६ ६
(४) बन्दरगाह तथा धुँआकशा का सचालन और भरण-पोषण (Maintenance and Working of Ferry Steamers and Harbours)	१ १
(५) यातायात विभाग का व्यय (Expenses of Traffice Dept)	५२ ६
(६) सामान्य विभाग का व्यय (Expenses of General Dept)	२५ ६
(७) विविध व्यय (Miscellaneous Expenses)	—२ ५
(८) बिजली विभाग (Electric Service Dept)	१४ ८
(९) सिगनल एव तार सचार विभाग (Signal & Teleco Dept)	६ ६
कुल व्यय (कराड रुपए)	२७८ २

इस वर्गीकरण को अधिक बोधिगम्य और व्यावहारिक रूप देने के लिए हम निम्न चार वर्गों म विभाजित कर सकते है —

		करोड रुपए	कुल का प्रतिशत
(१) सामान्य व्यय (General Charges)			
प्रशासन (Administration)	२५ ६		
विविध (Misc)	—२ ५	२३ १	८ ३
(२) मार्ग और भवनो का पोषण (Maintenance of Way and Works)		४० ३	१४ ४
(३) चलयानादि का पोषण (Maintenance of Rolling Stock)	१०६ ५		
	३६ ६		
	१ १	१४० ५	

(४) वास्तविक संचालन व्यय (Operating Expenses)	५२·६		
	१४·८		
	६·६	७४·३	२६·७
कुल जोड		२७८·२	१००

रेलो के संचालन व्यय का उपर्युक्त वर्गीकरण व्यावहारिक व युक्ति संगत ही नही, दूसरे देशो के वर्गीकरण से पूर्णत: मेल खाता है। प्रत्येक वर्ग का विवरण नीचे दिया जाता है।

सामान्य व्यय—सामान्य व्यय मे वे सब व्यय सम्मिलित होते है जो रेल के किसी विभाग विशेष से सम्बन्धित नही होते, वरन् उसके सम्पूर्ण संगठन के संचालन एवं प्रबन्ध-प्रशासन के लिए आवश्यक समझे जाते है। रेल को सेवा के सुचारु संचालन के लिए एक न्यूनतम शासन तन्त्र की आवश्यकता होती है। इस पर जो व्यय किया जाता है वह सामान्य व्यय कहलाता है। श्री अकवर्थ इसे रेल संगठन का अनुरक्षण कहते हैं। भारतीय रेलो ने १९५८-५९ मे २३ करोड रुपए (कुल व्यय का ८ प्रतिशत) इस मद मे व्यय किए। इसमे रेल बोर्ड (Railway Board, के सदस्यो का वेतन और भत्ता, उनके दफ्तर का खर्च और कर्मचारियो का वेतन, केन्द्रीय प्रमापालय (Central Standards Office) का खर्च और कर्मचारीवृन्द का वेतन और मजदूरी, सामान्य प्रबन्धक (General Manager) व प्रादेशिक अधीक्षको (Divisional Superintendent) के दफ्तरो का व्यय तथा लेखा विभाग (Account Dept.), लेखा-परीक्षण विभाग (Audit Dept.), भण्डार विभाग (Stores Dept.), चिकित्सा विभाग (Medical Dept.), पुलिस विभाग (Police Dept), इत्यादि के व्यय सम्मिलित हैं। कर्मचारियो को दी जाने वाली भविष्य निधि (Provident Fund) और उपदान (Gratuity) सम्बन्धी व्यय भी इसी मद मे आते है।

यदि रेलो का स्वामित्व व संचालन वैयक्तिक कम्पनियो के अधिकार मे हो, तो इस व्यय मे संचालक-गण (Board of Directors) को दिए जाने वाला रुपया एव मुख्यालय (Headquarters) के कर्मचारी वृन्द, वसचिव (Secretary), सामान्य प्रबन्धक (General Manager) तथा अन्य अधिकारियो व लिपिको (Clerks) को दिया जाने वाला वेतन व पेंशन और अन्य धन सम्मिलित रहता है। हिसाव किताब रखने व उसका परीक्षण (Audit) कराने का व्यय, कानूनी व्यय (Law charges), सम्पदा की देख-रेख और प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय, बीमा खर्च, (यदि ये सब किसी विभाग विशेष से सम्बन्धित न हो,) भागीदारो और दूसरे लोगो के साथ पत्र-व्यवहार आदि के व्यय भी इसी के अन्तर्गत आते है।

यह सम्पूर्ण व्यय ऐसा होता है जिसका रेल की आय और कार्य की मात्रा (यातायात) से बहुत कम एव अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यातायात कम होने से यदि रेल व्यवसाय अलाभकार होने लगता है तो भी इस व्यय मे कोई विशेष कमी नही आती। यह उतना का उतना ही बना रहता है। कारण स्पष्ट है। रेल की सेवा के सुचारु सचालन के लिए न्यूनतम कर्मचारी रखने अनिवार्य हैं जिनका व्यय स्थायी बना रहता है। इस व्यय मे यातायात के साथ घटावढी होगी तो बहुत कम और असमान अनुपात मे। अतएव जितना ही बडा रेल सगठन होगा, उसके सामान्य व्यय का भार अपेक्षाकृत उतना ही कम होगा।

मार्ग और भवनों का पोषण

इस मद मे १९५८-५९ म भारतीय रेलो ने ४० करोड रुपये व्यय किये जो वार्षिक व्यय का लगभग १५ प्रतिशत है। प्रति मील रेल की सडक के लिये यह व्यय ११,००० रुपये से अधिक पडता है। किन्तु प्रति मील सडक की दर कुछ भ्रमात्मक है, क्योंकि रेलो की पटरियाँ दुहरी, तिहरी व चौहरी भी होती हैं। ३१ मार्च १९६० को भारतीय रेलो की कुल लम्बाई ३५,२१३ मील थी जिसमे से ३१,२४९ मील इकहरी, तथा ३९६४ मील दुहरी व तिहरी-चौहरी पटरियाँ थी, (अर्थात् कुल मार्ग ३९,५५८ मील लम्बा था) और १२,१८० मील पार्श्ववर्ती पटरियाँ थीं जिनकी कुल लम्बाई ५१,७३८ मील होती है। अतः हम प्रति मील पटरी के अनुसार इस व्यय को देखे तो अधिक बोधगम्य होगा। उक्त व्यय प्रति मील रेल-पथ के लिये ७७९० रुपये पडता है। एक-एक रेल को अलग ले तो इसका भार कुछ रेलो पर इससे कही अधिक है, अथवा एक ही रेल के भिन्न-भिन्न भागो पर भिन्न है। १९५९-६० मे बडी (B. G) दक्षिण रेल ने प्रति मील पर ८,१७८ रुपए व्यय किए, मध्य रेल ने ९,७२९ रुपये, पूर्वी रेल ने १०,७७५ रुपये, पश्चिमी रेल ने ११,९६४ रु० तथा दक्षिण-पूर्वी रेल ने १३,५५१ रुपये। पूर्वोत्तर सीमान्त रेल सबसे अधिक मँहगी है। इसके मीटर गेज (Metre gauze) भाग का व्यय २४,५९९ रुपये प्रति मील था। रेल की सडक अथवा पटरी के भरण-पोषण को प्रति मील के हिसाब से देखते समय हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस मार्ग पर जितना यातायात (Traffic) अधिक हो उस पर उतना ही अधिक खर्च पडता है, यद्यपि उसकी आय भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। ब्रिटेन की रेलो के सम्बन्ध मे डब्ल्यू० एम० आकवर्थ (Sir William M. Acworth) के अनुसार चौगुनी अधिक चलने वाली रेलो का पोषण व्यय ढाई गुने के लगभग होता है अर्थात् अधिक चलने वाली रेल का व्यय प्रति मील के हिसाब से कम चलने वाली रेल की अपेक्षा $\frac{5}{8}$ भाग होता है।[1] दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि रेलो के यातायात मे १ : ४ अनुपात हो तो उनके पोषण

1. William M. Acworth. *The Elements of Railway Economics*, 1932. p. 33.

व्यय मे ८ : ५ का अनुपात होगा। यातायात मे वृद्धि होने से पोषण व्यय में वृद्धि आवश्यक होती है, किन्तु यह उस अनुपात से नही होती जिस अनुपात से यातायात बढ़ता है वरन् कम अनुपात मे होती है। परिणाम यह होता है कि जो रेलें अधिक माल ढोती हैं तथा भरण-पोषण मे अधिक व्यय करती हैं, वही रेले सस्ती सेवा प्रदान कर सकती हैं।

इसमे सन्देह नही कि मार्ग व भवना के अधिकाधिक उपयोग से उनका भरण-पोषण व्यय बढ जाता है और उनका प्रयोग इस व्यय का एकमात्र मुख्य कारण समझा जाता है, किन्तु इसका महत्त्वपूर्ण कारण ऋतुपरिवर्तन (जल, वायु, वर्षा, तापक्रम इत्यादि) भी है। जितना व्यय रेलो को इस कारणवश करना पड़ता है, उसका यातायात से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता।

साधारणत: इस व्यय के चार उपविभाग हो सकते हैं :—

(१) स्थायी मार्ग का जीर्णोद्धार और नवकरण (Repair and renewals of the permanent way).

(२) मकानो, गोदामो तथा स्टेशनो का जीर्णोद्धार (Repairs of Building and Stations).

(३) पुल-पुलिया, सुरंग, सेतु, सिगनल इत्यादि का पोषण (Maintenance of bridges, tunnels, culverts, viaducts, etc).

(४) मार्ग की देख-रेख (Supervision and general superintendence).

प्रथम उपविभाग का आधे से अधिक भाग ऐसा होता है जिसको यातायात की इकाइयो मे ठीक-ठीक नही बाँटा जा सकता। पटरियो मे जंग लगने की अपेक्षा घिसावट अधिक होती है; किन्तु लकडी के तख्तो (Sleepers) मे घिसावट अधिक नही होती, वे ऋतुकाल के प्रभाव से सड़-गल जल्दी जाते हैं। मुख्य रेलो को पटरियो मे घिसावट अधिक होती है, शाखाओ की पटरियो मे जंग अधिक लगता है। जिन रेलो पर अधिक गाडियाँ चलती हैं उनमे उतार-चढाव और घुमावो पर अधिक घिसावट होती है। गाडियो के चलने से जोड़ ढीले पड़ जाते हैं और रोड़ा (Ballast) अपने स्थान से हट जाते है, किन्तु रोड़ो के हटने के और कारण भी हैं, जैसे मनुष्य और पशुओ का चलना, वर्षा के पानी का बहाव। बाड़ (Fencing) और खाइयो का साफ करना इत्यादि ऐसे कार्य है जिनका यातायात से कोई सम्बन्ध नही है। वर्षा ऋतु के उपरान्त बारहमासियो का काम प्रारम्भ होता है जिसका यातायात से कोई सम्बन्ध नही। डब्ल्यू० ऐम० आकवर्थ का यह मत है कि साधारणत: इस व्यय का दो-तिहाई भाग घिसावट के कारण और लगभग एक-तिहाई ऋतु परिवर्तन और अन्य बाह्य कारणो से होता है।[1] मकानो, गोदामो तथा स्टेशनो के जीर्णोद्धार का मुख्य कारण

1. Sir William M. Acworth : *The Elements of Railway Economics*, 1932, p. 37.

ऋतु परिवर्तन और वर्षा, आँधी, ओला इत्यादि हैं। इसी भाँति पुल-पुलियों, सुरंगों, सेतुओं इत्यादि का भरण-पोषण व्यय भी उपर्युक्त कारणों से ही होता है। पटरियों की देख-रेख और रक्षा का व्यय भी ऐसा है जिसका यातायात से कम सम्बन्ध है।

चलयानादि का पोषण

१९५८-५९ में भारतीय रेलों ने इस मद में १४० करोड़ रुपए व्यय किए जिसमें से १०९ करोड़ रुपए चालक शक्ति पर, ३० करोड़ रुपए मालगाड़ी व सवारी गाड़ी के डिब्बों पर और शेष १ करोड़ रुपए घाट नावों के भरण-पोषण पर व्यय करने पड़े। यह व्यय वार्षिक व्यय का ५० प्रतिशत है। चलयानादि पर होने वाले कुल व्यय का तीन चौथाई से अधिक (७८ प्रतिशत) इन्जनों के पोषण में, लगभग २१ प्रतिशत माल व सवारियों के डिब्बों, और १ प्रतिशत घाट-नावों के पोषण में हुआ। यह अनुपात ब्रिटेन की रेलों के व्यय के अनुपात से पूर्णत मेल खाता है। ब्रिटेन में यह व्यय वार्षिक व्यय का १६ प्रतिशत होता है और विभिन्न उपमदों का भाग इन्जन ५० प्रतिशत, सवारी डिब्बे २७ प्रतिशत, माल डिब्बे २३ प्रतिशत हैं।

इस व्यय के दो कारण होते हैं . (१) टूट-फूट (Wear and Tear) और (२) अप्रचलन (Obsolescence)। यान आदि के अधिकाधिक प्रयोग से उनमें टूट-फूट अधिक होती है और वे घिसते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी नए प्रकार के डिब्बे अथवा इंजन बनने से भी पुराने चलयानादि को तिलाजलि दे देनी पड़ती है। पहले कारण द्वारा होने वाला व्यय बहुधा यातायात (Traffic) पर निर्भर है; जितना ही अधिक इंजन व डिब्बों से काम लिया जायगा उतना ही उनका पोषण व्यय अधिक होगा। तो भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि चाहे डिब्बे पूरे भरे हों, चाहे अधूरे, उनका पोषण व्यय उतना ही रहेगा, उसमें अधिक अन्तर नहीं पड़ेगा। अतएव रेल अधिकारियों को चाहिए कि वे खाली डिब्बे कम से कम चलने दें। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इंजन और डिब्बे चाहे पटरी पर चलते रहें, चाहे शिल्पशाला (Workshop) में खड़े रहें, वे शीघ्र पुराने हो जाते हैं और उन्हें बदलना पड़ता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत होने वाले व्यय का एक बड़ा भाग इसी कारण से होता है। कभी-कभी वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक प्रगति के कारण भी इंजन व डिब्बे बदलने पड़ते हैं। इस व्यय का यातायात से कोई सम्बन्ध नहीं, यद्यपि यह सत्य है कि इस व्यय का कुछ भाग ऐसा है जिसे माल और सवारियों पर बाँटा जा सकता है क्योंकि माल गाड़ी और सवारी गाड़ी के डिब्बे और इंजिन अलग-अलग होते हैं, किन्तु कुछ मिश्रित गाड़ियाँ भी होती हैं जिनमें कुछ माल के और कुछ सवारियों के डिब्बे लगे रहते हैं। फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस व्यय को यातायात की विभिन्न इकाइयों पर बाँटने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी मार्ग और भवन

1. Sir William M. Acworth· *The Elements of Railway Economics*, 1932, p. 41.

सम्बन्धी व्यय के बाँटने मे होती है। तो भी इस व्यय का एक भाग ऐसा होता है जिसे ठीक-ठीक बाँटना संभव नही और उसे केवल अनुमान द्वारा ही बाँटा जा सकता है।

यातायात व्यय (Traffic Expenses)

वार्षिक व्यय का २७ प्रतिशत वास्तविक संचालन व्यय समझा जाता है। १९५८–५९ मे भारतीय रेलों ने ७४ करोड रुपए व्यय किए जिसका विवरण निम्न प्रकार है :—

नाम मद	कुल व्यय (करोड रुपये)	कुल का प्रतिशत
(क) यातायात विभाग	५२ ६	७१
(ख) बिजली ,,	१४·८	२०
(ग) सिगनल व तारसंचार विभाग	६·९	९
कुल जोड	७४·३	१००

वर्ग (क) के अन्तर्गत उन सब कर्मचारियो का वेतन, मजदूरी इत्यादि सम्मिलित है जो गाडियो के संचालन के लिए उत्तरदायी हैं, जैसे स्टेशन-मास्टर, टिकट-कलक्टर, टिकट निरीक्षक (Ticket Checkers), गार्ड (Guards), ड्राइवर (Drivers), निरीक्षक (Inspectors) इत्यादि। माल के मार्ग मे खो जाने अथवा उसकी टूट-फूट के लिए हानि-पूर्ति (Compensation) के रूप मे दिया जाने वाला धन, टिकट और फार्म (Forms) छपवाने का व्यय तथा कपडे, लेखन-सामग्री (Stationery) इत्यादि पर किए जाने वाले व्यय भी इसमे सम्मलित हैं।

वर्ग (ख) के अन्तर्गत बिजली से चलने वाली रेलो तथा बिजली घरो इत्यादि के अनुरक्षण व्यय सम्मिलित है। वर्ग (ग) के अन्तर्गत सिगनल एव तार-संचार सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यय सम्मिलित है।

इसमे सन्देह नही कि इस व्यय का अन्य व्ययो की अपेक्षा यातायात से घनिष्ट सम्बन्ध है, तो भी इसका एक भाग ऐसा है जो यातायात के अनुपात से नही घटता-बढता और न जिसका यातायात को विभिन्न इकाइयो मे बँटवारा ही सम्भव है।

ड्राइवर माल गाडी चलाता है अथवा सवारी गाडी पर काम करता है। दोनो प्रकार के काम के घण्टो के हिसाब से उसके वेतन को माल और सवारियो पर

बांटा जा सकता है, किन्तु उसके अवकाश के घण्टो के वेतन को अनुमान द्वारा ही बांटना पड़ेगा ; उसका ठीक-ठीक बँटवारा संभव नही। कुछ ड्राइवर मिश्रित गाड़ियो पर काम करते हैं। उनके वेतन के बटवारे के सम्बन्ध मे अधिक कठिनाई उपस्थित होती है। यह नियम ऐसी गाड़ियो पर काम करने वाले अन्य सभी कर्मचारियो के लिए लागू होता है। बड़े-बड़े स्टेशनो पर काम करने वाले स्टेशन-मास्टर और अन्य कर्मचारियो मे माल और सवारियो का काम बँटा रहता है और उनके वेतन-व्यय को उसी अनुपात से बांटा जा सकता है, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रो मे स्थित छोटे-छोटे स्टेशनो पर इस प्रकार का कार्य-विभाजन नही होता। अतः उनका व्यय भी विभाजित नही होता। सिगनल पर काम करने वाले तथा देख-रेख रखने वाले चौकीदारो का वेतन-व्यय ऐसा है जिसका विभाजन और भी कठिन है। यातायात के घटने-बढ़ने से कर्मचारियो की सख्या मे तुरन्त घटा-बढ़ी नही होती। कर्मचारियो को एक न्यूनतम संख्या रखनी ही होती है और यातायात के आशा से अधिक घटने-बढ़ने पर ही उनकी सख्या घटाई-बढ़ाई जाती है। अतएव कर्मचारी वर्ग पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय स्थायी बने रहते हैं। उनमे यातायात के अनुपात से परिवर्तन नही होता।

तेल, पानी और कोयले पर होने वाले व्यय का यातायात मे अधिक सम्बन्ध होता है। लम्बी व अधिक भारी गाड़ियो तथा तेज चाल के लिए अधिक शक्तिशाली इन्जन चाहिये जिनमे अधिक कोयला-पानी खर्च होगा। किन्तु स्टेशनो पर अथवा पार्श्व में खड़े होते समय व पार्श्वायन (Shunting) अर्थात् गाड़िया बनाते समय भी कोयला-पानी जलता है। यह अन्तिम व्यय ऐसा है जिसका यातायात से विशेष सम्बन्ध नही। इसी प्रकार चाहे डिब्बे पूर्णत भरे हो, चाहे अधूरे अथवा बहुत कम, कोयला-पानी बराबर ही खर्च होगा और कल-पुर्जों मे उतना ही तेल लगाना होगा।

संचालन व्यय की विशेषताएँ

(१) स्थिरता—यद्यपि रेलो के पूँजीगत व्यय की भाँति सारे के सारे संचालन व्यय स्थायी नही होते, तो भी उनका एक बड़ा भाग स्थायी होता है। सामान्यतः इसका आधा भाग स्थायी और आधा अस्थायी होता है। इसके परिवर्तित होने वाले भाग म यातायात के साथ घटा-बढ़ी होती रहती है, किन्तु दूसरे भाग मे यातायात की अपेक्षा कम परिवर्तन होता है।

(२) यातायात इकाइयों में बँटवारा—संचालन व्यय का यातायात की इकाइयो से पूँजीगत व्यय की अपेक्षा अधिक निकट सम्बन्ध होता, है तो भी इसके परिवर्तनशील भाग को छोड़कर शेष का यातायात की इकाइयो मे वैज्ञानिक ढग से बँटवारा सम्भव नही है। सामान्यतः इस बँटवारे को अव्यावहारिक माना जाता है।

रेलो के व्यय सम्बन्धी उपर्युक्त अध्ययन से हम निम्न निष्कर्ष निकालते है—

(१) रेल के व्यय का एक बड़ा भाग स्थायी रहता है, उसका यातायात से सीधा सम्बन्ध नही होता। सारा पूँजीगत व्यय और लगभग आधा वार्षिक व्यय

स्थिर समझा जाता है। केवल वार्षिक व्यय का आधे के लगभग परिवर्तनशील होता है जो यातायात के साथ घटता-बढ़ता है। इस भाँति कुल व्यय का आधे से लेकर दो तिहाई तक भाग स्थिर समझा जाता है[1] और केवल एक चौथाई से एक-तिहाई तक परिवर्तनशील होता है।

(२) इसमे सन्देह नही कि रेल के व्यय मे यातायात के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन ठीक उसी अनुपात से नही होता जिस अनुपात से यातायात परिवर्तित होता है, वरन् उससे कम होता है।

(३) उक्त कारणो का रेल के व्यय पर यह अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ता है कि उसका यातायात की विभिन्न इकाइयो मे किसी वैज्ञानिक ढंग से ठीक-ठीक विभाजन सम्भव नही।

इस अध्ययन के उपरान्त स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि रेल के अधिकतर व्यय स्थायी क्यों रहते हैं और उनका यातायात की इकाइयों में बटवारा क्यों सम्भव नही है? इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि स्वभाव से ही रेल एक ऐसा उद्योग है जिसमे अतिरिक्त सेवासु-विधाओं (Excess Facilities) की आवश्यकता होती है। अचल सम्पदा और स्थिर तंत्र मे वृद्धि बड़ी-बडी इकाइयो मे ही करनी पडती है जिसके अनुरूप तुरन्त यातायात नही बढ पाता।[2] कुछ भी क्षमता (Capacity) का अर्थ भारी क्षमता से होता है। एक गाडी चलाने के लिए एक रेल-मार्ग (Railway Track) अवश्य चाहिए, किन्तु उस रेल-मार्ग पर आवश्यकता हो तो कई

---

1. Truman C. Bigham : *Transportation, Principles and Problems*, 1947, p 104.
2. सं० रा० अमेरिका की रेलो के आँकडो से सिद्ध हो चुका है कि ६० मालगाडियाँ (जिनमे से प्रत्येक मे १,००० टन माल भरा हो) प्रति मार्ग प्रति दिन के हिसाब से और ३०० दिन का वर्ष मान कर वहाँ के रेल-मार्ग की काल्पनिक (Theoretical) क्षमता १९२९ में वास्तविक यातायात को दस गुनी और वास्तविक क्षमता दुगुनी थी अर्थात् अपनी क्षमता के ५० प्रतिशत के बराबर ही मार्ग का उपयोग हो रहा था और वे उस समय के यातायात का बीस गुना यातायात ले जाने की सामर्थ्य रखती थी। इसी भाँति माल गाडियाँ अपनी वास्तविक क्षमता का ७० प्रतिशत, सवारी गाडियाँ २१ प्रतिशत, इंजन एक तिहाई और स्टेशन (Terminal facilities) ७० या ७५ प्रतिशत ही प्रयुक्त हो रहे थे, शेष स्थान खाली रहता था। यद्यपि ये आँकडे आर्थिक अवसाद काल के हैं, तो भी ये रेल-व्यवसाय के सम्बन्ध मे एक सैद्धान्तिक तथ्य की सूचना देते हैं। (Ibid, p. 101)

गाडियाँ चल सकती हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आधुनिक परिस्थितियों मे एक रेल मार्ग पर प्रतिदिन ६० गाडियाँ (१५ सवारी और ४५ माल गाडियाँ) चल सकती हैं।[1] दूसरा कारण यह है कि रेलें भावी माग को ध्यान म रखकर बनाई जाती हैं। उनके निर्माता इस आशा को लेकर कार्यारम्भ करते है कि भविष्य मे उस क्षेत्र के व्यापार और उद्योग की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी और रेल की सेवा दिन पर दिन अधिक यातायात मिलने से अधिक लाभदायक सिद्ध होती चली जाएगी। परिणाम सदैव मनोवाछित नही निकलते और यातायात म आशातीत वृद्धि नही होती। तीसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक उन्नति द्वारा रेलो ने अधिकाधिक मात्रा मे यातायात ले जाने की क्षमता बढा ली है उन्होने उच्च कोटि का मार्ग, चलयानादि तथा अन्य साज-सज्जा का प्रयोग करके अपनी कार्य-पटुता बढा ली है। चौथा कारण प्रतियोगी परिवहन के साधनो का विकास है। मोटरें, रेलो के साथ प्रतियोगिता कर उन्हे भारी हानि पहुँचाती हैं।

---

1. Truman C Bigham. *Transportation, Principles and Problems,* 1947, p 101.

८.

रेलें और उत्पत्ति के नियम

(Railways and the Laws of Returns)

उत्पादन उत्पत्ति के साधनो (भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन) के सामूहिक सहयोग का फल है। उत्पादन के लिए कम से कम दो साधनो का सहयोग आवश्यक है, किन्तु आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली मे बहुधा सभी साधनो का एक साथ उपयोग आवश्यक होता है। प्रत्येक उत्पादक इन साधनो का सम्मिलन ऐसे अनुपात मे करता है जिससे उसे अधिकतम उत्पादन मिल सके। उत्पादन बढ़ाने के लिए इन साधनो की मात्रा बढानी पडती है। सभी साधनो की वाछित मात्र मे वृद्धि हो सके तो उत्पादन मे भी वाछित वृद्धि होना सरल है, किन्तु कभी-कभी प्रत्येक साधन वाछित मात्रा मे नही बढाया जा सकता। अतएव उत्पादन भी वाछित मात्रा मे नही बढता।

उत्पत्ति के साधनो के इस सहयोग पर सामान्यत: तीन नियम लागू होते हैं: (१) क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns), (२) क्रमागत उत्पत्ति स्थिरता नियम (Law of Constant Returns), (३) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)। ये तीनो नियम क्रमश: उत्पादन की तीन प्रवृत्तियो की ओर सकेत करते है: (१) उत्पत्ति साधनो की मात्रा से अधिक अनुपात मे बढे, (२) उत्पत्ति साधनो की मात्रा के अनुपात मे ही बढे, (३) उत्पत्ति साधनो की मात्रा से कम अनुपात मे बढे।

लगभग सभी आधुनिक उद्योगो मे यह देखने मे आता है कि उत्पत्ति के एक साधन को स्थिर रखते हुए जब अन्य साधनो की मात्रा बढ़ाई जाती है तो उत्पत्ति साधनो की वृद्धि के अनुपात से कही अधिक तेजी से बढ़ती है जिस प्रवृत्ति को क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि के नियम कहा जाता है। उत्पादक साधनो की इस भाँति वृद्धि करते-करते एक स्थिति ऐसी दृष्टिगोचर होने लगती है, जहाँ केवल साधनो के अनुपात मे ही उत्पादन-वृद्धि होती दिखाई देती है और यदि इसके आगे और भी उन साधनो की वृद्धि की जाए तो उत्पादन साधनो की मात्रा से कम अनुपात मे बढ़ता दिखाई देगा अर्थात् क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है जो उस उद्योग की उच्चतम

स्थिति का सूचक है। इसके आगे उत्पादक साधनों की मात्रा बढ़ाना उद्योगपति के के लिए लाभदायक नही।

रेले अन्य उद्योगो की भाँति आधुनिक युग का एक आधुनिक व्यवसाय है जो परिवहन-सेवा द्वारा उत्पादन क्रिया मे सहायक होकर समाज का महान् उपकार करती है। अन्य आधुनिक व्यवसायो की भाँति रेल-उद्योग मे भी उपर्युक्त नियम लागू होते हैं। रेलो की प्रारम्भिक अवस्था मे क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम उसी भाँति लागू होता है जैसे अन्य बडे पैमाने के निर्माण सम्बन्धी उद्योगो मे लागू होता है, किन्तु अन्ततोगत्वा क्रमागत उत्पादन ह्रास की प्रवृत्ति पहुँच जाती है।

क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम

यह बताया जा चुका है (पृष्ठ ६१–६२) कि रेल-उद्योग स्वभावतः ही एक विशालकाय व्यवसाय है। देश के सगठित उद्योगो मे उसका स्थान सर्वोपरि है। जैसे अगाध समुद्र की बरावरी कोई बडे से बडा जलाशय नहीं कर सकता वैसे ही रेल-उद्योग की बरावरी कोई बडे से बडा उद्योग नही कर सकता। जैसे हिमालय पर्वत अपने आकार और ऊँचाई के लिए पर्वतो मे शिरोमणि गिना जाता है, वैसे ही रेलें अपने विशाल आकार और विस्तार के लिये आधुनिक उद्योगो मे सर्वोपरि हैं। इस विशाल आकार और सगठन के कारण रेलो को अनेक प्रकार की मितव्ययता-सुविधाये अनायास ही उपलब्ध है। इन सुविधाओ के कारण सामान्य परिस्थितिया मे इस उद्योग मे क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम उसी भाँति लागू होता है जैसे किसी भी आधुनिक निर्माण उद्योग में लागू होता है। इसके कई कारण हैं :—

(१) बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययता

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भली-भाँति समझता है कि किसी काम को छोटे पैमाने की अपेक्षा बडे पैमाने पर करना अधिक लाभदायक है। बडे पैमाने पर काम करने से व्यय-सम्बन्धी ऐसी बचत हो जाती हैं जो छोटे पैमाने पर सम्भव नहीं। सामान्यतः इस बचत सम्बन्धी साधनो का निम्नांकित वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(क) विशेषीकरण अथवा श्रम विभाजन (Specialisation or Division of Labour)—बडे उद्योग मे किसी क्रिया का एक छोटा भाग ही प्रत्येक व्यक्ति को करना पडता है जिसमे वह शीघ्र अभ्यस्त हो कर दक्षता प्राप्त कर लेता है। इस दक्षता के कारण वह काम को अपेक्षाकृत कम समय और श्रम से तथा अच्छा कर सकता है। कार्य-विभाजन बहुधा लोगो की रुचि के अनुकूल ही किया जाता है, जिससे श्रमजीवी को थकावट भी कम होती है। इस प्रकार किया हुआ काम कम व्यय से हो जाता है।

अन्य उद्योगो की भाँति रेलें भी विशेषीकरण अथवा श्रम विभाजन की क्रिया से लाभ उठाती हैं। भारतीय रेलो का काम अनेक विभागो मे बँटा हुआ है : इञ्जीनियरी विभाग, लेखा विभाग, प्रशासन विभाग, परिवहन (Transportation) विभाग, वाणिज्य (Commercial) विभाग, भण्डार (Stores) विभाग, चिकित्सा (Medical) विभाग इत्यादि। यही नही प्रत्येक विभाग के उपविभाग भी किए गए है। इंजीनियरी का काम नागर (Civil), यान्त्रिक (Mechanical), वैद्युत (Electrical) तथा सिगनल (Signal) इत्यादि उपभागो मे विभाजित किया गया है। ऐसा उच्चकोटि का श्रम-विभाजन छोटी रेलो मे सम्भव नही। वहाँ तो एक ही व्यक्ति इञ्जीनियर और लाकोमोटिव सुप्रिन्टेन्डेन्ट अथवा सामान्य प्रबन्धकर्त्ता (General manager) और इञ्जीनियर दोनो काम करता है। ऐसे विविध प्रकार के काम करने वाला व्यक्ति कभी उतना चतुर नही हो सकता जितना एक ही क्रिया को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति हो सकता है।

(ख) मशीनों का प्रयोग—किसी एक छोटी क्रिया को करने मे मशीन समर्थ है, किन्तु एक ही मशीन द्वारा अनेक क्रियाये करना संभव नही। छोटे पैमाने के उद्योग मे कार्य-विभाजन न होने के कारण मशीनो का प्रयोग संभव नही अथवा उतना संभव नही जितना बडे पैमाने के उद्योगो मे सम्भव है। मशीन के प्रयोग से काम अच्छा, शीघ्र और सस्ता होता है। बडी रेले माल के उतारने-चढ़ाने अथवा मार्ग-परिवर्तन (Transhipment) के लिए आधुनिकतम युक्तियो और मशीनो का प्रयोग कर सकती है। अनेक बडी रेलें, स्वचालित बिजली की मशीनें माल चढ़ाने तथा उसे उतारने के लिए प्रयोग करती हैं, जिससे घण्टो और दिनो का काम मिनटो मे हो जाता है इससे रेलो के ही समय और धन की बचत नही होती उपभोक्ता के पास माल भी शीघ्र पहुँच जाता है। इसी भाँति बडी रेलें इंजन मे कोयला डालने के लिए विशेष युक्तियो (Devices) का प्रयोग कर सकती है।

(ग) यंत्रों एवं साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग—बड़े उद्योग-धन्धो की भाँति बड़ी रेलो मे सबसे अधिक मितव्ययता का साधन यंत्र-समूह (Plant) एवं साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग है। जितनी यातायात की मात्रा अधिक होती है उतने ही डिब्बे पूर्ण रूप मे भरकर चलते हैं, उनमे रिक्त स्थान न्यूनतम होता है; गाडियाँ भी लम्बी होती है। अतएव कम डिब्बे और इंजिनो से काम चल जाता है। इस प्रकार प्रति इकाई ढुलाई व्यय कम पड़ता है।

(घ) सहायक उद्योगों का विकास—सहायक उद्योगो के विकास और उपोत्पादन (bye-products) के उपयोग के कारण बडे उद्योगो की भाँति बडी रेलों को भारी लाभ होता है। छोटे उद्योग अथवा रेले न ऐसे सहायक उद्योगो का स्थापन कर सकते है और न उपोत्पादन के उपयोग की आशा। बडी रेलो की अपनी शिल्पशालायें, कारखाने इत्यादि होते हैं जहाँ मरम्मत व निर्माण-कार्य सस्ता हो जाता

है। यदि यही काम बाहरी कारखानो या शिल्पशालाओ मे कराना पडे तो अत्यन्त मँहगा पडता है। भारतीय रेले वर्षों तक निजी खानो से कोयला निकालती रही। भारत की सरकारी रेलो ने इ जन और सवारी डिब्बे बनाने के निजी कारखाने खोल लिए हैं। उनकी अपनी शिल्पशालाये भी हैं। छोटी इकाइयो के लिए यह सम्भव नही।

(इ) क्रय-विक्रय मे सुविधा एवं बचत—बडे पैमाने पर माल मोल लेना और बेचना दोनो ही क्रियाये सस्ती पडती हैं, क्योकि जो माल अधिक मात्रा में लेना है वह सुप्रसिद्ध निर्माताओं अथवा उत्पादकों से सीधा लिया जा सकता है अथवा बडे व्यापारियो के हाथ बेचा जा सकता है। बडे पैमाने से क्रय-विक्रय मे न केवल छूट अधिक मिल जाती है, वरन् माल की ढुलाई इत्यादि व्यय भी अपेक्षाकृत कम होते हैं। रेलो को कोयला, तेल, उपस्नेह, मशीने, चलयानादि, पटरियां इत्यादि अनेक वस्तुये लेनी पडती है तथा परिवहन-सेवा की बिक्री करनी पडती है। इस बिक्री के निमित्त विज्ञापन करना पडता हैं, टिकट घर और दफ्तर रखने पडते है। इन सब सेवाओ के लिए बडे पैमाने का काम कम खर्च मे हो जाता है और बहुत बचत हो जाती है।

इस सब मितव्ययता और बचत के कारण उत्पादन सस्ता हो जाता है अर्थात् प्रति इकाई मूल्य कम हो जाता है। मूल्य कम होने से माँग बढती है और बाजार विस्तृत होता है। माँग बढने से उत्पादन का स्तर और भी ऊँचा करना पडता है। इस भाँति माल अथवा वस्तुओ के और भी सस्ता करने का अवसर मिलता हैं। रेलो की सेवा की माँग वृद्धि यातायात-वृद्धि है। यातायात-वृद्धि से किराय-भाडे की दरें कम होती हैं और किराया भाडा कम होने से माल, वस्तुओ और मनुष्यों को गमनागमन का अधिक अवसर प्राप्त होता है अर्थात् यातायात को प्रोत्साहन मिलता है। यातायात बढने के साथ सेवा-स्तर ऊँचा करना पडता है और ऊपर बताई हुई बचत और भी अधिक होती है अर्थात् प्रति इकाई मूल्य सस्ता होता जाता है। इस भाँति क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है।

(२) व्यय का प्रभाव

रेलो मे क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने का कारण ऊपर बताई हुई मितव्ययता ही नही, वरन् रेल-व्यय का स्थायी स्वभाव और यातायात की इकाइयों से उसका अप्रत्यक्ष सबध भी है। रेलो मे भूमि के लिए, रेल-पथ बनाने के लिए, उस पथ पर पटरियां बिछाने के लिए, स्टेशन, प्लेटफार्म, पुल-पुलिया, सेतु इत्यादि बनाने के लिए, सिगनल लगाने के लिए, चलयानादि के लिए अपार प्रारम्भिक पूँजी की आवश्यक्ता पडती है। निम्नतम सेवा सुविधाये उपलब्ध करने के लिए भी करोडो रुपए व्यय करने पडते हैं। किसी विद्यालय को छोटी से छोटी स्थिति मे चालू करने के लिए जैसे कुछ कक्षाये, प्रत्येक के लिए एक कमरा, प्रत्येक कमरे के लिए निम्नतम सख्या मे मेज-कुर्सियां अथवा बैठने के अन्य साधन, एक कक्षा अथवा विषय के लिए एक अध्यापक इत्यादि वस्तुएँ अनिवार्य हैं, वैसे ही रेल-सेवा प्रारम्भ करने के लिए एक रेल-

पथ, कुछ स्टेशन, प्रत्येक स्टेशन पर प्लेटफार्म, सिगनल, कर्मचारी इत्यादि निम्नतम साज-सज्जा अनिवार्य हैं। एक रेल-मार्ग चालू हो जाने पर वह बहुत सा यातायात ले जाने मे समर्थ है। यह सेवा-क्षमता इतनी अधिक होती है कि कोई भी नई रेल पर्याप्त यातायात नही प्राप्त कर पाती और सक्रिय प्रयत्नों द्वारा यातायात बढ़ाने के प्रयत्न किए जाते हैं। कभी वर्षों बाद उन्हे अपनी निम्नतम साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग करने के लिए यातायात प्राप्त होता है और उन्हे हानि सहकर कार्य चालू रखना पडता है। जब तक यातायात उस सीमा तक नही पहुँचता कि रेल की निम्नतम साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग हो सके, तब तक मार्ग, साज-सज्जा एवं श्रम सभी का उनके अर्द्ध उपयोग के कारण भारी क्षय होता रहता है। सन् १९२९ मे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के रेल-मार्ग का अपनी वास्तविक क्षमता के ५०% के बराबर ही उपयोग हो रहा था और वह तत्कालीन यातायात का बीस गुना यातायात ले जाने की सामर्थ्य रखता था।[1] ऐसी स्थिति मे यातायात बढ़ने से रेलो के व्यय मे अधिक वृद्धि नही होती, किन्तु आय मे अपूर्व वृद्धि होती है अर्थात् यातायात की प्रति इकाई पीछे व्यय की मात्रा निरन्तर कम होती चली जाती है। इसी स्थिति को क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम का लागू होना कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यह नही है कि नई रेलो मे ही क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम लागू होता है। पुरानी रेलो मे भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। जब यातायात की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि तत्कालीन साज-सज्जा और कर्मचारी वृन्द से उसका सँभालना असम्भव है, तो रेलो को दुहरी पटरियाँ बिछानी होती हैं, नए इञ्जन, माल व सवारी डिब्बे लेने पडते हैं; स्थायी कर्मचारियो की सख्या बढ़ानी पडती है। इस सब मे फिर से करोडो रुपए व्यय करने पडते है। किन्तु जब सेवा का स्वरूप इस भाँति द्विगुणित अथवा अधिक हो गया तो फिर रेल-क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि उसके पूर्ण उपयोग की तुरन्त सम्भावना नही।[2] फिर से कुछ दिन तक अपर्याप्त यातायात के द्वारा रेलो को काम चलाना पडता है। कालान्तर मे ही उसका पूर्ण उपयोग संभव होता है। और जब तक यातायात की मात्रा साज-सज्जा के पूर्ण-उपयोग की सीमा के निकट तक नही पहुँचती तब तक आय-वृद्धि व्यय-वृद्धि को पीछे छेक देती है अर्थात् *क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम लागू होने लगता है।*

सभी देशो की रेलो मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है और रेल-निर्माता सदैव इस बात के लिए सचेत रहते हैं कि पर्याप्त यातायात समय पाकर ही प्राप्त हो सकेगा

---

1. देखो टिप्पणी, पृष्ठ ९४।
2. A rail road can handle twice the traffic with a double track at a smaller unit cost than it can handle half the traffic with one track. Delays inherent in single track operation can be avoided. The gain is still greater when a third track is built. (Truman C. Bigham : *Transportation*, p. 324.)

और प्रारम्भिक वर्षों म उन्हे हानि सहनी पडेगी। सन् १८४९ से १९०० तक का भारतीय रेलो का इतिहास इस प्रवृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। उस समय देश अविकसित अवस्था म था। यातायात की भारी कमा थी, पूंजी का भाँति यातायान भी सभवत. सकोचशील (Shy) था। अतएव पूरे पचास वर्ष तक रेलो को लाभ स ही वचित नही रहना पडा, वरन् उन्हे भारी हानि उठानी पडी। समय पाकर देश मे वडे-वडे उद्योगा (लोहा स्पात, सूती-वस्त्र, जूट, चाय, कोयला,) की स्थापना हुई, बैंक व बीमा सुविधाये प्रारम्भ हुई, नहरा का निर्माण हुआ, और इस भाँति आर्थिक विकास एव यातायात वृद्धि हुई। यातायात वृद्धि से रेलो की आय म पूंजी का अपक्षा अधिकाधिक वृद्धि होती चली गई। नीच के आकडे इस कथन की सत्यता सिद्ध करते हैं।

वर्ष	पूंजी		यात्री		यात्री-आय		माल		माल आय		कुल आय माल और यात्री	
	क रु	देश	लाख	देश	ला रु	देश	ला टन	देश	ला रु	देश	ला रु	देश
१८७१	९०	१००	१९३	१००	२०३	१००	३५	१००	४२०	१००	६२३	१००
१८८१	२४१	१५७	५४८	२८४	३७९	१८६	३२	३३७	९५६	२२८	१३३५	२१४
१८९१	२२१	२४६	१२२९	६३७	६८६	३३८	२६४	७४९	१५६१	३७२	२२४७	३६१
१९०१	३३९	३७७	१९४८	१००९	१००७	४९६	४३४	१२४०	२१-४	५०६	३१३१	५०३
१९११	४५०	५००	३८९९	२०७०	१८४९	९११	७१३	२०३७	३२९३	७८४	५१४२	८२५
१९२१	५४८	७२०	५६९७	२९५०	१४२९	१६२९	९०१	२५७४	४९५२	११८०	८३८२	१३४५

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि १८७१-१८८१ के दस वर्ष म पूंजीगत व्यय मे लगभग ५७% वृद्धि हुई, जबकि रेलो की आय मे ११४% वृद्धि हुई। इसी अवधि म यात्री यातायान १८४% और माल यातायात २७७% बढा। आगामी दशक मे पूंजीगत व्यय म ८९% वृद्धि हुई, किन्तु आय मे १४७% वृद्धि हुई। इस दशक मे यात्री यातायात दुगुना और माल यातायात डेड गुना हो गया। इस भाँति हर बार आय वृद्धि पूजा की अपेक्षा अधिक तेजी से हुई। कारण यह था कि यातायात इतना नही उपलब्ध था कि रेला की तत्कालीन साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग हो सकता। अतएव ज्यो-ज्यो यातायात बढता गया, रेला की आय वृद्धि होती गई और यातायात का दायित्व भार कम होता गया। यह प्रवृत्ति क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम का साक्षात सूचक है।

रेलो का एक-एक इकाई से सम्बन्धित साप्ताहिक आय के आँकडे भी इस कथन का समर्थन करते है। दोनो युद्धा के वर्षों के निम्नाकित आँकडे इस स्थिति पर स्पष्ट प्रकाश डालते है।

वर्ष	नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे		ईस्ट इण्डियन रेलवे	
	पूंजी (क रु.)	प्रतिमील साप्ताहिक आय (रु०)	पूंजी (क. रु.)	प्रतिमील साप्ताहिक आय (रु०)
१९१४-१५	८६-१००	३१९-१००	७१-१००	७९६-१००
१९१५-१६	८६-१००	४०२-१२६	७२-१०१	८००-१०१
१९१६-१७	८७-१०१	४६५-१४६	७२-१०१	८२८-१०४
१९१७-१८	८७-१०१	५८०-१८२	७२-१०१	८९०-११२
१९१८-१९	९२-१०७	५९९-१८८	७३-१०३	१०२०-१२८
१९३९-४०	१४८-१००	५००-१००	१५०-१००	९४४-१००
१९४०-४१	१४८-१००	५८५-११७	१५१-१०१	१०७९-११४
१९४१-४२	१४७—९९	६८७-१३७	१४९—९९	१२७२-१३५
१९४२-४३	१४७—९९	८१०-१६२	१५०-१००	१३८८-१४७
१९४३-४४	१४७—९९	९७२-१९४	१५१-१०१	१५७१-१६६
१९४४-४५	१४७—९९	१०३३-२०७	१५२-१०१	१९६१-२०८

प्रथम महायुद्ध-काल मे नॉर्थ वेस्टर्न रेल मे पूंजी की मात्रा लगभग उसी स्तर पर बनी रही जिस पर वह १९१४-१५ मे थी, किन्तु आय में प्रतिवर्ष वृद्धि होती रही जो १९१९ मे ८८% तक पहुंच गई। द्वितीय युद्धकाल मे यह प्रवृत्ति और भी तीव्र गति से दृष्टिगोचर हुई। १९३९-४० की अपेक्षा पूंजी मे कमी हो गई किन्तु आय प्रतिवर्ष तेजी से बढती गई, यहाँ तक कि १९४४-४५ मे वह दूनी से भी अधिक हो गई। यह यातायात की वृद्धि का परिणाम था। जो बात नॉर्थ वेस्टर्न रेल के सम्बन्ध में कही गई है वही बात ईस्ट इण्डियन रेल के सम्बन्ध मे भी ठीक है। क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम के समझने के लिए ये दोनो उदाहरण ज्वलन्त प्रमाण है।

रेलो की पूंजी ही नही, उनके संचालन व्यय का भी एक बडा भाग (लगभग आधा) स्थायी होता है जिसका यातायात से घनिष्ट सम्बन्ध नही होता। कुछ संचालन व्यय ऐसे होते हैं जिनका यातायात से कोई सम्बन्ध नही होता। उनका मुख्य कारण ऋतु परिवर्तन अथवा अन्य घटनायें होती हैं। ऐसी स्थिति मे रेल-सेवा की माँग बढने से उसके व्यय मे तदनुरूप वृद्धि आवश्यक नही। अतएव यातायात बढने से रेलो का प्रति इकाई व्यय कम हो जाता है अर्थात क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम दृष्टिगोचर होने लगता है।

क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम

यह नियम बतलाता है कि यदि उत्पादन के साधनो मे से कोई एक साधन

सीमित हो और अधिक उत्पादन प्राप्त करने के उद्देश्य से अन्य साधनों की वृद्धि की जाय, तो उत्पादन में वृद्धि तो अवश्य होगी किन्तु अन्ततोगत्वा यह वृद्धि व्यय की अपेक्षा कम अनुपात में अर्थात् बढ़ते हुए लागत व्यय पर होगी। बहुधा यह नियम कृषि उत्पादन में, विशेषत: प्राचीन देशों में लागू होता है, क्योंकि प्राचीन देशों में भूमि उचित मूल्य पर सीमित मात्रा में ही मिल सकती है। रेलों में भी भूमि का महत्व कृषि के समान ही समझा जाता है।

यह ठीक है कि न्यूनतम रेल सेवा के लिए एक बड़े संगठन और मूल्यवान साज-सज्जा की आवश्यकता होती है जिसकी यातायात-क्षमता बहुत अधिक होती है। अतएव ज्यों-ज्यों यातायात बढ़ता है, उस न्यूनतम साज-सज्जा का उत्तरोत्तर पूर्ण उपयोग होता जाता है और फलस्वरूप आय भी तेजी से बढ़ती है। किन्तु इस न्यूनतम साज-सज्जा की क्षमता की भी कोई सीमा होती है। सामान्य क्षमता से अधिक यातायात बढ़ जाने पर उसकी आयवृद्धि व्यय की अपेक्षा पीछे रह जाती है अर्थात् प्रति इकाई लागत व्यय बढ़ने लगता है और इस उत्तरोतर बढ़ते हुए यातायात को ले जाने के लिए रेलों को अपनी साज-सज्जा का विस्तार करना पड़ता है तथा इस विस्तार के लिए अधिकाधिक पूंजीगत व्यय की आवश्यकता होती है। यदि रेलें इस स्थिति में पहुँच कर अपनी सेवा-क्षमता नहीं बढ़ाती तो यातायात दूसरे साधनों की ओर जाने लगता है जो स्वयं रेलों के लिए अहितकर है। साथ ही साथ जनता में भी असन्तोष की भावना जाग्रत हो सकती है। अतएव रेलों को विवश हो कर इकहरे रेल-पथ को दुहरा और दुहरे को तिहरा करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व रेलें अनेक युक्तियों द्वारा अपनी वर्तमान साज-सज्जा द्वारा ही अधिक से अधिक यातायात ले जाने और अपनी वर्तमान क्षमता में वृद्धि के पूरे प्रयत्न करती हैं क्योंकि दुहरी अथवा तिहरी पटरियाँ डालने के लिए एवं अन्य साज-सज्जा बढ़ाने के निमित्त करोड़ों रुपए खर्च करने पड़ते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे भूमि के किसी टुकड़े की उत्पादन क्षमता की कोई स्थायी सीमा नहीं वरन् वह उत्पादन विधि के अनुरूप घटती-बढ़ती रहती है, वैसे ही रेलों की सेवा क्षमता के सम्बन्ध में कोई एक स्थायी सीमा नहीं है। कृषि-क्रिया में परिवर्तन द्वारा, अच्छे बीज, अधिक खाद एवं आधुनिक यंत्रों का उपयोग करके और सिंचाई साधन बढ़ा कर किसी भूक्षेत्र की उर्वर-शक्ति जाग्रत कर उत्पादन-क्षमता बढ़ाई जा सकती है और क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना कुछ समय के लिए स्थगित जा सकता है। उसी प्रकार रेलों को भी करना पड़ता है। यातायात उनकी सामान्य क्षमता से अधिक बढ़ता है तो वे अनेक युक्तियों द्वारा अपनी यातायात ले जाने की शक्ति वर्तमान साज-सज्जा के हेर-फेर द्वारा ही बढ़ाने के प्रयत्न करती हैं, क्योंकि भूमि की मात्रा बढ़ाना सरल काम नहीं है। किसी भी भूमि को रेल-सेवा के लिए उपयोगी बनाने और उसे ठीक स्थिति में रखने के लिए अपार धनराशि की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ तक कि रेलों के पास दुहरी-तिहरी पटरियाँ बिछाने के लिए अपनी निजी भूमि पहले से हो तो भी वे यातायात की सामान्य

स्थिति से थोड़ा बढ़ने पर ऐसी प्रसार-योजनायें कार्यान्वित करने का साहस नही करती ।[1]

वहन-क्षमता वृद्धि

माल अथवा मनुष्य ले जाने की क्षमता बढाने की रेलो द्वारा अनेक युक्तियाँ काम मे लाई जाती हैं । **(क) समय-सारणी का समायोजन**—सम्भवत: सर्वप्रथम समय-सारणी (Time Table) मे हेर-फेर करके यह देखने का प्रयत्न किया जाता है कि वर्तमान रेल-मार्ग पर अधिक गाडियाँ चल सकती है अथवा नही । किसी भी आधुनिक रेल-पथ पर वैज्ञानिक ढङ्ग से ६० गाडियाँ (१५ सवारी तथा ४५ माल) प्रतिदिन चल सकती है । प्रथम और द्वितीय योजना काल मे भारतीय रेलें न तो यातायात वृद्धि के अनुरूप नया रेल-पथ बनाने के लिए और न पथ को दुहरा-तिहरा करने के लिए पर्याप्त पूंजी जुटा सकी । अतएव समय-सारणी मे हेर-फेर करके अधिकाधिक गाडियाँ चलाने के यत्न किए गए । **(ख) चाल वृद्धि**—गाडियो की चाल बढा कर भी सेवा सुविधायें बढाई जा सकती हैं और उसी मार्ग से अधिक काम लिया जा सकता है । भारतीय रेलो ने हाल मे तेज सवारी गाड़ियो की चाल बढा कर पंच-वर्षीय योजना के कारण बढते हुए यातायात को ले जाने का प्रबन्ध किया है क्योंकि पूंजी के अभाव मे प्रसार-कार्यक्रम वाछित सीमा तक नही कार्यान्वित किया जा सकता था । तेज मालगाडिया (Express goods trains) भी चालू की गई है । इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि गाडियो की चाल भी एक निश्चित सीमा तक ही बढाई जा सकती है, क्योंकि एक सीमा पर पहुँच कर चाल बढाने का व्यय इतना अधिक बढ जाता है कि चाल-वृद्धि से कोई लाभ नही होता । **(ग) लम्बी गाड़ियाँ**—अधिक यातायात ले जाने की तीसरी युक्ति लम्बी और भारी गाडियाँ हैं । इसके लिये अधिक शक्तिशाली इञ्जनो की आवश्यकता होती है । शक्तिशाली इञ्जनो के प्रयोग और बडी गाडियो के चलाने से मार्ग की टूट-फूट अधिक होती है और मरम्मत-व्यय बढ जाता है । यदि मार्ग कमजोर है तो भारी पटरियाँ बिछाकर उसे शक्तिशाली बनाया जाता है और पुल-पुलियों की भी शक्ति बढाई जाती है । लम्बी और भारी गाडियो की चाल धीमी होती है । इन धीमी गाडियो का तेज गाड़ियो की

---

1. As considerable expenditure must be incurred in making land of use for railway purposes and on maintaining it, the management of a railway will think twice before employing more land, even if it costs nothing, or if that required for laying a second track is already owned. Where...land is often exceedingly expensive, railway companies will be prepared to incur a large outlay in increasing the capacity of their existing lines and buildings before they will undertake costly widening and enlargement schemes.'' (*Douglas Knoop : Outlines of Railway Economics*, 1925, p. 87).

चाल पर विकृत प्रभाव न पड़े इस बात को ध्यान में रख कर अधिक संख्या में पार्श्वपथ (Sidings) की आवश्यकता होती है। (घ) सुदक्ष सिगनल-व्यवस्था—अधिक संख्या में और तेज गाड़ियों के लिए स्टेशनों पर अनावश्यक रुकावट न हों, इस बात को ध्यान में रखकर सिगनलों की गति तीव्रतर की जाती है, अधिक सिगनल-बॉक्स (Signal boxes) बनाए जाते हैं; उनका सचालन बिजली अथवा अन्य आधुनिक युक्तियों द्वारा किया जाता है। (ङ) पार-पुल (Over-bridges)—बढ़ते हुए यातायात को सुविधा पूर्वक ले जाने के लिए पार करने के मार्गों के स्थान पर अथवा स्टेशनों पर पुल बनाने पड़ते हैं। (च) नियन्त्रण पद्धति (Control System)—रेल-सचालन क्रिया में सुधार किया जाता है और सारी क्रियायें वैज्ञानिक ढङ्ग से करने के प्रयत्न किए जाते हैं। 'नियन्त्रण-पद्धति' (Controll System) का प्रयोग गत वर्षों में विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस पद्धति के अनुसार माल गाड़ियों के लदान का कार्य गार्डों के हाथ से लेकर विशेष अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया जाता है जिन्हें नियन्त्रक (Controllers) कहते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के लिए ऐसे ही अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। प्रत्येक नियन्त्रक अपने क्षेत्र के सिगनल-बक्स, लदान स्थान (Goods Yard), गाड़ियों की गति और क्षेत्र के यातायात इत्यादि की पूर्ण जानकारी रखता है तथा इस बात का प्रयत्न करता है कि कोई गाड़ी अथवा डिब्बा अकारण खाली न खड़ा रहे। इस भाँति साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग करने के प्रयत्न किए जाते हैं। इस पद्धति के लिए उच्च कोटि के बेतार-के-तार (Wireless Communication) अथवा तार-सचार (Tele Communication) की आवश्यकता होती है। द्वितीय युद्धकाल में बढ़ते यातायात के कारण सर्वप्रथम साउथ इण्डियन रेल पर बेतार के तार द्वारा सवाद योजना आरम्भ किया गया। इस प्रयोग की सफलता सिद्ध होने पर १९४४-४५ में इस योजना को स्थायी जीवन दे दिया गया। इन साधनों द्वारा रेलों की सचालन पटुता (Operational efficiency) में अत्यन्त सुधार हुआ है।

स्टेशनों, माल यार्डों, गोदामों, टिकटघरों इत्यादि की कार्य-क्षमता बढ़ा कर भी रेलें अधिक यातायात ले जाने में समर्थ होती हैं।

भीड़-भाड़ और जमघट (Overcrowding and Congestion)

इन युक्तियों के द्वारा रेलें अपनी वहन-क्षमता (Carrying Capacity) इतनी नहीं बढ़ा सकतीं कि अधिक भूमि के उपयोग और दुहरी-तिहरी पटरियों की आवश्यकता का सदैव के लिए निवारण किया जा सके। ये सारे प्रयत्न और युक्तियाँ अल्पकालीन उपचार हैं। वस्तुतः निरन्तर बढ़ते हुए स्थायी यातायात के सुचारु सचालन के लिए रेल-पथ का प्रसार (Expansion) अनिवार्य है। प्रतिकूल परिस्थितियों में इन साधनों को अपना कर रेलें क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम का लागू होना कुछ समय के लिए स्थगित कर देती हैं और उन्हें दीर्घकालीन योजना बनाने का अवसर मिल जाता है। तो भी इस बीच में (जब तक दुहरे-तिहरे पथ की दीर्घकालीन योजनायें कार्यान्वित करने का अवसर आता है) बड़ी असुविधा होती है। यातायात के

निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने मे देरी होती है; सवारी गाडियो मे अपार भीड़-भाड़ हो जाती है, माल के लिए डिब्बे नही मिलते और मिलते है तो वडी देरी से और आवश्यक्ता से कम संख्या में। समय-सारणी (Time table) के अनुसार गाड़ियाँ चलना असम्भव हो जाता है; गाडियो को देर तक स्टेशनो पर खडा रहना पड़ता है। दुर्घटनाओ के अवसर बढ जाते है। इञ्जन और गाडी पर काम करने वाले कर्मचारियों को देर तक काम पर रुकना पडता है, जिन्हें अधिक मजदूरी और वेतन देना पड़ता है। गाड़ियो के मार्ग मे देर तक रहने के कारण कोयले का खर्च वढ जाता है; माल के देर से पहुँचने के कारण हानिपूर्ति देनी पडती है, दूसरी रेलो के डिब्बे अधिक समय रुकते हैं जिन पर हर्जाना देना पडता है। मालमंचो (Goods Yards) अथवा पार्श्व-पथ (Sidings) मे माल का जमघट होने के कारण डिब्बो को यथास्थान लाने में अधिक समय लगता है और लम्बा मार्ग पार करना पडता है। फलत: मार्ग बदलने (Shurting) का व्यय बढ जाता है। साथ ही साथ माल लादने वाले लोगो अथवा पशुओ को घण्टा प्रतीक्षा देखनी पडती है, रेल-कर्मचारियो को भी देर तक अथवा अवकाश के दिन भी काम करना पडता है। कभी-कभी अस्थायी कर्मचारी नियुक्त करके काम पूरा कराया जाता है। ये व्यक्ति अपनी अनभिज्ञता और अनुभव की कमी के कारण किसी काम को अधिक समय मे भी भली-भाँति नही कर पाते। अतएव डिब्बो मे माल ठीक नही भरा जाता और उसमें टूट-फूट अधिक होती है जिसके लिए रेलो को हानिपूर्ति देनी पड़ती है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि सारा कार्य-क्रम गड़बड़ में पड़ जाता है; रेलो मे, स्टेशनो पर तथा मालमञ्चों में अपूर्व भीड-भाड़ और जमघट दिखाई देता है। माल और यात्रियो के आवागमन मे भारी असुविधा होती है।

द्वितीय युद्ध और उसके उपरान्त काल मे भारतीय रेलो मे इस भीड़-भाड़ और जमघट की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती रही है। यातायात अपनी अपूर्व सीमा को पहुँच गया जैसा कि नीचे के कुछ आँकडे सकेत करते हैं :

सरकारी रेलों के यातायात की कुछ वर्षों की वृद्धि

(देशनांक १६३८-३६—१००)

वर्ष	यात्री यातायात	माल यातायात
१६३८-३६	१००	१००
१६४१-४२	११८	१२७
१६४२-४३	१२६	१२८
१६४३-४४	१७४	१२६
१६४४-४५	२०१	१२६
१६४५-४६	२२२	१३३
१६४६-४७	२२४	१२२
१६४७-४८	२२४	१११
१६४८-४६	२५२	१२२

इन आँकडो मे रेलो का अपने माल का यातायात और विशेष सैनिक गाडियो (Special Military Trains) द्वारा आने-जाने वाला यातायात सम्मिलित नही है। यदि इसे भी सम्मिलित कर लिया जाए तो वृद्धि और भी अधिक होगी। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस यातायात वृद्धि के साथ गाडियो की सख्या और साज-सज्जा में कमी हो गई थी। अतएव अपनी दुर्बल अवस्था मे भी रेलो को अधिक भार ढोना पडा। बडी लाइन की गाडियो का भार १९४०-४१ मे केवल ३९८ टन था जो १९४४-४५ मे बढ कर ४६० टन हो गया। गाडियो की चाल अत्यन्त कम हो गई। लगभग सभी गाडियाँ देर से चलने लगी। नीचे के आँकडे इस सबध मे रोचक हैं :

सरकारी रेलो की सवारी गाड़ियों की सामयिक पहुँच

वर्ष	बडी लाइन (B. G.)		छोटी लाइन (M. G.)	
	सब गाडियाँ	मेल और मुख्य गाडियाँ	कुल गाडियाँ	मेल और मुख्य गाडिया
१९४०-४१	८४ २	७७ २	८४ ६	७८ ८
१९४१-४२	७७·७	६५·७	८० २	६६·२
१९४२-४३	६५·०	४५·०	६९ २	४६·५
१९४३-४४	६५ ०	५२ २	७२ ३	४६ १
१९४४-४५	६९ ३	५९·७	७४ १	४८·८
१९४५-४६	७० ०	५८ ८	७६ ४	५६·५
१९४६-४७	६३ ७	५४ ८	६७ ८	४५·६

इस तालिका से ज्ञात होता है कि बडी लाइन पर समय से चलने वाली मेल और मुख्य गाडियो की सख्या १९४२-४३ मे ४५% तक गिर गई तथा छोटी लाइन पर ४६ ५% तक। युद्ध समा त होने के उपरान्त के इन वर्षों मे भी स्थिति मे विशेष सुधार नही हुआ। जनवरी १९५७ मे श्री बर्नार्ड (E. Bernard) ने जो ब्रह्मा के रेल बोर्ड के भूतपूर्व सभापति थे भारत मे लगभग ७००० मील की रेल यात्रा की। इस लम्बी यात्रा मे उन्हे कोई भी ऐसी रेलगाडी नही मिली जो समय से चलती हो।[1]

युद्ध के वर्षों में माल के लिए डिब्बे कठिनाई से और बडी देर मे मिलते थे, माल का चालान (Booking) अनेक अवसरो पर अनेक स्थानो के लिए सर्वथा बन्द कर दिया जाता था। योजना काल मे यातायात इतनी तेजी से बढा है कि रेलो की यातायात की क्षमता-वृद्धि उससे पीछे रह गई है। अतएव अब भी रेलें यातायात की सम्पूर्ण माँग-पूर्ति मे असमर्थ है। यातायात की नियन्त्रित व्यवस्था और कोटा (Quota)

---

1 He states "The cordiality with which I was met by the railwaymen all over the country had tremendously impressed me But I was unlucky not to travel by even one train during my whole journey, which was not running late" (*Amrita Bazar Patrika, 12. 1. 57*).

पद्धति जारी है। तो भी अनेक दिशाओं अथवा क्षेत्रों में माल भेजने मे भारी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

इन क्षेत्रो मे रेलो की क्षमता बढाने के विशेष प्रयत्न किए जा रहे हैं तो भी चालान के लिए प्रतीक्षा करने वाले माल का कुछ स्टेशनो पर भारी जमघट हो जाता है :

अपरिशोधित (Outstanding) माल डिब्बों की क्षमता			
	३१ मार्च १९५४	३१ मार्च १९५५	प्रतिशत वृद्धि
बडी लाईन (B. G.)	५६,२४७	८६,४१३	५१
छोटी लाईन (M. G.)	७८,४६४	११६,२२३	४८

उद्योगपतियो और व्यापारियो से डिब्बे न मिलने की अनेक शिकायते आती रहती है। पर्याप्त डिब्बे न मिलने के कारण कोयले के परिवहन मे विशेष कठिनाई का सामना करना पडता है।

सामान्यतः गाड़ियों को यथास्थान पटरी पर लाने मे शटिंग मील कुल इञ्जन मीलो का १५% होता है, किन्तु १९४५-४६ मे उनका अनुपात २६% तक पहुंच गया था। अब भी सामान्य स्थिति नही है जो १९५२-५३ और १९५४-५५ के तीन वर्षों मे २२·७% था। दुर्घटनाओं की संख्या और उनका भीषण प्रभाव दोनो ही बाते गत वर्षों मे भयानक स्थिति को पहुँच गई हैं।

इस भाँति यह स्पष्ट है कि भारतीय रेलो मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम अपनी चरम सीमा पर लागू होने लगा है और हम बिना विस्तार कार्य-क्रम की शरण लिए अपनी रेलो की स्थिति मे विशेष सुधार नही कर सकते, क्योंकि यातायात स्थायी रूप मे इतना बढ गया है और दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है कि दुहरी-तिहरी पटरियाँ बिछाए बिना भारतीय रेले उसे ले जाने मे सर्वथा असमर्थ हैं; अर्थात् वे अपनी परिपूर्ण स्थिति (Saturation point) मे पहुँच गई हैं।[1] इसी कारण द्वितीय योजना मे ८४२ मील नई रेले बनाने, १६०७ मील रेल-पथ को दुहरा करने और २६५ मील छोटी लाइन (Metre gauge) को बडी लाइन (Broad gauge) मे परिवर्तित करने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया। तृतीय योजना मे भी इसी नीति को दुहराया गया है। कुछ क्षेत्रो मे बिजली के प्रयोग द्वारा अथवा डीजल इञ्जन चला कर रेलो की वहन-क्षमता बढाने का निश्चय किया गया है। स्टेशनो, मालमञ्चों (goods yards), गोदामो को बडा किया जा रहा है, नए माल व सवारी डिब्बे, तथा इञ्जन निर्माण किए जा रहे हैं।

1. "Sooner or later a policy of extension may have to be adopted : larger stations, larger goods yards, more running tracks will have to be constructed. In other words, the attempt to deal with more traffic without increasing the quantity of land will be given up."
(*Douglas knoop : Outlines of Railway Economics, 1925, p. 97*).

९.

रेल-भाड़ा सिद्धान्त

(Theory of Railway Rates)

अनेक आधुनिक उद्योगों की भाँति रेल एक उत्पादक उद्योग है। उसका उत्पादन कोई मूर्त पदार्थ नही, परिवहन-सेवा है। अन्य उद्योग मूर्त पदार्थ विक्री के लिए उपस्थित करते है, रेल परिवहन-सेवा। अनेक मूर्त पदार्थों की भाँति रेल की सेवा का भी कोई निश्चित भाव अथवा मूल्य होता है। किराये-भाडे को रेल सेवा के मूल्य (Price) की सज्ञा दी जाती है। किराए का निर्धारण सरल काम है और कम महत्व रखता है। भाडे का निर्धारण कठिन और विशेष महत्वपूर्ण है। सवारियों के किराये से भारतीय रेलो की वार्षिक आय का लगभग ३५ प्रतिशत प्राप्त होता है, जबकि वस्तु-भाडे से उसका ६२ प्रतिशत अथवा अधिक।

रेल-सेवा का मूल्य सिद्धान्ततः उसी प्रकार निर्धारित होता है जैसे अन्य किसी वस्तु का अर्थात् रेल-उद्योग मे मूल्य सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त लागू होता है। किसी भी वस्तु अथवा सेवा का मूल्य माँग और पूर्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है। रेल-सेवा का मूल्य भी इन्ही दोनों शक्तियों से प्रभावित होता है। पूर्ति के दृष्टिकोण से लागत-व्यय से कम भाडे पर किसी वस्तु को सेवा प्रदान करने के लिए रेल प्रस्तुत नही होती। इसके विपरीत माँग-पक्ष के विचार से कोई क्रेता किसी सेवा के लिए उसमे अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत नही हो सकता जितने का उसे लाभ होता है। इस प्रकार माँग और पूर्ति-शक्तियाँ रेल-सेवा के मूल्य निर्धारण मे पूरा-पूरा प्रभाव दिखाती है। रेल की भाषा मे इन शक्तियों का नाम कुछ भिन्न अवश्य है।

मूल सिद्धान्त एक होते हुए भी रेल-उद्योग मे वह रूप भेद के साथ लागू होता है। यह भेद अन्य उद्योगो से रेल-उद्योगो के स्वाभाविक भेद के कारण है। रेल-उद्योग की विशेषताओं का पिछले पृष्ठो मे वर्णन किया जा चुका है। उन्हे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही। रेल का मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त सामान्य मूल्य-सिद्धान्त से चार बातो मे भिन्न है।

(क) अस्थिरता का अभाव—रेल एक लोकोपयोगी सेवा है। उसके मूल्य (किराए-भाडे) मे अस्थिरता घातक और अव्यावहारिक समझी जाती है। अन्य व्यवसायों मे मूल्य की अस्थिरता एक साधारण घटना है। दैनिक जीवन मे नित्य-प्रति घटने वाली अनेक घटनाओ से प्रभावित होकर अन्य वस्तुओ के मूल्य नित-प्रति घटते-बढते रहते हैं। रेल के सम्बन्ध मे इन घटनाओ की उपेक्षा कर मूल्य सम्बन्धी स्थायी नीति अपनाई जाती है। ऐसा न करें तो अर्थ की जगह अनर्थ होने की आशंका है; रेलो की सेवा का पूर्ण उपयोग न होने का भय है। सभी प्रतियोगी उद्योगो द्वारा उत्पन्न वस्तुओ के मूल्य मे प्रति दिन और प्रति घण्टे भारी परिवर्तन होते रहते है। रेल-उद्योग के मूल्य मे इस अस्थिरता का अभाव होता है।

(ख) माँग-पक्ष की प्रधानता—प्रतियोगी व्यवसायो के मूल्य निर्धारण में पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है, माँग का कम। रेल व्यवसाय मे इससे प्रतिकूल नियम लागू होता है अर्थात् रेल की सेवा का मूल्य पूर्ति की अपेक्षा माँग से अधिक प्रभावित होता है। रेल एक एकाधिकारी उद्योग हैं। ऐसे उद्योगपति पूर्ति (Supply) की मात्रा सीमित रखकर माँग को इस प्रकार समायोजित करते है कि उनके लाभ की मात्रा अधिकतम रहे। इस प्रकार पूर्ति-पक्ष गौण व निष्क्रिय रहता है और माँग-पक्ष प्रधान, प्रबल एवं सक्रिय।

(ग) समानता का अभाव—जहाँ प्रतियोगिता की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है वहाँ वस्तुओ के अनेक क्रेता और अनेक विक्रेता होते हैं। दोनो पक्षो मे परस्पर प्रतिस्पर्धा होती है। प्रत्येक क्रेता दूसरो से पूर्व अपनी माँग-पूर्ति चाहता है, प्रत्येक विक्रेता सबसे पूर्व अपना माल बेचना चाहता है। क्रेता कम से कम मूल्य देना चाहता है; विक्रेता अधिक से अधिक मूल्य लेना चाहता है। इस पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण एक वस्तु का एक समय मे एक बाजार मे एक ही मूल्य होता है; उसमे भिन्नता नही हो सकती। यदि रेल इसी प्रकार का प्रतियोगी व्यवसाय होता तो उसके मूल्य (किराए-भाडे) मे इसी प्रकार की एकरूपता पाई जाती, किन्तु रेल-उद्योग मे प्रतियोगिता का अभाव होता है, वह एकाधिकारी व्यवसाय है। अतएव उसके मूल्य में भी एकरूपता का अभाव है। रेलें भिन्न-भिन्न वस्तुओ अथवा लोगो से भिन्न-भिन्न मूल्य लेती है अर्थात् विभेदात्मक नीति का पालन करती है। प्रतियोगी व्यवसाय अमीर-गरीब का भेद-भाव नही करते। रेलें करती हैं।

(घ) माँग व पूर्ति का भिन्न अर्थ—रेल-उद्योग मे माँग और पूर्ति के नाम कुछ भिन्न हैं। माँग को रेलो की भाषा मे 'सेवा का मूल्य' (Value of Service) कह कर पुकारा जाता है और पूर्ति पक्ष को 'सेवा का लागत व्यय' (Cost of Service) की संज्ञा की जाती है। 'यथा नाम तथा गुण' के सिद्धान्त के अनुसार उनका अर्थ भी भिन्न है, जिसे आगे व्यक्त किया जायगा।

विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त (Theory of Differential Charging).

इस विवरणात्मक भेद-भाव के कारण नाम-भेद होना भी स्वाभाविक है।

बहुधा मूल्य सम्बन्धी दो सिद्धान्त प्रचलित है। एक सामान्य अर्थात् पूर्ण प्रतियोगी परिस्थितियों मे लागू होने वाला सिद्धान्त और दूसरा एकाधिकारी मूल्य-सिद्धान्त (Monopoly theory of Value)। रेल न तो पूर्णत: प्रतियोगी उद्योग है और न पूर्णत: एकाधिकारी। इसका स्थान दोनो के बीच मे है। अतएव रेल के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त का भी भिन्न नामकरण स्वाभाविक है। जिस सिद्धान्त द्वारा रेल अपने किराए-भाड़े की नीति निर्धारित करती है उसे विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त (Theory of differential charging) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार रेल अमीर-गरीब मे भेदभाव करके किराया-भाड़ा लेती है। अमीर लोगो और मूल्यवान वस्तुओ से अधिक किराया-भाड़ा लिया जाता है, क्योंकि वे अधिक देने मे समर्थ हैं। इसके विपरीत गरीब जनता और सस्ते पदार्थों से कम किराया-भाड़ा लिया जाता है, क्योकि वे अधिक देने मे असमर्थ हैं। इस नीति के अनुसार ग्राहक की देय-शक्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है। देय-शक्ति की ओर ध्यान न दे तो यातायात की मात्रा कम हो जाए और रेल-संचालन- कार्य अलाभकर हो जाय। यह स्थिति रेल और राष्ट्र दोनों के लिए हानिकारक होगी। अतएव 'जितना यातायात सहन कर सकता है' (What the traffic will bear) नाम से भी इस सिद्धान्त को पुकारा जाता है और बहुधा यही नाम अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हो गया है।

कोई यह कहे कि यह नीति रेलो तक ही सीमित है, ऐसा भी नहीं है। भेद-भाव पूर्ण मूल्य लेने का चलन जीवन के अन्य क्षेत्रो और अन्य उद्योगो मे भी है।

(१) सरकारी कर—रेलो की भाँति सरकारी कर भी भेदभाव पूर्ण नीति के अनुसार लगाए जाते है। जिन वस्तुओ का मूल्य अधिक होता है और जिनका उपभोग धनी लोग करते हैं, उनकी देय-शक्ति अधिक होती है। अतएव उन पर ऊँची दर से कर लगाये जाते हैं। इसके विपरीत सस्ती वस्तुओं, जिनका उपभोग करने वाले निर्धन और निम्न श्रेणी के लोग होते है, उन पर कम दर से कर लगाए जाते हैं। सस्ती वस्तुओ पर ऊँचे कर लगा दिये जाये तो उनका उपभोग कम हो जाए। उपभोग कम होने से उनका उत्पादन कम होने लगेगा और सरकारी आय भी कम हो जायगी। अतएव ऐसी वस्तुओ पर कम कर लगना उपभोक्ताओ के ही नहो, सरकार के भी हित मे हैं।

(२) बिजली उद्योग—बिजलीघर मे बिजली बनाने का मूल उद्देश्य रोशनी होता है। यदि किसी नगर मे रोशनी करना वाछनीय है तो बिजलीघर स्थापित करने के लिए अपार प्रारम्भिक पूँजी लगानी आवश्यक है। रोशनी के लिए बिजली का प्रयोग केवल सन्ध्या समय के कुछ घण्टो मे सीमित होता है। शेष रात्रि के घण्टो और दिन भर उसका कोई प्रयोग सम्भव नही। इस भाँति दिन-रात की एक लम्बी अवधि मे बिजलीघर बेकाम रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि रोशनी के लिए बिजली अत्यन्त मँहगी पड़ेगी। रोशनी के अतिरिक्त बिजली का प्रयोग औद्योगिक शक्ति के रूप मे कल-कारखाने चलाने के लिए हो सकता है। उसका यह प्रयोग उन

घण्टो मे होगा जब रोशनी के लिए उसका प्रयोग नही होता। बिजली उद्योग के संस्थापक इस स्थिति से लाभ उठाते हैं और उसका औद्योगिक कार्यों के लिए प्रयोग बढाने के कारण उसे औद्योगिक उपभोग के लिए रोशनी की अपेक्षा केवल आधी दर पर देने को प्रस्तुत ही जाते है। इससे उत्पादन का स्तर ऊँचा होकर बिजली सस्ती बनने लगती है और रोशनी के लिए उसका मूल्य कम देना पडता है। यह बिजलीघर, उद्योगपतियों और समाज सभी के लिए लाभदायक है।

(३) होटल-व्यवसाय—होटल का काम बहुधा किसी विशेष ऋतु मे अधिक चलता है। पहाडी क्षेत्रों के होटलों मे ग्रीष्म ऋतु के कुछ महीनों मे बडी भीड़ रहती है, किन्तु अन्य ऋतुओ मे वहाँ बहुत कम ग्राहक जाते है। पर्यटन के लिए जाड़े की ऋतु विशेष अच्छी समझी जाती है। अत: पर्यटन क्षेत्रो के होटल जाडो मे अधिक ग्राहक आकर्षित करते है। इन होटलो की सेवा को चालू रखना वाछनीय है तो शिथिल समय को कैसे न कैसे ही पार करना आवश्यक है अन्यथा उसे बन्द कर देना पडेगा। अतएव होटल मालिक ऋतु मे ग्राहको से अधिक और गैर ऋतु मे कम लेकर अपने व्यवसाय को वर्ष भर चालू रखते हैं।

(४) वकील-डाक्टर— वकील-डाक्टर भी भेद-भाव करके फीस लेते हैं। ब्रिटेन मे बहुधा डाक्टर लोग ग्राहक के मकान के किराए के अनुसार फीस लेते हैं। जो ग्राहक अधिक किराए के मकान मे रहता है उससे ऊँची फीस लेते हैं और जो कम किराए के मकान मे रहते है उनसे कम। मकान-किराया ग्राहक की देय-शक्ति का सूचक माना जाता है। इसी भाँति लगभग सभी देशो मे वकील लोग डिक्री के मूल्यानुसार ग्राहकों से फीस लेते है।

यह स्पष्ट है कि देय-शक्ति के अनुसार मूल्य लेने की प्रथा रेलो तक ही सीमित नही है, वरन् अन्यत्र भी इसका चलन है। तो भी इन व्यवसाइयो के मूल्य-सिद्धान्त का हम भिन्न नामकरण नही करते। रेल-सिद्धान्त का ही भिन्न नामकरण क्यो किया गया है, इस प्रकार की आशंका की जा सकती है। इसका उत्तर सरल है। जितना भेद-भाव रेलें बरतती हैं, उतना अन्य कोई उद्योग अथवा व्यवसायी नही बरतता। अतएव उनकी भेद-भाव पूर्ण नीति का प्रभाव उतना व्यापक नही होता जितना रेल-व्यवसाय मे। कोई अन्य व्यवसायी न्यूनतम और अधिकतम मूल्य मे उतना अन्तर नही करता जितना रेलें करती हैं। अर्थात् रेलें अन्य व्यवसायो से अधिक पक्षपात दिखलाती हैं। एक ही समय मे एक ही प्रकार की सेवा के लिए रेलो के न्यूनतम और अधिकतम भाडो मे सात-आठ गुना तक अन्तर पाया जाता है।[1] भारतीय रेलो के निम्नतम वर्ग (२२ ५ अ) का उच्चतमभाडा '४४ नए पैसे प्रति मन प्रतिमील है और निम्नतम भाडा ·०५४ नए पैसे प्रति मन प्रति मील अर्थात् प्रथम द्वितीय से आठ गुना अधिक है। भेद-भाव की खाई की इसी गहराई के कारण रेलो की मूल्य सम्बन्धी नीति का विभेदात्मक नाम पड़ा।

1. Gilbert Walker—*Road and Rail 1947*, p. 38.

विभेदात्मक मूल्य के प्रेरक तत्व (Factors responsible for differential charging)—भेद-भाव रेल-व्यवसाय का एक स्वाभाविक गुण है। विभेदात्मक नीति अपनाने में रेलों को निम्नांकित बातों से प्रेरणा मिलता है।

(१) माँग का अन्तर अथवा माँग-भेद (Differences in demand),

(२) लागत-व्यय भेद अथवा लागत-व्यय का अन्तर (Differences in cost),

(३) माँग और लागत-व्यय दोनों का अन्तर (Differences in both demand and cost),

(४) संयुक्त-व्यय तत्व (Element of joint costs),

(५) भावी हित (Future interests),

(६) परार्थ-प्रवृत्ति (Altruistic motive),

(ख) स्थान-भेद के कारण रेल-भाडे मे भेद करना इस श्रेणी के अन्तर्गत आता है। चक्करदार मार्गों (Circuitous Routes) का किराया-भाड़ा, समुदाय सम्बन्धी किराया-भाडा और कम व अधिक दूरी का किराया-भाडा इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

(ग) किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदाय के लिए पक्षपात दिखाना व्यक्ति-भेद कहा जाता है। जिन लोगो के प्रति रेले पक्षपात दिखाती हैं, उनको विशेष प्रकार की फिरौती (Special rebate) देकर प्रोत्साहित किया जाता है। कभी भाडे मे परिवर्तन करने से पूर्व उन लोगो को सूचना दे दी जाती है जिससे वे लाभ उठा सकें। जिन लोगो का पक्षपात नही किया जाता उन्हे इससे भारी हानि होती है। इस प्रकार भेद-भाव सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की रेलो की एक सामान्य घटना समझी जाती है, किन्तु भारत मे इसका चलन नही है।

(२) लागत-व्यय भेद—जहाँ रेले पहाड़ी स्थानो के भारी उतार-चढ़ावो से अथवा सुरंगो से निकलती हैं वहाँ उनका आरम्भिक पूँजीगत-व्यय ही अधिक नही होता, वरन् उनको संचालन-व्यय भी अधिक करना पडता है। जिस क्षेत्र मे अधिक संख्या मे नदी-नाले हो वहाँ भी पुल बनाने मे रेलो को अधिक व्यय करना पड़ता है। ऐसे क्षेत्रो वाली रेलों द्वारा लागत-व्यय के आधार पर अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक किराया-भाडा लगाना न्याय-संगत है। बरसत-बसीरहट, बख्त्यारपुर-बिहार और फतवा-इसलामपुर रेल लागत-व्यय की अधिकता की पूर्ति दूरी को ड्योढ़ी करके करती हैं अर्थात् एक मील दूरी के लिए १½ मील का किराया-भाडा लगाती है। इसी भाँति हावडा-अम्ता और हावडा-श्याखला रेले दूरी को द्विगुणित कर देती हैं। लागत-व्यय के अनुसार ही उन वस्तुओ का भाडा भी अधिक होना है जिन्हे ले जाने मे रेलो को अधिक सावधानी बरतनी पडती है, जैसे काँच का सामान, अथवा जिनके लिए विशेष प्रकार के डिब्बों की आवश्यकता पडती है, जैसे तरल पदार्थ, माँस इत्यादि, अथवा जिनके लिए अधिक चाल अपेक्षित है जैसे ताजे फल, तरकारियाँ, पान इत्यादि, अथवा जो वस्तुयें भली-भाँति सवेष्ठित न हो। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी वस्तुओ पर किए जाने वाले विशेष व्यय का बडा महत्त्व है, क्योकि यह उस न्यूनतम सीमा का साक्षी है जिससे कम भाडा कभी भी नही लिया जा सकता।

(३) माँग और लागत-व्यय दोनो के भेद के कारण किराए-भाड़े मे अन्तर होने का व्यावहारिक उदाहरण प्रथम और तृतीय श्रेणी का किराया है। प्रथम श्रेणी के यात्री अधिक आराम और सुख-सुविधायें चाहते हैं। जिसके लिए रेलों को लागत-व्यय अधिक करना पडता है, किन्तु साथ ही साथ उनकी माँग तीव्रतर और उनकी आय अधिक होने के कारण भी उनसे अधिक किराया लिया जाता है।

(४) सयुक्त-व्यय के सिद्धान्त और रेलो के किराए-भाड़े पर उसके प्रभाव को अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है। ऐसी परिस्थितियो मे कुल व्यय वसूल करना आवश्यक है, यद्यपि उनका वैज्ञानिक बंटवारा असंभव है।

(५) भावी हित का ध्यान रखकर भी रेलें किराए-भाडे की नीति मे भेद करती हैं। रेलें एकाधिकारी व्यवसाय हैं। अतः उन्हे इस बात का पूर्ण विश्वास रहता है कि वर्तमान मे किसी उद्योग विशेष को प्रोत्साहित करने के लिए यदि कम भाडा लिया जाता है, तो भविष्य मे उसके समुन्नत होने पर अधिक भाडे का लाभ उन्ही को मिलेगा, अन्य किसी को नहीं।

(६) लोकहित अथवा परार्थ-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर भी रेले किराए-भाडे मे कमी-वेशी करती है। रेलें लोकोपयोगी सेवाये हैं। अतः उन्हे सार्वजनिक हित का ध्यान रखते हुए लोकमत का आदर करना पडता है। इसी महान् उद्देश्य को ध्यान मे रखकर सस्ती वस्तुओ का भाडा कम रखा जाता है ताकि ऐसी वस्तुओ का परिवहन प्रोत्साहित किया जा सके। भारत में कोयले, भूसा व चारे एवं जीवित पशुओ के लिए विशेष प्रकार के सस्ते भाडे की दरें रखी गई हैं।

इस भेद-भाव की नीति बरतने मे एक ओर रेले यातायात की देय-शक्ति का पूरा ध्यान रखती हैं और दूसरी ओर अपनी सहन-शक्ति का भी। यही दोनो इस भेद-भाव की उच्चतम और न्यूनतम सीमाएँ बाँधती हैं। इस देय-शक्ति और सहन-शक्ति का अर्थ समझ लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। वस्तुतः अब 'रेल क्या सहन कर सकती है' (What the railway will bear) उतना ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाने लगा है जितना कि 'यातायात क्या सहन करेगा' (What the traffic will bear) है।

यातायात क्या सहन करेगा (What the traffic will bear)—रेल व्यवसाय के किराए-भाडे लगाने के लिए यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह यातायात की देय-शक्ति की ओर सकेत करता है। रेल स्वभावतः ही एक एकाधिकारी व्यवसाय है जिसे भेद-भाव-पूर्ण किराए-भाडे लगाने की शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति का रेलें सदुपयोग भी कर सकती हैं और दुरुपयोग भी। यदि वे दरे इस भाँति लगाती हैं कि यातायात बढता रहे और उसमे कोई कमी न आने पाए तो इस शक्ति का सदुपयोग समझा जाएगा। यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब दरे उपभोक्ता की उच्चतम देय-शक्ति के अनुसार नही, वरन् रेलें अपने उच्चतम लाभ की मात्रा का ध्येय रखकर लगाएँ। इसके विपरीत यदि दरें उपभोक्ता की उच्चतम देय-शक्ति के अनुसार ही लगाई जाती है और यातायात के ऊपर उनके प्रभाव की ओर ध्यान नही दिया जाता तो रेले अपनी एकाधिकारी शक्ति का दुरुपयोग करेंगी क्योकि इससे यातायात कम होकर उनका स्वय का व्यवसाय अलाभकर हो जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देय-शक्ति के अनुसार किराए-भाडे लगाते समय यातायात की नब्ज पर हाथ रखकर रेलो को काम करना चाहिए। यदि वे ऐसा नही करती तो स्वयं धोखा खा जायेंगी अर्थात् यह उच्चतम सीमा प्रत्येक वस्तु की उच्चतम देय-शक्ति नही है, वरन् वह सीमा है जिसके द्वारा रेले अपने स्थायी व्यय का अधिक से अधिक भाग प्राप्त कर सकें।

रेल क्या सहन कर सकती हैं (What the railway can bear)—एक ओर यातायात की देय-शक्ति रेल-भाडे की उच्चतम सीमा निर्धारित करती है। दूसरी ओर रेलो का यातायात ले जाने का विशेष व्यय उसकी निम्नतम सीमा बाँधता है। जैसे यह उच्चतम सीमा सदैव यातायात की उच्चतम देय-शक्ति नही होती, वरन् वह स्थिति होती है जिस पर यातायात आता-जाता रहे, बन्द न हो, उसी भाँति निम्नतम सीमा भी सदैव यातायात का ढुलाई व्यय नही होता, वरन् रेलो की अपनी सामर्थ्य होती है। कोयला, खाद, नमक इत्यादि ऐसी वस्तुएँ है जिन्हे रेलें उनके वास्तविक ढुलाई व्यय से कम भाडे पर ले जाने मे समर्थ है, किन्तु औद्योगिक कच्चे पदार्थ, खाद्यान्न, वस्त्र इत्यादि वस्तुएँ ऐसी हैं जिनसे उनका वास्तविक ढुलाई व्यय अवश्य वसूल होना चाहिए। कुछ और वस्तुये है जिनसे ढुलाई व्यय से ऊँचा मूल्य लेकर ही रेलें उन्हे सेवा प्रदान कर सकती हैं। इस भाँति भाडो की निम्नतम सीमा लगाते समय रेलें अपनी निजी सहन-शक्ति का ध्यान रखती हैं।

रेल-निर्माण के प्रारम्भिक वर्षो मे रेलो का सचालन व्यय कम था। अतएव वे अपनी सहन-शक्ति की ओर विशेष ध्यान न देकर केवल यातायात की देय-शक्ति के अनुसार भाडा-दरे लगाती थी, किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त उनके संचालन व्यय अत्यन्त बढ गए। ईंधन (कोयले-पानी), मजदूरी, वेतन, भण्डार सभी मूल्य ऊँचे हो गए और विशेषत: वेतन-मजदूरी मे अपूर्व वृद्धि होती गई। अतएव रेलो को उन अनेक वस्तुओ की भाडे सम्बन्धी छूट और रियायते कम करनी पडी जिन्हे वे इससे पूर्व देने मे समर्थ थी। मुद्रा-स्फीति के साथ-साथ संचालन व्यय बढने के कारण रेलो को दरें ऊँची करनी पड़ती है। यदि वे ऐसा न करे तो उनका कुल लागत व्यय वसूल होना असम्भव हो जाए जो उनकी सेवा के बन्द करने का कारण हो सकता है।

सेवा का मूल्य (Value of Service)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, माँग पक्ष को रेल की भाषा मे 'सेवा का मूल्य' संज्ञा दी जाती है। सेवा का मूल्य आँक कर परिवहन सम्बन्धी माँग की तीव्रता का अनुमान लगाया जाता है। रानीगंज की खानो से कोयला १२) टन निकलता है। वह बम्बई मे २२) टन बिक सकता है। रानीगंज से बम्बई जाने के लिए कोयले का परिवहन व्यय अधिक से अधिक १०) टन हो सकता है। इससे अधिक भाडा कोयला सहन करने मे असमर्थ है अर्थात् बम्बई मे कोयले की परिवहन सम्बन्धी माँग का मूल्य १०) टन तक हो सकता है; इससे अधिक नही। अधिक होने पर कोयला रानीगंज से बम्बई जाना बन्द हो जायगा। सेवा के मूल्य से तात्पर्य ग्राहक अथवा उपभोक्ता के लिए किसी विशेष सेवा के मूल्य से है। इसका रुपए, आने, पाई मे अनुमान लगाना आवश्यक है। यह आवश्यक नही कि कोई उपभोक्ता किसी सेवा के लिए कितना मूल्य वस्तुत: देता है, वरन् यह आवश्यक है कि वह उस सेवा को अधिक से अधिक कितना

देकर प्राप्त करने को प्रस्तुत है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सेवा के मूल्य का अर्थ माँग के अधिकतम मूल्य से अथवा उस मूल्य से है जो यातायात को बन्द किए बिना अधिकतम सीमा तक लिया जा सकता है।

मनोरंजन के लिए की गई यात्रा को छोड़कर बहुधा परिवहन का मन्तव्य व्यापार व्यवसाय होता है। अतएव कोई उपभोक्ता अधिक से अधिक कितना किराया-भाड़ा दे सकता है, इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि उसे माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में कितना सीमान्त लाभ प्राप्य है। इस लाभ की मात्रा वस्तुओं के जन्म-स्थान और उनके निर्दिष्ट स्थान के मूल्यों के अन्तर पर निर्भर है।

कभी-कभी सेवा के मूल्य का तात्पर्य वस्तु के मूल्य से लिया जाता है। यह पूर्ण सत्य नहीं। वस्तुतः वस्तु के मूल्य से नहीं, वरन् जन्म-स्थान और उपभोग्य स्थान के मूल्यान्तर से सेवा का मूल्य आँका जाता है। हाँ, यह हो सकता है कि कभी-कभी सेवा का मूल्य वस्तु के मूल्य पर निर्भर हो किन्तु यह मूल्य सदैव लागू नहीं होता। यह अवश्य ठीक है कि मूल्यवान वस्तु अपेक्षाकृत अधिक भाडा सहन कर सकती है, क्योंकि उस वस्तु का परिवहन व्यय उसके कुल विक्रय मूल्य का एक छोटा-सा अंश होता है। ५०० मन लोहे पर १००) रेल भाडा जिसका मूल्य १०,०००) है उसके मूल्य में केवल १ प्रतिशत वृद्धि करता है, किन्तु ५०० मन कोयले पर उतना ही भाड़ा जिसका मूल्य २००) है ५० प्रतिशत वृद्धि कर देता है। लोहे के लिए यह भाडा सह्य है किन्तु कोयले के लिए असह्य। इस प्रकार वस्तुओं के बाजार भाव को बहुधा उनकी देय शक्ति को आँकने का एक सामान्य मापदण्ड मान लिया जाता है। सेवा का मूल्य किराए-भाडे को निर्धारित करने में विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इससे रेल को वस्तु अथवा व्यक्ति विशेष की अधिकतम देय-शक्ति का पता लग जाता है अर्थात् यह मूल्य की उच्चतम सीमा का सूचक है। किराए-भाडे की दर इस उच्चतम सीमा से कम हो सकती है अधिक नहीं।

सेवा का लागत व्यय (Cost of Service)

किसी व्यापार-व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। लाभ तभी प्राप्त हो सकता है जबकि आय इतनी हो कि कुल व्यय को काट कर उसका एक अंश बच रहे। रेल व्यवसाय भी इसी मन्तव्य से स्थापित किया जाता है। अन्य व्यवसायों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की इकाइयाँ एक सी होती हैं और उनके कुल व्यय को उन इकाइयों पर सरलता से बाँटा जा सकता है। इस प्रकार प्रति इकाई का औसत व्यय और मूल्य ज्ञात हो जाता है। रेल एक ऐसा उद्योग है जिसकी यातायात इकाइयाँ समान नहीं होतीं और न सब रेलों का व्यय ही समान होता है। अतएव रेल-उद्योग के सम्बन्ध में प्रति इकाई औसत व्यय अथवा औसत मूल्य जैसी कोई चीज नहीं। रेल-व्यय के सम्बन्ध में हम कुल व्यय (Total Costs) और विशेष (Special) अथवा परिवर्तनशील या अस्थिर (Variable) व्यय का विचार करना आवश्यक है। विशेष

व्यय को कभी-कभी क्षतिग्रस्त व्यय (Out of pocket expenses) भी कहते हैं। इसमे कोई सदेह नही कि रेल व्यवसाय को लाभदायक बनाने और उसकी सेवा का उपयोग करने के लिए यह परम आवश्यक है कि उसका कुल व्यय सामान्य लाभ समेत वसूल होना ही चाहिए, किन्तु औसत व्यय और औसत मूल्य की अनुपस्थिति मे यातायात की किस इकाई से कितना व्यय वसूल किया जाए, यह दुष्कर ही नही वरन् असम्भव कार्य है। अतएव रेल-उद्योग के सम्बन्ध मे लागत-व्यय का अन्य उद्योगों से भिन्न अर्थ लिया जाता है। अन्य उद्योगो मे लागत-व्यय का तात्पर्य औसत-व्यय होता है। रेल-उद्योग के लिए लागत-व्यय का अर्थ विशेष, अतिरिक्त अथवा अस्थिर व्यय लिया जाता है। यह व्यय कोई निश्चित धनराशि नही होती। परिस्थितियों के अनुसार यह परिवर्तित होता रहता है। कभी-कभी इसका तात्पर्य कुल अस्थिर व्यय और स्थिर-व्यय का उचित लाभ के साथ अपने हिस्से का पूर्ण भाग होता है; कभी-कभी इसका अर्थ केवल अस्थिर व्यय-मात्र लगाया जाता है; तथा कभी-कभी कुल अस्थिर-व्यय और स्थिर-व्यय का थोडा बहुत भाग भी इसका अर्थ लगाया जाता है। कोई भी रेल किराए-भाड़े की दर किसी यातायात की इकाई के लिए तत्सम्बन्धी अस्थिर-व्यय से कम पर निर्धारित नही कर सकती, क्योंकि ऐसा करने पर उसे भारी हानि उठानी पड़ेगी।

अब देखना यह है कि इस अस्थिर-व्यय का रेलें किस भाँति अनुमान लगाती है। किसी रेल को किसी निश्चित यातायात को ले जाने के लिए १०००) व्यय करने पडते हैं। इस रेल के पास एक नई वस्तु परिवहन के निमित्त आती है। इस नए यातायात को स्वीकार करने से पूर्व रेल इस बात का पता लगाएगी कि उसे उस नए यातायात को ले जाने के लिए कितना अतिरिक्त (Additional) व्यय करना पडेगा। इस यातायात को स्वीकार करने पर रेल का कुल संचालन व्यय मान लो १०१०) हो जाता है। दूसरे शब्दो मे इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि मानलो यातायात की १०० इकाइयो का कुल व्यय १०००) है और १०१ इकाइयों का १०१०) तो यह स्पष्ट है कि नए यातायात अथवा नई इकाई का विशेष व्यय १०) है। रेल १०) से कम भाडा लिए बिना इस नए यातायात को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही होगी, क्योकि ऐसा करने से उसे सरासर हानि होगी। रेल की भाषा मे इसी अतिरिक्त-व्यय को 'सेवा के लागत-व्यय' की संज्ञा दी जाती है। रेल के किराए भाडे की दर निर्धारित करने मे यह व्यय उस दर की निम्नतम सीमा निश्चित करता है। रेल इस सीमा से अधिक भाडा ले सकती है, कम नही।

लागत-व्यय के अनुसार भाड़ा-दरें लगाना असंभव है—एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अन्य वस्तुओ व सेवाओ की भाँति लागत व्यय के अनुसार रेल की सेवा का मूल्य क्यो निर्धारित नही होता ? इसके कई कारण हैं : एक बडा कारण यह है कि लागत-व्यय के अनुसार रेल का किराया भाडा निश्चित करना रेल, राष्ट्र अथवा उपभोक्ताओ, किसी के लिए लाभदायक नही। वर्तमान विभेदात्मक नीति के अनुसार

उपभोक्ताओं की देय-शक्ति से लाभ उठाकर रेलें अनेक वस्तुओं से कम लेकर उन्हें परिवहन की प्रेरणा प्रदान करती तथा यातायात की मात्रा बढाती हैं और थोड़ी सी मूल्यवान वस्तुओं से अधिक लेकर उस कमी को पूरा कर लेती हैं। इस नीति को बदल कर यदि लागत-मूल्य आधार मान लें और प्रत्येक से समान मूल्य लें तो इसका प्रभाव यह होगा कि लघु आकार की किन्तु मूल्यवान वस्तुओं का भाडा कुछ कम करना पडेगा और इसके विपरीत विशालकाय किन्तु सस्ती वस्तुओं का भाडा कुछ बढाना पडेगा। इसे पूर्णत. समझने के लिए हम यह मान लेते हैं कि कोई रेल यातायात की ५ इकाइया ले जाती है। इन्हे ले जाने म उसे कुल २० रु० व्यय करने पडते हैं। इस लागत-व्यय को वह निम्न भाडा लेकर वसूल करती है :—

इकाई	वर्तमान भाडा (रुपयो म)	ढुलाई व्यय के अनुसार भाडा
१	१	४
२	२	४
३	३	४
४	४	४
५	१०	४
कुल ५	२०	२०

लागत व्यय के अनुसार प्रत्येक इकाई का भाडा एक समान अर्थात् ४ रु० करना पडेगा। ऐसा करने से प्रथम, द्वितीय और तृतीय इकाइयों के भाडे बढ जायेंगे और पाँचवीं इकाई के कम हो जायेंगे। प्रथम द्वितीय इत्यादि वे वर्ग हैं जिनमे निम्न श्रेणी की वस्तुएँ (बडे आकार वाली, किन्तु सस्ते मूल्य की जैसे खाद्यान्न, रुई, जूट, तिलहन, कोयला इत्यादि औद्योगिक पदार्थ) रखी जाती हैं और चौथे-पाँचवे ऐसे वर्ग हैं जिनमे छोटे आकार की मूल्यवान तथा विलासिता की वस्तुएँ होती हैं। इस परिवर्तन का परिणाम यह होगा कि निम्न श्रेणी के भाडो मे वृद्धि होने से उनके यातायात मे भारी कमी हो जाएगी और उच्च श्रेणी की वस्तुओं का भाडा कम होने से उनके यातायात मे कुछ वृद्धि होगी, किन्तु यह वृद्धि उतनी नही होगी कि निम्न श्रेणी के यातायात की कमी की पूर्ति कर सके। कारण यह है कि रेलो से ढोए जाने वाले माल की एक बडी मात्रा निम्न श्रेणी के यातायात की ही होती है। सन् १६५७-५८ मे भारतीय रेलो के कुल यात्री यातायात का ६५% तृतीय श्रेणी के यात्री थे, जिनसे रेलो की यात्री यातायात से होने वाली कुल आय का ८६% आय प्राप्त हुई और अन्य श्रेणी के यात्रियों का भाग केवल ११% था। उसी वर्ष माल यातायात से हमारी रेलो को २२५·७२ करोड रुपए की आय हुई, जिसकी १३% आय केवल कोयले से और ८% लोहे-इस्पात से हुई। निम्न श्रेणी के यातायात के भाडे बढने का अवश्यम्भावी परिणाम रेलों के कुल यातायात मे भारी कमी होगी

जो कि रेलो के लिए घातक है। उनका संचालन हानिकारक ही नही असंभव हो जाएगा, क्योकि निम्न श्रेणी के यातायात से ही रेले सदैव परिपालित होती है।

इस परिवर्तन का एक बुरा प्रभाव यह पडेगा कि मानव-जीवन के लिए परम आवश्यक और आधारभूत वस्तुओं का परिवहन हतोत्साहित होगा और विलासी वस्तुओ का परिवहन प्रोत्साहित होगा। यह स्थिति किसी राष्ट्र अथवा जाति के लिए हितकर नही। कोयला, लोहा, अन्न, वस्त्र, रुई, जूट इत्यादि अथवा अन्य औद्योगिक महत्व की वस्तुओ का परिवहन समाप्त कर किसी जाति का बल-वैभव समाप्त हुए विना नही रह सकता। इससे देश का औद्योगिक विकास रुक ही नही जाएगा, वरन् वह एक विकृत रूप धारण कर लेगा और देश की औद्योगिक स्थिति और अर्थ-व्यवस्था अत्यन्त असंतुलित हो जाएगी। आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र अपंगु हो जायगा। बाजार के निकट उद्योग-धन्धो का केन्द्रीकरण होने लगेगा और दूरवर्ती क्षेत्र अविकसित पडे रहेगे। प्रतियोगिता न्यूनतम कोटि को पहुँच जाएगी। यह स्थिति भयानक ही नही घातक सिद्ध होगी। अतएव रेलो के किराए-भाडे मे समानता स्थापित करना अवाछनीय है।

समान किराया-भाडा लाभदायक भी हो, तो वह व्यावहारिक दृष्टि से संभव नही है। सबमे बडी कठिनाई रेल द्वारा सेवा प्रदान करने की परिस्थितियो की भिन्नता से उत्पन्न होती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे रेल-सेवा का व्यय भिन्न-भिन्न होता है; उसमे एकरूपता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। यातायात की इकाइयाँ भी एक समान नही होती। अतएव, जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है, **प्रति इकाई एक समान व्यय का आभास भी रेल-सेवा में नहीं मिलता**। कोई रेले केवल परिवहन सेवा प्रदान करती हैं; कोई माल का सचय और वितरण भी करती हैं। केवल परिवहन सेवा की ओर ध्यान दे तो पता लगेगा कि रेल का सचालन-व्यय कई बातो पर निर्भर है: यह जानना आवश्यक है कि यातायात तेज गति वाली गाडी से जाएगा अथवा मन्दगति वाली से; बन्द, खुले अथवा विशेष प्रकार के डिब्बे मे जाएगा, यातायात की मात्रा कम है अथवा अधिक; उसके मूल्य का आकार से क्या सम्बन्ध है; जिस मार्ग पर माल जाएगा उस मार्ग पर नियमित सेवा उपलब्ध है अथवा नही, कितनी दूरी के लिए माल जाना है; मार्ग की जोखिम रेल का उत्तरदायित्व है अथवा ले जाने वाले का, इत्यादि। यह सब कठिनाइयाँ केवल संचालन व्यय के सम्बन्ध मे उपस्थित होती है। पूँजीगत व्यय के सम्बन्ध मे और भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। किसी रेल का निर्माण-व्यय अधिक होना अधिक भाडा लेने का उचित कारण नही, क्योकि भाड़े का कम-अधिक होना यातायात की मात्रा पर निर्भर है। अधिक यातायात होने पर अधिक लागत वाले क्षेत्रो मे कम भाडा हो सकता है और कम यातायात होने से सस्ती रेलो का भाडा अधिक हो सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद है।

एक कठिनाई रेल की किसी सेवा का ठीक-ठीक मूल्य आँकने मे और आती है। जैसा अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है रेलों की कुछ सेवाओं मे सयुक्त-व्यय का सिद्धान्त लागू होता है। फलत प्रत्यक यातायात की इकाई क लिए ठीक-ठीक लागत-व्यय का अनुमान लगाना सर्वथा असभव है। इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते है कि रेल-व्यय का एक बडा भाग स्थिर होता है, उसका यातायात से निकट सम्बन्ध नही होता, वह यातायात के साथ साथ नही घटता-बढता। इस स्थिर व्यय को यातायात की विभिन्न इकाईया म बाँटन का कोई वैज्ञानिक ढग अभी तक नही ज्ञात हो सका। अतएव इनका अनुमान द्वारा ही बाँटा जाता है।

एक कठिनाइ और भी है। किराया-भाडा पहले निश्चित करना पडता है और उस दर के अनुसार कितना यातायात रल द्वारा ले जाने क लिए आएगा और उस यातायात का ल जाने म रेल को कितना व्यय करना पडगा, यह बात बाद म ज्ञात होती है, क्योकि यातायात की मात्रा का किराया-भाडे से घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

इस अध्ययन से यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि रेल का किराया-भाडा अन्य वस्तुओ अथवा सेवाओ की भाति केवल लागत-व्यय के अनुसार नही लगाया जा सकता। इसके निश्चित करने म सेवा के मूल्य का सहयोग आवश्यक है।

रेलो के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय मे जो कुछ उपर कहा गया है, उसे सक्षेप म समझ लेना आवश्यक है। रेल के किराए-भाडे की दर निर्धारित करने मे माँग और पूर्ति की दोनो शक्तिया काम करती हैं। माग पक्ष का रल की भाषा म सेवा का मूल्य' और पूर्ति पक्ष का 'सेवा का लागत व्यय' नामकरण किया जाता है। माँग पक्ष का प्रभाव (क) किसी विशेष वस्तु के लिये उच्चतम सीमा निर्धारित करने और (ख) एक बडी मात्रा मे विभेदात्मक नीति बरतने म होता है, पूर्ति पक्ष (क) किसी विशेष वस्तु की दर के सम्बन्ध म न्यूनतम सीमा बतलाने, (ख) यातायात की सम्पूर्ण इकाईयो म परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके किराए-भाडे का सामान्य स्तर नियत करने ताकि यातायात की सम्पूर्ण इकाइयो से रेल का कुल लागत-व्यय वसूल हो सके और (ग) थोडी मात्रा म विभेदात्मक नीति निर्धारित करने मे सहायक होता है। ये दोना शक्तियाँ साथ साथ अपना अपनी क्रिया प्रतिक्रिया दिखाती है। कभी किसी का प्रभाव अधिक होता है, कभी किसी का।

इन्ही दोना उच्चतम और निम्नतम सीमाओ क बीच अपने अनुभव तथा राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओ को ध्यान म रखकर रेले भाडे की दरे लगाती हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उक्त दोना आर्थिक सिद्धान्ता म स प्रथम सिद्धान्त का रेल भाडा पर द्वितीय की अपेक्षा अधिक प्रभाव पडता है। साधारण वस्तुओ के मूल्य-निर्धारण म माग की अपेक्षा पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है, किन्तु रेल सेवा के मूल्य निर्धारण म माँग पक्ष (सेवा के मूल्य) का अधिक प्रभाव होता है।

राजनीतिक शक्तियाँ

देश की राजनीतिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय नीति का ध्यान रख कर रेलों के भाड़े की दरों मे समायोजन किया जाना आवश्यक होता है, क्योंकि रेलें आधुनिक जीवन की प्रतीक और राष्ट्र की जीवन-रेखा मानी जाती है। सभी देशों ने इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है कि रेल-भाड़े की दरें लोक-हित के विपरीत न होनी चाहिएँ। अतएव सभी देशों की सरकारें रेल-भाड़ों के निर्धारण का अन्तिम अधिकार अपने हाथ मे रखती हैं। बिना सरकार की स्वीकृति के व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा चलाई जाने वाली रेलें भी भाड़े की दरें लागू नही कर सकती। इस अधिकार का उपयोग निम्न नियमों को लागू करने के लिए किया जाता है :—

(१) किराए-भाड़े की दरें परस्पर उचित हों; विभिन्न वस्तुओं के किराए-भाड़े की दरों मे अनुचित अन्तर न हो। यह औचित्य वस्तुओं के राष्ट्रीय महत्व के अनुसार निश्चय किया जाता है। खाद्यान्न, औद्योगिक कच्चे माल, कोयले इत्यादि के लिए विशेष सस्ते भाड़े प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति के हित मे आवश्यक समझे जाते है। भारत एक कृषि प्रधान देश है, जिसका कृषि-उत्पादन अच्छे बैलों पर निर्भर है। अतएव पशुओं और उनके चारे के लिए हमारी रेलें सब वस्तुओं से सस्ते भाड़े लेती हैं।

(२) अनुचित पक्षपात अथवा भेद-भाव न बरतना चाहिए। इस प्रकार की सेवा के लिए समान परिस्थितियों मे समान भाड़े ही न्याय-संगत कहे जा सकते है। अनुचित पक्षपात दिखाना कानून द्वारा निषेध ठहराया गया है, क्योंकि वह असन्तोष का कारण बन सकता है। व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र मे असन्तोष देश की औद्योगिक और आर्थिक उन्नति मे बाधक होगा। अतएव उनका नियन्त्रण आवश्यक है।

(३) परिवहन के विभिन्न साधनों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे हों। रेलें, मोटरें, नदियाँ, नहरें इत्यादि प्रत्येक देश के आन्तरिक परिवहन के प्रमुख साधन हैं। कोई एक साधन अकेला जनता की सम्पूर्ण माँग-पूर्ति मे समर्थ नही। अतएव परस्पर सामञ्जस्य और सहयोग की भावना से प्रेरित होकर काम करना आवश्यक है। अनुचित और अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा न केवल देश के लिए वरन् साधन विशेष के लिए भी हानिकारक होती है।

सामाजिक सिद्धान्त

सामाजिक सिद्धान्त वे हैं जो रेलों अथवा सरकारों को, इस बात की प्रेरणा प्रदान करते है कि किराए-भाड़े की दरें ऐसी हों जो औद्योगिक विकास व राष्ट्र-हित-साधन मे सहायक हों। रेलें लोकोपयोगी सेवायें हैं। उन्हें निजी स्वार्थ के साथ-साथ परार्थ प्रवृत्ति भी प्रभावित करती है।

(अ) अतएव विशेष उद्योगों, जातियों अथवा क्षेत्रों की उन्नति के विचार से विशेष सस्ते भाड़े लागू किए जाते है। सरकारी औद्योगिक संरक्षण

की नीति मे रेलें भी सहयोग देती हैं। हमारे देश मे आयोजन नीति के अन्तर्गत रेलें छोटे व कुटीर उद्योगो की वस्तुओ के लिए सस्ते भाडे लगाती हैं। शिशु-उद्योगो के विकास के लिए सभी देशो की रेले अवसर प्रदान करती हैं।

(आ) इसी भाँति बाढ, सूखा, अकाल, भूचाल, महामारी इत्यादि संकट के अवसरो पर विशेष प्रकार के सस्ते भाडे रेले लगाती है।

(इ) सरकारी माल, सरकारी सस्थाओ (डाक-विभाग, सैनिक यातायात) एव दानशील सस्थाओ अथवा उनमे काम करने वाले व्यक्तियो के लिए भी विशेष सस्ते भाडे लगाए जाते हैं।

इन्ही आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक सिद्धान्तो को ध्यान म रखकर और अपने पिछले अनुभव के अनुसार रेलें किराए-भाडे की दरे निर्धारित करती हैं। किराए-भाडे लगाने की क्रिया एक कला है, विज्ञान नही। अतएव हर समय उसमे सुधार और सामायोजन की सम्भावना बनी रहती है।

रेल-दरें निर्धारण कला है

रेल-दरें निर्धारित करने की क्रिया को तीन उपक्रियाओ मे बाँटा जा सकता है: (१) वस्तुओ का उचित वर्गीकरण, (२) प्रत्येक वर्ग के लिए भाडा-दर लगाना, तथा (३) समयानुसार वर्गीकरण अथवा दरो मे हेर-फेर व सशोधन करना। तीनो ही उपक्रियाएँ ऐसी है जिनमे किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की यथार्थता का अभाव है, उनका मूलाधार वास्तविक अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान है। अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान के अनुसार वस्तुओ का वर्गीकरण, उनकी दरें लगाना और उनमे सामयिक समायोजन किए जाते है। किसी भी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे न तो रेल द्वारा आने-जाने वाली वस्तुओ की सख्या ही सदैव एक-सी बनी रहती है और न उनकी भाडा-दरें ही। *अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ वस्तुओ की सख्या बढती जाती है,* उनका वर्गीकरण विस्तृत होता जाता है तथा उनकी दरो मे समायोजन एव सशोधन आवश्यक हो जाता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि रेल-दरे निर्धारित करने की क्रिया यथार्थ विज्ञान नही, एक कला जिसम सदैव कुछ न कुछ सुधार की सम्भावना बनी रहती है। उसका कोई अन्तिम स्वरूप अथवा आदर्श स्थिति नही मानी जा सकती। पूर्णता का इसम केवल आभास मात्र हो सकता है। हर समय प्रत्येक रेल के प्रत्येक किराए-भाडे मे सशोधन और सुधार सम्भव है। अनुभवी लोगो द्वारा अपने अनुभव के आधार पर रेलो के किराए-भाडे निश्चित किय जाते हैं और समयानुसार उनमे हेर-फेर किए जाते हैं। थोडी-सी उच्च श्रेणी की वस्तुओ से ऊँची दरे लेकर रेले अपनी सेवा आरम्भ करती हैं। कालान्तर मे इनकी प्रवृत्ति दर घटा कर यातायात बढाने की ओर होती है। दर कम होने से यातायात बढता है, यातायात बढने स दर और भी कम होती है। इस प्रकार यह ताँता लगातार चलता

रहता है और अन्ततोगत्वा रेलें उतना यातायात प्राप्त कर लेती है जितना ले जाने की उनकी सामर्थ्य होती है।

विभेदात्मक सिद्धान्त का समर्थन

ऊपर यह कहा जा चुका है कि सेवा के लागत-व्यय के अनुसार रेलो का किराया-भाड़ा निर्धारित करना कई कठिनाइयो के कारण असम्भव कार्य है। यह भी बतलाया जा चुका है कि यदि सबके लिए समान किराया-भाडा निर्धारित करना सभव भी हो तो वह वाछनीय नही क्योकि ऐसा करना रेल, राष्ट्र अथवा उपभोक्ता सभी के लिए हानिकारक है। ऐसा करने से देश की औद्योगिक प्रगति रुक जाएगी और अर्थ-व्यवस्था असंतुलित रूप धारण कर लेगी। इस कथन का समर्थन विभिन्न देशो मे रेल-सञ्चालन कार्य के अनुभव से हो चुका है। लागत-व्यय के अनुसार निर्धारित किए गए किराये-भाड़े के दुष्परिणामो को सभी लोग जान गए है और उसे सिद्धान्तः रेलो के लिए अनुपयुक्त और अव्यावहारिक मान लिया गया है। सेवा के मूल्य के अनुसार रेलो का किराया-भाडा निश्चित करने का सिद्धान्त आज सर्वमान्य समझा जाता है। आज सभी अधिकारी और विशेषज्ञ एवं अर्थशास्त्री यह स्वीकार करते है कि रेलो के किराए-भाडे की दर ऐसी हो जो प्रत्येक यातायात की इकाई से सम्बन्धित विशेष व्यय को भुगतने के साथ-साथ पारस्परिक माँग की तीव्रता के अनुसार अपने-अपने हिस्से के सामान्य अथवा स्थिर-व्यय को भी सहन कर सके, परन्तु सब दरें मिलकर रेलो के कुल लागत-व्यय के बराबर आय प्रदान कर सके। यही सर्वमान्य विभेदात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के पीछे सेवा का लागत-व्यय इतना महत्वपूर्ण नही समझा जाता जितना कि उपभोक्ता का त्यागभाव और उसकी क्रय-शक्ति[1]।

नैतिक दृष्टि से भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसमे समाज-हित और लोक-कल्याण की भावना होना स्वाभाविक है। धनी-निर्धन, बलवान-निर्बल व ऊँच-नीच का एक साथ अस्तित्व इसी भावना की प्रेरणा द्वारा सम्भव है। पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति एवं त्याग-भाव मानव-जीवन के आधारभूत हैं। लोगो की सहन-शक्ति और त्याग-भाव ही सारे सरकारी करो का आधार है। कर लगाने मे समान दायित्व नही देखा जाता, समान त्याग की नीति बरती जाती है।[2] रेलो की यह नीति भी कर-पद्धति के सदृश ही समझी जाती है। जैसे करो के सम्बन्ध मे विभेदात्मक नीति अन्यायपूर्ण नही कही जाती, वैसे ही रेलो

---

1 " .. ..Railway-charges for different categories of traffic are fixed, not according to an estimated cost of service, but roughly on one principle of equality of sacrifice by the Payer." (Sir William M. Acworth : *The Elements of Rly. Economics*, 1924, p. 84.)

2. " .. ..the Modern canon of scientific taxation is not equality of payment by each taxpayer, but rather equality of burden or sacrifice" (Ibid, p. 104.)

के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। जैसे राष्ट्र रक्षा के निमित्त कर लगने अनिवार्य हैं : वैसे ही सार्वजनिक हित के लिए रेल जैसी लोकोपयोगी सेवा-सुविधायें आवश्यक हैं। राष्ट्र-हित मे रेल-संचालन वाञ्छनीय है, तो रेल-सचालन के लिए उनके सचालन व्यय का भुगतान भी आवश्यक है। किराए-भाडे से इस व्यय का भुगतान सम्भव न हो तो जनता पर कर लगा कर करना चाहिए जैसा कि डाक, जल इत्यादि लोकोपयोगी सेवाओं के लिए किया जाता है। अतएव रेलों का यह सिद्धान्त किसी भी भाँति अन्यायपूर्ण नही कहा जा सकता जैसा कि कुछ लोग इसे बताते हैं। यह एक ऐसा न्यायपूर्ण एवं नीतिसंगत सिद्धान्त है जिसकी सत्ता सार्वभौमिक है। एक के त्याग से दूसरे के उत्थान का यह परामर्श पथ है। यह द्वेष भाव से दूषित नही त्यागवृत्ति से आप्लावित है। अमीरों के थोड़े त्याग से गरीबों का बोझ हल्का हो जाता है।[1] इससे समता स्थापित होकर जीवन सुखी व शान्तिमय होता है।

इस सिद्धान्त के अपनाने से रेलो को अधिक मात्रा मे यातायात उपलब्ध होता है और उनके लाभ की मात्रा बढ़ती है। अधिक लाभ का उपयोग रेलें बहुधा सेवा-सुविधायें बढाने और उपभोक्ताओं को सुख-सुविधाये प्रदान करने के लिए करती हैं। यदि सभी से रेले एक सा मूल्य लेने लगे तो निम्न श्रेणी के यातायात की एक बडी संख्या (किराया-भाडा बढने से) कम हो जाए और रेल-व्यवसाय का सचालन असंभव हो जाए। अब निम्न श्रेणी के यातायात से कम लेकर उसकी मात्रा बढाई जाती है और उस कमी को उच्च श्रेणी के यातायात से अधिक लेकर पूर्ण कर लिया जाता है। इस विभेदात्मक नीति का एक बड़ा लाभ यह होता है कि कभी-कभी औसत लागत-व्यय से भी कम भाड़ा ले कर रेलों को हानि नही उठानी पड़ती। परिवहन सम्बन्धी माँग के अति निर्बल होने पर भी बहुधा इस नीति से रेल-सचालन सम्भव है, जबकि अन्य कोई उद्योग ऐसी परिस्थितियों मे कदापि नहीं चल सकता। इसका लाभ जनता को सस्ती सेवा के रूप मे मिलता है। कम यातायात से सेवा मँहगी और अधिक यातायात से सस्ती होती है। सस्ती सेवा से विशेषीकरण और महामात्रोत्पादन का जन्म होता है। उच्च श्रेणी के यातायात के लिए भी इससे कोई हानि नहीं होती, क्योंकि यदि सेवा सस्ती नही तो निम्न यातायात बन्द हो जाएगा और रेलो के सब स्थायी व्यय उच्च यातायात पर पड़ेगे अर्थात् उनका भार अति अधिक हो जायगा।

---

1 "Can any system of apportionment of this necessary expenditure be more equitable than one under which the rich—well-to do passengers, valuable freight, traffic with the advantage of geographical situation close to the markets, and the like—contribute of their abundance, while the poor—third class passenger, bulky articles of small value, traffic that has to travel far to find the market and so forth—are let off lightly on the ground of their poverty?" (*Sir William M. Acworth : The Elements of Railway Economics 1924, pp. 84-85*).

इस प्रकार यह सिद्धान्त रेल, निम्न अथवा उच्च श्रेणी के यातायात, राष्ट्र एवं उपभोक्ता सभी के लिए हितकारी है।

वस्तु-भाड़े के प्रकार

उपर्युक्त सिद्धान्तो के आधार पर कई प्रकार के भाड़े की दरें प्रचलित हैं। उनमे से मुख्य-मुख्य निम्नांकित हैं :—

(१) समानान्तर दर तथा मील-भाड़ा (Flat or Mileage Rate)—यह दर अथवा भाडा दूरी के अनुपात से घटता-बढता है। दस मील के भाडे से १०० मील का भाडा ठीक दस गुना होगा। सवारियो के किराए के लिए बहुधा इसका व्यवहार किया जाता है। सन् १९४८ तक भारतीय रेलो के वर्ग भाड़े (Class rates) इसी सिद्धान्त पर आधारित थे। यह बडा सीधा-सच्चा सिद्धान्त प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत: यह वैज्ञानिक सिद्धान्त नही है, क्योकि परिवहन-व्यय मे ठीक दूरी के अनुसार वृद्धि नही होती। ज्यो-ज्यो दूरी बढती जाती है प्रति मील परिवहन व्यय कम होता चला जाता है। नैतिक दृष्टि से भी यह उचित नही प्रतीत होता, क्योंकि इससे दूर जाने वाले यातायात को हतोत्साहित होना पडता है और सस्ती एवं बड़े आकार की आधारभूत वस्तुओ का परिवहन क्षेत्र सीमित हो जाने से औद्योगिक विकास और विकेन्द्रीकरण मे बाधा पहुँचती है।

(२) शुण्डाकार-भाड़ा (Tapering Rate)—इस प्रकार के भाडे की दर दूरी की वृद्धि के अनुसार घटती जाती है अर्थात् १०० मील का भाड़ा १० मील के भाडे का ठीक दस गुना नही, उससे कुछ कम होगा। यह समानान्तर भाड़े की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है, क्योकि ठीक दूरी के अनुपात से परिवहन-व्यय नही बढता कुछ कम बढता है। वर्तमान भारतीय भाडा पद्धति इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। इस प्रकार की दर से दूर के यातायात को प्रोत्साहन मिलता है; औद्योगिक विकास व विकेन्द्रीकरण मे सहायता मिलती है। इसे दूरेक्षीय (Telescopic) भाडा भी कहते है।

(३) सामूहिक-भाड़ा (Group Rate)—किसी क्षेत्र विशेष के अनेक स्थानो का एक समुदाय मान लिया जाता है, जिनमे से सभी स्थान अथवा स्टेशन प्रेषण स्थान के समान अन्तर पर नही होते। इस केन्द्रीय स्थान से उन सभी स्थानों का भाड़ा बिना दूरी के विचार के एक ही रखा जाता है। इसमे सभी स्थानो अथवा स्टेशनों को माल भेजने की दृष्टि से एक स्थान अथवा स्टेशन मान लिया जाता है। यह आवश्यक है कि इन सब स्थानो का अन्तर केन्द्रीय स्थान से अनुचित दूरी पर न हो, लगभग समान दूरी पर हो। वास्तविक भाडा कम से कम दूरवर्ती स्थान के भाडे के समान लगाया जाता है। इसका लाभ यह बताया जाता है कि पुस्तकों मे कम लिखत-पढ़त करनी पड़ती है।

(४) प्रादेशिक भाड़ा (Zone Rate)—इस प्रकार के भाड़े की दर के लिए किसी रेल के प्रदेश को समान दूरी के क्षेत्रों मे बाँट लिया जाता है और उस क्षेत्र के अन्तर्गत माल लाने ले जाने का भाडा एक ही रहता है। उसमे दूरी के विचार से क्षेत्र के अन्तर्गत घटा-बढ़ी नही होती। यह सिद्धान्त सेवा के लागत-व्यय के सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा करता है। भाडा लगाने का यह अत्यन्त सरल ढंग है। इसका ज्वलन्त उदाहरण डाक महसूल है। डाक चाहे दस मील जाए, चाहे १०० मील, चाहे ५०० मील, महसूल एक ही होता है।

(५) वर्ग-भाड़ा (Block Rate)—इसमे सामूहिक सिद्धान्त भिन्न रूप मे लागू होता है। सामूहिक भाडे के लिए आर्थिक एव परिवहन सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान मे रखकर क्षेत्र बनाए जाते हैं, किन्तु वर्ग-पद्धति मे ऐसा कोई विचार न करके केवल अक्षांश और देशान्तर रेखाओं के अनुसार छोटे-छोटे वर्ग बनाए जाते हैं। इन वर्गों को स्टेशनों के अनुसार उपवर्गों मे बाँटा जाता है और वर्ग मे वर्ग एवं उपवर्ग से उपवर्ग के लिए अलग-अलग दरें निर्धारित की जाती हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे ऐसे ६५० वर्ग और १६ उपवर्ग हैं।

भारत मे ये दरें एक विशेष प्रकार की अवरोधक दरो (Block Rates) की सूचक समझी जाती हैं। ब्रिटिश शासन-काल म भारतीय रेलें ऐसी अवरोधक दरें कभी-कभी यातायात को अन्य प्रतियोगी रेलो अथवा परिवहन के अन्य साधनों की ओर जाने देने से रोकने के निमित्त लगाया करती थी।[1] ये दरें प्रतियोगी दरो से ऊँची दरें होती थी जो यातायात को कृत्रिम मार्गों से जाने के लिए बाध्य करती थी।

(६) विशेष-भाड़ा (Special Rate)—विशेष परिस्थितियो मे विशेष प्रकार के स्थानीय यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रकार का सस्ता-भाडा लिया जाता है। भारतीय रेलें स्टेशन से स्टेशन (Station-to-Station) तक के भाडे इसी सिद्धान्त के अनुसार लगाती हैं।

---

१. बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे एक बार साउथ इण्डियन और बम्बई बड़ौदा एण्ड सेंट्रल इण्डिया रेलो ने इस प्रकार के भाडे लगाकर यातायात (Traffic) को सामुद्रिक मार्ग से जाना सर्वथा बन्द कर दिया और इस प्रकार पश्चिमी तट के तिरुमलवसल तथा भड़ौंच बन्दरगाहों को भारी हानि पहुँचाई। तिरुमलवसल बन्दरगाह नष्ट हो गया तथा बम्बई-भड़ौंच सामुद्रिक सेवा बन्द हो गई।

१०.

वस्तुओं का वर्गीकरण

(Classification of Goods)

किराए-भाड़े सम्बन्धी विभेदात्मक सिद्धान्त को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए वर्गीकरण आवश्यक है। इस सिद्धान्त का मूलाधार उपभोक्ता की देय-शक्ति है। प्रत्येक उपभोक्ता की देय-शक्ति दूसरे से भिन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि विभेदात्मक सिद्धान्त को अपनी चरम-सीमा पर लागू करने के लिये प्रत्येक रेल को प्रत्येक प्रेषक (Consignor) के साथ उसकी देय-शक्ति का पता लगाने के लिए सौदा करना चाहिए। रेलो के अनेक ग्राहक होते है और वे अनेक वस्तुओ का परिवहन करते हैं। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सौदा असम्भव है। इस कठिनाई को दूर करने का एकमात्र साधन विभिन्न वस्तुओ का वर्गीकरण है।

वस्तुत: किराया-भाडा लगाने मे रेलो को तीन आवश्यक क्रियायें करनी पडती हैं। प्रथम क्रिया अगणित वस्तुओ और खनिज पदार्थों का व्यावहारिक वर्गों मे वर्गीकरण अथवा बँटवारा है। वर्ग सूची बना कर प्रत्येक वर्ग के लिए किराए-भाडे की दर लगाना दूसरी क्रिया है। अन्तिम क्रिया के द्वारा किराए-भाडे की दरो अथवा वर्गीकरण मे समयानुसार आवश्यक परिवर्तन करने होते है। विशेष परिस्थितियो मे विशेष दरें लगाना अथवा प्राचीन दरो मे थोडा हेर-फेर और समायोजन करना आवश्यक होता है।

वर्गीकरण के आवश्यक तत्व

वस्तुओ के वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य उनकी सहन-शक्ति के अनुसार भाड़े की विभेदात्मक दर लगाना है। फलत: जो आवश्यक तत्व भाडे को प्रभावित करते है वही वर्गीकरण को भी। माँग और पूर्ति की शक्तियो का प्रभाव भाडे की भाति ही वस्तुओ के वर्गीकरण पर पडता है, अर्थात् 'सेवा का मूल्य' और 'सेवा का लागत व्यय' दो मूल तत्व वर्गीकरण की क्रिया के मूल आधार है। इनका प्रयोग करते समय माल और वस्तुओ की परिवहन-प्रवृत्तियो अथवा विशेषताओ का अवश्य ध्यान रखना पडता है।

माँग का प्रभाव

माँग की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु की भाड़ा-सहन करने की शक्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। माँग का अनुमान मूल्य से लगाया जाता है। सस्ती वस्तुओं की सहन-शक्ति कम और मूल्यवान वस्तुओं की अधिक होती है। इसी कारण सस्ती वस्तुओं को वर्गीकरण करते समय निम्न श्रेणी में और महंगी वस्तुओं को उच्च श्रेणी में रखते हैं। निम्न श्रेणी का भाड़ा कम और उच्च श्रेणी का अधिक होता है। भारतीय रेलो के वस्तु-वर्ग पर ध्यान दें तो यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है।

विभिन्न धातुओं से बनी हुई चूड़ियों का विभिन्न श्रेणियों में रखा जाना इसी सिद्धान्त का समर्थक है। पत्थर की चूड़ियाँ ४२·५-अ श्रेणी में, लाख की ६०-ब में, काँच की ८०-ब में, लकड़ी की ८५-ब में और हाथीदाँत की १८०-ब श्रेणी में ले जाई जाती हैं। यही बात बोरों के सम्बन्ध में सत्य है। कागज के बोरे ६५-ब श्रेणी में, टाट, किरमिच (Canvas) अथवा सूती ९२-ब में और चमड़े के १२०-ब श्रेणी में आते-जाते हैं। तेजाब कई प्रकार के होते हैं, उनका मूल्य भिन्न-भिन्न है। फलतः उन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियों में मूल्यानुसार ही रखा गया है।

सेवा के मूल्य के अनुसार रेलें वर्गीकरण करते समय निम्न बातों का भी ध्यान रखती हैं —

(क) **प्रारम्भिक एवं अन्तिम स्थानों का मूल्य**—यात्रा के आरम्भिक स्थान और निर्दिष्ट स्थान के बीच का मूल्यान्तर जितना ही अधिक होगा उतने ही ऊँचे वर्ग में कोई वस्तु रखी जाएगी अर्थात् उसका भाड़ा उतना ही अधिक होगा।

(ख) **प्रतिस्पर्द्धा**—जिन वस्तुओं की ढुलाई के लिए अन्य परिवहन के साधनों से प्रतिस्पर्द्धा होती है, उन्हें अपेक्षाकृत नीची श्रेणी दी जाती है, ताकि उन्हें दूसरे साधनों का प्रयोग करने से रोका जा सके। जिन वस्तुओं की ढुलाई में कोई प्रति-स्पर्द्धा नहीं होती उन्हें अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी दी जाती है, क्योंकि इनके अन्यत्र जाने का कोई भय नहीं होता। भारतीय रेलें कोयले का परिवहन समुद्रतट के मार्ग से रोकने के लिए उसे ढुलाई व्यय से भी कम भाड़े पर ले जाती हैं।

(ग) नए उत्पादन केन्द्रों अथवा नए बाजारों की क्षेत्रीय प्रतिस्पर्द्धा के बचाव के लिए भी वर्गीकरण को नीचा किया जाता है।

(घ) समान स्वभाव एवं सम्बन्धित वस्तुओं के वर्गीकरण का भी ध्यान रखना आवश्यक है। *यदि समान और सम्बन्धित वस्तुओं के वर्गीकरण में भारी अन्तर* हुआ तो अनुचित पक्षपात का आरोप रेलों पर लगाया जा सकता है जो कानून विरुद्ध माना जाता है।

पूर्ति का प्रभाव

विभिन्न परिस्थितियों में प्रदान की गई सेवा का लागत व्यय विभिन्न होता है। अतएव पूर्ति अथवा लागत-व्यय के अनुसार वर्गीकरण करते समय उन अनेक

बातो का ध्यान रखना पड़ता है जिनके कारण ढुलाई व्यय में अन्तर हो सकता है। ऐसे मूल्य तत्व निम्नांकित हैं :—

(१) भार और आकार का अनुपात (Bulk in proportion to weight)—छोटे आकार मे जिन वस्तुओ का भार अधिक होता है उनको ले जाने मे रेलो को सुविधा रहती है। एक डिब्बे में ऐसी वस्तुओ का बहुत सा भार भरा जा सकता है जिसका भाडा अधिक होता है, क्योंकि भाडा प्रतिमन पर लगता है। इसके विपरीत जिन वस्तुओ का भार के अनुपात से आकार बड़ा होता है, उन्हे ले जाने मे रेलो को उतनी सुविधा नही होती और प्रति डिब्बे मे ऐसी वस्तुओ का थोड़ा ही भार भरा जा सकता है जिसका भाडा कम मिलेगा। फलत: कम भार व बडे आकार की वस्तुओ के ले जाने मे रेलो को अधिक व्यय और श्रम करना पडता है और अधिक भार व छोटे आकार की वस्तुओ के लिए अपेक्षाकृत कम व्यय व श्रम। अतएव प्रथम कोटि की वस्तुओ को उनके मूल्य का विचार छोड़कर उच्च श्रेणी मे रखा जाता है (अर्थात् अधिक भाडा लिया जाता है) और द्वितीय कोटि की वस्तुओ को निम्न श्रेणी मे। रुई पूरी तरह (मशीन से) दबी हुई (full pressed) हो तो १००-ब श्रेणी मे, अधूरी (हाथ से) दबी हुई (half-pressed) हो तो १३०-ब मे और खुली हुई (loose) हो तो १५५-ब श्रेणी मे रखी जाती है। इसी भाँति पूर्ण दबी हुई ऊन १००-ब श्रेणी मे, अधूरी दबी हुई १३०-ब मे और खुली हुई १४५-ब श्रेणी मे रखी जाती है।

(२) मार्ग की जोखिम (Liability to Damage)—कुछ वस्तुयें स्वभाव से ही टूटने-फूटने वाली होती हैं। इन्हे ले जाने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता पडती है। मिट्टी व काँच के बर्तन तथा काँच का अन्य सामान ऐसी वस्तुयें हैं जिनके टूटने-फूटने का भय सर्वदा बना रहता है। ऐसी वस्तुओ के ले जाते समय रेलो को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है अथवा विशेष सेवा व विशेष देख-रेख का प्रबन्ध करना पडता है। इससे उन्हे ले जाने का व्यय बढ जाता है। तनिक असावधानी से उनके मार्ग की जोखिम बढ जाती है और रेलो को अधिक हानि-पूर्ति देनी पडती है। ऐसी वस्तुओ को अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी मे रखा जाता है। किन्तु इसके विपरीत जिन वस्तुओ के टूटने-फूटने का इतना भय नही होता उन्हे अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी मे रखा जाता है। सिमेंट ५०-अ श्रेणी मे और सिमेंट से ढली हुई वस्तुयें १४५-अ श्रेणी मे, खडिया ४०-अ श्रेणी मे और खडिया की बत्तियाँ ६५-ब श्रेणी मे; चीनी मिट्टी ४०-अ श्रेणी मे और चीनी के बर्तन १५५-ब श्रेणी मे ले जाये जाते हैं। सावधानी के साथ ले जाने पर भी ऐसी वस्तुओ मे थोडी-बहुत टूट-फूट की सम्भावना बनी रहती है और रेल को हानिपूर्ति देनी पडती है। अतएव ऐसी जोखिम से बचने के लिए रेलें उन्हे बहुधा ग्राहक की जोखिम पर ही ले जाती हैं। यदि इन वस्तुओ को रेलें अपनी जोखिम पर ले जाती हैं तो भाडे मे २० प्रतिशत बढ़ोतरी की जाती है। यह २० प्रतिशत अधिक भाडा मार्ग की जोखिम का सूचक है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस वस्तु मे जितनी अधिक जोखिम होती है

उसके दोनों प्रकार के वर्गीकरण में उतना ही अधिक अन्तर होता है। घी, दूध इत्यादि तरल पदार्थों के मार्ग में छीजने का भय होता है तो खपरैल, स्लेट-पेंसिल व मशीनों इत्यादि के टूटने का भय रहता है। चाहे जोखिम टूटने-फूटने का हो और चाहे छीजने का वह वर्गीकरण को समान रूप से प्रभावित करता है।

(३) संवेष्टन (Packing)—संवेष्टन द्वारा मार्ग की जोखिम कुछ कम हो जाती है। जोखिम कम होने के अतिरिक्त, उचित संवेष्टन से माल उतारने-चढाने में सुविधा रहती है और डिब्बा को अच्छे प्रकार भरने में सहायता मिलती हैं। अतएव जो वस्तुये सुदृढता से सवेष्टित होती हैं उनको निम्न श्रेणी दी जाती है और जो भली-भाँति सवेष्टित नहीं होती उन्हें उच्च श्रेणी मिलती है। चाय के डिब्बे सन्दूक में बन्द हों तो ९५-ब श्रेणी में अन्यथा ११५-ब श्रेणी में आते हैं।

कभी-कभी संवेष्टन वस्तुओं के मूल्य का सूचक भी होता है। मूल्यवान वस्तुओं के लिए सुदृढ संवेष्टन प्रयुक्त किया जाता है किन्तु सस्ती वस्तुओं के लिए हलका। ऐसी वस्तुओं की देयशक्ति का ध्यान रखकर सुसंवेष्टित वस्तुओं को उच्च श्रेणी दी जाती है। बोतल में भरी शराब १३०-ब श्रेणी में अन्यथा ७२ ५-ब श्रेणी में जाती है।

(४) माल का परिमाण अथवा गाँठों का आकार (Size of Consignment)—बहुधा कम मात्रा में जाने वाले माल को उच्च श्रेणी और एक साथ अधिक मात्रा में जाने वाले माल को निम्न श्रेणी दी जाती है। कारण यह है कि छोटी गाँठों के सम्बन्ध में रेल को सचय-वितरण, लादने-उतारने इत्यादि की अतिरिक्त सेवायें प्रदान करनी पडती है जिनके लिये अतिरिक्त व्यय करना पडता है। छोटी गाँठो का डिब्बों में भरा जाना भी इतना सुविधाजनक नहीं जितना डिब्बे भरे माल का। अधिक माल से डिब्बे अच्छी तरह और जल्द भर जाते हैं, उन्हें छोटी गाँठो की भाँति डिब्बे भरने के समय तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। डिब्बे भरे माल को छोटी गाँठो की भाति मार्ग में उतारने-चढाने की आवश्यकता नहीं पडती।

भारतीय रेलों के वर्तमान वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक माल अथवा वस्तु के लिए दो-दो श्रेणियाँ हैं: एक डिब्बे भरे माल के लिए और दूसरी थोडे माल के लिए। कुछ वस्तुओं की दोनों प्रकार की श्रेणियां निम्नांकित हैं :—

वस्तु	वर्ग संख्या (डिब्बे भरे माल के लिए)	वर्ग संख्या (थोडे माल के लिए)
घडियाँ	१७०-ब	१८०-ब
चीनी	६५-ब	७२·५-ब
रुई (खुली)	१४५-ब	१५५-ब
चमडा	१२०-ब	१३०-ब
अन्न	३०-अ	४०-अ

(५) **समय**—वर्गीकरण के लिए समय का भी विशेष महत्व है। कोई माल ऐसा होता है जिसे शीघ्र से शीघ्र भेजना आवश्यक है; मार्ग मे अधिक समय लगने से वह गल-सड कर नष्ट हो जाता है। ताजे फल, तरकारियाँ, दूध, मक्खन इत्यादि ऐसी ही वस्तुयें है। ऐसी वस्तुओ को अपेक्षाकृत उच्च श्रेणी मे रखना आवश्यक है, क्योकि उन्हें या तो तेज चाल वाली गाडियो से भेजना होता है और फलतः रेल का व्यय बढ जाता है, या उन्हे तुरन्त चलता कर देना पडता है, उनके लिए डिब्बे भरने तक रुकना घातक होता है। कभी-कभी ऐसे माल के डिब्बे सवारी गाडियो मे भी जोड़ दिये जाते हैं। ताजी मछलियो के लिये ८५-ब श्रेणी, किन्तु सूखी मछलियो के लिए ६७-ब श्रेणी है।

(६) **यातायात की नियमितता (Regularity of Traffic)**—यदि रेल अधिकारियो को इस बात का पूर्ण विश्वास हो कि कोई माल अथवा वस्तु अधिक मात्रा मे नियमित रूप से किसी क्षेत्र मे आती-जाती रहेगी, तो वे उसे कम भाडे पर ले जाने को प्रस्तुत हो जाते हैं, क्योकि ऐसे यातायात से रेल-सेवा का अच्छा और नियमित उपयोग होता रहता है और रेल का संचालन-व्यय कम हो जाता है। ऐसे माल के लिए या तो निम्न श्रेणी दे दी जाती है या विशेष कमी करके भाडे की दर नियत कर दी जाती है। अन्य व्यवसायी-व्यापारी भी अपने बड़े व शाश्वत ग्राहकों को ऐसी सुविधाये देते हैं। रेलो की यह प्रवृत्ति विचित्र नही है।

(७) **डिब्बे का प्रकार (Type of Wagon)**—लकडी, कोयला, पत्थर इत्यादि वस्तुये ऐसी है जो खुले डिब्बो मे जा सकती हैं, किन्तु अन्न, वस्त्र, वर्तन इत्यादि ऐसी वस्तुये है जिनके लिए छतदार बन्द डिब्बो की आवश्यकता पडती है। इनके अतिरिक्त कुछ और ऐसी वस्तुयें हैं जिनके लिए विशेष प्रकार के डिब्बे अनिवार्य हैं जैसे शेर, चीते, हाथी व अन्य पशु एव भडक उठने वाले पदार्थ। जो वस्तुयें खुले डिब्बे मे जा सकती हैं उनको निम्न श्रेणी दी जाएगी, जो बन्द डिब्बो मे जाती हैं उन्हे उनसे उच्च श्रेणी और जिनके लिए विशेष प्रकार के डिब्बो की आवश्यकता है उनके लिये और भी उच्च श्रेणी दी जायगी, क्योकि प्रत्येक प्रकार के डिब्बो का लागत-व्यय अधिकाधिक होता चला जाता है और उन्हे ले जाते समय मार्ग मे भी विशेष सावधानी बरतनी पडती है।

(८) **लदाई-ढुलाई भय**—कुछ वस्तुएँ दूषित, भयानक अथवा भड़क उठने वाली होती है, जिन्हे न तो दूसरी वस्तुओ के साथ डिब्बो मे लादा जा सकता है और न गोदामो मे ही रखा जा सकता है। ऐसी वस्तुओ के ले जाने मे रेलो को विशेष सावधानी और व्यय करना पडता है। अतएव उन्हे उच्च श्रेणी मे रखा जाता है अथवा उनसे ऊँचे भाडे लिए जाते हैं। आतिशबाजी, गोला-बारूद, हड्डियाँ, खाद, गुदड़े, गंधक इत्यादि वस्तुओ को भारतीय रेलें विशेष शर्तों पर ले जाती हैं। बडी लाइन पर १२० मन और छोटी लाइन पर ८० मन इन वस्तुओ का न्यूनतम भार

माना जाता है और तदनुसार भाडा लगाया जाता है, क्योंकि इन्हे अलग डिब्बो मे लादना होता है। डिब्बे भरे माल का भी 'थोडे माल की दर' से भाडा लगाया जाता है।

(९) **दुलाई में रिक्त स्थान**—माल के लादने अथवा ले जाने मे डिब्बो में जितना ही अधिक रिक्त स्थान होगा, उतना ही उसका वर्गीकरण ऊँचा होगा।

(१०) **स्थानापन्न वस्तुयें**—जो वस्तुयें दूसरी वस्तुओं की स्थानापन्न (Substitutes) हो सकती है उन्हे बहुधा एक ही श्रेणी मे इसीलिए रखा जाता है कि किसी का यातायात व्यय बढने से उसका परिवहन बन्द न हो जाए। इसी विचारधारा से प्रेरित होकर उन सब वस्तुओं को जो कागज बनाने के काम आती हैं और जो कागज के कारखाने को भेजी जाती हैं, भारतीय रेलो ने एक ही श्रेणी (४२-५-अ) मे रखा है। ये वस्तुये गन्ने की छोई, बाँस की फलटे, कपडे की कत्तरें, पुराने समाचार पत्र-पत्रिकाये, चिथडे, सवाई घास, रस्सी के टुकडे इत्यादि हैं।

भारतीय वस्तु-वर्गीकरण

किराए-भाडे की दर के सम्बन्ध मे जो बात कही गई है, वही वस्तुओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे भी सत्य है। ऊपर जो आवश्यक तत्व गिनाए गए हैं, उन्हे ध्यान मे रखते हुए वर्गीकरण के प्रयोग किए जाते हैं और अनुभव के अनुसार व्यावहारिक वर्गीकरण किया जाता है। जैसे किराए-भाडे की दर निर्धारित करना कला है, उसी भाति वर्गीकरण भी एक कला है, यह क्रिया विज्ञान की परिधि के बाहर है। थोडी वस्तुओं को थोडे वर्गों मे विभाजित करके रेलें अपना कार्यारम्भ करती हैं। जैसे-जैसे रेलो की सेवा-सुविधा का विस्तार होता जाता है वैसे-वैसे औद्योगिक उन्नति और राष्ट्रीय विकास का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। औद्योगिक उन्नति एव आर्थिक विकास के साथ-साथ यातायात की वृद्धि होती है। यातायात की वृद्धि से वस्तु-वर्गीकरण के सवर्द्धन और सुधार की आवश्यकता उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह ताँता चलता रहता है। चाहे कितनी ही चतुराई से वस्तु-वर्गीकरण किया जाए, विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की सेवा के लिए वह सदैव अपूर्ण रहता है। फलतः समय-समय पर इसमे सुधार होते रहते है।

भारतीय रेलो का प्रारम्भिक वर्गीकरण बहुत छोटा और सरल था। १८५३ और १८५९ के बीच तीन रेले खुल चुकी थी। ईस्ट इण्डिया और ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलो ने कुल वस्तुओं के पांच और मदरास रेल ने केवल तीन वर्ग किए थे। ज्यो-ज्यो रेलो की सख्या बढती गई त्यो-त्यो वर्गों की विभिन्नता बढती गई। यद्यपि वस्तु-वर्गीकरण के लिए सरकारी अनुमति आवश्यक थी, तो भी रेलो को बहुत कुछ स्वतन्त्रता दी गई थी। फलतः अलग-अलग रेलो ने अलग-अलग वर्गीकरण करना प्रारम्भ किया। १८८३ मे एक प्रस्ताव द्वारा सरकार ने किराए-भाडे सम्बन्धी स्थायी नीति निर्धारित कर दी और १८८७ मे इस सम्बन्ध मे नियम बना दिए गए। तो भी

वर्गीकरण की एकरूपता स्थापित करने मे कोई सफलता न मिल सकी। १ जुलाई १६१० में भारतीय रेल-सम्मेलन (Indian Railway Confererce Association) के प्रयत्न द्वारा वर्गीकरण की समता की ओर कुछ प्रगति हुई। सम्मेलन ने एक सामान्य वर्गीकरण (General Classification) निर्धारित किया जिसमें ६ वर्ग थे। छठा वर्ग केवल भडक उठने वाली अथवा भयानक वस्तुओं के लिए था। शेष सारी वस्तुयें पाँच भागो मे विभक्त थी।

रेल बोर्ड ने इसे १९१५ मे स्वीकार कर लिया। यह इस प्रकार था :—

श्रेणी	भाडे की दर प्रति मील प्रति मन (पाइयों में)	
	उच्चतम	न्यूनतम
१	·३३३	·१००
२	·५००	·१६६
३	·६६६	
४	·८३३	
५	१·०००	
विशेष	१·५००	

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त भाडे की दरें बढाने की आवश्यकता हुई। अत: नया वर्गीकरण भी आवश्यक समझा गया। अब वर्ग सख्या ६ से बढ़ाकर दस कर दी गई। यह अप्रैल १९२२ में लागू हुआ।

श्रेणी	भाडे की दर प्रति मील प्रति मन (पाइयों मे)	
	उच्चतम	न्यूनतम
१	·३८	·१००
२	·४२	
३	·५८	·१६६
४	·६२	
५	·७७	
६	·८३	
७	·९६	
८	१·०४	
९	१·२५	
१०	१·८७	

यह वर्गीकरण १४ वर्ष तक लागू रहा। इसमें संतुलनता का अभाव और रेल-दायित्व एवं स्वामीदायित्व के भाड़े की दरों में अनुचित अन्तर बताया जाता था। अतएव १९३६ में इसका सशोधन हुआ। अब वर्गों की संख्या दस से बढाकर १६ कर दी गई जो इस प्रकार थे :—

वर्ग	भाड़े की दर प्रति मील प्रति मन (पाइयों में)		वर्ग	भाड़े की दर प्रति मील प्रति मन (पाइयों में)	
	उच्चतम	न्यूनतम		उच्चतम	न्यूनतम
१	·३८		४ब	·७२	
२	·४२		५	·७७	
२अ	·४६	·१००	६	·८३	
२ब	·५०		६अ	·८६	·१६६
२स	·५४		७	·९६	
३	·५८		८	१·०४	
४	·६२	·१६६	९	१·२५	
४अ	·६७		१०	१·८७	

वस्तु वर्गीकरण को १९४८ में फिर परिवर्तित किया गया। यह इस प्रकार था:—

वर्ग	दूरेक्षीय (Telescopic) वर्ग दर पाई प्रति मील प्रति मन			न्यूनतम पाई प्रति मील प्रति मन	उच्चतम भाड़ा प्रति मन (सीमा व बदली-व्यय इत्यादि को छोड़ कर)
	प्रथम ३०० मील	+अगले ३०० मील	+अगली दूरी		
					रु० आ० पा०
१	·४९	·४५	·४०	·१६	३— ४—०
२	·५४	·४९	·४५		३—१०—०
३	·५८	·५४	·४९		४— ०—०
४	·६३	·५८	·५४		४— ६—०
५	·६८	·६३	·५८		४—१२—०
६	·७३	·६८	·६३		५— २—०
७	·७८	·७३	·६८		५— ९—०
८	·८४	·७८	·७३	·२०	६— ०—०
९	·९०	·८४	·७८		६— ७—०
१०	·९७	·९०	·८४		६—१४—०
११	१·०४	·९७	·९०		७— ६—०
१२	१·११	१·०४	·९७		७—१४—०
१३	१·१८	१·११	१·०४		८— ८—०
१४	१·४१	१·१८	१·११		९— ४—०
१५	२·११	१·४१	१·१८		११— ०—०

इन वर्ग-भाड़ा के साथ-साथ अनेक अनुसूचित भाड़ा-दरों के स्थान पर निम्नांकित डिब्बे भरे दूरेक्षीय वर्ग-भाड़े भी चालू किए गए :—

डिब्बे भरे माल की वर्ग संख्या	पाई (प्रति मन प्रति मील)
WL/A	'२५/२०० मील + '२०/३०० मील + '१५ आगे
WL/AR	'३०/१०० मील + '२५/३०० मील + '२० आगे
WL/B	'४८/१०० मील + '३२/३०० मील + '२१ आगे
WL/C	'३४/१५० मील + '३१/१५० मील + '१७ आगे
WL/CR	'४१/१५० मील + '३८/१५० मील + '२४ आगे
WL/D	'३८/३०० मील + '२८/३०० मील + '१८ आगे
WL/DG	'३८/१५० मील + '२८/१५० मील + '१५ आगे
WL/E	'४३/१५० मील + '३२/१५० मील + '२७ आगे
WL/F	'४३/३०० मील + '३२/३०० मील + '२१ आगे
WL/G	'४८/३०० मील + '३४/१५० मील + '१९ आगे
WL/H	'४८/३०० मील + '३५/३०० मील + '२३ आगे
WL/HO	'४८/१५० मील + '३४/१५० मील + '१९ आगे
WL/I	'४३/३०० मील + २३/२०० मील + '१५ आगे

स्वतंत्र-भारत की अर्थ-व्यवस्था में तेजी से विकास और क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस विकास और परिवर्तनों की गति योजना-बद्ध कार्यक्रम के अपनाने के उपरान्त और भी अधिक हुई। देश के उत्पादन में ही वृद्धि नहीं हुई, अनेक नए-नए पदार्थ भी बनने लगे। ऐसी स्थिति में १९४८ का वस्तु-वर्गीकरण अपर्याप्त एवं असंगत प्रतीत होने लगा। अनेक वस्तुओं के वर्गों को ऊँचा बताया जाने लगा। उसमें और भी दोष बताए जाने लगे : (१) एक बड़ा दोष तत्कालीन वस्तु-वर्गीकरण में सजातीयता का अभाव बताया गया। खाद्यान्न और खनिज लोहक सजातीय पदार्थ न होते हुए भी एक ही वर्ग में थे, प्रथम वर्ग में अनेक विजातीय वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न, कच्ची धातुएँ (लोहा, खनिज लोहक, बाक्साइट), भवन-निर्माण सामग्री (रेत, राख, ईंट, पत्थर, खपरैल इत्यादि), खाद, हड्डियाँ, रोड़ी इत्यादि सम्मिलित थीं, मूँगफली अन्य तिलहनों से अलग वर्ग में थी, लिजाद चार से पन्द्रह तक कई वर्गों में बिखरे पड़े थे। (२) नमक, व्यायाम-सामग्री (athletic appliances), औषधियाँ, पुस्तकें, लेखन-सामग्री इत्यादि सामाजिक दृष्टि से न्यायोचित वर्ग में नहीं थे। (३) कुछ वस्तुओं का वर्गीकरण बड़ा अस्पष्ट था। टूटी-फूटी धातु को चालान के स्टेशन पर टूटी-फूटी (Scrap) धातु मान लिया जाता था तो निर्दिष्ट स्टेशन पर उसे नहीं माना जाता था। (४) अनेक नई वस्तुओं का तत्कालीन वर्गीकरण में समावेश ही नहीं था।

अतएव जून १९५५ में भारत सरकार ने एक समिति बिठाई जिसने विस्तृत खोज के उपरान्त अप्रैल १९५७ में अपना प्रतिवेदन प्रकाशित किया तथा वस्तु-वर्गीकरण में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सुझाव दिया। इस वर्गीकरण को १ अक्टूबर १९५८ में लागू किया गया। नए वर्गीकरण के अनुसार सभी माल व वस्तुओं को दो मुख्य वर्गों में बाँटा गया : (क) आवश्यक पदार्थ (जीवनोपयोगी वस्तुएँ, औद्योगिक कच्चा माल इत्यादि) तथा (ख) अन्य वस्तुएँ। प्रथम कोटि की वस्तुओं के १४ और

दूसरी के ३१ वर्ग किए गए। प्रथम को अंग्रेजी के अक्षर अ (A) से और दूसरे को ब (B) से सम्बोधित किया गया। ये वर्ग एवं दरें निम्नांकित हैं :—

वर्ग संख्या	भाड़े की दर प्रति मन		वर्ग संख्या	भाड़े की दर प्रति मन	
	१–२५ मील	२९५१-३००० मील		१–२५ मील	२९५१-३००० मील
				रु०	रु०
२२·५-अ	०·११	१·६२	५२·५-ब	०·१८	४·१०
			५५·०-ब	०·१९	४ ३०
२५·०-अ	०·१२	१·८०	५७·५-ब	०·२०	४·४९
			६०·०-ब	०·२०	४ ६९
२७·५-अ	०·१३	१·९८	६२·५-ब	०·२१	४·८८
			६५·०-ब	०·२२	५ ०८
३०·०-अ	०·१४	२·१६	६७·५-ब	०·२३	५·२७
			७०·०-ब	०·२४	५·४७
३२·५-अ	०·१५	२·३४	७२·५-ब	०·२५	५ ६६
			७५·०-ब	०·२६	५ ८६
३५·०-अ	०·१६	२·५२	७७·५-ब	०·२६	६ ०५
			८०·०-ब	०·२७	६ २५
३७·५-अ	०·१८	२·७०	८२·५-ब	०·२८	६·४४
			८५·०-ब	०·२९	६·६४
४०·०-अ	०·१९	२·८८	८७·५-ब	०·३०	६·८३
			९०·०-ब	०·३१	७·०३
४२·५-अ	०·२०	३·०६	९२·५-ब	०·३१	७·२२
			९७·५-ब	०·३३	७·६१
४५·०-अ	०·२१	३·२४	१००·०-ब	०·३४	७·८१
			१०५·०-ब	०·३६	८·२०
५०·०-अ	०·२४	३·६१	११०·०-ब	०·३७	८·५९
			११५·०-ब	०·३९	८·९८
५२·५-अ	०·२५	३·७९	१२०·०-ब	०·४१	९·३७
			१२५·०-ब	०·४३	९ ७६
५५·०-अ	०·२६	३·९७	१३०·०-ब	०·४४	१० १५
			१३५·०-ब	०·४६	१०·५४
५७·५-अ	०·२७	४·१५	१४०·०-ब	०·४८	१०·९३
			१४५·०-ब	०·४९	११ ३२
			१५५·०-ब	०·५३	१२·११
			१७०·०-ब	०·५८	१३·२८
			१८०·०-ब	०·६१	१४ ०६

नवीन-वर्गीकरण में वर्गों की संख्या का एक दूसरे से निश्चित सम्बन्ध दिखाने के विचार से उन्हे प्रतिशत मे लिखा गया है। १६५८ से पूर्व के वर्गीकरण मे ६वें वर्ग को १०० मान कर ऊपर की तालिका के वर्ग उससे ऊँचे अथवा नीचे लिखे गए हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए भाडे की दरें प्रथम २५ मील के लिए निम्नतम हैं; २६ वें मील से प्रति ५ मील की दूरी के लिए दरें लगाई गई है; ५०१ मील से दरें १० मील के अन्तर से और २००१ मील से ३००० मील तक ५० मील के अन्तर से लगाई गई है। सन् १६५६ से भारतीय रेलो ने दाशमिक प्रणाली को अपनाया। फलस्वरूप अगस्त १६५६ से उक्त वर्गीकरण के साथ ही माल का परिमाण किलोग्राम मे और दूरी किलोमीटरो मे लिखी जाने लगी है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय रेलो का प्राचीनतम वर्गीकरण सरल और छोटा था जो एक पृष्ठ से अधिक स्थान नही घेरता था। आर्थिक विकास के साथ वस्तु-संख्या बढती गई। १८७३ मे ईस्ट-इण्डिया रेल का वर्गीकरण लगभग १३ पृष्ठो मे और १८८६ मे १०६ पृष्ठो मे छपा था। भारतीय रेलो का वर्तमान वर्गीकरण लगभग २०० पृष्ठो मे छपा है जिसमे ३००० वस्तुएँ और उनकी अनेक श्रेणियाँ-उपश्रेणियाँ है।

११.

रेल-भाड़ा नीति

(Railway Rates Policy)

परिवहन की शीघ्रगामी सेवा सुविधायें उपलब्ध होना परिवहन की महत्वपूर्ण समस्या का केवल एक अग है। उसका दूसरा अग वस्तु-भाडा अथवा परिवहन-व्यय भी कम महत्व नही रखता। पर्याप्त सेवा-सुविधाये प्रदान करने के साथ साथ रेल-भाडा पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो देश के व्यापार व उद्योग की उन्नति तथा विकास के लिए हितकर हो।

भारतीय रेले यद्यपि व्यक्तिगत पूँजीपतियो द्वारा प्रारम्भ की गई थी, किन्तु हानि का उत्तरदायित्व भारत सरकार को ओढना पडा था। अपने इस उत्तरदायित्व के बदले म भारत सरकार ने किराए-भाडे सम्बन्धी नीति का अन्तिम निर्णय अपने ही अधिकार मे रखा था और इस सम्बन्ध मे रेलो के साथ हुए सविदो मे आवश्यक प्रतिज्ञायें सम्मिलित की गई थी। किन्तु ये प्रतिज्ञायें इतनी अपूर्ण और अस्पष्ट थी कि व्यवहार मे सरकारी नियन्त्रण केवल नाममात्र को था। रेल-कम्पनियाँ स्वच्छन्दता की नीति बरतती थी। देश के उद्योग-धन्धो का उन्हे कोई ध्यान न था। भिन्न भिन्न कम्पनिया भिन्न-भिन्न सिद्धान्त अपनाये हुए थी। उनमे साम्य और एकरूपता का सर्वथा अभाव था। भारत सरकार और भारत मन्त्री म परस्पर मतभेद होने पर रेल-कम्पनियो को मनमानी करने के और भी अवसर मिल जाते थे।

प्रारम्भ मे भाडे की दरे प्रयोगात्मक दृष्टि से निश्चित की गई थी, क्योकि रेल-अधिकारियो को इस सम्बन्ध मे कोई पूर्व अनुभव प्राप्त न था। भारतीय परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण, इगलैण्ड का अनुभव यहाँ काम न दे सका। प्रयोगात्मक भाडे निर्धारित करने मे भारी कठिनाई यह थी कि रेल अधिकारी विदेशी थे जो भारतीय परिस्थितियो से सर्वथा अनभिज्ञ थे। अतएव उनके निर्णय म व्यावहारिकता का अभाव होना स्वाभाविक था।

विश्व की सभी रेलो की भाँति भारतीय भाडे की प्रारम्भिक दरे ऊँची थी, वे देश की गरीबी और व्यापार-व्यवस्था से मेल नही खाती थी। देश अन्न एव औद्यो-

गिक कच्चे माल के उत्पादन व व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। ऐसी वस्तुओं में अधिक भाड़ा सहन करने की क्षमता कम होती है, विशेषतः भारतवर्ष जैसे विस्तृत राष्ट्र में। भारत में रेल-प्रवर्तन का प्रमुख मन्तव्य माल यातायात था। यात्री यातायात की कम संभावना थी। तो भी भारतीय रेलें अपने शिशुपन में उच्च श्रेणी की कुछ वस्तुओं से ऊँचे भाड़े लेकर अधिक लाभ कमाने की विकृत मनोवृत्ति का निवारण न कर सकी, यद्यपि उन्हें यह पूर्णतः ज्ञात हो चुका था कि भाड़ा कम करने से यातायात और लाभ दोनों की वृद्धि सम्भव थी। इस भाँति रेल प्रवर्तन के प्रारम्भिक तीस वर्षों में भारतीय भाड़े-पद्धति में सिद्धान्त का अभाव, अनेकरूपता, एकाधिकारी स्वेच्छाचारिता; व्यक्तिवाद का आधिक्य, यातायात के प्रति उदासीनता और ऊँची दरों का प्राबल्य स्पष्ट दिखाई देता था। सेवा का लागत-व्यय ही रेलों के सन्मुख एकमात्र कसौटी दिखाई देती थी।

सन् १८८३ में भाड़े सम्बन्धी नीति को नियमानुसार नियन्त्रित करके उसमें एकरूपता स्थापित करने का प्रथम प्रयास हुआ। सेवा के मूल्य अर्थात् यातायात की देय-शक्ति और सेवा के लागत व्यय के सिद्धान्त को रेल-भाड़े की उच्चतम व न्यूनतम सीमायें निर्धारित करने वाला शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार कर लिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि डिब्बे में रिक्त स्थान, रेलों की पारस्परिक प्रतियोगिता एवं अन्य यातायात सम्बन्धी परिस्थितियों को भी किसी भाड़े विशेष के निश्चित करने में भूलना न चाहिए। आवश्यकतानुसार दूरेक्षीय भाड़े (Telescopic Rates) अपनाने की नीति को उचित मान लिया गया।

अब तक कई मुख्य रेलें पूर्ण हो चुकी थी और देश में रेलों का जाल बिछ गया था। परस्पर प्रतियोगिता आरम्भ हो गई थी। एक रेल दूसरी से यातायात खींचने के लिए भाड़े में कमी करने लगी। कम से कम हस्तक्षेप करने की सरकारी नीति के कारण परिस्थितियाँ और भी जटिल हो गई। अतएव १८८४ में पार्लियामेंट को एक प्रवर समिति को रेल-भाड़े का प्रश्न सुपुर्द किया गया। समिति ने बताया कि भारतीय रेलों के भाड़े अमेरिका और इंगलैण्ड के भाड़ों से भी ऊँचे हैं जबकि भारत देश उन देशों से कहीं गरीब देश है और उसने सरकारी नियन्त्रण को कड़ा करने का सुझाव रखा। एक अथवा अधिक रेलों से जाने वाले यातायात के सम्बन्ध में बुलाए गये १८८४ के सम्मेलन और १८८५ के सरकारी प्रस्ताव के असफल होने के उपरान्त, भारत सरकार को कड़ा नियन्त्रण करने की सूझी। फलतः १२ दिसम्बर १८८७ को भारत सरकार ने निम्नांकित सिद्धान्तों की घोषणा की :—

(क) रेलों की मनमानी नीति से जनता की रक्षा करने के लिए सरकार द्वारा उच्चतम व न्यूनतम भाड़े निश्चित करने आवश्यक हैं। इस संबंध में सरकार को कड़ाई की नीति बरतनी चाहिए।

(ख) दो प्रकार के भाडे रेले लगाये : (१) दूरी के अनुपात से (mileage-rates and fares) ; (२) सीमान्त भाडे (Terminal charges)।

(ग) उच्चतम और न्यूनतम सीमाओ के अन्तर्गत भाडे को घटाने-बढाने की रेलो को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(घ) उक्त स्वतन्त्रता का अनुचित प्रयोग किए जाने पर सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य होगा अर्थात् रेलो द्वारा अनुचित पक्षपात दिखाने पर सरकार समस्या को सुलझायेगी।

इन सिद्धान्तो के अपित करने का उद्देश्य यह था कि देश की सारी रेले (सरकारी और गैर सरकारी) इस भाँति परस्पर सहयोग से काम करे कि यह प्रतीत होने लगे मानो सारी इकाइयो का प्रबन्ध एक ही अधिकार मे है। १८६० के रेल-कानून मे इन नियमो का समावेश किया गया। सरकार ने इन्ही सिद्धान्तो के अनुसार उच्चतम भाडे निर्धारित कर दिये जो इस प्रकार थे :—

उच्चतम व न्यूनतम सीमायें (पाइयों मे)

वर्ग	भाडे की दरे (प्रति मील प्रति मन)		वर्ग	किराए की दरें (प्रति मील)	
	उच्चतम	न्यूनतम		उच्चतम	न्यूनतम
विशेष वर्ग	१/३	१/१०	प्रथम श्रेणी	१८	१२
प्रथम वर्ग	१/३	१/३	द्वितीय ,,	९	६
द्वितीय वर्ग	१/२	१/२	मध्यम ,,	४½	३
तृतीय वर्ग	२/३	२/३	तृतीय ,,	३	१½
चतुर्थ वर्ग	५/६	५/६			
पंचम वर्ग	१	१			

उक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि विशेष वर्ग को छोडकर अन्य सब वर्गों के उच्चतम और न्यूनतम भाडे एक ही थे। अत: वे रेलो के लिये अधिक उपयोगी न थे, क्योंकि इनके द्वारा उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया था। रेलो द्वारा इनकी कडी आलोचना होने लगी। फलत: १८६१ मे इन भाड़ो मे संशोधन किया गया। संशोधित तालिका अगले पृष्ठ पर दी जाती है।

वस्तु-भाड़े प्रति मील प्रति मन

		उच्चतम (पाई)	न्यूनतम (पई)
विशेष श्रेणी	....	१/३	१/१०
प्रथम ,,	....	१/३	१/६
द्वितीय ,,	....	१/२	१/६
तृनीय ,,	....	२/३	१/६
चतुर्थ ,,	...	५/६	१/६
पचम ,,	....	१	१/६

विशेष भाडे कोयला, खाद्यान्न और अन्य सस्ती वस्तुओ के लिए थे। संशोधित भाडो के द्वारा रेलो की स्वतन्त्रता की परिधि बढा दी गई। आशा यह थी कि रेलें उस स्वतन्त्रता का उपयोग देश के उद्योग-धन्धे व व्यापार के हित मे करेगी और भाड़े की दरो मे साम्य स्थापित हो सकेगा। किन्तु रेलो की व्यक्तिवादी नीति जारी रही और विषमता बढती गई। वस्तुत: नित्यप्रति बढती हुई पारस्परिक प्रतियोगिता का उपयोग सेवा का स्तर ऊँचा करने के लिए होना चाहिए था। व्यवहार मे उसका दुरुपयोग होने लगा। रेलो ने ऊँचे अवरोधी भाडे (Block rates) चालू किये जिनके द्वारा यातायात के स्वाभाविक मार्ग अवरुद्ध हो गए और प्रतियोगी पदार्थ कृत्रिम मार्गों से जाने लगे। अवरोधी भाडो ने दूर के यातायात का क्षेत्र सीमित करके उसे सबसे अधिक हानि पहुँचाई। रेलो की प्रतियोगिता रेलो के ही विरुद्ध नही, परिवहन के अन्य साधनो के विरुद्ध भी उठ खडी हुई। परिणाम घातक हुए। अनेक जलमार्ग सर्वदा के लिए समाप्त हो गए और देश उनकी सस्ती सेवा से वंचित रह गया।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ होने के साथ-साथ रेलो की स्थिति बदल गई। विनिमयात्मक यातायात दिन प्रतिदिन बढता जा रहा था। अतएव भाडे की एकरूपता और देशव्यापी सामान्य वर्गीकरण की आवश्यकता थी जो सब रेलो पर लागू हो सके। भारतीय रेल सम्मेलन (Indian Railways Conference Association) ने इस ओर महत्वपूर्ण कार्य किया और एक सामान्य वर्गीकरण प्रस्तुत किया जो १ जुलाई १९१० से लागू हुआ। इसे भी सब रेलो ने स्वीकार न किया। अतएव सम्मेलन के प्रयत्न जारी रहे। अन्त मे १९१५ मे उक्त सामान्य वर्गीकरण के एक संशोधित स्वरूप (पृष्ठ १३४ पर) को रेलवे बोर्ड ने स्वीकार कर लिया। भाड़े के सम्बन्ध मे साम्य स्थापित करने की ओर यह प्रथम सफल प्रयत्न था।

प्रथम महायुद्ध के छिड जाने के उपरान्त भारत सरकार को अपनी आय बढाने की चिन्ता हुई। इसी उद्देश्य से १९१७ का भाडा कर कानून (Freight Tax Act) बना जिसके अनुसार १ अप्रैल १९१७ से एक पाई प्रति मन कोयले पर और दो पाई प्रति मन अन्य वस्तुओ पर अधिभार (Surcharge) लगा दिया गया। १९२१ मे इसमे और भी वृद्धि कर दी गई। इस अतिरिक्त भाडे का रेलो ने भारी विरोध किया

और यह मत प्रगट किया कि सभी वस्तुओं का मूल्य बढ़ने से रेलों के संचालन-व्यय मे वृद्धि हो गई है, अतः भाड़े की दरें ऊँची कर देनी चाहिएँ। ऑकवर्थ समिति ने भी भाड़े बढ़ाने की नीति का समर्थन किया। फलतः १६२२ मे वस्तु-वर्ग (पृष्ठ १३४) परिवर्तित कर दिया गया और भाड़ों की उच्चतम दरों मे १५ से २५ प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई ; न्यूनतम दरों मे कोई परिवर्तन न किया गया।

उच्चतम भाड़ों मे वृद्धि करने के साथ न्यूनतम सीमाओं मे कोई वृद्धि न करना सरकार का बुद्धिमता का कार्य न था, क्योंकि इससे रेलों की पक्षपात सम्बन्धी शक्ति बहुत बढ़ गई। भारतीय रेलों के प्रति देशी उद्योग-धन्धों की वैसे ही शिकायतें कम न थीं। अब ये शिकायतें और भी अधिक बढ़ गई। ये शिकायतें निराधार न थीं। भारतीय रेलों के भाड़े की दरें ऐसी थीं जो विदेशी उद्योग व व्यापार को प्रोत्साहित करती थी और देश के आन्तरिक व्यापार व उद्योग को हतोत्साहित करती थी। नए भाड़ा का एक विकृत प्रभाव यह पड़ा कि अनेक न्यूनतम भाड़े लागत-व्यय से भी नीचे पहुँच गए, क्योंकि युद्धोपरान्त काल मे रेलों का संचालन व्यय बहुत बढ़ गया था, किन्तु न्यूनतम भाड़े युद्ध से पूर्व के ही स्तर पर छोड़ दिये गए थे। नवीन भाड़ा नीति की इस भाँति कड़ी आलोचना और भारी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई ऑकवर्थ समिति ने जनता की भाड़े सम्बन्धी शिकायतें सुनने के निमित्त एक रेल-भाड़ा-न्यायाधिकरण (Railway Rates Tribunal) स्थापित करने का सुझाव रखा था। सरकार ने इस सुझाव को ठुकरा दिया और न्यायाधिकरण के स्थान पर एक मंत्रणा समिति (Advisory Committee) की स्थापना की। इससे रेलों की सरकारी नीति के प्रति जनता मे और भी विरोध भाव बढ़ गया। आर्थिक मन्दी के कारण रेलों का संचालन-व्यय बढ़ने लगा और वार्षिक आय कम होने लगी। इस कमी को पूरा करने के लिए सभी मुख्य रेलों ने किराए-भाड़े बढ़ा लिए। सन् १६२७ से मोटर यातायात की प्रतियोगिता से रेलों को हानि हो रही थी। इस प्रतियोगिता के प्रतिकूल रेलों को निकटवर्ती यातायात के भाड़े कम करने पड़े और उस कमी को दूरवर्ती यातायात के भाड़े बढ़ाकर पूरा किया गया।

इस भाँति रेलों की भाड़े सम्बन्धी नीति की बड़ी आलोचना होने लगी। अतएव १६३६ मे वर्गीकरण को नया स्वरूप दिया गया जिसके अनुसार वस्तुवर्ग (पृ० १३५) दस के स्थान पर १६ कर दिये गये। मूल वर्ग ज्यों के त्यों रहने दिये, उनके बीच बीच मे नये वर्ग जोड़ कर उनकी केवल संख्या बढ़ा दी गई। रेल दायित्व और स्वामी-दायित्व सम्बन्धी भाड़ों का अन्तर भी कम कर दिया गया, यद्यपि यह कभी उतना न थी कि दोनों का अन्तर दोनों के बीच जोखिम के बराबर हो जाता।

१६३६ मे जो परिवर्तन किये वे विशेष उपयोगी न थे। वस्तुतः वर्गीकरण को सरल बनाना आवश्यक था। सरल बनाने के स्थान पर उन्हें और जटिल कर दिया गया। भारतीय जनता बहुत अपढ़ है। वह २ अ, २ ब, २ स, इत्यादि संख्याओं को नहीं समझ सकती। रेलों ने इस नये वर्गीकरण का निर्माण करने के लिये आवश्यक

आँकड़े एकत्रित नही दिये थे। फलत: नया वर्गीकरण कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नही कहा जा सकता था। बिना वैज्ञानिक संबंध स्थापित किये केवल वर्ग-संख्या बढ़ा देना कोई महत्व नही रखता था।

द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होते ही सरकार को अधिकाधिक रुपए की आवश्यकता हुई। रेलो या सरकारी कोष के प्रति अंशदान बढाने के लिए १९४० मे सभी वस्तुओ पर दो आना रुपया भाड़ा बढा दिया गया (खाद्यान्न, खाद व चारे पर यह वृद्धि लागू न थी) अर्थात् १२½ प्रतिशत वृद्धि कर दी गई।

युद्ध काल मे मूल्य स्तर ऊँचे हो जाने से रेलो के संचालन-व्यय में अपार वृद्धि हो गई थी। यातायात वृद्धि के कारण उनकी आय भी बहुत कुछ बढ गई थी। इधर देश की अर्थ-व्यवस्था मे भारी परिवर्तन हो गये थे। औद्योगिक संगठन बदल गया था, व्यापार व्यवस्था का स्वरूप भी परिवर्तित हो चला था। युद्धोपरान्त कालीन योजनाओ की ओर ध्यान दे तो और भी क्रान्तिकारी परिवर्तनो की सम्भावना थी। ऐसी स्थिति मे रेल भाड़ा पद्धति मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक समझे गये। तत्कालीन भाड़ा पद्धति के अनेक दोषो की जोरो से चर्चा चल पड़ी। यह दोष निम्नांकित थे :—

आधारभूत वर्ग भाडे (Class rates) दूरी के अनुपात से घटते-बढते थे। दूरवर्ती ढुलाई मे परिवहन सम्बन्धी मितव्ययता और वस्तुओ की देय-शक्ति के सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा की गई थी। अनुभव से यह पूर्णत: सिद्ध हो चुका है कि भारत जैसे विशाल देश के लिये जहाँ वस्तुओ का मूल्य-स्तर बहुधा नीचा है ऐसे भाड़े सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

वर्ग भाडो के समानान्तर होने के कारण उनसे विचलन अनिवार्य था। रेलो के अपने क्षेत्रो के अन्तर्गत व्यापारिक व औद्योगिक विकास की छूट और देश के अनियोजित औद्योगीकरण से इस विचलन को और भी प्रेरणा मिलती थी। इस विचलन के अनेक स्वरूप थे जो बहुधा तीन क्रियाओ द्वारा परिपूर्ण होते थे : (क) किसी वस्तु का वर्गीकरण बदल कर, (ख) अनुसूचित भाडे लागू करके, अथवा (ग) विशेष प्रकार के भाडे उद्धृत करके। वर्ग भाडो से अनेक प्रकार के इन विचलनो ने भारतीय भाड़ा पद्धति को अत्यन्त जटिल बना दिया था जिसे समझ लेना सामान्य बुद्धि के लिये कठिन काम था।

वस्तुओ के वर्गीकरण मे बहुधा तीन प्रकार के परिवर्तन किए जाते थे। प्रथम परिवर्तन ऐसी वस्तुओ के वर्गीकरण मे किया जाता था जो वस्तुयें स्वभाव से ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट होने वाली होती हैं। ताजे फल सामान्यत: द्वितीय श्रेणी मे रखे गये थे और इस वर्ग-भाडे के अनुसार वे रेल के दायित्व पर जा सकते थे। किन्तु स्वामी के दायित्व पर ले जाने के लिए उन्हें प्रथम वर्ग मे रक्खा गया था अर्थात् भाड़े मे १० प्रतिशत की कमी हो गई थी। वह प्रतिशत अन्तर विभिन्न वस्तुओ के लिए विभिन्न

था। रेलो के विरुद्ध जनता की यह शिकायत रहती थी कि उक्त दोनो प्रकार के भाडो मे इतना अधिक अन्तर था कि माल भेजने वाला को रेल दायित्व पर माल भेजने की स्वतन्त्रता कोई अर्थ नही रखती और बहुधा माल निजी दायित्व पर ही ले जाना पडता था। कुछ वस्तुओ से विशेष प्रकार के ऊँचे वर्ग भाडे लिए जाते थे। चाय साधारणत चतुर्थ वर्ग (६२ पाई प्रतिमील प्रति मन) म रखी गई थी किन्तु बगाल आसाम रेल ने उसे नवी श्रेणी (१ २५ पाई प्रति मील प्रति मन) म और साउथ इण्डियन रेल ने छठी श्रेणी (८३ पाई प्रति मील प्रति मन) म रख छोडा था। कभी कभी स्थानीय उद्योगा को प्रोत्साहन देने अथवा डिब्ब भरे माल के लिए रेलो द्वारा वर्ग भाडे से कम भाडे लिए जाते थे। इस प्रकार भाडो का ठीक ठीक लगाना कठिन हो जाता था क्योकि एक ही वस्तु के लिय सब रेला के भाडे समान नही थ। अनक बार अनुभवी और योग्य रेल कर्मचारियो से भी भाडा की गणना मे भूल हो जाती थी। इस विषमता के कारण माल सदैव छोटे मार्ग से नही जाता था।

अनुसूचित भाडे (Scheduled rates) इस विषमता म और भी वृद्धि करते थे। २७ अनुसूचिया भारतीय रेल-सम्मेलन द्वारा स्वीकृत थी जिनम से आठ एसी थी जो वर्ग भाडो की भाति दूरी के अनुसार घटता बढती थी और शेष १९ अनुसूचिया दूरी के अनुसार घटता हुई दर पर लागू होती थी। पहला आठ अनुसूचियाँ बनाने मे कुछ नियमा का पालन अवश्य किया गया था किन्तु शेष १९ अनुसूचिया बनाने मे किन्ही नियमा अथवा निश्चित सिद्धाता का सहारा नहा लिया गया था। वे रेला ने अपनी इच्छा से बनाइ था।

यद्यपि भारतीय रेल-सम्मलन से इन अनुसूचित भाडा की स्वीकृति मिल चुकी थी किन्तु सम्मेलन को यह अधिकार न था कि वह एक वस्तु के लिए सब रेला पर एक से भाडे लागू कर सके अथवा उन्हे अविरत मीलो (continuous mileage) के अनुसार लागू कर सके। अन्न के लिय उस समय १९ अनुसूचिया लागू होती थी। इन अनेक जटिलताओ और कठिनाइयो के होते हुए भी कोई भाडे गणक (Rates Registers) रेलो ने प्रस्तुत नही किए थे और रेल कर्मचारिया से आशा की जाती थी कि सस्ते से सस्ते मार्ग (जो सदैव छोटे से छोट माग नही होते थे) से माल का प्रेषण करेंगे।

विशेष प्रकार के अथवा स्टेशन से स्टेशन तक के भाडे बहुधा अनिश्चित होते थे और कभी-कभी उनके सम्बन्ध मे पूछ-ताछ अथवा परिवर्तन मे समय बहुत लगता था। सीमान्त भाडे (Terminal Charges) व यानान्तरण भाडे (Transhipment Charges) प्रत्येक रेल के भिन्न थे उनमे कोई एकरूपता अथवा साम्य नही था।

इन सब दोषो के कारण रेल भाडा पद्धति के सरल व वैज्ञानिक बनाने की माग की गई थी। सन् १९४४ म भारतीय रेल सम्मेलन ने भाडा पद्धति को सरल

और देश भर के लिए समान बनाने का बोडा उठाया और तत्सम्बन्धी खोज कार्य आरम्भ कर दिया। चार वर्ष के कठिन परिश्रम के उपरान्त उन्होने विशेषज्ञो की सहायता से भाडा पद्धति का एक नवीन स्वरूप देश के सम्मुख उपस्थित किया जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और १ अक्टूबर १९४८ से लागू कर दिया। नवीन वर्गीकरण और नवीन भाडो की दरो की सूची पृष्ठ १३५ पर दी हुई है।

परिवर्तित भाडा-नीति के अपनाने से प्राचीन पद्धति के अनेक दोष दूर होगए। इसके मुख्य गुण निम्नांकित थे :—

(१) वस्तु-वर्गीकरण की जटिलता दूर हो गई और वर्ग-संख्या सरल कर दी गई। २ अ, २ ब, २ स इत्यादि वर्ग हटा कर १ से १५ तक वर्गों मे वस्तुओ को विभाजित कर दिया गया।

(२) प्रचीन वर्गीकरण आँकडो पर आधारित नही था और अवैज्ञानिक था। अब उसे आँकडो के आधार पर संशोधित किया गया जिसे पहले से अधिक वैज्ञानिक बना दिया गया। देश के विस्तार, माल के प्रकार और परिवहन सेवा की माँग का ध्यान रखकर भाडा-दरे लगाने का यत्न किया गया।

(३) युद्ध और युद्धोपरान्त काल मे वस्तुओ के मूल्य बढाने से रेलो के संचालन व्यय भी बढ गए थे। अतएव वर्ग-भाडो मे १२॥ से ३०% तक की वृद्धि करदी गई। प्रथम वर्ग की दर '३८ पाई से बढकर '४१ पाई और अन्तिम वर्ग की १'८७ पाई मे बढकर २'११ पाई प्रति मन प्रति मील कर दी गई।

(४) वर्ग-भाडे पहले दूरी के अनुसार बढ़ते थे, अब उन्हे दूरेक्षीय (Telescopic) कर दिया गया अर्थात् दूरी की वृद्धि के साथ-साथ भाडा-दर कम होने लगी। प्रथम वर्ग के प्रथम ३०० मील तक '४६ पाई प्रति मील प्रति मन भाडा दर थी, ३०० से ६०० मील तक '४५ पाई और ६०० मील से आगे की दूरी के लिए '४० पाई। साथ ही साथ भाडे की दर की एक उच्चतम सीमा भी बाँध दी गई जो प्रथम वर्ग के लिए ३ रु० ४ आने थी। इससे अधिक भाडा कभी नही लिया जाता था चाहे दूरी कितनी ही हो।

(५) औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से डिब्बे भरे माल के लिए १३ विशेष अनुसूचियाँ दूरेक्षीय सिद्धान्त के अनुसार बना दी गईं जिन्होने पहले अनिश्चित अनुसूचित भाडो का स्थान ले लिया।

(६) भारतीय भाडा-पद्धति के इतिहास मे पहली बार उच्चतम भाडो की वृद्धि के साथ-साथ न्यूनतम भाडो मे वृद्धि की गई। प्रथम श्रेणी की न्यूनतम दर '१०० पाई से '१६० पाई और शेष को '१६६ पाई से '२०० पाई कर दी गई। इससे उच्चतम और न्यूनतम दरो के बीच का अन्तर कम हो गया।

(७) पहले सब रेलें स्वतन्त्र इकाइयाँ मानी जाती थी। अब उन्हे सारी यात्रा के लिए एक इकाई मानकर भाड़े लगाये जाने लगे।

(८) विशेष प्रकार के वर्ग-भाड़े, अनुसूचित भाड़े और अनेक अनिश्चित स्टेशन-भाड़े जो भाड़ा-पद्धति मे जटिलता उत्पन्न करते थे, अब समाप्त कर दिये गये।

(९) अल्पदूरी के भाड़े (Short distance charge), सीमान्त-भाड़े (Terminal charges) तथा यानान्तरण भाड़े (Transhipment charges) जो भिन्न-भिन्न रेलो के भिन्न-भिन्न थे, उन्हे अब सब रेलो के लिए समान कर दिया गया।

(१०) रेल-दायित्व (Railway Risk) और स्वामी दायित्व (Owners' risk) भाड़ो के अन्तर को जोखिम के अनुसार करने का प्रयत्न किया गया।

इस भाँति परिवर्तित भाड़ा-पद्धति पहले से कही अधिक सरल, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बना दी गई। यद्यपि ये सुधार अत्यन्त महत्वपूर्ण और राष्ट्रीय-नीति के द्योतक थे, इनका प्रभाव अधिक समय तक न रह सका। स्वतन्त्रता के बाद देश की अर्थ-व्यवस्था मे बडी तेजी से विकास और क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। यह विकास और ये परिवर्तन पचवर्षीय योजनाओ के अवधिकाल मे और भी अधिक प्रगतिशील थे। अतएव सन् १९४८ की भाड़ा-नीति और व्यवस्था देश की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिए अपर्याप्त प्रतीत हुई। व्यवहार मे आने के उपरान्त उसमे कुछ दोष भी दिखाई दिए। इसकी मुख्य-मुख्य कमियाँ और दोष निम्नांकित थे :—

(१) इस व्यवस्था का सबसे बडा दोष वर्ग-भाड़ो और डिब्बे भरे माल के भाड़ो मे परस्पर लगाव का अभाव था। डिब्बे भरे माल के लिए चालू किए गए १३ वर्गों मे परस्पर किसी सम्बन्ध का भारी अभाव था। इस बात की आवश्यकता बताई गई कि वर्ग-भाड़ो और डिब्बे भरे माल के वर्गों मे परस्पर कोई निश्चित सम्बन्ध और लगाव होना चाहिए।

(२) यद्यपि नवीन पद्धति के अनुसार दूरेक्षीय पद्धति स्वीकार करली गई थी, किन्तु यह दूरेक्षीयता व्यवहार की कसौटी पर कसी जाने पर अपूर्ण सिद्ध हुई। इस दूरेक्षीयता का प्रथम चरण (Leg) ३०० मील रक्खा गया था जो अधिकतर वस्तुओ के जाने की औसत दूरी से कम था। बहुधा वस्तुओ का गमनागमन ४०० मील की दूरी तक बताया गया। कुछ वस्तुएँ इससे भी अधिक दूरी तक जाती हुई पायी गई। लोहा-इस्पात ५८० मील, चावल ६०० मील, बिजली उपकरण ६०० मील, रंग लेप ६०० मील तथा सीमेंट की ढली हुई वस्तुएँ १००० मील जाती हुई देखी गई। यह भी बताया गया कि औद्योगिक प्रगति के साथ साथ माल और वस्तुओ के जाने आने की दूरी बढ़ती जाती है। अतएव यह कहा गया कि तत्कालीन दूरेक्षीय भाड़ा-व्यवस्था का प्रथम चरण छोटे-छोटे टुकडो मे बाँट देना चाहिए और उसका न्यूनतम अन्तर बढ़ा देना चाहिये।

(३) नवीन-नीति के अनुसार किसी भी माल के आने-जाने की चरम-सीमा १,५०० मील मान ली गई थी। वस्तुतः कुछ वस्तुएँ २,००० मील से भी अधिक दूर तक जाती-आती हैं। यह देखा गया कि ऐसे दूरवर्ती यातायात को १,५०० मील

के उपरान्त रेलें बिना कोई भाड़ा लिए ले जाती हैं। इस बात की आवश्यकता बताई गई कि वस्तुओं के आवागमन की इस सीमा को हटा देना चाहिए।

(४) २० वीं शताब्दी में जब-जब रेल-भाड़ों में परिवर्तन किया गया तब-तब भाड़ों में वृद्धि की गई। यहाँ तक कि द्वितीय युद्ध के पूर्व की अपेक्षा भाड़ों में ५०% की वृद्धि आँकी गई। इस नीति को रेल-व्यवसाय के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध बताया गया। रेल-व्यवसाय का यह सर्वमान्य एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त है कि यातायात वृद्धि के साथ भाड़े की दरों में कमी होनी चाहिए।

(५) दूरेक्षीय पद्धति अपनाने के उपरान्त अल्प-दूरी के भाड़े (Short-distance charge) लगाना अनावश्यक बताया गया। सीमान्त भाड़े और यानान्तरण भाड़े दोषपूर्ण बताये गये। इन भाड़ों का सर्वथा अन्त करने की माँग की गई।

(६) १९४२ से पूर्व विशेष प्रकार के सस्ते स्टेशन भाड़े स्थानीय औद्योगिक उन्नति के निमित्त लगाए जाते थे जिन्हें समाप्त कर दिया गया था। यह नीति औद्योगिक विकास के लिए हानिकारक बताई जाने लगी और इस सम्बन्ध में रेलों को कुछ अधिकार देने की माँग की गई।

(७) रेल दायित्व और स्वामी दायित्व दरों के बीच अन्तर जोखिम से अधिक बताया गया।

(८) डिब्बे भरे माल के लिये सस्ते भाड़े केवल कुछ ही वस्तुओं के लिये उपलब्ध थे। उन्हें सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिये लागू करने का सुझाव दिया गया।

(९) कुछ लोग देशीय जहाजों में आने जाने वाले देशी माल के लिए सस्ते रेल-भाड़ों की माँग उपस्थित करने लगे। पिछड़े हुए क्षेत्रों एवं कुटीर-उद्योगों की वस्तुओं के लिए रेलों द्वारा सहायता और प्रोत्साहन की नीति अपनाने को कहा गया।

विविध क्षेत्रों से रेल-भाड़ा नीति के सुधार की माँग की गई। सीमा शुल्क आयोग (Fiscal Commission) ने १९५० में और कर जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने १९५३-५४ में रेल-भाड़ा नीति के संशोधन की विशेष माँग की। इस माँग पर विचार करने के लिये जून १९५५ में रेल-भाड़ा व्यवसाय जाँच समिति (Railway freight structure enquiry committee) की नियुक्ति की गई। इस समिति ने देश की परिवर्तित परिस्थितियों का ध्यान रखते हुये और देश के विभिन्न हितों से विचार-विमर्श करने के उपरान्त एक वैज्ञानिक वस्तु वर्गीकरण, सुविकसित भाड़ा-व्यवस्था एवं सुसङ्गत भाड़ा नीति निर्धारित की। समिति ने अप्रैल १९५७ में अपने सुझाव भारत सरकार के सामने रखे। अगस्त १९५७ में समिति के सुझावों पर संसद ने विचार किया और उसे अन्तिम रूप दिया। समिति के सुझावों के अनुसार नया वर्गीकरण और भाड़ा-दरें १ अक्टूबर १९५८ से लागू की गईं। यह नया वर्गीकरण और नई दरें निम्नांकित हैं:—

वस्तु-वर्ग एव भाडे की दरे (प्रति मन), रुपये व नये पैसो मे

वर्ग संख्या	दूरी (मीलों मे)			
	१–२५	५०१–५१०	२००१–२०५०	२६५१–३०००
२२ ५–अ	० ११	०·६६	१·४६	१·६२
२५ ०–अ	० १२	० ७४	१ ६२	१ ८०
२७ ५–अ	० १३	० ८१	१ ७८	१ ६८
३० ०–अ	०·१४	० ८६	१ ६४	२ १६
३२ ५–अ	० १५	० ६६	२·१०	२·३४
३५·०–अ	०·१६	१ ०३	२ २६	२·५२
३७ ५–अ	० १८	१·११	२·४३	२·७०
४०·०–अ	० १६	१·१८	२ ५६	२·८८
४२·५–अ	०·२०	१·२५	२·७५	३·०६
४५·०–अ	० २१	१·३३	२ ६१	३·२४
५०·०–अ	० २४	१·४८	३ २४	३·६१
५२ ५–अ	०·२५	१ ५५	३ ४०	३·७६
५५ ०–अ	० २६	१·६२	३ ५६	३·६७
५७ ५–अ	० २७	१ ७०	३ ७२	४·१५

(शेष टेबिल अगले पृष्ठ पर)

इसके अन्तर्गत किए गए मुख्य सुधार और परिवर्तन निम्नलिखित हैं :—

(१) पहले वर्ग-सख्या सामान्य अको मे लिखी जाती थी । अब प्रत्येक वर्ग प्रतिशत सख्या म लिखा जाता है । इसका लाभ यह है कि प्रत्येक वर्ग का अन्य वर्गो से सम्बन्ध स्पष्ट जाना जा सकता है । किसी वर्ग से कोई अन्य वर्ग कितना ऊँचा है अथवा कितना नीचा यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है । प्राचीन वर्गो के ६ वे वर्ग को १०० मानकर इन सख्याओ को प्रदर्शित किया गया है ।

(२) पहले १५ वर्गो का स्थान अब ३१ वर्गो ने ले लिया है जिन्हे 'ब' वर्ण द्वारा सबोधित किया गया है । इसी भाति १३ डिब्बे भार-दरो के स्थान पर १४ वर्ग चालू किये गये हैं जिन्हे 'अ' वर्ण से सम्बोधित किया गया है ।

'अ' वर्ण से सम्बोधित किये जाने वाले वर्ग उन वस्तुओं के हैं जिनमे खाद्यान्न, खाद इत्यादि जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ सम्मिलित है । शेष ३१ वर्ग जो 'ब' वर्ण से सम्बोधित किए गए हैं अन्य पदार्थो से सम्बन्धित हे । इस भाति कुल वर्ग सख्या ४५ है ।

(३) अब लगभग सभी वस्तुओ के लिए डिब्बे भार वर्ग (Wagon load classification) उपलब्ध हैं ।

वस्तु-वर्ग एवं भाड़े की दरें (प्रति मन), रुपये व नए पैसों में

वर्ग संख्या	दूरी (मीलों में)			
	१-२५	५०१-५१०	२००१-२०५०	२६५१-३०००
५२·५-व	०·१८	१·६०	३·७१	४·१०
५५·०-व	०·१९	१·६८	३·८९	४·३०
५७·५-व	०·२०	१·७५	४·०७	४·४९
६०·०-व	० २०	१·८३	४·२४	४·६९
६२·५-व	०·२१	१·९१	४·४२	४ ८८
६५·०-व	०·२२	१·९८	४·६०	५·०८
६७·५-व	०·२३	२·०६	४·७७	५·२७
७०·०-व	०·२४	२·१४	४·९५	५·४७
७२·५-व	०·२५	२·२१	५·१३	५·६६
७५·०-व	०·२६	२·२९	५·३०	५·८६
७७·५-व	०·२६	२·३६	५·४८	६ ०५
८०·०-व	०·२७	२ ४४	५·६६	६ २५
८२·५-व	०·२८	२·५२	५·८३	६·४४
८५·०-व	०·२९	२·५९	६·०१	६ ६४
८७·५-व	०·३०	२·६७	६·१९	६·८३
९०·०-व	०·३१	२·७५	६·३६	७.०३
९२·५-व	०·३१	२·८२	६·५४	७·२२
९७·५-व	०·३३	२ ९७	६·८९	७·६१
१००·०-व	०·३४	३·०५	७·०७	७ ८१
१०५·०-व	० ३६	३ २०	७·४२	८·२०
११०·०-व	०·३७	३ ३६	७·७८	८·५९
११५·०-व	०·३९	३ ५१	८·१३	८·९८
१२०·०-व	०·४१	३ ६६	८·४९	९·३७
१२५·०-व	०·४३	३·८१	८·८४	९·७६
१३०·०-व	०·४४	३·९७	९·१९	१० १५
१३५·०-व	०·४६	४ १२	९·५४	१०·५४
१४०·०-व	०·४८	४ २७	९·९०	१०·९३
१४५·०-व	०·४९	४ ४२	१०·२५	११·३२
१५५·०-व	०·५३	४ ७३	१०·९६	१२·११
१७०·०-व	०·५८	५·१९	१२·०२	१३·२८
१८०·०-व	०·६१	५ ४४	१२·७३	१४·०६

(४) कुटीर उद्योगों के उत्पादनों अथवा ऐसी वस्तुओं को जो जनसाधारण के रहन-सहन को खर्चीला बना देती है निम्न श्रेणी मे रख दिया गया है। ऐसी १०९ वस्तुओं का वर्गीकरण नीचा किया गया है।

(५) लगभग सभी वस्तुओं के लिए रेल-जोखिम वर्गीकरण (RR) उपलब्ध किया गया है और केवल कुछ नाशवान पदार्थों, कोयला, ईंधन, मिट्टी, रेत इत्यादि के लिए स्वामी-जोखिम वर्ग रखे गए हैं।

(६) अनुपूरक (Supplementary charge), सीमान्त भाड़े, यानान्तरण भाड़े, अल्प दूरी भाड़े तथा घाट करों का सर्वथा अन्त कर दिया गया है।

(७) भाड़ा लगाने की न्यूनतम दूरी २० मील के स्थान पर २५ मील कर दी गई है, किन्तु पहले प्रत्येक रेल इकाई को अलग इकाई मान कर इसकी गणना की जाती थी। अब ऐसा नियम नहीं रहा। कई रेलों की यात्रा में भी अब २५ मील की न्यूनतम दूरी मानी जाती है।

(८) 'छोटे चालानों (Small consignments) का भाड़ा लगाने का न्यूनतम भार पहले २० मन था, अब उसे १० मन कर दिया गया है, किन्तु उसके अधि-भार (Surcharge) को ६½% के स्थान पर १०% कर दिया है।

(९) कोयला और ईंधन को एक अलग श्रेणी में रख दिया है और इसके उच्चतम भाड़े की सीमा ३० रु० प्रति टन बाँध दी गई है।

(१०) पशुओं के लिए दूरेक्षीय पद्धति के अनुसार एक अलग दर रखी गई है।

(११) पार्सल और यात्रियों के सामान के भाड़ों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं।

(१२) पहले भाड़े के लिए दूरी का प्रथम चरण ३०० मील का था। अब वह २५ मील है। २५ मील के आगे ५०० मील तक दूरेक्षीय सिद्धान्त ५ मील के अन्तर से, ५०१ मील से आगे २००० मील तक १० मील के अन्तर से और २००० मील से ऊपर ३००० मील तक ५० मील के अन्तर से लागू किया जाता है।

सन् १९५९ से भारतीय रेलों ने दाशमिक प्रणाली को अपनाया। फलस्वरूप १५ अगस्त १९५९ से रेल भाड़ा दरों के लिए मान का किलोग्राम मनों के स्थान पर किलोग्राम में और दूरी मीलों के स्थान पर किलोमीटरों में लगाए जाने लगा है। इस परिवर्तन के अनुसार नूतन भाड़ा दरें निम्नांकित तालिका में दिखाई गई हैं :—

वर्ग संख्या	भाड़े की दर प्रतिमन		वर्ग संख्या	भाड़े की दर प्रतिमन	
	१-४० किलो०	४९५१-५००० किलो०		१-४० किलो०	४९५१-५००० किलो०
	रु०	रु०		रु०	रु०
			५२.५-ब	०.४७	११.१८
२२.५-अ	०.२८	४.४३	५५.०-ब	०.५०	११.७१
			५७.५-ब	०.५२	१२.२४
२५.०-अ	०.३१	४.९२	६०.०-ब	०.५४	१२.७७
			६२.५-ब	०.५६	१३.३१
२७.५-अ	०.३४	५.४१	६५.०-ब	०.५९	१३.८४
			६७.५-ब	०.६१	१४.३७
३०.०-अ	०.३८	५.९१	७०.०-ब	०.६३	१४.९०
			७२.५-ब	०.६५	१५.४४
३२.५-अ	०.४१	६.४०	७५.०-ब	०.६८	१५.९७
			७७.५-ब	०.७०	१६.५०
३५.०-अ	०.४४	६.८९	८०.०-ब	०.७२	१७.०३
			८२.५-ब	०.७४	१७.५६
३७.५-अ	०.४७	७.३८	८५.०-ब	०.७७	१८.१०
			८७.५-ब	०.७९	१८.६३
४०.०-अ	०.५०	७.८८	९०.०-ब	०.८१	१९.१६
			९२.५-ब	०.८३	१९.६९
४२.५-अ	०.५३	८.३७	९७.५-ब	०.८८	२०.७६
			१००.०-ब	०.९०	२१.२९
४५.०-अ	०.५६	८.८६	१०५.०-ब	०.९५	२२.३५
			११०.०-ब	०.९९	२३.४२
५०.०-अ	०.६३	९.८५	११५.०-ब	१.०४	२४.४८
			१२०.०-ब	१.०८	२५.५५
५२.५-अ	०.६६	१०.३४	१२५.०-ब	१.१३	२६.६१
			१३०.०-ब	१.१७	२७.६८
५५.०-अ	०.६९	१०.८३	१३५.०-ब	१.२२	२८.७४
			१४०.०-ब	१.२२	२९.८१
५७.५-अ	०.७२	११.३२	१४५.०-ब	१.३१	३०.८७
			१५५.०-ब	१.४०	३३.००
			१७०.०-ब	१.५३	३६.१९
			१८०.०-ब	१.६२	३८.३२

रेल-भाड़ा न्यायाधिकरण (Railway Rates Tribunal)

रेल स्वभावत. ही ऐसा व्यवसाय है जिसकी भाडे सम्बन्धी नीति पर सरकारी नियन्त्रण और देख-रेख नितान्त आवश्यक है। सभी देशो मे रेल-भाड़ा-नीति के

नियन्त्रण के लिए किसी न किसी प्रकार का सरकारी तंत्र अवश्य होता है। भारतीय रेलों के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है।

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति विशेष के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाने के विरुद्ध भारतीय रेल कानून १८६० में आवश्यक विधान प्रारम्भ से ही किए गए थे, किन्तु ये इतने अस्पष्ट थे कि रेलों पर विदेशी व्यापार व उद्योग-धन्धों का पक्षपात करने का लाँछन बहुधा लगाया जाता था। सन् १९२१ में आकवर्थ समिति ने रेलों और जनता के बीच के झगडों का निबटारा करने के उद्देश्य से रेल-भाडा न्यायाधिकरण नियुक्त करने का सुझाव रखा। किन्तु राष्ट्रीयकरण की नीति स्वीकार करने के उपरान्त सरकार ने उस समय ऐसे न्यायाधिकरण की कोई आवश्यकता न समझी और उसके स्थान पर एक भाडा समिति स्थापित की। यद्यपि इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए, किन्तु इसमें अनेक दोष भी थे जिनके कारण यह अधिक लोकप्रिय न हो सकी।

इस व्यवस्था का सबसे बडा दोष समिति का परामर्शदात्री स्वरूप था। राष्ट्रीयकरण की नीति का अन्तिम निर्णय हो चुका था। सरकारी रेलें अपने एकाधिकार के नशे में मनमाना किराया-भाडा लगा सकती थीं। अतएव एक निष्पक्ष सगठन (Body) की आवश्यकता थी जो कि जनता के प्रति न्याय कर सके। इस समिति के निर्णय को मानना सरकार के लिये अनिवार्य नहीं था। अनेक अवसरों पर समिति के निर्णयों की सरकार उपेक्षा कर जाती थी अथवा उसे आंशिक और संशोधित रूप में स्वीकार करती थी। इससे जनता सन्तुष्ट न थी। इस समिति के अधिकार भी सीमित थे। दूसरा दोष समिति की लम्बी एवं दोषपूर्ण कार्य-विधि थी। कोई भी शिकायत सर्वप्रथम सरकार के पास भेजी जाती थी। यदि सरकार उस शिकायत को समिति के पास भेजना उचित नहीं समझती, तो शिकायत करने वाले के लिए कोई मार्ग नहीं रह जाता था। सरकार कोई शिकायत समिति के पास भेज भी दे तो यह आवश्यक नहीं था कि समिति के अन्तिम निर्णय को वह स्वीकार कर ही ले। समिति के निर्णय भी बडी देर में हो पाते थे। कभी-कभी वर्षों लग जाते थे। पाँच-छः महीनों का समय लगना तो साधारण बात थी। तीसरा दोष समिति का दोषपूर्ण सगठन था। समिति के तीन सदस्यों में से एक रेलों का प्रतिनिधि होता था जो बहुधा कोई रेल-कर्मचारी ही होता था। ऐसा व्यक्ति कभी निष्पक्ष भाव से काम नहीं कर सकता था। चौथी कमी इस समिति की यह थी कि शिकायत करने वाले को अपनी शिकायत के समर्थन में प्रमाण व साक्ष्य उपस्थित करना पडता था। इसके लिए उसे बहुत से आँकडों की आवश्यकता पडती थी जो बहुधा उसे उपलब्ध नहीं होते थे। रेल कर्मचारियों के अधिकार में हर प्रकार के आँकडे रहते थे। अतः वे अपने पक्ष का सरलता से समर्थन कर सकते थे। जनता के लिए यह बडी भारी बाधा थी। समिति का निर्णय अन्तिम माना जाता था। उसके निर्णय के विरुद्ध अपील (Appeal) नहीं हो सकती थी।

इन दोषो के कारण समिति जनता की विश्वासपात्र न बन सकी और जनता की माँग एक निष्पक्ष रेल भाड़ा न्यायाधिकरण के निमित्त जारी रही। अन्ततोगत्वा भारतीय रेल (सशोधन) कानून १९४८ के द्वारा सरकार ने रेल-भाड़ा न्यायाधिकरण स्थापित किया। उक्त कानून ४ अप्रेल १९४९ से लागू हुआ। १ नवम्बर १९४९ से न्यायाधिकरण ने अपना कार्य आरम्भ किया। प्रारम्भ से इसका मुख्यालय (Head Office) मद्रास मे था, किन्तु अब उसके मुख्यालय का स्थान नियत करना भारत सरकार की इच्छा पर निर्भर है। किसी भी सुविधाजनक स्थान पर न्यायाधिकरण अपनी बैठके बुला सकता है। भारतीय रेल-कानून की ३४ से ४६-स तक धाराओ मे न्यायाधिकरण के कार्य और अधिकारो का विधान है।

न्यायाधिकरण का सगठन

मूल विधान के अन्तर्गत न्यायाधिकरण के तीन सदस्य होते थे, जिनमे से एक उसका सभापति समझा जाता था। ये तीनो ही सदस्य निष्पक्ष व्यक्ति होते थे। न्यायाधिकरण की सहायता के लिए चार पंचो का भी विधान था। इसके लिए केन्द्रीय सरकार को दो पंच-सूचियाँ बनानी पडती थी। प्रथम पंच-सूची मे ६० ऐसे व्यक्तियो के नाम होते थे जो व्यापार, उद्योग तथा कृषि-हितो के प्रतिनिधि समझे जाते थे। यह सूची भारत वाणिज्य-मण्डल एव उद्योग संघ (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry) की अनुमति से बनाई जाती थी। द्वितीय पच-सूची मे रेल हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले ३० व्यक्तियो की नामावली होती थी। प्रत्येक शिकायत की सुनवाई के समय न्यायाधिकरण का सभापति इन पंच सूचियो मे से प्रत्येक से दो-दो पच मनोनीत करता था। ये पंच न्यायाधिकरण को परामर्श दे सकते थे, उन्हे मत देने का अधिकार नही था।

न्यायाधिकरण का यह सगठन दोषपूर्ण था। इसके तीनो सदस्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता रखने वाले और वकालत का अनुभव प्राप्त व्यक्ति होते थे। अतएव उनके निर्णय मे कानूनी बातो पर विशेष ध्यान दिया जाता था; वाणिज्य तत्वो और औद्योगिक प्रथाओ की उपेक्षा की जाती थी। सम्भवत: विभिन्न हितो का प्रतिनिधित्व करने के विचार से चार पचो की सहायता ली जाती थी, किन्तु इन पंचो को मत देने का कोई अधिकार नही होता था। ये अपना परामर्श देकर चले जाते थे और जब न्यायाधिकरण के सदस्य परस्पर वाद-विवाद द्वारा वास्तविक निर्णय करते थे तब उनकी अनुपस्थिति मे उनके मत का कोई मूल्य नही रहता था। अतएव यह व्यवस्था सर्वथा असफल समझी गयी। इन दोषो को दूर करने के निमित्त रेल-भाड़ा नीति निर्मात्री समिति (Railway Freight Structure Enquiry Committe) सन् १९५७ के सुझावो के अनुसार न्यायाधिकरण का संगठन बदल दिया गया है। परिवर्तित विधान के अनुसार न्यायाधिकरण का एक सभापति और दो सदस्य होते है, जिन्हे केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है। नियुक्त करते समय भारत सरकार उनकी नियुक्ति की अवधि एव नियम-निषेध (Terms and Conditions) की भी

घोषणा करती है। सदस्यों का कार्य-काल भारत सरकार की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। न्यायाधिकरण का सभापति ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) अथवा किसी उच्च न्यायालय (High Court) का न्यायाधीश रह चुका हो। दोनों सदस्य ऐसे व्यक्ति होते हैं जो भारत सरकार की निगाह में रेल-सञ्चालन का अनुभव प्राप्त हो अथवा जिन्हें देश के वाणिज्य, उद्योग और आर्थिक विषयों का विशेष ज्ञान हो। नए विधान के अन्तर्गत पद-व्यवस्था का अन्त कर दिया गया है।

अधिकार

न्यायाधिकरण को दीवानी अदालत (Civil Court) के समान पद व अधिकार प्राप्त है। वह शपथ दिलाकर साक्ष्य ले सकता है, गवाहों को उपस्थित होने के लिए बाध्य कर सकता है तथा प्रत्येक पक्ष से गुप्त बात खोलने और प्रामाणिक प्रलेख (Documents) उपस्थित करने का आग्रह कर सकता है। न्यायाधिकरण को रेलों के विरुद्ध निम्न प्रकार की शिकायतें सुनने का अधिकार है :—

(क) किसी भाँति अनुचित पक्षपात करने,
(ख) किन्हीं दो स्टेशनों के बीच किसी वस्तु के लिए अनुचित भाड़े लगाये जाने,
(ग) दूसरे ढंग से किसी भी प्रकार के अनुचित भाड़े लेने,
(घ) नये स्टेशन भाड़े लगाने की स्वीकृति न देने, अथवा
(ङ) किसी वस्तु को अनुचित ऊँची श्रेणी में रखने।

इस प्रकार के अनुचित भाड़े लगाये गये हों, तो न्यायाधिकरण को उचित भाड़े निश्चित करने का भी अधिकार है, किन्तु इस भाँति निश्चित किये गये भाड़े सरकार द्वारा निश्चित की गई न्यूनतम और उच्चतम सीमाओं के अन्तर्गत ही होने चाहिए। इस भाँति न्यायाधिकरण को अनुचित पक्षपात और अनुचित भाड़ों की शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने का अधिकार दिया गया है। वस्तुओं के वर्गीकरण अथवा पुनर्वर्गीकरण का अधिकार न्यायाधिकरण को नहीं दिया गया, यह अधिकार केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में रखा है। इसी भाँति वर्ग भाड़ों अथवा अन्य भाड़ों को बढ़ाने घटाने का अधिकार भी केन्द्रीय सरकार ने अपने ही पास रखा है, न्यायाधिकरण को नहीं दिया। न्यायाधिकरण को स्थान-शुल्क (Wharfage) और विलम्ब शुल्क (Demmurage) लगाने का भी अधिकार नहीं है। यात्री ले जाने का किराया, उनके सामान का किराया तथा पार्सल, सैनिक यातायात व रेलों के निजी सामान का भाड़ा लगाना भी न्यायाधिकरण के अधिकार क्षेत्र के बाहर हैं। इन बातों के सम्बन्ध में भारत सरकार चाहे तो न्यायाधिकरण से पूछ-ताछ कर सकती है। ऐसा कोई निर्देश किये जाने पर न्यायाधिकरण उन विषयों पर अपना प्रतिवेदन दे सकता है।

कार्य-विधि

रेल-भाडा से सम्बन्धित कोई भी शिकायत न्यायाधिकरण के पास किसी व्यक्ति विशेष द्वारा, रेल अधिकारियों द्वारा अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा भेजी जा सकती है। सभी आवेदन-पत्र न्यायाधिकरण के सचिव के नाम भेजने होते हैं। प्रत्येक आवेदन-पत्र के साथ १०० रु० फीस और ५० रु० खर्च के लिए भेजने आवश्यक हैं। न्यायाधिकरण एक रजिस्टर रखता है, जिसमे सभी शिकायतें क्रमशः लिखी जाती हैं। केन्द्रीय सरकार की शिकायतें अथवा पत्र एक अलग रजिस्टर में चढाये जाते हैं। शिकायत की एक प्रतिलिपि प्रतिवादी (Respondent) के पास भेजी जाती है और उससे तीस दिन के भीतर उत्तर माँगा जाता है। यदि उक्त अवधि के अन्तर्गत वह उत्तर नहीं देता, तो न्यायाधिकरण को उसकी अनुपस्थिति में ही वादी (Complainant) की शिकायत सुनने का अधिकार है। प्रतिवादी को अपने उत्तर के साथ ५० रुपये देने आवश्यक हे। न्यायाधिकरण का सचिव प्रतिवादी से प्राप्त उत्तर की एक प्रतिलिपि वादी के पास भेज देता है, जिसे १४ दिन के अन्तर्गत अपना उत्तर देने का अधिकार है। वादी का जो उत्तर आता है उसकी एक प्रतिलिपि तुरन्त प्रतिवादी के पास भेज दी जाती है।

इस भाँति दोनो पक्षों के उत्तर-प्रत्युत्तरों का अन्त होने पर, सुनवाई की कोई तिथि, समय और स्थान नियत कर दिये जाते है। उक्त तिथि को दोनों पक्षों का उपस्थित होना अनिवार्य है।

न्यायाधिकरण बहुधा बहुमत द्वारा अपना निर्णय देता है। उसका वह निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जाता है। रेल अधिकारी उसके निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। न्यायाधिकरण को अधिकार है कि वह अपना निर्णय लागू करने के लिए किसी स्थानीय दीवानी-अदालत (Civil Court) को भेज दे।

आलोचना

न्यायाधिकरण कई वर्षों से काम कर रहा है। पिछले वर्षों के अनुभव से ज्ञात होता है कि न्यायाधिकरण की कार्य-प्रणाली सरल नहीं है। यही कारण है कि बहुत कम लोग न्याय कराने के लिए उसके पास जाते है। अपने जीवन के प्रथम वर्ष (१९४९-५०) मे उसके पास कोई नियमानुसार शिकायतें नहीं भेजी गई। जो कुछ शिकायतें पहुँची वे सामान्य पत्र-व्यवहार द्वारा भेजी गई। उनको यह कहकर लौटा दिया गया था कि नियमानुसार भेजने पर उन पर विचार किया जायगा। इस उत्तर को पाकर उनमे से कोई शिकायत न्यायाधिकरण के पास सुनवाई के लिए वापस नहीं गई। इतने बड़े देश मे १९५०-५१ मे ५ (दो सरकारी), १९५१-५२ मे ८ (दो सरकारी), १९५२-५३ मे ४, १९५३-५४ मे ४ तथा १९५४-५५ मे ५ (एक सरकारी) शिकायतों का न्यायाधिकरण के पास आना इस बात का सूचक है कि जनता न्यायाधिकरण की कार्य-प्रणाली से विशेष प्रभावित नहीं हुई है। प्रति-वर्ष

अनेक शिकायतें पत्रो द्वारा आती रहती हैं। नियमानुसार न भेजी जाने के कारण उन पर न्यायाधिकरण कोई विचार नही करता। इससे प्रतीत होता है कि न्यायाधिकरण की कार्य-विधि कुछ सरल होनी चाहिए। व्यापारी व्यवसायी का समय और पैसा बहुमूल्य होता है। यदि उसे शीघ्र और सस्ता न्याय उपलब्ध है, तब तो वह उसकी ओर लालायित होगा, अन्यथा वह सब अन्याय सहकर भी चुप बैठ रहेगा। भारत जैसे निर्धन देश मे इस प्रवृत्ति का होना और भी स्वाभाविक है। प्रत्येक शिकायत करने वाले को आवेदन-पत्र के साथ १५० रु० देने पडते हैं। यह बहुत अधिक हैं। इस देश मे सस्ते न्याय और सस्ती वस्तुओ की माँग है, मँहगे की नही। इस दृष्टि से न्यायाधिकरण की स्थापना रेल मंत्रणा समिति से उत्तम नही कही जा सकती।

न्यायाधिकरण के निर्णय भी शीघ्र नही होते। १९५०-५१ मे पाँच प्रार्थनापत्र (जिनमे दो सरकारी थे) न्यायाधिकरण के पास पहुँचे। उनमे से एक पर भी न्यायाधिकरण उस वर्ष मे निर्णय न दे सका। उनका निर्णय अगले वर्ष मे हुआ। इसी भाँति १९५२-५३ मे आई हुई चारो शिकायते अनिर्णीत रही। इसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी एक वर्ष से भी अधिक समय लग जाता है। यह बहुत अधिक है। साधारणत: दो-तीन महीने से अधिक समय नही लगना चाहिए।

न्यायाधिकरण के अधिकार सीमित हैं। यही कारण है कि वह अधिक लोकप्रिय नही हो सका। न्यायाधिकरण को भाडा के उचित-अनुचित-स्तर के सम्बन्ध म कुछ कहने का अधिकार नही है। इससे इस बात का अधिकृत रूप से ज्ञान नही हो पाता कि सरकार द्वारा लगाए हुए भाडे जनता अथवा माल की देय-शक्ति को देखते हुए अनुचित हैं अथवा उचित। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है न्यायाधिकरण को सवारियो के किराए, उनके सामान के भाडे तथा पार्सल, सैनिक यातायात, रेल-यानायात के भाडे एव विलम्ब शुल्क लगाने का भी अधिकार नही दिया गया। न न्यायाधिकरण को भाडो के उचित-अनुचित स्तर के सम्बन्ध मे कुछ कहने और न वस्तु-वर्गीकरण मे परिवर्तन का ही अधिकार है। यह उसके विधान मे एक भारी कमी है। न्यायाधिकरण को किराए-भाडे के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिये। ब्रिटेन के परिवहन न्यायाधिकरण (Transport Tribunal) और सयुक्त-राष्ट्र के वाणिज्य आयोग (Inter-State Commerce Commission) को आन्तरिक परिवहन के सभी साधनो से किराए-भाडे एव सेवा के नियन्त्रण का अधिकार है। ऐसे अधिकारो की भारत मे भी आवश्यकता है। रेलो के अतिरिक्त सडक और विमान परिवहन के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त न्यायाधिकरण को सभी परिवहन के साधनो के भाडो की देख-रेख के सम्बन्ध मे अधिकार दिए जाने भी न्यायसंगत हैं। गत वर्षों के अनुभव के आधार पर हमे न्यायाधिकरण के विधान एवं अधिकारो मे परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है ताकि यह संस्था देश के लिए अधिक लोकप्रिय हो सके।

अध्याय १२

भारतीय रेलें

(Indian Railways)

(१) विकास क्रम (Development)

पूर्वाभास

भारतीय रेलों का इतिहास समझने के लिए हमे तत्कालीन भारतीय परिस्थितियो पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के उपरान्त अंग्रेजी साम्राज्य के सुदृढ होने तक लगभग एक शताब्दी का समय भारतीय इतिहास मे युद्ध और अशान्ति का समय था। भारत के नवीन शासक अभी तक सैनिक व राजनीतिक कार्यों मे इतने सलग्न थे कि उन्हे जन-हितकारी रचनात्मक कार्यों तथा व्यापार व परिवहन की व्यवस्था करने के लिए अवसर नही था। देश मे एक तो आधुनिक अर्थ मे सडकें थी ही कम और जो कुछ थी वे अशान्ति काल मे लौटती हुई सेनाओ द्वारा पददलित हो चुकी थी। केवल जलमार्ग ही इस समय देश मे परिवहन के एक मात्र साधन थे जो कि भयानक होते थे तथा अति मन्द गति से लम्बे समय मे माल को ले जा सकते थे। देश मे हजारो मील लम्बे क्षेत्र ऐसे थे जिनमे अच्छी सडको के अभाव मे, परिवहन के एकमात्र साधन पशु (भैंसे, बैल, ऊँट इत्यादि) थे। नागपुर और अमरावती जैसे आन्तरिक भागो से माल गंगा के मार्ग से बंगाल के बन्दरगाहो तक लाया जाता था। इसी भाँति उत्तरी भारत से सूरत और बम्बई के बन्दरगाहो को माल आता था। नागपुर और अमरावती की रुई ५०० मील चल कर बैलो द्वारा मिर्जापुर जाती थी। एक बैल १६० पौंड माल लेकर सात मील प्रति दिन की चाल से दो महीने से अधिक समय मे अपनी यात्रा पूर्ण कर पाता था। इस भाँति रुई ले जाने का परिवहन व्यय लगभग १७½ पौण्ड (लगभग १७१ रुपए) प्रति टन पड़ता था। दुर्भाग्यवश मार्ग मे वर्षा हो गई तो बेचारे बैल की जान ही चली जाती थी। इसी भाँति गंगा के मैदान से आगरा, अजमेर, अहमदाबाद होकर, मध्य भारत से बुरहानपुर होकर और दक्षिणी भारत से बम्बई और सूरत को बैलो वाले चौपहियों अथवा केवल बैलो की टोलियो (Caravan) द्वारा माल जाता था। ये कारवाँ दस-

बारह हजार बैलों अथवा सौ-दो-सौ चौपहिया के होते थे जिनकी कि चाल अत्यन्त धीमी होती थी।

ऐसी स्थिति मे एक गांव और दूसरे गांव के मूल्यो मे भारी अन्तर होता था। नाप-तौल के मापदण्ड भिन्न थे, वाणिज्य-व्यवसाय सम्बन्धी रीति-नीति विभिन्न थी, देश के विभिन्न भागो म सिक्के भिन्न-भिन्न थे। मार्ग म माल पर अनेक स्थानो पर चुङ्गी और कर देने पडते थे। देश के एक भाग म अन्न की प्रचुरता थी और उसका मूल्य अत्यन्त कम था, किन्तु सौ मील के अन्तर पर अन्नाभाव स मूल्य अत्यन्त तेज थे और कुछ और आगे स्थिति सकटापन्न थी तथा लोग अकाल की यातनायें भोगते दिखाई देते थे। अनेक क्षेत्र केवल इस कारण उजड हो गए थे कि वहाँ के किसान अपनी उपज को अन्यत्र भेजने म असमर्थ थे।

लार्ड विलियम बैंटिंग (१८२८-१८३५) प्रथम गवर्नर जनरल था जिसका ध्यान सर्वप्रथम परिवहन के साधनो की ओर गया।

प्रथम प्रयत्न

सन् १८३० तक ब्रिटेन और अमेरिका इत्यादि देशो मे रेल परिवहन की सफलता सिद्ध हो चुकी थी।[1] अब हमारे अग्रेज शासको ने भारत मे भी रेलें चलाने का विचार किया। सन् १८३१-३२ मे ससदीय प्रवर-समिति (Parliamentary Select Committee) के सम्मुख ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यो का विवेचन करत समय सर्वप्रथम यह विचार उठा कि मद्रास महाप्रान्त (Presidency) मे रेलें और नहरें बनाने का कार्य प्रारम्भ किया जाए ताकि प्रायद्वीप को अरब सागर के तट से हिन्द महासागर के तट तक सीधा पार किया जा सके। कावेरी नदी की घाटी म १५० मील लम्बी एक रेल की सडक आठ हजार रुपए प्रति मील के हिसाब से कावेरीपट्टम से कैरूर तक बनाने की एक योजना बनाई गई। एक सुविकसित सडक पर समानान्तर पटरियाँ बिछाने का विचार किया गया जिस पर कि गाडी पशु खीचा करेंगे। सरकारी तडाग विभाग (Govt Tank Dept) म भवन निर्माण कार्य के सम्बन्ध म सामान ढोने का कार्य भी रेलो के प्रयोग द्वारा करने का विचार किया गया।

सन् १८३६ मे कैप्टन ए० पी० काटन (Capt A P. Cotton) ने जो कि मद्रास के सिविल इजीनियर थे नहरो तथा अन्य परिवहन के साधनो की अपेक्षा रेलो के महत्त्व पर प्रकाश डाला। उन्होने बम्बई को मद्रास स ८६२ मील लम्बी रेल द्वारा मिलाने की योजना उपस्थित की। यह रेल की सडक मद्रास से बल्लाजाह्नगर, अर्काट, नैलोर, बगलौर, बिलारी और पूना होती हुई बम्बई जाने को थी। यह योजना कालान्तर मे सामान्यत. मजूर हो गई थी। यद्यपि मद्रास पहला प्रान्त था जहाँ रेल सम्बन्धी योजनाये सर्वप्रथम बनी, किन्तु वस्तुत वहाँ रेल चलनी बम्बई और कलकत्ता से कही बाद म प्रारम्भ हुई।

---

१. ब्रिटेन मे रेलें १८२५ मे, फ्रास मे १८२६ मे तथा अमेरिका मे १८३० मे प्रारम्भ हुई थी।

तृतीय श्रेणी का सात ग्राने था। प्रथम गाडी मे बैठने के लिए लोगो मे इतनी उत्सुकता थी कि तीन हजार प्रार्थना-पत्र आ चुके थे।

काल विभाजन

भारतीय रेलो के इतिहास मे पाँच युग स्पष्टतः दिखाई देते हैं।

(१) प्राचीन प्रत्याभूति पद्धति (Old Guarantee System) १८४६ से १८६६ तक,

(२) सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (State Construction and Management) १८६६ से १८८१ तक;

(३) नवीन प्रत्याभूति पद्धति (New Guarantee System) अथवा मिश्रित उपक्रम काल (Mixed Enterprise) १८८१ से १९२१ तक :

(क) पूर्वार्द्ध १८८१ से १९०१ तक;

(ख) उत्तरार्द्ध १९०१ से १९२१ तक,

(४) राष्ट्रीयकरण (Period of Nationalization) १९२१ से १९५० तक;

(५) योजना काल (Period of Planning) १९५० के उपरान्त।

प्रथम युग (१८४६-१८६६)

भारत मे रेल-निर्माण की चर्चा चलने के साथ ही साथ यह मान लिया गया था कि रेले बनाने के लिए भूमि सरकार को देनी पडेगी। भूमि प्राप्त करने का दायित्व रेल-कम्पनियाँ अपने उपर नही ले सकती थी, क्योंकि इस सम्बन्ध मे ब्रिटिश रेलो को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडा था वे किसी से छिपी नहीं थी। भारत सरकार रेलो से होने वाले लाभो का ध्यान रख कर इस उत्तर-दायित्व को ओढने के लिए पूर्णतः प्रस्तुत भी थी। वह सर्वेक्षण और जाँच पडताल का व्यय भी सहन करने को प्रस्तुत थी। वाद-विवाद पूँजी के सम्बन्ध मे था। इसमें सन्देह नही कि देश मे पूँजी की कमी थी। औद्योगीकरण के आदिकाल मे यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति (Managing Agency System) न हुई होती तो उस समय यहाँ कोई भी वृहत्‌काय व्यवसाय स्थापित होना सर्वथा असंभव था, इसमे संदेह नही। फिर रेल जैसे उद्योग का तो कहना ही क्या है। यह एक ऐसा व्यवसाय है जो अपने जीवन के प्रथम वर्षों मे या तो कोई लाभ नही दे सकता अथवा बहुत कम लाभ दे सकता है। अतएव देसी पूँजी से रेलें बनाने का तो स्वप्न मे भी विचार नहीं

किया जा सकता था। ब्रिटेन के पूँजीपति भारतीय रेलों मे पूँजी लगाने को लाला यित थे, क्योंकि वहाँ रेलो की सफलता पूर्णत: सिद्ध हो चुकी थी और सन् १८४३ के लगभग रेल व्यवसाय से लाभ उठाने की लोगो को एक सनक सवार हो रही थी, किन्तु भारत एक अविकसित राष्ट्र था और यहाँ की परिस्थितियों से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। उन्हे इस बात का भय था कि कही उनका रुपया खतरे मे न पड जाय। अत: वे भारत सरकार से किसी प्रकार की प्रत्याभूति (Guarantee) चाहते थे। सरकारी प्रत्याभूति द्वारा रेले बनाने की प्रथा फान्स में सफल सिद्ध हो चुकी थी और भारत मे उसे प्रयोग करके देखने का विचार घर कर गया था। सन् १८४४ में ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डिया पेनिन्सुला रेलवे कम्पनी बन चुकी थी, किन्तु १८४९ तक उनके साथ कोई समझौता नही हो सका। इन चार पाँच वर्षों मे भारत सरकार भली-भाँति समझ गई थी कि बिना सरकारी आश्वासन के कोई पूँजीपति जोखिम उठाने को प्रस्तुत न होगा। १८४३ मे विदेशी कम्पनियाँ ३ प्रतिशत न्यूनतम व्याज पर जितना रुपया लगाने को प्रस्तुत थी, १८४७ मे ५ प्रतिशत व्याज पर उतना रुपया लगाने के लिए विवश थी। ऐसी स्थिति मे भारत सरकार के लिए और कोई चारा नही था, क्योंकि रेल-निर्माण कार्य को सरकार अपने हाथ मे नही ले सकती थी। वाणिज्य-व्यवसायो का सचालन सरकारी परिधि के बाहर समझा जाता था। लार्ड डलहौजी का अनुमान था कि कलकत्ता से दिल्ली तक ही रेल बनने से भारत सरकार को केवल सैनिक संगठन मे लगभग ५०,००० पौंड प्रति वर्ष की बचत हो सकेगी। अन्ततोगत्वा सरकार को न्यूनतम व्याज के सम्बन्ध मे आश्वासन देना उस समय की रेल सम्बन्धी नीति का एक आवश्यक अंग बन गया।

समझौते की शर्तें (Terms of Guarantee)

रेलवे कम्पनियो और सरकार के बीच जो समझौते हुए, उनकी मुख्य प्रतिज्ञाये इस प्रकार थी—

(१) ९९ वर्ष के लिए भारत सरकार ने रेल कम्पनियो को उनके द्वारा लगाई गई पूँजी पर ५ प्रतिशत व्याज देने का वचन दिया और यह निश्चय हुआ कि जितना रुपया कम्पनियाँ सरकारी कोष मे जमा करेंगी- उतने रुपए पर उन्हे उसी समय से उक्त व्याज मिलने लगेगी। ९९ वर्ष के उपरान्त भूमि और रेलो की अन्य अचल सम्पत्ति सरकार की हो जावेगी और चल सम्पत्ति को मूल्य देकर सरकार मोल ले लेगी।

(२) उक्त प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए सरकार को जो रुपया भरना पडेगा, वह आगामी वर्षों मे ५ प्रतिशत से अधिक लाभ होने पर उससे अधिक लाभ के आधे से चुकता करना पड़ेगा और शेष लाभ कम्पनियो को मिल जायगा।

(३) सरकार को यह अधिकार था कि प्रथम २५ वर्ष अथवा ५० वर्ष उपरान्त ६ महीने के अन्तर्गत रेलो को उनके अशो (Shares) के गत तीन वर्ष के लंदन के मूल्य के आधार पर खरीद ले। साथ ही साथ कम्पनियों को भी यह अधिकार दिया गया था कि रेल-निर्माण का कार्य होने के उपरान्त, यदि वे चाहें तो ६ महीने का नोटिस देकर रेलो को सरकार के सुपुर्द कर सकती थी और सरकार को उन्हे उनका लगा हुआ रुपया चुकता करना पडेगा।

(४) जितनी भूमि रेल की सडक और भवन इत्यादि बनाने के लिए रेलो को आवश्यक होगी, वह सरकार ने बिना मूल्य कम्पनियो को देने का वचन दिया।

(५) रेल-मार्ग, अन्तरमापी (Gauge) तथा किराये-भाडे के सम्बन्ध मे अन्तिम अधिकार सरकार ने अपने हाथ मे रखा और रेल-निर्माण कार्य भी सरकार की देख-रेख मे होने का निश्चय हुआ। यदि किन्ही वर्षो मे दस प्रतिशत से अधिक लाभ होगा तो वह किराये-भाडे को कम करने के लिए प्रयुक्त होगा।

(६) कम्पनियो के सचालक मण्डल (Board of Directors) मे एक सरकारी सचालक रहेगा, जिसे मण्डल के निर्णय को रद्द करने का अधिकार था।

(७) डाक-विभाग के कर्मचारियो को रेले मुफ्त ले जायेगी और सेना तथा सैनिक सामान कम किराए-भाडे पर ले जाना होगा।

(८) सरकार ने रेलो के सम्बन्ध मे सभी प्रकार के नियम व कानून बनाने का वचन दिया।

(९) रुपए के लेन-देन के सारे व्यवहार १ शि० १० पैंस की विनिमय दर पर तय होने का समझौता हुआ।

इसमे सन्देह नही कि भारतीय पूँजी के अभाव मे रेलें बनाने के लिए ब्रिटिश पूँजी अनिवार्य थी। किन्तु कई कारणो से यह नीति अत्यन्त दोषपूर्ण सिद्ध हुई और इन दोषो के कारण भारत सरकार को भारी दायित्व उठाना पडा और भारतीय जनता को बडी हानि हुई। सबसे बडा दोष इस समझौते का यह था कि जहाँ कमी को पूरा करने का सरकार का दायित्व था, वहाँ अधिक लाभ सरकार को प्राप्त होने का कोई निर्णय नही था। ५ प्रतिशत की सीमा से अधिक लाभ होने पर, अधिक लाभ का आधा सरकारी ऋण के व्याज अथवा ऋण को देने के लिए जाना था और शेष आधा कम्पनियो को। दस प्रतिशत से अधिक लाभ किराये-भाडे को कम करने के लिए प्रयुक्त किया जाना था। दूसरे, सरकार का दायित्व उसी समय से शुरू हो जाता था जबकि कम्पनियाँ रुपया सरकारी कोष मे जमा कर देती थी, चाहे उस रुपए से काम वर्षो बाद लिया जाय। तीसरा दोष स्थायी विनिमय की दर थी। एक दोष यह भी था कि रेलो का स्वामित्व ग्रहण करने से पूर्व सरकार को रेलो के अशो

के आधार पर मूल्य चुकाना था, न कि उसमें लगी हुई वास्तविक पूंजी के अनुसार ।[1]

शीघ्र ही इस प्रणाली के दोष सरकार और जनता पर प्रकट हो गए और इस नीति की कड़ी आलोचना होने लगी। ५ प्रतिशत की न्यूनतम प्रत्याभूति (Guarantee) का रेल कम्पनियों के ऊपर बड़ा प्रतिक्रियात्मक प्रभाव पड़ा। इससे उनकी मितव्ययता की प्रेरणा का सर्वथा लोप हो गया। वे उपेक्षा के साथ काम करती थी। उन्हे विश्वास था कि उनकी गलतियों का उनकी आय पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। उन्हे इस बात की चिन्ता नही थी कि वे जिस ढंग से कार्य कर रही हैं वह सफल होगा अथवा विफल, वह प्रगति के साथ होता है अथवा नही; उससे उन्हे लाभ होता है अथवा नही इत्यादि। विदेशियों द्वारा दिया हुआ रुपया चाहे किसी लाभदायक काम में लगे चाहे वह हुगली नदी में फेंक दिया जाए, उन्हे इस बात से कोई सरोकार नही था जब तक उन्हे ५ प्रतिशत ब्याज मिलता रहे।[2] मोटे-मोटे वेतन देकर ब्रिटेन से इन्जीनियर बुलाए गए थे। ये लोग मितव्ययता के साथ काम करने के आदी नही थे और इस बात पर भी उन्हे इस प्रकार का आश्वासन दिया गया था कि उनके कार्य पर कड़ा नियन्त्रण नही रखा जाएगा।[3]

---

1. १८७९ में ईस्ट इण्डिया रेलवे के मोल लेने के समय भारत-सरकार को ३२·७५ करोड़ रुपये देने पड़े यद्यपि उसमें कम्पनी के कुल २६·२ करोड़ रुपए ही लगे थे।

2. All the money came from the English Capitalist, and so long as he was guaranteed 5 per cent on the revenues of India, it was immaterial to him whether the funds that he lent were thrown into the Hooghly or converted into brick and mortar." (Rt. Hon'ble William N Massey quoted by Romesh Dutt. *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th edition, pp. 355-6)

3. Lieutenant Colonel Chesney, the then Auditor of Railway accounts wrote, "Railways began in India in the year 1848 when the first staff of engineers were sent out; and I need hardly say that in those days engineers in England were not accustomed to make economy their first consideration. These gentlemen were sent out to make the railways and there was a kind of understanding that they were not to be controlled very closely..." (Quoted by Romesh Dutt in *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th edition, p. 355.)

न तो कम्पनियों का प्रबन्ध ही सुदृढ और मितव्ययतापूर्ण था और न आय-व्यय का हिसाब किताब ढंग से रखा जाता था। लेखा परीक्षण (Audit) का ढंग अपूर्ण था। नियम विरुद्ध व्यय भी समझौते की शर्तों की कमजोरी के कारण कभी-कभी मानने पड़ते थे। रेलों के तत्कालीन लेखा परीक्षक (Auditor) लेफ्टीनेण्ट कर्नल चैसनी (Lt Col Chesney) के अनुसार ईस्ट इण्डिया रेल के २० करोड़ रु० के पूँजीगत व्यय में से ४ करोड़ रुपये अस्वीकृत कर दिए गए थे, किन्तु अन्त में संविदा (Contract) की शर्तों को ध्यान में रखकर उक्त नियम विरुद्ध व्यय की भी स्वीकृति देनी पड़ी[1]। ऐसे अनेक उदाहरण हुए होंगे जो प्रकाश में न आ सके।

कम्पनियों की इस उपेक्षा, अपव्यय और अदूरदर्शितापूर्ण नीति का परिणाम यह होता था कि उनका वार्षिक व्यय बहुधा बहुत बढ़ जाता था और आय कम होती थी। वार्षिक लाभ की मात्रा कभी न्यूनतम ब्याज के बराबर नहीं हो सकी[2] और प्रति वर्ष भारत-सरकार को उसकी कमी पूरी करने के लिए बड़ी धन-राशि देना पड़ती थी। वस्तुतः रेलों का संचालन १८५३ से प्रारम्भ हुआ, किन्तु सरकारी दायित्व १८४९ में समझौते पर हस्ताक्षर होते ही प्रारम्भ हो गया था। अगले पृष्ठ की तालिका से इस कथन की पुष्टि होती है —

---

1 "The system of audit was extremely imperfect, it was what is called technically a post audit—nothing was known of the money expanded till the accounts were rendered The result of the system was that on one railway, the East Indian Railway four millions sterling out of twenty millions had been disallowed from the capital account The only thing to be done, however, under those circumstances was to allow it, and bring it all into the capital account again, because, under the contract as it was worded, it was quite impossible to disallow it finally, and it was quite understood that whatever was spent must be eventually passed (Romesh Dutt: *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th Edition, p 355)

2 "The Capital costs in this first period were extremely heavy and the net earnings brought only 0 22, 1 3, 1 98 and 3 05 Per cent on the total outlay during the years 1854, 1859, 1864 and 1869 respectively" (Dr N Sanyal *Development of Indian Railways, 1930*, pp 43 and 47)

न्यूनतम ब्याज की पूर्ति के लिए दिया हुआ सरकारी धन[1]
(हजार पौण्ड)

वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
१८४९	५·६	१८५९	७६७
१८५०	२०·५	१८६०	१,०६६
१८५१	४३·५	१८६१	१,३६७
१८५२	६१·५	१८६२	१,५४१
१८५३	७४·८	१८६३	१,६३५
१८५४	१२३·६	१८६४	१,५५४
१८५५	२४४·१	१८६५	२४
१८५६	४००·३	१८६६	६८४
१८५७	५५२·३	१८६७	१,४६२
१८५८ :		१८६८	१,६५२
ईस्ट इण्डिया का शासन काल	७१८·५	१८६९	१,४६८
ब्रिटिश सरकार का शासन काल	६०६·०	कुल व्यय (१८४९-६९)	१,६२,२०८

उक्त तालिका से विदित होता है कि सरकारी हानि की मात्रा प्रति वर्ष बढ़ती चली गई और २१ वर्ष के अल्प-काल मे कुल हानि १६२ लाख पौण्ड अर्थात् १६ करोड रुपये से ऊपर पहुँच गई थी।

सरकार को और भी कई प्रकार के व्यय भुगतने पडे जिससे इस हानि की मात्रा और भी अधिक बढ गई। विनिमय की दर इस सारे समय मे सरकार के प्रतिकूल रही। केप्टिन ई० सी० एस० विलियम ने १८६७ मे इस हानि का अनुमान ९४० पौंड (९,४०० रु०) प्रति मील रेल की सडक पर लगाया था[2]। १८६८-६९ तक कुल हानि की मात्रा ३६ लाख पौण्ड (३ करोड ६० लाख रुपए) आंकी गई थी[3]। भूमि सरकार ने कम्पनियों को बिना मूल्य दी थी। रेलो का निर्माण-कार्य सरकारी देख-रेख में होता था जिसके लिए सरकारी इञ्जीनियर, सञ्चालक और अधीक्षक नियुक्त किये गए थे। भूमि का मूल्य भारत सरकार ने सन् १८४५ में २०० पौण्ड प्रति मील आंका था, जो कि आगे जाकर बढता चला गया यहाँ तक कि सन् १८६७ मे केप्टिन ई० सी० एस०

1. Dr N. Sanyal : *Development of Indian Railways*, 1930, p. 44.
2. ईस्ट इण्डिया कम्पनी काल (१८४९ से नवम्बर १८५८) के आंकड़े रमेश दत्त (India in the Victorian Age, p. 76) और तदुपरान्त के आंकडे आर० डी० तिवारी (Railways in Modern India, 1941, p. 56) से लिए गए हैं।
3. Ibid, p. 44.

विलियम ने इसका ५०० पौण्ड प्रति मील अनुमान लगाया था[1] और सर आर्थर-काटन ने सन् १८७८ में १०६७ पौण्ड प्रति मील।[2] सन् १८६६ तक ४,२८७ मील लम्बी रेलें बन गई थी, जिनकी भूमि का मूल्य ५०० पौण्ड प्रति मील के हिसाब से २१ लाख पौण्ड (२ करोड १४ लाख रुपए) से अधिक होता है। इसी भाँति सरकारी देख-रेख का व्यय १०० पौण्ड प्रति माल[3] के हिसाब से ४,२८,७०० पौंड (४२ लाख ८७ हजार रुपए) होता है। इस भाँति इस काल की कुल सरकारी हानि इस प्रकार हुई —

प्रत्याभूति (Guarantee)	१६२ ० लाख पौंड अथवा	१६ ० करोड रुपए
विनिमय दर	३६·० ,, ,, ,,	३ ६० ,, ,,
भूमि का मूल्य	२१ ० ,, ,, ,,	२·१४ ,, ,,
नियन्त्रण और देख-रेख	४ ३ ,, ,, ,,	० ४३ ,, ,,
कुल व्यय	२२३·३ लाख पौंड अथवा	२२ १७ करोड रुपए

यह मोटे तौर से लगाया हुआ साधारण अनुमान है। वास्तविक हानि इससे कही अधिक थी, जिसको १८८७ में लार्ड लारेंस ने दो करोड ६५ लाख पाउंड (अथवा २६½ करोड रु०) आँका था।[4]

कम्पनियो की इस अपव्ययात्मक (माले मुफ्त दिले बेरहम वाली) नीति के कारण भारतीय रेलो को निर्माण व्यय भी बहुत अधिक करना पडा। काम शुरू होने से पूर्व यह अनुमान लगाया गया था कि दुहरी पटरी वाली रेल पर १५,००० पौंड और इकहरी पटरी पर ६,००० पौंड प्रति मील व्यय[5] होगा, किन्तु वास्तविक मूल्य इससे कहीं अधिक हुआ। भारत की मुख्य-मुख्य बडी रेलों का व्यय लगभग ३,००० मील तक २०,००० पौंड प्रति मील हुआ जबकि ईस्ट इण्डिया रेल का प्रति मील २५,००० पौंड बताया जाता है। एक अनुमान के अनुसार इसका मूल्य ३०,००० पौंड

1 Ibid, p 44
2 Romesh Dutt *The Economic History of India in the Victorian age 6th* edition, p 365
3. Dr N Sanyal *Development of Indian Railways*, 1930, p 44
4 ' It is estimated" he wrote, "that while the companies will have to supply 81 millions for the railways now under construction, the Government contribution will be 7½ millions for land, loss by exchange, and supervision, 14½ millions for interest paid in excess of net revenues and 4½ millions for interest paid on those payments of guaranteed interest ' (Romesh Dutt *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th edition, pp 358 59)
5 R D Tiwari *Railways in Modern India, 1941*, p 54 and Dr N Sanyal *Development of Indian Railways*, 1930, p 46.

प्रति मील था।[1] इसमें सन्देह नहीं कि देश की स्थिति को देखते हुए और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इस व्यय में भूमि का मूल्य तथा भूमापन व देख-रेख इत्यादि का व्यय सम्मिलित नहीं था, यह व्यय बहुत अधिक था। इस कथन की वास्तविक सत्यता तब प्रगट होती है जब हम यह देखते हैं कि आस्ट्रेलिया की रेलों का व्यय केवल १२,००० पौंड प्रति मील और कनाडा की रेलों का ८,५०० पौंड प्रति मील ही हुआ था तथा आगामी युग में जब सरकार ने स्वयं रेलें बनानी शुरू कीं तो बड़ी रेलों (Broad Gauge) का व्यय प्रति मील १०,००० पौंड ही रह गया था। राइट ऑनरेबुल विलियम एन० मैसे (Rt. Hon. William. N. Massey.) जो भारत के अर्थमंत्री थे उन्होंने कहा था कि "ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी का मूल्य दुगना नहीं तो जितना वस्तुतः होना चाहिए था, उससे कहीं अधिक हुआ था।"[2]

भारत में चौड़ी गेज (Broad Gauge) का अपनाना भी इस अदूरदर्शितापूर्ण नीति का ही परिणाम था। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन में ४ फीट ८ इञ्च का गेज (Standard Gauge) बहुधा प्रचलित है। भारत एक कंगाल और अविकसित देश है। उसमें उन्नत समुन्नत राष्ट्रों से भी चौड़े गेज का अपनाना एक उच्च-कोटि की विलासिता थी, किन्तु सैनिक आवश्यकताओं और सुरक्षा की वेदी पर देश के व्यापार-वाणिज्य की बलि चढ़ा दी गई थी। इसी भाँति दुहरी पटरी वाली रेलों का निर्माण भी देश की आवश्यकताओं की सर्वथा उपेक्षा थी। न तो उस समय देश को इतने चौड़े गेज की, और न दुहरी पटरियों की आवश्यकता थी। इस प्रश्न का विचार-पूर्वक अध्ययन किए जाने पर यह निश्चय हुआ कि मीटर गेज (३ फीट ३⅜ इञ्च) वाली रेलें देश के लिए अनुकूल पड़ती हैं और इसी निर्णय के अनुसार आगे चलकर सरकारी रेलें इसी गेज (Gauge) पर बनीं।

इन दोषों के अतिरिक्त समझौते की शर्तें भी बड़ी अपूर्ण थीं। उसकी शर्तें, ऐसा प्रतीत होता है, उतावलेपन और लापरवाही से लिखी गईं थीं, जिनसे उनमें परस्पर विरोधी बातें आ गईं थीं। न उनमें सरकारी हितों की ओर कोई ध्यान दिया गया था, और न जनता के हितों की ओर। विलियम थारटन (William Thorton) ने १८७२ की संसदीय समिति के सम्मुख साक्ष्य (Evidence) देते हुए कहा था कि "ये संविदे (Contracts) चाहे जिसने बनाए हों, उनके निर्माता के लिए अत्यन्त अपमानसूचक हैं, क्योंकि इनकी विभिन्न धारायें एक-दूसरे की विरोधी हैं और कभी-

---

1. Rt Hon. William N. Massey Quoted by Romesh Dutt : *The Economic History of India in the Victorian Age*, p. 356.
2. Romesh Dutt , *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th edition, pp. 355-56.

कभी एक ही धारा में दो दो तीन-तीन बार विरोधी बातें पाई जाती हैं तथा उनमें सरकारी हितों का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया।'[1]

इस नीति के फलस्वरूप इस समय में रेल निर्माण कार्य अति मन्द गति से चल सका। जैसा कि निम्न तालिका[2] से स्पष्ट है :—

वर्ष	मील	वर्ष	मील	वर्ष	मील	वर्ष	मील
१८५३	२२	१८५८	४३[illegible]	१८६३	[illegible]४८०	१८६८	४०१७
१८५४	७३	१८५९	६२[illegible]	१८६४	[illegible]९३६	१८६९	४२८७
१८५५	१३२	१८६०	८३८	१८६५	[illegible]२३		
१८५६	२७५	१८६१	१५८३	१८६६	३५३०		
१८५७	२८५	१८६२	२३५३	१८६७	[illegible]९३७		

सत्रह वर्ष में ४ ८७ मील लम्बी रेल बन पाई थी, जिसका वार्षिक औसत लगभग २५० मील होता है। १८५० तक वार्षिक प्रगति केवल लगभग १०० मील ही थी और तदुपरान्त लगभग ४०० मील। १८५७ में केवल २० मील लम्बी रेल बन सकी थी।

द्वितीय युग (राजकीय निर्माण १८६९-१८८१)

प्रत्याभूति पद्धति (Guarantee system) के दोष सरकार और जनता दोनों पर भली-भांति प्रगट हो चुके थे और उसकी सभी क्षेत्रों में कड़ी आलोचना हो रही थी। विशेषत: १८५७ के स्वतन्त्रता युद्ध के उपरान्त भारत सरकार को ब्रिटेन में भारी ऋण लेने पड़े जिससे रेल कम्पनियों के कार्य में बाधा उपस्थित होने लगी और सरकार रेलों के लिए स्वयं ही ऋण लेने का विचार करने लगी। इस पद्धति से सरकार का इतना नाक में दम आ गया था कि उसने १८६०-६१ में ही एक बार यह निश्चय किया कि जिन रेलों के निर्माण की स्वीकृति दे दी गई थी, किन्तु जिन पर अभी कार्य आरम्भ नहीं हुआ था, उनका कार्य स्थगित कर दिया जाए। अवध रेलवे ने सरकारी स्वीकृति लेकर भूमापन का कार्य आरम्भ कर दिया था। उसे कार्य बन्द करने की आज्ञा दे दी गई और उसका जो रुपया व्यय हो चुका था उसे ब्याज समेत लौटा दिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि जिन रेलों के लिए स्वीकृति दे दी गई है, उनके पूर्ण होने तक और नई कम्पनियों को प्रत्याभूति (Guarantee) द्वारा रेलें बनाने की स्वीकृति न दी जाए।

बिना प्रत्याभूति (Guarantee) के अल्पकालीन आर्थिक सहायता (Subsidy) द्वारा पूँजीपतियों को कम्पनियाँ बनाने के प्रलोभन भी दिए जा रहे थे। १८६२-६३

---

1 Romesh Dutt *The Economic History of India in the Victorian Age*, 6th edition, p 304

2 R. D Tiwari *Railways in Modern India, 1941*, p 56

और १८६३-६४ में इण्डियन-ब्रांच-रेलवे कम्पनी और ईस्ट-इण्डियन-ट्राम्वे कम्पनी क्रमशः इंगलैंड में बनी जिन्होंने सरकार से केवल भूमि और भूमापन (Survey) व्यय भुगतने तथा सुचारु कार्य संचालन में सहायता देने की प्रार्थना की। सरकार उनके प्रस्ताव से पूर्णतः सहमत थी, किन्तु कुछ ही समय उपरान्त उनकी आशाओं पर पानी फिर गया और विवश होकर उन्हें और अधिक सरकारी सहायता माँगनी पड़ी। १८६४ में सरकार ने इन दोनों कम्पनियों को प्रति मील के यातायात के लिए खुलने की तिथि से २० वर्ष तक १०० पौंड की सहायता देने का प्रस्ताव किया और १०,००० पौंड अथवा उससे अधिक धन से बनने वाले प्रत्येक पुल के लिए १,००० पौंड देने का और वचन दिया। १८६५ में आगरा और दिल्ली से जेपुर तक रेलें बनाने के लिए भी इससे कुछ भिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा गया। ये प्रयत्न सफल न हो सके और सन् १८६७ और १८६९ में कुछ नई कंपनियों[1] को संशोधित रूप में प्रत्याभूति (Guarantee) का आश्वासन देना पड़ा। बम्बई बड़ौदा व सेंट्रल इण्डिया और ग्रेट-इण्डियन-पेनुन्सुला रेलवे कम्पनियों ने भी आर्थिक सहायता (Subsidy) द्वारा ब्रांच लाइनें बनाने के असफल प्रयत्न किए। अब सरकार ने नई कम्पनियों के लिए प्रत्याभूति की शर्तों में कुछ संशोधन भी कर लिया था। विनिमय की दर १ शि० १० पैंस के स्थान पर २ शि० कर दी गई थी, भूमि ९९ वर्ष के स्थान पर सदैव के लिए देने का वचन दिया था; और २५ वर्ष के स्थान पर २० वर्ष अथवा अगले प्रत्येक १० वर्ष उपरान्त रेलों को लेने का अधिकार सरकार ने ले लिया था। इतने पर भी सरकार को सन्तोष न था। वह इस पद्धति से इतनी तंग आ गई थी कि किसी भी मूल्य पर उसे आगे के लिए अपनाने के लिए प्रस्तुत न थी। एक तो रेल स्वभावतः ही ऐसा व्यवसाय है जिसमें प्रारम्भ में अपार धन लगाना पड़ता है, जिससे उसकी लाभ की दर सीमित हो जाती है। यदि कोई रेल असाधारण व्यय करके बने (जैसा गारण्टी कम्पनियों के विषय में अनुभव हो चुका था) तो उसके सफल होने की सम्भावना और भी कम हो जाती है। भारतवर्ष जैसे अविकसित और निर्धन देश के लिए यह बात विशेष महत्त्व रखती थी। अतः भारत-सरकार ने स्वयं ही ऋण लेकर रेलें बनाने का निश्चय किया। भारत मन्त्री (Secretary of State for India) ने इस नीति का समर्थन किया और अपनी स्वीकृति दे दी। इस भाँति सन् १८६९ में सरकारी नीति में एक युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ।

(क) **वित्तीय नीति**—इसी सिद्धान्त के अनुसार अब कार्य होने लगा और लाहौर से रावलपिंडी तथा कारवर (Carwar) से हुबली तक रेलें बनाने का काम सरकार ने तुरन्त अपने हाथ में ले लिया। धीरे-धीरे रेलों की अनेक बड़ी-बड़ी योजनायें ऋण द्वारा बनने लगीं और सरकारी दायित्व की सीमा अत्यन्त अधिक हो चली। इसकी ओर संसद (Parliament) का ध्यान आकर्षित किया गया जिसने एक प्रवर

---

१. अवध और कर्नाटक रेलवे-कम्पनियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

समिति (Select Committee) नियुक्त करके इस प्रश्न पर विचार करने की आज्ञा दी। इस समिति के १८७१ से १८७४ तक कार्य करने के उपरान्त, लार्ड सैलिसबरी) (Lord Salisbury) ने जो भारत मन्त्री (Secretary of State) थे, निम्न तीन सिद्धान्त निश्चित किए : (अ) ऐसी कोई रेलें ऋण लेकर न बनाई जायें जो कम से कम उतना लाभ न दे सकें जितना उनमें लगी हुई पूँजी के ब्याज के बराबर हो (इसमें निर्माण काल में लगने वाली पूँजी का ब्याज भी सम्मिलित होना चाहिए), (आ) दुर्भिक्ष निवारक रेलें सरकार की वार्षिक आय से बनाई जायें और यदि आवश्यकता हो तो ऋण भी ले लिए जायँ, (इ) सारे ऋण भारत में ही लिए जायें। इन सिद्धान्तों का मन्तव्य सरकारी व्यय और ऋण की एक सीमा बाँधना था। रेलों के व्यय की सीमा २ ८ करोड़ रुपए प्रति वर्ष बाँध दी गई थी, किन्तु १८७४ से १८७६ तक देश में कई भीषण अकाल पड़े, जिनके कारण सरकार को अपनी इच्छा के विरुद्ध इस सीमा का उल्लंघन करना पड़ा और १८७६-८० तक कभी भी उत्पादक लोक कार्यों पर ३½ करोड़ रुपये से कम व्यय न हो सका, यहाँ तक कि औसत वार्षिक व्यय ४ करोड़ रुपए हुआ[1]। १८७८ में दुर्भिक्ष निवारक निधि की स्थापना की गई थी और सरकार को इसमें से भी रेलों पर व्यय करने का अधिकार दे दिया गया था। १८७९ में ईस्ट इण्डिया रेलवे की प्रथम २५ वर्ष की अवधि समाप्त हो चुकी थी। तत्कालीन सरकारी नीति के अनुसार उसे सरकारी स्वामित्व में लेना आवश्यक था। अतः उसे मोल ले लिया गया। इसके लिए जो व्यय करना पड़ा, उसे ढाई करोड़ की सीमा के बाहर गिनने का भी अधिकार देना पड़ा। इस भाँति इस सारे समय में सरकारी व्यय की सीमा बाँधने के प्रयत्न किए जाते रहे जो पूर्णत: सफल न हो सके।

(ख) प्रान्तों और रियासतों की रेलें—दूसरी उल्लेखनीय प्रवृत्ति जो इस काल में दृष्टिगोचर होती है, वह प्रान्तीय सरकारों और देशी राज्यों को रेलें बनाने की प्रेरणा प्रदान करना है। सर्व प्रथम सन् १८७० और १८७१ में बरार की अतिरिक्त वार्षिक आय से ग्रेट इण्डियन पेनुन्सुला रेलवे की खामगाँव और अमरावती टुकड़ियाँ बनाकर स्थानीय पूँजी द्वारा रेल-निर्माण कार्य करने के प्रयत्न किए गए। १८७५ में उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (जिसमें उस समय उत्तर प्रदेश का एक बड़ा भाग सम्मिलित था) की सरकार ने अपने उत्तरदायित्व पर स्थानीय पूँजी से मथुरा से हाथरस तक ३० मील लम्बी रेल बनाई। इसी प्रकार के प्रयत्न अन्यत्र भी किए गए। अतएव यह आवश्यक समझा गया कि इस सम्बन्ध में कुछ निर्धारित नियम बना दिए जायें। फलस्वरूप १८७८ में प्रान्तीय सरकारों को रेलें बनाने और उनके संचालन का अधिकार दे दिया गया। साथ ही उन्हें इसके लिए ऋण लेने के भी अधिकार दे दिए गए। किन्तु प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में कार्य करती थीं। सन् १८८१ तक लगभग ८६५ मील लम्बी रेलें प्रान्तीय सरकारों ने बनाईं।

---

1. Dr. N. Sanayal : *Development of Indian Railways*, 1930, p 84.

देशी राज्यों को भी रेलें बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। निजाम वाडी से हैदराबाद तक रेल बनाने के लिए एक करोड़ रुपए की कुल पूँजी देने को इस शर्त पर राजी हो गए कि सारा लाभ उन्हीं को मिलता रहेगा। इस रेल का निर्माण, प्रबन्ध और सचालन भारत सरकार का उत्तरदायित्व था। इन्दौर के महाराजा होल्कर खण्डवा से इन्दौर तक रेल बनाने के लिए एक करोड़ रुपए की पूँजी लगाने को ४½ प्रतिशत ब्याज और अतिरिक्त लाभ के आधे के आधार पर प्रस्तुत हो गये। ग्वालियर के महाराजा सिन्धिया ने भी इन्दौर-उज्जैन-नीमच रेल के लिए केवल ४ प्रतिशत ब्याज लेकर ७५ लाख रुपये दिये। गायकवाड, मैसूर, भावनगर, गौंडाल, भोपाल और अन्य राज्यों ने भी इसी भाँति रेलें बनाने में सहयोग दिया। देशी राज्यों ने ४४६ मील रेल पथ बनाया।

इस भाँति इस युग में केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें और देशी राज्य मिल कर रेलें बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। इस काल की कुल पूँजी का अनुमान इस प्रकार लगाया गया है[1] :—

गारण्टी वाली रेलें (Guarantee Railways)		६७ करोड़ रुपए
ईस्ट इण्डिया रेलवे	....	३२ ,, ,,
राजकीय रेलें	...	३२ ,, ,,
देशी राज्यों की रेलें	....	२·६ ,, ,,
	कुल	१३३·६ करोड़ रुपए

(ग) अन्तर्मार्गी (Gauge)—इस युग की तीसरी विशेषता अन्तर (Gauge) के प्रश्न पर विचार था। चौड़ी रेलें हमारे देश के लिए विलासिता की वस्तु समझी जाती थीं, जिनका पूँजीगत और वार्षिक सचालन व्यय दोनों ही देश की सामर्थ्य के बाहर थे। अतएव छोटी (Narrow Gauge) रेलों के गुण-दोषों पर विचार करने के लिए अमेरिकन इंजीनियर बुलाए गये तथा एक विशेषज्ञ समिति बिठाई गई जिसने २ फीट, २ फीट ६ इंच, २ फीट ९ इन्च, ३ फीट, ३ फीट ६ इंच और ४ फीट चौड़ाई वाली रेलों के सम्बन्ध में विचार किया और यह बताया कि छोटी रेलें देश के लिए अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। भारत सरकार ने इस निर्णय को ध्यान में रखकर यह नीति निर्धारित की कि मुख्य रेलें (Trunk Lines) चौड़ी (५′-६″) ही बनाई जायें, किन्तु द्वितीय श्रेणी की रेलें सब कम चौड़ी बनें। यद्यपि दो चौड़ाइयों की रेलों के दुष्परिणामों से सरकार अनभिज्ञ न थी, तो भी परिस्थितियों ने उसे छोटी रेलें अपनाने के लिए विवश किया। अब तक मुख्य-मुख्य रेलें लगभग सब बन चुकी थीं। अतः इस युग में जितनी रेलें बनीं वे छोटी रेलें ही थीं।

1. Dr. N. Sanyal : *Development of Indian Railways*, 1930, p. 117.

बहुधा ये रेलें ३ फीट ३⅜ इन्च की चौड़ाई पर जिसे मीटर गेज (Metre Guage) कहते थे, बनी।

(घ) कार्य की प्रगति—सन् १८८१ तक रेलों की लम्बाई ४,२८७ से बढ़ कर ६,८६१ हो गई थी, अर्थात् प्रतिवर्ष ४६७ मील लम्बी रेलें बनी थीं। यह प्रगति प्रथम युग की प्रगति से कहीं अधिक थी जबकि वार्षिक प्रगति केवल २५० मील हो सकी थी। ६,८६१ मील लम्बी रेलों में से कम्पनियों द्वारा बनाई गई रेलें जिनमें ईस्ट इण्डिया रेलवे भी शामिल थी ६,१३२ मील थीं और ४४६ मील देशी रियासतों की थीं तथा शेष ३,३१३ मील केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की थीं। इनमें से ७,००० मील के लगभग चौड़ी रेलें थीं और ३,००० से कुछ कम छोटी रेलें थीं जिनमें से ६० मील २ फीट ६ इन्च की चौड़ाई पर, ५० मील २ फीट की चौड़ाई वाली, २८ मील ४ फीट चौड़ी और शेष २,८०० मील से ऊपर मीटर गज वाली रेलें थीं।[1]

इस युग में देश में कई बड़े-बड़े पुल भी बने, जिनमें से हावड़ा, हुगली, बनारस, अटक इत्यादि के पुल विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ङ) निर्माण व्यय (Cost of Construction)—इस युग में रेलों का निर्माण व्यय बहुत कम हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि अब तक के अनुभव के कारण भी इसके कम होने में कुछ सहायता मिली थी, किन्तु इस कमी का प्रमुख कारण और श्रेय प्रत्यक्ष सरकारी प्रयत्न थे। इस युग के सरकारी प्रयत्नों द्वारा बनी हुई बड़ी (Broad Gauge) रेलों का मूल्य लगभग १,००,००० रुपए प्रति मील पड़ा, जबकि पिछले युग में कम्पनियों द्वारा बनी हुई इसी प्रकार की रेलों का मूल्य १,२०,००० रुपये हुआ था और कुछ रेलों में तो २,००,००० रुपये से भी अधिक पड़े थे। सरकारी प्रयत्न की यह महान् सफलता थी। छोटी मीटर गेज रेलों का मूल्य और भी कम था। यह ६८,७०० रुपए प्रति मील था। देशी रियासतों की रेलों का व्यय इससे भी कम पड़ा, जो बड़ी रेलों के लिए ८८,००० रुपए और छोटी रेलों के लिए ३८,००० रु० प्रति मील था। बड़ौदा के गायकवाड़ की रेल केवल २०,००० रुपये प्रति मील के मूल्य पर बनी थी, जो २ फीट ६ इन्च की चौड़ाई पर थी। इस युग की सबसे मँहगी रेल पंजाब उत्तरी रेल थी जिसमें प्रति मील पर लगभग १,५४,२८० रुपये व्यय करने पड़े थे, जबकि प्रथम युग की मँहगी रेल ईस्ट इण्डिया थी, जिस पर ३,००,००० रुपये प्रति मील करने पड़ते थे।[2]

(च) वार्षिक लाभ (Annual Yield)—राजकीय रेलें कम्पनी की रेलों की अपेक्षा नई थीं और उनके क्षेत्र भी कम उत्पादक थे। कम्पनियों द्वारा निर्मित

---

1. Dr. N. Sanyal : *Development of Indian Railways*, 1930, p 113.
2. Ibid, p. 118.

रेलों को अब तक अपने क्षेत्रों को विकसित करने और अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिल गया था। ऐसी स्थिति में सरकारी रेलों की कम्पनी की रेलों से कोई तुलना नहीं की जा सकती और न सरकारी (अथवा अन्य नई रेलें) उतनी उत्पादक होने का दम भर सकती थी, तो भी सरकारी रेलों की सफलता किसी भी प्रकार निराशाजनक नहीं कही जा सकती। विभिन्न रेलों की सफलता विभिन्न थी। पूँजी के आधार पर कुछ मुख्य-मुख्य रेलों का सन् १८८१ का प्रतिशत वार्षिक लाभ नीचे दिया जाता है।

कम्पनियों के प्रबन्ध वाली रेलें		सरकारी प्रबन्ध वाली रेलें	
ईस्ट इण्डिया	६·६५	ब्रह्मा	५·०४
ईस्टर्न बंगाल	६·४६	पटना-गया	४·८७
बम्बई बड़ौदा व सेन्ट्रल इण्डिया	६·५५	राजपूताना-मालवा	३·६४
ग्रेट इण्डियन पेनुन्सुला	६·२८	उत्तरी बंगाल	३·६३
अवध-रुहेलखण्ड	३·१२	तिरहुत	३·४३
साउथ इण्डियन	२·७२	पंजाब नार्दर्न	०·८५
सिंध-पंजाब व दिल्ली	२·५५		
मद्रास	१·८१		

सारे युग को लें तो कम्पनी की रेलों का लाभ पूँजी का ६·२० प्रतिशत और राजकीय रेलों का २·१५ प्रतिशत था[1]। ये आँकड़े कुछ निराशाजनक से प्रतीत होते है। किन्तु इन्हें तुलनात्मक दृष्टि से देखने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि सरकारी रेलों में से एक-तिहाई रेलें सैनिक और रक्षात्मक महत्व की थी जिन पर कभी लाभ नहीं होना था और सरकारी रेलों के उक्त प्रतिशत लाभ में ऐसी रेलों की हानि भी सम्मिलित है। सा तात्विक आय के आधार पर दोनों प्रकार की रेलों की तुलना करें तो दोनों में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कम्पनी की रेलों की साप्ताहिक आय २८८ रु० प्रति मील थी और सरकारी रेलों की २८२ रु० प्रति मील।

तृतीय युग (१८८१-१९२१)

इस युग को मिश्रित साहस का युग कह सकते हैं, क्योंकि इसमें राजकीय

1. Dr. N. Sanyal : *Development of Indian Railways, 1930*, p. 119

और व्यक्तिगत साहस मिलकर रेल-निर्माण कार्य म सलग्न थे। इस युग को नया प्रत्याभूति काल (New Guarantee Period) भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस युग म व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा जो प्रत्याभूति (Guarantee) युक्त रेले बनी थी उनकी प्रतिज्ञाओ म कुछ संशोधन किए गए थे। इस युग को दो खण्डो म विभाजित किया जा सकता है : (१) पूर्वार्द्ध १८८१ से १९०१ तक, (२) उत्तरार्द्ध १९०१ से १९२१ तक।

पूर्वार्द्ध (१८८१-१९०१)—इसमे सन्देह नहीं कि द्वितीय युग मे रेलो का उत्तरदायित्व सरकार के हाथ म चले जाने से रेले सस्ती बनने लगी थी, उनकी प्रगति अच्छी हुई थी और लाभ भी अच्छा होने लगा था, किन्तु इस नीति म कुछ ऐसे दोष भी थे जिनके कारण इसे उच्च कोटि की स्थायी नीति नहीं कहा जा सकता था और जितना आशा की जा रही थी वैसे परिणाम नहीं निकल रहे थे। इस युग म जितनी नई रेलें सरकार ने बनाई थी उनकी लगभग एक तिहाई रेले सैनिक और रक्षात्मक कारणो से बनी थी जिनका पूँजीगत व्यय बहुत अधिक था और जिन पर लाभ होने की कोई सभावना नहीं थी। इनकी वार्षिक हानि से 'उत्पादक' रेलो का लाभ भी कम हो जाता था। दूसरे, इस युग म कई वर्ष तक (१८७४ ७९) लगातार भीषण अकाल पडे जिनके निवारण का एक उत्तम मार्ग रेल-निर्माण म प्रगति बनाया जाता था। १८८० म दुर्भिक्ष आयोग ने अपने प्रतिवेदन म यह स्पष्टतः कहा कि देश को आगामी कुछ ही वर्षों म लगभग २०,००० मील लम्बी रेलो की आवश्यकता है, जिनम से ५,००० मील तुरन्त बननी चाहिये। सन् १८७९ म अफगानिस्तान से ठनातनी हो गई और रूस के आक्रमण की भी आशका हो रही थी। अत शीघ्र रेल निर्माण म तीव्र गति लाने की बडी भारी आवश्यकता थी। किन्तु इधर सरकारी साधन सीमित थे। ऋण लेकर रेलें और अन्य लोक-कार्य करने के लिए सरकार के हाथ बँधे हुए थे। प्रति वर्ष २॥ करोड रुपए से अधिक व्यय नहीं किया जा सकता था। इसी समय इंगलैंड म सरकारी प्रबन्ध के विरुद्ध भारी प्रतिक्रिया हो चली। सन् १८७८-८१ म इंग्लैंड म इस प्रश्न को लेकर एक अनुसधान किया गया और रेलो के व्यक्तिगत प्रबन्ध के पक्ष म घोषणा की गई। इन सब कारणो और परिस्थितियो म सरकार को अपनी नीति म परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। देश की व्यापार वृद्धि को देख कर भी रेल-निर्माण कार्य म तीव्र गति की आवश्यकता थी। बम्बई और इंगलैण्ड के व्यापारी विशेषत. गेहूँ के निर्यात को बढाने की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित कर रहे थे।

ऐसी स्थिति मे सरकार चुप नहीं बैठ सकती थी। रेल-निर्माण मे प्रगति लाने के लिए यह आवश्यक था कि जहाँ तक हो सके सरकारी साधनो को बढाया जाय, किन्तु इसके लिए अभी स्थिति अनुकूल नहीं थी। अत व्यक्तिगत पूँजीपतियो को प्रेरित करने के प्रयत्न किए गये। बगाल व उत्तरी पश्चिमी, रुहेलखण्ड-कमायूँ, बंगाल-केन्द्रीय तथा दक्षिणी मरहठा रेलें १८८१ और १८८३ के बीच सरकारी प्रेरणा और सहायता

द्वारा बनी।[1] आर्थिक सहायता द्वारा इन रेलों को सफलता न मिलने पर सरकार को बहुधा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में गारंटी पद्धति की शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार नये संविदों में सरकार ने प्राचीन गारण्टी के दोषों का ध्यान अवश्य रखा। नई गारंटी में बहुधा निम्नांकित सुधार किए गये :—

(१) नई रेलें बहुधा प्रारम्भ से ही सरकारी सम्पत्ति समझी जाने लगीं और भारत मन्त्री को उनके साथ हुए संविदे (Contract) को, प्रथम २५ वर्ष उपरान्त अथवा उसके उपरान्त हर दसवें वर्ष समाप्त करने का अधिकार था।

(२) कम्पनियों द्वारा लगाई गई पूंजी का बहुधा सममूल्य पर (At Par) भुगतान किया जाता था।

(३) न्यूनतम प्रत्याभूति (Guarantee) के लिए ब्याज दर घटा कर बहुधा ३½ प्रतिशत कर दी गई थी।

(४) सरकार ने अतिरिक्त लाभ का अधिक (बहुधा ¾) भाग लेने का निश्चय किया।

(५) गारण्टी को भरने के लिये दिये गये ब्याज का भुगतान करने का सकल आय (Gross Earnings) पर सर्वोपरि दायित्व रखा गया।

सन्तोषजनक प्रगति न देख कर भारत सरकार ने भारत-मन्त्री से जनवरी १८८३ में फिर से सरकार की ऋण-शक्ति बढ़ाने का अधिकार मांगा। लगभग २८० लाख पौंड लगा कर पांच-छः वर्ष में कार्यान्वित की जाने वाली एक विस्तृत योजना बनाई गई। इसके अनुसार रेलों को 'अ' और 'ब' अनुसूचियों में बांटा गया। अनुसूची 'अ' में ३,८६६ मील लम्बी ३० रेलें थीं जो रचनात्मक अथवा दुर्भिक्ष निवारक कारणों

---

१. दक्षिणी मरहठा रेलवे की कुल सम्पत्ति सरकार की थी, केवल रेल-निर्माण और संचालन के लिए कम्पनी-भारत सरकार के अभिकर्ता (Agent) का कार्य कर रही थी। शेष तीनों रेलों की सम्पत्ति तथा प्रबन्ध व संचालन निजी था, किन्तु सरकार ने उन्हें मोल लेने और उनके नियन्त्रण का अधिकार अपना रखा था। बंगाल व उत्तरी-पश्चिमी रेल को भूमि के अतिरिक्त और किसी प्रकार की सहायता नहीं दी गई थी। रुहेलखण्ड-कमायूँ रेल को प्रत्याभूति (Guarantee) के स्थान पर कुछ वर्षों के लिए आर्थिक सहायता देने का वचन दिया गया, बंगाल-केन्द्रीय रेल को केवल निश्चित अवधि के लिये गारण्टी दी गई और दक्षिणी मरहठा रेल को पूंजी स्वयं लगाने के बदले में १८८६ तक ४ प्रतिशत और तदुपरान्त ३ प्रतिशत की गारण्टी दी गई थी जिसकी ब्याज दर प्राचीन गारण्टी से कम रखी गई थी।

मे अत्यन्त आवश्यक समझी गई थी और अनुसूची 'ब' म ३,४८२ मील लम्बी ३४ रेले थीं जो उत्पादक समझी जाती थी। प्रथम अनुसूची वाली रेलो के निर्माण का दायित्व पूर्णत सरकार के ऊपर था और द्वितीय अनुसूची की रेले व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा बनाई जानी थीं।[1] भारत मन्त्री ने इस योजना को स्वीकृति न देकर सन् १८८४ में एक प्रवर समिति (Select Committee) नियुक्त की जिसने दो-तीन वर्षों के लिए पहले से 'कार्यक्रम' (Programme) बनाने की नीति का समर्थन किया और साथ ही 'कार्यक्रम' के बाहर भी व्यक्तिगत साहस द्वारा रेलें बनाने का सुझाव दिया। उसने 'उत्पादक' और 'अनुत्पादक' रेलो का भेद-भाव अनावश्यक बतलाया (फलस्वरूप दुर्भिक्ष निवारक निधि के अनुदान (Grant) के अतिरिक्त ५,००,००० पौंड और अनुत्पादक रेलो के लिए स्वीकार किए गये)। उक्त समिति ढाई करोड रुपये की सीमा को भी बढ़ाने के पक्ष म थी। समिति की इन सिफारिशो को भारत-मन्त्री ने मान लिया और सरकार का वार्षिक ऋण-शक्ति को बढ़ा कर ३½ करोड रुपये कर दिया। अब रेलो के लिये तृतीय वर्षीय 'कार्यक्रम' बनाया जाने लगा। कुछ ही समय उपरान्त ३½ करोड रुपये की सीमा अपर्याप्त समझी गई और उसे उल्लंघन करना पड़ा। १८८५-८६ से १८९१-९२ तक प्रतिवर्ष ३६३ लाख रुपये ऋण लेकर व्यय किए जाते रहे जबकि इस सीमा को ५०० लाख रुपये तक बढ़ाना पड़ा। तीन वर्ष उपरान्त १४०० लाख रुपये का तीन वर्षीय 'कार्यक्रम' फिर बनाया गया। १८९७ म २,९६० लाख रुपये का कार्य-क्रम बनाया गया जिसमें १६० लाख रुपये प्राचीन गारण्टी वाली कम्पनियो के लिए व्यय किये जाने के लिए सम्मिलित थे। १८९९ म इस कार्य-क्रम को फिर से परिवर्तित करके २,०२० लाख रुपये कर दिया गया जिसम से ४५७ लाख रुपये प्रथम, ६५० लाख रुपये द्वितीय और ९१३ लाख रुपये तृतीय वर्ष म व्यय करने थे।[2] इससे विदित होता है कि इस काल की सरकारी वित्त नीति अत्यन्त अस्थिर थी। स्वामित्व और प्रबन्ध के सम्बन्ध म भी ऐसी अस्थिरता की नीति बरती जा रही थी। चैसनी (Chesney) ने इस नीति की आलोचना करते हुए लिखा है: "एक दिन एक रेल को बेच देना और दूसरे दिन दूसरी रेल को मोल ले लेना, एक रेल का निर्माण करना और फिर उसे एक कम्पनी को पट्टे पर देना, और साथ ही साथ दूसरी रेल को पट्टे पर ले लेना इत्यादि सिद्धान्त-शून्य व्यवहार ऐसे हैं जो भारत-सरकार की रेलो के प्रबन्ध सम्बन्धी तत्कालीन अनियमित नीति और अविवेकपूर्ण निर्णय के सूचक हैं।"[3]

1 R. D Tiwari *Railway in Modern India, 1941*, pp. 69-70.
2 Dr N Sanyal *Development of Indian Railways, 1930*, pp. 169 171
3 Quoted by Dr. N Sanyal. *Development of Indian Railways, 1930*, p 149.

देशी रियासते भी रेल-निर्माण कार्य मे इस युग मे उत्साहपूर्वक योग दे रही थी । कुछ रियासतो ने सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था अर्थात् वे ही अपनी पूंजी लगा रही थी, निर्माण-कार्य भी स्वयं ही कर रही थीं और निज का ही प्रबन्ध व संचालन था । मोरवी, भावनगर, जोधपुर, बीकानेर, जूनागढ, ग्वालियर, बड़ौदा, गोंडाल-पोरबन्दर और पटियाला राज्य इनमे प्रमुख थे । कुछ रियासतो ने निश्चित ब्याज दर और अतिरिक्त लाभ का एक भाग लेकर भारत सरकार को रेलो मे लगाने को रुपया दे दिया था । मैसूर और निजाम राज्यो ने रेलें व्यक्तिगत कम्पनियो को प्रबन्ध और संचालन के लिये दे दी थी और नई रेले बनाने के लिये परस्पर समझौता हो गया था । इस युग मे जिला बोर्डों को भी रेले बनाने की प्रेरणा दी गई । तंजोर मे सर्वप्रथम इस ओर सफल प्रयत्न हुए । इस प्रयोग की सफलता देख कर सन् १८९७ मे भारत-सरकार ने प्रान्तीय सरकारो की अनुमति लेकर जिला बोर्डों को रेल-निर्माण के लिये पूंजी जुटाने के हेतु कर लगाने का अधिकार दे दिया । इस युग मे केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारें, देशी राज्य, स्थानीय संस्थाये और व्यक्तिगत कम्पनियाँ (प्राचीन और नवीन गारएटी वाली) सब मिल कर रेल-निर्माण के लिये प्रयत्नशील थे । अत: रेल-निर्माण मे प्रगति सन्तोषजनक हुई । १९०१ मे देश मे लगभग २५,३०० मील लम्बी रेले थी जबकि १८८१ मे केवल ९,९०० मील लम्बी रेले थी । इस प्रकार गत बीस वर्षो मे १५,४०० मील रेले बन गई थी अर्थात् ७७० मील प्रति वर्ष । यह प्रगति द्वितीय काल की प्रगति से जो ४६७ मील थी कही अच्छी थी । सन् १८९० मे भारतीय रेल एक्ट (Indian Railway Act) बन चुका था जो इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना थी ।

उत्तरार्द्ध (१९०१-२१)—इस युग के उत्तरार्द्ध मे सरकारी नीति मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया । मिश्रित साहस की नीति अब भी जारी थी । केन्द्रीय, प्रान्तीय व देशी रियासतो की सरकारें रेलो के विकास मे रुचिपूर्वक कार्य कर रही थी और स्थानीय संस्थाये तथा गारंटीयुक्त कम्पनियाँ भी सहयोग दे रही थी । सरकार का तृतीय वर्षीय 'कार्य-क्रम' का ढर्रा अब भी जारी था । किन्तु परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ सरकार को थोडा बहुत उलट फेर तो समय-समय पर करना ही पड़ता था ।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय रेलो का वैभव-काल आरम्भ होता है । जो रेले अब तक सरकार के लिए एक बोझ थी वे अब वरदान सिद्ध होने लगीं । देश के देशी और विदेशी व्यापार मे वृद्धि होने से यातायात मे अपूर्व वृद्धि हो गई जिससे रेलो की आय-वृद्धि हुई और उनको अब हानि के स्थान पर लाभ होने लगा । विदेशी विनिमय की दर मे स्थिरता आने के कारण भी देश की व्यापार-वृद्धि मे सहायता मिली । यातायात मे वृद्धि के कारण रेलो के तंत्र (Equipment) का पूर्ण उपयोग होने लगा और फलस्वरूप उनकी आय मे वृद्धि हुई और व्यय कम हुआ । इस समय लगातार कई वर्ष तक सरकारी आय-व्ययक (Budgets) मे भी बचत हुई ।

इन सब कारणों से रेलो के प्रति सरकार और जनता के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो चला। अब तक जिन रेलो को राष्ट्रीय साधनों पर भारस्वरूप समझा जाता था, अब उन्हे उत्पादक व्यवसाय समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अब रेलो के लिये पूँजी की कोई कमी न रही। कभी-कभी इतना रुपया सरकार रेलो के लिए मंजूर करने लगी जितना कि वर्ष भर मे व्यय भी नही हो पाता था।

यातायात में अपार वृद्धि होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि अधिकाधिक यातायात के सुचारु संचालन के लिये रेलो की दक्षता (Efficiency) मे वृद्धि हो। इस आवश्यकता को ध्यान मे रखकर भारत सरकार ने मंजूर की हुई पूँजी को चालू रेलो की दक्षता और सुविधायें बढाने मे व्यय करने का निश्चय किया और नई रेलो के कार्य को गौण स्थान दे दिया गया। इसी निश्चय के अनुसार १६०१ और १६०२ मे मजूर हुए ६५० लाख और ६२३ लाख रुपये मे से केवल एक करोड रुपया नई रेलो के निर्माण मे लगाया गया। भारत-मंत्री ने इस नीति का समर्थन किया और यह नियम बना दिया कि जितना धन प्रतिवर्ष रेलो के लिए निर्धारित किया जाए, उसमे से सर्व प्रथम चालू रेलो की आवश्यकता पूर्ति में लगाया जाय, तदुपरान्त उन रेलो को धन दिया जाय जो उस समय बन रही थी और अभी चालू नही हो सकी थीं। इसके उपरान्त अन्तिम बारी नई रेलो के निर्माण की आनी चाहिए।

इसी समय (१६०१) श्री टामस राबर्टसन (Mr. Thomas Robertson) को भारतीय रेलो के सम्बन्ध म जाँच करने के लिये विशेष कमिश्नर (Special Commissioner) की हैसियत से भेजा गया जिन्होने अपना प्रतिवेदन देते हुए उक्त नीति का समर्थन किया और कहा कि यदि रेलो के लिए पर्याप्त पूँजी जुटाई जा सके तो इस कार्यक्रम के अनुसार चलने मे कोई कठिनाई न होगी। किन्तु कालान्तर मे आवश्यकतानुसार पूँजी जुटाने मे कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगी और पूँजी की कमी को दूर करने के लिए कम्पनियो द्वारा संचालित रेलो को वार्षिक 'कार्यक्रम' (Programme) से निकाल दिया गया। इनके लिए पूँजी जुटाने का अधिकार कम्पनियो को ही दे दिया गया और उन्हे प्रेरणा प्रदान करने का सुझाव भी श्री राबर्टसन ने रखा ताकि रेल-निर्माण मे प्रगति आ सके। राजकीय रेलो की दशा सुधारने के लिए उन्होने कहा कि पुरानी रेलो के सुचारु संचालन और नई रेलो के निर्माण के हेतु एक रेल निधि (Railway fund) की स्थापना होनी चाहिए जिसमे आरम्भ मे १५ करोड रुपए जमा किए जाये और भविष्य मे भारत की सारी रेलो के अतिरिक्त लाभ से उसकी वृद्धि की जानी चाहिए। रेल निधि के प्रबन्ध के लिए उन्होंने रेल बोर्ड (Railway Board) की स्थापना का भी सुझाव दिया। इन प्रस्तावो को तो भारत सरकार ने स्वीकार न किया किन्तु एक तृतीय वर्षीय 'कार्यक्रम' का सुझाव रखा। भारत-मंत्री प्रस्तावित रेल बोर्ड को तृतीय वर्षीय कार्यक्रम के आधार पर धन देने को प्रस्तुत थे। अतः १२ करोड रुपए की मंजूरी दे दी गई। १६०५ मे रेल बोर्ड की स्थापना भी कर दी गई, किन्तु रेल निधि सम्बन्धी सुझाव सरकार ने न माना। उसी

वर्ष रेल बोर्ड ने तीन-वर्षीय कार्यक्रम उपस्थित करते हुए १५ करोड रुपए के वार्षिक व्यय का अनुमान लगाया। इस व्यय-वृद्धि का कारण रेलो की अधिक लाभ बतलाया जिससे उन्हे अधिक यंत्रयानादि की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। १६०७ मे भारतीय रेलो तथा व्यापारियो की ओर से कई प्रतिनिधि भारत-मत्री से मिले जिन्होने भारत मे रेल सम्बन्धी असुविधाओ की ओर सकेत किया। तुरन्त ही मैके समिति (Mackay Committee) की स्थापना की गई। इस समिति ने बताया कि 'भारत मे रेलो के पास माग के अनुरूप साधन सामग्री नही है। अतः उन्हे अपना कार्य सुचारु रूप से संचालन करने के लिए अधिक धन की आवश्यकता है।' इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित सीमा समिति ने निर्धारित न करके भारत सरकार से आग्रह किया कि वह प्रतिवर्ष भारत और इंगलैंड मे मिल सकने वाले ऋण के आधार पर सीमा बाँध दिया करें। तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार दोनो देशो मे मिलने वाले ऋण की सीमा १४० लाख पौंड बाँधी गई जिसमे से ६० लाख पौड लन्दन मे मिल सकने की सभावना थी और शेष ५० लाख पौड भारत मे। इसमे से १५ लाख पौड नहरों और अन्य लोक कार्यों के लिए छोडकर १२५ लाख पौड (अर्थात् १८.७५ करोड रुपए) प्रति वर्ष रेलो पर व्यय करने का निश्चय किया गया। मैके समिति का इस प्रकार सुझाव देने का मन्तव्य यह था कि भारत सरकार देश की आवश्यकताओ के अनुसार प्रतिवर्ष उचित धन रेलो पर व्यय करके एक समतुल नीति का पालन कर सकेगी और लोगो की शिकायते दूर हो जायेगी। किन्तु न तो यह मन्तव्य ही पूर्ण हो सका और न समिति द्वारा निर्धारित धनराशि ही सरकार सदैव लगा सकी जैसा कि नीचे की तालिका[1] से स्पष्ट होता है—

वर्ष	पूँजीगत व्यय करोड रुपए	वर्ष	पूँजीगत व्यय करोड रुपए
१६०८-०६	१५·००	१६१४-१५	१८·००
१६०६-१०	१५·००	१६१५-१६	१२·००
१६१०-११	१६·३०	१६१६-१७	४·५०
१६११-१२	१४·२५	१६१७-१८	५·४०
१६१२-१३	१३·५०	१६१८-१६	६·३०
१६१३-१४	१८·००	१६१६-२०	२६·५५

इन आँकडो से विदित होता है कि १६१६-२० तक केवल एक वर्ष मे १८·७५ करोड रुपए की सीमा से अधिक धन व्यय हो सका। शेष ग्यारह वर्षों मे कभी

1. R. D. Tiwari : *Railways in Modern India*, 1941, p. 80.

भी उस सीमा को छुआ भी न जा सका। युद्ध काल म स्थिति अत्यन्त ही निराशाजनक हो गई थी और १९१६-१७ म केवल ८½ करोड रुपए रेलो के लिए व्यय किए जा सके जबकि उस समय के कार्य-भार को देखकर उससे कई गुना धन व्यय करना चाहिए था। यह सरकारी नीति सन्तोषजनक नही थी और देश भर मे इसकी कडी आलोचना हो रही थी। इस सारी आलोचना का सकेत विशेषत. दो बातों की ओर था। प्रथम सरकार की अनियमित और अनिश्चित वित्त व्यवस्था (Financial Policy) जिसके कारण न तो रेलो का आवश्यकतानुसार विकास ही सम्भव था और न जीर्णोद्धार व नवकरण के लिए ही पर्याप्त धन व्यय किया जा सकता था। इसके दुष्परिणाम जनता को भुगतने पडते थे। दूसरे, विदेशी कम्पनियो के प्रति भारी विरोध भाव जागृत होता चला जा रहा था और प्रति-वर्ष बजट के अवसर पर रेलो के राष्ट्रीयकरण के विषय म प्रश्न उठाए जाते थे। इस समय रेलो का स्वामित्व और सचालन इस प्रकार था।

	स्वामित्व	सचालन
सरकारी	७३%	२१%
कम्पनियो का	१२%	७०%
देशी रियासते	१५%	९%

यह स्थिति आलोचना का मुख्य विषय थी। अवसर मिलते ही सरकार ने इस विरोध भाव का अन्त करने के लिए १ नवम्बर १९२० मे ऑकवर्थ समिति (Acworth Committee) की नियुक्ति की जिससे निम्नांकित प्रश्नो पर प्रकाश डालने की प्रार्थना की गई—

"(१) सरकारी रेलो के सम्बन्ध म भारतीय परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर निम्नांकित प्रबन्ध व्यवस्थाओ म प्रत्येक के गुण-दोषो (प्रशासनात्मक और आर्थिक) पर विचार करे : (क) प्रत्यक्ष राजकीय प्रबन्ध, (ख) ऐसी कम्पनी द्वारा प्रबन्ध जिसका निवास-स्थान इंग्लैंड म हो और जिसके सचालक मण्डल (Board of Directors) की बैठकें लन्दन मे हो, (ग) ऐसी कम्पनी द्वारा प्रबन्ध जिसका निवास-स्थान भारत हो और जिसका सचालक मण्डल भी भारतीय हो, तथा (घ) उपर्युक्त (क) और (ख) मे वर्णित कम्पनिया के सम्मिश्रण द्वारा प्रबन्ध; इत्यादि और सरकार को इस बात की अनुमति दे कि वर्तमान कम्पनियो के समझौतो की अवधि समाप्त होने पर उनके सम्बन्ध मे किस नीति का पालन किया जाए।

(२) रेल बोर्ड के कार्य (Functions), स्थिति (Status) और विधान (Constitution) तथा रेलो के प्रशासन मे भारत-सरकार के नियन्त्रण के ढग के सम्बन्ध मे परीक्षण करे और उनम ऐसे सशोधनो का सुझाव दे जो सरकार के रेलो से सम्बन्धित कर्त्तव्यो के सम्पादन के हेतु आवश्यक समझे जायें।

(३) भारतीय रेलो मे रुपया लगाने की क्या व्यवस्था की जाए और विशे-

पतः नई रेलों के निर्माण के हेतु व्यक्तिगत साहस द्वारा अधिकाधिक पूँजी लगाने की क्या संभावना हो सकती है।"

इन प्रश्नों पर विचार करने के उपरान्त समिति ने १९२१ में अपना प्रतिवेदन (Report) देते हुए कहा :—

(१) रेलों का प्रबन्ध—समिति इस बात में एकमत थी कि भारतीय रेलों का प्रबन्ध लन्दन से न होकर भारत से ही होना चाहिए। अतएव जैसे-जैसे इंगलिश गारण्टी वाली कम्पनियों के साथ हुए समझौतों की अवधि समाप्त हो उनका अन्त कर देना चाहिए और उन्हें आगे के लिए नहीं बढ़ाना चाहिए। राष्ट्रीयकरण के प्रश्न के सम्बन्ध में समिति में मतभेद था। पाँच सदस्यों का मत यह था कि भारतीय रेलों का प्रबन्ध भारतीय कम्पनियों के अधिकार में दिया जाना चाहिए; किन्तु शेष चार सदस्य और सभापति श्री ऑक्वर्थ, पूर्णतः राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे। अन्त में सभापति के निर्णायक मत (Casting vote) द्वारा राष्ट्रीयकरण के पक्ष में उस प्रश्न का निपटारा हुआ। राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर यह अन्तिम निर्णय था और भविष्य के लिए यही नीति अपनाई जाने लगी।

(२) रेल बोर्ड—रेल बोर्ड का नाम रेल आयोग (Railway Commission) रखने को कहा। इसके पाँच सदस्य हों। एक मुख्य आयुक्त हो जो रेल बोर्ड के मन्त्री का कार्य भी करे। दूसरा वित्तीय आयुक्त (Financial Commissioner) कहलाए और शेष तीन सदस्य आयुक्त और हों जिनमें से प्रत्येक रेलों के एक क्षेत्र (पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी) का उत्तरदायित्व ग्रहण करे। सदस्यों की सहायता के लिये कुछ विशेषज्ञ कर्मचारी (Technical Staff) भी हों। समिति ने यह भी कहा कि रेल बोर्ड और रेलों के सम्पूर्ण कार्य वायसराय की कार्यपालिका परिषद् (Executive Council) के एक सदस्य के आधीन हों और उसे रेलों के अतिरिक्त बन्दरगाहों, अन्तर्देशीय नौ-परिवहन (Navigation), सड़क परिवहन (जहाँ तक इसका अधिकार केन्द्रीय सरकार के हाथ में था) तथा डाक और तार विभागों का भी अधिकार दिया जाना चाहिये। इस भाँति परिवहन और संचार का एक अलग स्वतन्त्र विभाग बनना चाहिये।

(३) वित्त-व्यवस्था—समिति ने रेलों के आय-व्ययक (Budget) को सरकारी आय-व्ययक से सर्वथा अलग रखने को कहा ताकि रेलें अपनी स्वतन्त्र नीति बरत सकें। रेल के आय-व्ययक के बनाने में सरकार के वित्त-मन्त्री का कोई हाथ न रहे। उसे रेल विभाग ही बनाए और विधान-सभा (Legislative Assembly) में परिवहन मंत्री उपस्थित करे। रेलें अपना हिसाब-किताब अलग रखें और अन्तिम सरकारी लेखा-परीक्षण अधिकार के अतिरिक्त वे अपने निज के लेखा-परीक्षक भी रखें।

ऑकवर्थ समिति ने उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी अपना

मत व्यक्त किया और उन्हे कार्यान्वित करने के लिए सरकार से अनुरोध किया। उनमे से प्रमुख सिफारिशें (Recommendations) ये हैं :—

(४) रेल-भाड़ा-न्यायाधिकरण (Railway Rates Tribunal)—रेलो के किराये-भाडे सम्बन्धी नीति के विषय में जनता की शिकायतें सुनने के लिए एक तीन सदस्यो का रेल-भाडा-न्यायाधिकरण स्थापित होना चाहिए जिसका सभापति एक अनुभवी वकील हो और दो सदस्यो मे से एक रेलो के पक्ष का और दूसरा वाणिज्य-पक्ष का प्रतिनिधि हो।

(५) जन-सम्पर्क—भारतीय रेलो के प्रबन्ध मे अधिकार देने के लिए केन्द्रीय और स्थानीय परामर्शदात्री समितियां बनाई जाएं जो जनता के सम्पर्क में रह कर उनकी आवाज सरकार तक पहुँचाएं।

(६) कर्मचारियों का भारतीयकरण (Indianisation of Staff)—युद्धोपरान्त काल म रेलो के भारतीयकरण की माँग दिन पर दिन जोर पकडती जा रही थी। आकवर्थ समिति न इसे लोगो की वास्तविक शिकायत समझा और कहा कि भारत-सरकार को चाहिये कि वह एक निश्चित समय मे रेलो मे भारतीय कर्मचारियो की एक न्यूनतम सख्या तुरन्त नियुक्त करे। भारतवासियो को रेलो के कार्य मे योग्य बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि भारतवासियो को रेल विषयक प्रत्येक कार्य के लिये प्रशिक्षण की सुविधाएँ दी जायें।

(७) समिति ने प्रान्तर (Gauge) के प्रश्न पर भी पुर्नविचार करने की सिफारिश की। समिति का मत यह भी था कि सहायक रेलो (Branch lines) का सचालन जहाँ तक सभव हो सके मुख्य रेलो द्वारा ही होना चाहिए।

आँकवर्थ समिति का प्रतिवेदन भारतीय रेलो के इतिहास मे एक महान् युगान्तरकारी घटना समझी जाती है। इसके प्रकाशित होते ही रेलो की न केवल वित्त विषयक नीति मे परिवर्तन हुआ, वरन् राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी सदैव के लिए हल हो गया। इस समिति की सभी प्रमुख सिफारिशो को सरकार ने मान लिया और धीरे-धीरे तदनुसार कार्य होने लगा। इस भांति भारतीय रेलो के राष्ट्रीयकरण का युग प्रारम्भ हुआ।

अध्याय १३

भारतीय रेलें (२)

(Indian Railways)

(२) राष्ट्रीयकरण (Nationalization)

भारतीय रेलों का चतुर्थ और महत्वपूर्ण युग ऑकवर्थ समिति के सुझावों के अनुसार नीति परिवर्तन के साथ आरम्भ हुआ। इस युग में हमारी रेलों को तीन अवस्थाओं से होकर निकलना पड़ा जिन्हें तीन कठिन अग्नि-परीक्षाओं के समान समझना चाहिए। प्रथम अवस्था १९२२ से १९३० तक की अभिवृद्धि (Boom) काल था, द्वितीय अवस्था १९३१ से १९३९ तक का अवसाद काल; और तृतीय अवस्था, द्वितीय युद्ध काल। प्रथम अवस्था में रेलें सरकार को अमित लाभ दे रही थीं जिसका प्रत्युत्तर सरकार उन्हें निर्माण और विकास के लिए अमित धनराशि देकर कर रही थी। जितना धन व्यय करने की स्वीकृति दी जाती थी उसे वर्ष भर में व्यय कर लेने को रेलों के सम्मुख एक समस्या खड़ी हो जाती थी, कभी-कभी योजनायें बनने से पूर्व ही सरकारी स्वीकृति मिल जाती थी। सरकार और रेल अधिकारी दोनों ही वैभव से मन्दोन्मत्त हो उठे थे। फलत: रेल-निर्माण की अच्छी प्रगति हुई। १९२८-२९ में १,८८२ मील लम्बी रेलें बन कर चालू हुईं।

अवसाद काल में रेलें दीनावस्था को पहुँच गईं। इस समय प्रगति और वृद्धि का तो प्रश्न ही दूर रहा, उन्हें जीर्णोद्धार व प्रतिस्थापन तक के लाले पड़ गए। द्वितीय महायुद्ध काल रेलों के लिए भारी संकट का समय था। यातायात और कार्य-भार में अपूर्व वृद्धि होती रही किन्तु आवश्यक साधन-सामग्री का भारी अभाव था।

चतुर्थ युग की सारी मुख्य-मुख्य घटनाएँ उन सुधार-कार्यों से सम्बन्धित है जिनका सुझाव ऑकवर्थ समिति ने दिया था और जिन्हें रेलों की भावी नीति का आधार मानकर भारत सरकार ने कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया।

(क) राष्ट्रीयकरण—ऑकवर्थ समिति के निर्णय के अनुसार भारतीय रेलों के पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति सर्वदा के लिये मान ली गई। फलत: फरवरी १९२३ में

विधान सभा ने भारतीय रेलो के राजकीय प्रबन्ध के पक्ष मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके विभिन्न रेलो के साथ हुए समझौतो की अवधि समाप्त होते ही उन्हे सरकार अपने अधिकार मे लेने लगी। सर्वप्रथम १९२४ म इण्डियन और १९२५ मे ग्रेट इण्डियन पेंनुन्सला रेलो को भारत-सरकार ने अपने प्रबन्ध मे ले लिया। १९२६ मे दिल्ली-अम्बाला-कालका रेल को भी सरकार ने इसी भांति अपने स्वामित्व मे लेकर प्रबन्ध के लिए नार्थ वेस्टर्न रेल के सुपुर्द कर दिया। इसी भांति अन्य रेलो को भी धीरे-धीरे सरकार लेती गई जिसका उल्लेख निम्नांकित सूची मे किया गया है। अनेक व्यक्तिगत (Private) रेलो के संविदे बहुधा १९४१ और १९५० के बीच मे समाप्त होने को थे और इसी काल मे उन्हे सरकार ने लिया। स्वतन्त्रता देवी के आगमन के उपरान्त परिस्थितियाँ सर्वथा बदल गई। देशी राज्यो के सकलन (Integration) की नीति के साथ-साथ वे सब रेले भी भारत मे सम्मिलित हो गई जो अब तक अनेक रियासतो के अधिकार म थी। इस भांति १ अप्रैल १९५० तक न केवल भारत स्थित व्यक्तिगत रेले वरन् रियासतो की रेले भी भारत सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध म आ गई और राष्ट्रीयकरण का कार्य पूर्ण हो गया। केवल बहुत छोटी-छोटी कुछ रेलो को छोड कर सारी रेले अब भारत-सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध मे है।[1]

भारतीय रेलो के राष्ट्रीयकरण की प्रगति

वर्ष	रेल का नाम	सरकार द्वारा लेने की तारीख
१९२५	ईस्ट इन्डिया रेलवे	१ जनवरी
	ग्रेट इण्डियन पेंनुन्सुला रेलवे	१ जुलाई
१९२६	दिल्ली-अम्बाला-कालका रेलवे	१ अप्रैल
१९३०	साउदर्न पजाब रेलवे	—
१९३६	अमृतसर-पट्टी-कसूर रेलवे	१ जनवरी
१९३८	वेजवादा मछलीपट्टम रेलवे	४ फरवरी
१९३९	साउथ बिहार रेलवे	३० जून
	हरिद्वार देहरा रेलवे	३१ दिसम्बर
१९४०	बगाल द्वार्स रेलवे	३१ दिसम्बर
१९४२	बम्बई बडौदा व सेन्ट्रल इन्डिया रेलवे	१ जनवरी
	आसाम बगाल रेलवे	१ जनवरी
	ताप्ती घाटी रेलवे	३१ मार्च
	मीरपुरखास खादरो रेलवे	३१ दिसम्बर

१. १६ अप्रैल १९५३ को ३४,३३९ मील रेलो मे से केवल ७५७ मील लम्बी (अर्थात् १·७ प्रतिशत) रेले सरकारी स्वामित्व और प्रबन्ध की परिधि के बाहर थी।

वर्ष	रेलवे	तिथि
१९४३	बंगाल व नार्थ वेस्टर्न रेलवे	१ जनवरी
	रुहेलखण्ड कमायूं रेलवे	
१९४४	चम्पानेर-शिवराजपुर पनीलाइट रेलवे	३१ मार्च
	गोधरा-लुनावदा रेलवे	
	नदियद कपदवंज रेलवे	
	मद्रास व साउथ मरहठा रेलवे	१ अप्रेल
	साउथ इण्डियन रेलवे	
	धोंद-बारामती रेलवे	१ अक्टूबर
	बंगाल-नागपुर रेलवे	
१९४५	जैकोबाबाद-काश्मीर रेलवे	१ अप्रैल
	दिब्रू-सदिया रेलवे	
	पोदानूर-पोलक्की रेलवे	१५ अक्टूबर
१९४६	होशियारपुर-दोआब ब्राच रेलवे	३१ मार्च
	स्यालकोट-नरोवल रेलवे	
	सारा-सिराजगज रेलवे	१ अक्टूबर
१९४७	अहमदाबाद-प्रान्तेज रेलवे	१ जनवरी
	मन्दरा भावन रेलवे	१ अप्रेल
१९४८	खुलना-बेगरहट रेलवे	१ अप्रेल
	मैमनसिंह-भैरव बाजार रेलवे	
	मैथरन हिल लाइट रेलवे	
	दार्जिलिंग-हिमालय रेलवे	२० अक्टूबर
१९४९	पचौरा जामनगर रेलवे	१ अप्रेल
	गायकवाड बडौदा रियासत रेलवे	१ अप्रेल
	पिपलोद देवगढ बरिया रेलवे	
	तारपुर-खम्भात रेलवे	
	कूचबिहार रियासत रेलवे	
	कोल्हापुर रियासत रेलवे	
	पालनपुर-दीसा रेलवे	
	राजपीपला रियासत रेलवे	
	सांगली रियासत रेलवे	
	भोपाल पर्वती रेलवे	
	कच्छ रियासत रेलवे	
१९५०	पार्लकीमेदी लाइट रेलवे	१ फर्वरी
	मयूरभज रेलवे	
	सौराष्ट्र की रेलें	१ अप्रेल
	राजस्थान की रेलें	
	मैसोर की रेलें	
	मध्यभारत की रेलें	
	हैदराबाद की रेलें	
	पजाब व पंजाब	
	रियासत सघ की रेलें	
	ट्रावनकोर-कोचीन की रेलें	

Compiled from the Reports of the Railway Board.

(ख) वित्त-व्यवस्था का पृथक्करण (Separation of Railway Finance)—शैशवावस्था से ही भारतीय रेलो की वित्त-व्यवस्था आलोचना का विषय रही थी। अनेक बार समितियो और विशेषज्ञो ने इस प्रश्न का अन्तिम हल निकालने के असफल प्रयत्न किए, किन्तु कोई स्थायी नीति निर्धारित न की जा सकी। ऑकवर्थ समिति ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। तत्कालीन वित्त-व्यवस्था म उन्होने अनेक दोष पाये। रेलो का आय-व्यय देश के आय-व्यय के साथ सम्मिलित होने के कारण उनकी सफलता विफलता सर्वथा वित्त मत्री की कृपा पर निर्भर रहती थी, उस पर देश की राजनीतिक व अन्य परिस्थितिया का भारी प्रभाव पडता था। रेलो के आय-व्यय म न कोई निश्चितता ही थी और न कोई तारतम्य अथवा सतुलन। प्रति वर्ष के आरम्भ म जितना धन व्यय करने की उन्हे अनुमति मिलती थी, उसका कोई अश यदि आगामी ३१ मार्च तक नही व्यय हो सका तो वह समाप्त हो जाता था और प्रति आगामी वर्ष के लिए नए सिरे से नई परिस्थितियो को ध्यान म रख कर उन्हे व्यय करने की अनुमति मिलती थी। ऐसी परिस्थितिया म रेले कोई दूरदर्शिता की नीति नही बरत सकती थी। न वे विकास व प्रचार के लिए और न वार्षिक जीर्णोद्धार (Repairs) व नवकरण (Renewals) के लिए ही पर्याप्त पूँजी जुटा पाती थी। आधुनिक वृहत्काय व्यवसाया के तारतम्य का उनकी नीति म सर्वथा अभाव था। उनका आय-व्यय का लेखा रखने का ढग भी सन्तोषजनक नही था। औद्योगिक सस्थाओ के समान उसम लोच न थी। न उनके पास अपना कोई सचित कोष था और न कोई अवमूल्यन निधि (Depreciation Fund) ही। इस स्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किए बिना भारतीय रेलें जनता की उचित सेवा करने म असमर्थ थी। इन दोषो को दूर करने के लिए समिति ने दो सुझाव रखे (१) रेलो के आय-व्ययक (Budget) का देश के सामान्य आय-व्ययक से प्रथक्करण और उसका इस ढग से पुनर्निर्माण कि उसे वार्षिक अवधि की सकुचित नीति से छुटकारा मिल सके, और (२) रेलो की वित्त-व्यवस्था और प्रबन्ध से सरकारी वित्त-विभाग का अधिकार सर्वथा हट जाये।

किन्तु समिति रेलो से विधान-मण्डल का सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्ष म न थी। उसका मत था कि रेलें अपने आन्तरिक प्रबन्ध व समायोजन म स्वतन्त्र होते हुए भी विधान-मण्डल के उसी प्रकार आधीन रहें जैसे सरकार के अन्य विभाग रहते हैं। रेलें अपना हिसाब-किताब अलग रखें और अपने वार्षिक लाभ को सरकारी कोष से अलग रख कर उसे रेलो की सुविधाएँ बढाने अथवा किराया-भाडा कम करके सार्वजनिक हितार्थ व्यय करें। किन्तु यह आवश्यक समझा गया कि सारे वार्षिक लाभ पर उनका एकाधिकार न स्थापित हो। उसका एक अश सरकारी कोष को भी मिलता रहे। यह न्यायसगत और लोकमत के अनुकूल समझा गया, क्योकि अभी तक रेलो की आय सरकारी कोष का एक आवश्यक अग रही थी जिसे सहसा अलग नही किया जा सकता था। दूसरे, रेलें वर्षो तक हानि उठाती रही थी जिसका भार अन्ततोगत्वा

कर-दाता पर पड़ता रहा था और अब जब उन्हें लाभ होने लगा था तो कर-दाता उसके किसी अंश की अवश्य अपेक्षा करते थे।

आँकवर्थ समिति के मत की पुष्टि रेल वित्तीय समिति और इञ्चकेर समिति (१६२२-२३) ने भी की जो कि उसके प्रतिवेदन प्रकाशित होने के उपरान्त नियुक्त की गई थी, विशेषत: उन्होंने रेलों के लिए संचित निधि (Reserve Fund) और अव-मूल्यन निधि (Depreciation Fund) बनाने की बात पर जोर दिया। संसार के जिन देशों में रेलों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था (अर्थात् प्रशा, स्विट्जरलैंड, बेलजियम, इटली, फ्रान्स, दक्षिणी अफ्रीका, जापान इत्यादि) वहाँ पर रेलों का आय-व्यय सरकारी आय-व्यय से सर्वथा अलग रखा जा रहा था। अत: भारत सरकार ने भी इसी नीति को अपनाने का निश्चय किया। २० सितम्बर, १६२४ को इस नीति को निर्धारित करते हुए विधान-मण्डल ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जो प्रथित प्रस्ताव १६२४ (Convention Resolution 1924) के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रमुख प्रतिज्ञायें निम्न हैं :—

रेलों के आय-व्यय को सरकारी आय-व्यय में सम्मिलित करने से सरकारी आय-व्ययक (Budget) में जो भारी उतार-चढ़ाव आते थे उन्हें दूर करने और रेलों को दूरदर्शितापूर्ण सन्तुलित नीति बरतने के लिए समर्थ बनाने के उद्देश्य से यह निश्चय किया गया कि :

(१) रेलों की आय-व्यय सरकारी आय-व्यय से अलग रखी जायगी और रेलें प्रतिवर्ष सरकारी कोष को एक निश्चित अंशदान (Contribution) दिया करेंगी जिसका उनकी शुद्ध आय (Net Receipts) पर प्रथम दायित्व होगा।

(२) उक्त निश्चित अंशदान उत्पादक रेलों में लगी हुई पूँजी (कम्पनियों व रियासतों द्वारा लगाई गई पूँजी को छोड़ कर) का एक प्रतिशत और बचे हुए अतिरिक्त लाभ का ⅕ भाग होगा। यदि किसी वर्ष रेलों की आय उक्त एक प्रतिशत धनराशि को देने के लिए कम पड़े, तो उस कमी को पूरा किए बिना आगामी वर्षों में अतिरिक्त लाभ हुआ न समझा जायगा। अनुत्पादक (Strategic) रेलों में लगी हुई पूँजी का व्याज और उनकी हानि सरकार को भुगतनी होगी और फलत: उसे रेलों के उक्त दायित्व में से घटा दिया जायगा।

(३) सरकारी कोष को उक्त धनराशि देने के उपरान्त, शेष लाभ रेलों की संचित-निधि में (Reserve Fund) में दे दिया जाएगा। किन्तु यदि किसी वर्ष इस निधि में दिया जाने वाला धन तीन करोड़ रुपए से ऊपर हो तो तीन करोड़ रुपए से ऊपर के लाभ का केवल दो-तिहाई इस निधि में दिया जाएगा और एक-तिहाई सरकारी कोष में दे दिया जाएगा।

(४) उक्त रेलवे निधि को निम्न उद्देश्य-पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सकेगा : (अ) सरकारी कोष को वार्षिक अंशदान देने; (ब) अवशिष्ट अवक्षयण

(Depreciation) के लिए, (स) पूँजीगत व्यय को मिटाने अथवा कम करने और (य) रेलों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए।

(५) रेलों को उक्त निधि से ऋण लेने का अधिकार प्राप्त होगा।

(६) रेलों के लिए १२ सदस्यों की एक स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee) बनाई जायगी। इसका सभापति विधान सभा के सदस्यों में से एक सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति होगा और ११ सदस्य विधान सभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होंगे। स्थायी वित्त समिति के १२ सदस्य केन्द्रीय मंत्रणा परिषद् (Central Advisory Council) के भी पदेन (Ex-officio) सदस्य समझे जायेंगे। इनके अतिरिक्त एक और मनोनीत सदस्य तथा १२ अन्य गैर-सरकारी सदस्य मिलाकर इसके कुल २५ सदस्य होंगे। रेलों के व्यय सम्बन्धी अनुदानों (Grants) का विधान-सभा में जाने से पूर्व स्थायी वित्त समिति द्वारा परीक्षण आवश्यक होगा।

(७) रेलों का बजट विधान-सभा के सामने देश के सामान्य बजट से पूर्व रखा जायगा और उसके वाद-विवाद के लिए अलग दिन निश्चित किए जायेंगे।

इसी प्रस्ताव के अनुसार रेलों की सम्पत्ति के नवकरण के हेतु एक अवक्षयण निधि (Depreciation Fund) बनाई गई और रेलों के कर्मचारीगण के शीघ्र से शीघ्र भारतीयकरण तथा रेलों के लिए भारत सरकार के द्वारा सामान खरीदने की व्यवस्था का भी आग्रह किया गया।

इस प्रस्ताव की स्वीकृति के उपरान्त भारतीय रेलों की वित्त-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अब रेलों के आय-व्यय से सरकार के वित्त विभाग का अधिकार हट गया। रेलें अपनी स्वतन्त्र नीति बरतने लगीं। रेलों के बजट के अलग हो जाने के कारण सरकारी बजट में भारी उतार-चढ़ाव की सम्भावना कम हो गई और रेलें भी अपनी दूरदर्शितापूर्ण सन्तुलित वित्त-व्यवस्था स्थापन करने के लिए स्वतंत्र हो गईं। संचित निधि और अवक्षयण निधि बनने से भारतीय रेलों की वित्त नीति में औद्योगिक तारतम्य स्थापित होता दिखाई दिया, तो भी इस नई व्यवस्था रूपी शरद शशि में एक कलंक कालिमा थी। सिद्धान्ततः निर्दोष और आकर्षक होते हुए भी, यह प्रस्ताव व्यावहारिक कटुता से खाली नहीं था। जब तक रेलों को अच्छे लाभ होते रहे, तब तक गाड़ी ठीक चलती रही, किन्तु हानि होने के साथ इस व्यवस्था को भयानक संक्रामक रोगों ने आ घेरा। उसकी अनेक दुर्बलताएँ एक-एक करके सामने आने लगीं।

नवीन व्यवस्था की सबसे बड़ी दुर्बलता रेलों का सरकारी कोष के प्रति दायित्व और उसकी कठोरता थी। चाहे रेलों को लाभ हो अथवा हानि, उनका यह दायित्व बराबर बना रहता था। सरकारी कोष को उन्हें पूँजी का एक प्रतिशत प्रति वर्ष देना अनिवार्य था। अपने पास से न दे सकें तो ऋण ले कर दें, किन्तु दें अवश्य। इससे उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता था। लाभ अधिक होने पर इस अंशदान (Contri-

bution) की मात्रा बढ सकती थी किन्तु लाभ कम होने से इसके कम होने की सम्भावना नही थी।

दूसरा दोष उक्त दायित्व का संचयी स्वभाव (Cumulative Nature) था। एक वर्ष रेलें देने मे असमर्थ हो अथवा कम दे सकें, तो आगामी वर्षों में सारी पिछली कमी को पूरा करने के उपरान्त ही उन्हे अपने बजट मे लाभ घोषित करने का अधिकार था। बिना पिछले दायित्व को चुकाए, रेलें कोई लाभ घोषित नही कर सकती थी, न संचित निधि को कोई धन दे सकती थी और न जनता को सुख-सुविधाएँ अथवा सस्ती सेवा ही प्रदान कर सकती थी।

इन दोषो का भयानक रूप अवसाद (Depression) काल मे रेलों के सामने आया। इस भयानकता को हृदयंगम करने के लिए हमे वस्तु-स्थिति पर विचार करना होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस नवीन व्यवस्था का प्रधान उद्देश्य रेलो की वित्त-व्यवस्था मे अविच्छिन्नता (Continuity) और लोच (Flexibility) लाने का था। वस्तुत: यह उद्देश्य लाभ न हो सका जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट है।

प्रथम पाँच वर्षों मे रेलो को पर्याप्त लाभ होता रहा और वे सरकारी कोष के प्रति अपने दायित्व को भुगतान करने तथा अवक्षयण (Depreciation) निधि मे नियमानुसार उपयुक्त धन देने के अतिरिक्त संचित निधि (Reserve Fund) मे भी धन जमा करती रही। इस निधि में १६२८-२६ तक १८.८१ करोड रुपये इकट्ठे हो गए। किन्तु १६२६-३० में आर्थिक अवसाद के आगमन से उनके लाभ की मात्रा अपर्याप्त सिद्ध होने लगी। इस वर्ष उन्हे ६.१२ करोड रुपए सरकारी कोष मे देने थे, किन्तु उनका लाभ केवल ४.०४ करोड रुपए ही था। फलत: २.०८ करोड रुपए संचित निधि से उधार लेने पडे। सन् १६३०-३१ मे रेलो की आर्थिक स्थिति और भी गिर गई। उनके आय-व्ययक (Budget) मे ५.१६ करोड रुपए की कमी रही और ५.७४ करोड रुपए उन्हे सरकार को देने थे। यह सारी कमी उक्त निधि से १०.६३ करोड रुपए निकाल कर पूरी की गई। १६३१-३२ मे स्थिति और भी बिगड गई। अब रेलो के बजट की कमी ५.१६ करोड से बढ कर ६.२० करोड रुपए हो गई। ऐसी स्थिति में सरकारी कोष को कुछ देने का तो कोई प्रश्न नही उठता था, अपने निज के बजट की कमी को पूरा करने के लिए ही उन्हे ४.६५ करोड रुपए संचित निधि से और ४.२५ करोड रुपए अवक्षयण निधि से ऋण लेने पडे। इस भाँति तीन वर्षों मे संचित निधि मृतप्राय हो गई।

अपवर्तन समिति (Retrenchment Committee)—यह पततोन्मुख स्थिति अधिक समय तक सहन नही की जा सकती थी। रेलो की आय प्रति वर्ष कम होती जा रही थी और व्यय बढता चला जा रहा था। इस स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से सन् १६३१ मे सरकार ने एक छटनी समिति (Retrenchment Committee) नियुक्त की, जिसने रेलो का व्यय घटाने के उद्देश्य से निम्नांकित सुझाव

दिए · (१) रेल बोर्ड (Railway Board) के उच्च पदाधिकारियो की सख्या कम कर देनी चाहिए। बोर्ड के सदस्यो की सख्या तीन के स्थान पर दो, सचालको (Directors) की सख्या पाँच के स्थान पर तीन, प्रति-सचालको (Deputy Directors) की पाँच के स्थान पर चार कर दी जाए केन्द्रीय प्रमापालय (Central Standards Office) के पदाधिकारियो एव लेखा नियत्रको की सख्या भी कम की जाए, (२) रेल भाडा मत्रणा समिति (Railway Rates Advisory Committee) के स्थान पर आवश्यकता पडने पर तदर्थ समिति (Ad Hoc Committee) नियुक्त करके काम चलाया जाए, (३) केन्द्रीय प्रकाशन विभाग (Central Publicity Bureau) का कार्य रेल बोर्ड के सुपुर्द कर दिया जाय, तथा (४) भारतीय रेलो के लन्दन कार्यालय के कर्मचारीवृन्द की सख्या कम की जाए व (५) रेलो के कर्मचारीवृन्द के वेतन मे ३½ से २० प्रतिशत की क्रमिक घटौती तथा अन्य प्रशासन सम्बन्धी व्यय म कटौती करने के प्रयत्न किए जाये। इन सुझावो म से अनेक को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया।

इन सब यत्नो के फलस्वरूप रेलो के वार्षिक व्यय म लगभग ३ करोड रुपए की कमी की जा सकी जो कि रेलो की स्थिति मे सन्तोषजनक परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त न थी।

पोप समिति (Pope Committee)—अपवर्तन समिति की सिफारिशे कर्मचारी वर्ग से सम्बधित व्यय म कमी करने और विशेषत रेल बोर्ड के कर्मचारी वग से सम्बधित थी। किन्तु रेलो के व्यय का प्रधान अग उनका सचालन व्यय था जिसमे वस्तुत कमी करने की आवश्यकता थी। इस तथ्य को अपवर्तन समिति ने भी स्वीकार किया था और उन्होने इस समस्या के अन्वेषणार्थ एक समिति नियुक्त करने की ओर सकेत किया था। सन् १६३२ म भारत सरकार ने पोप समिति नियुक्त कर रेलो के व्यय म मितव्ययता की सम्भावना पर प्रकाश डालने का आग्रह किया। इस समिति का मुख्य आग्रह कृत्य-विश्लेषण (Job analysis) द्वारा व्यय कम करने का था। प्रचलन शक्ति (Locomotive Power) के गहनतम प्रयोग तथा रेलो के सचालन की सुविकसित कायपद्धति द्वारा भी रेलो का व्यय कम होने की सभावना बताई। इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिक खोज द्वारा रेल बोर्ड की सहायता से समुनित प्रयत्न किए जाने चाहिये। समिति ने सम्मिलन (Amalgamation) द्वारा भी व्यय मे कमी की सभावना की ओर सकेत किया। आयात-निर्यात के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा रेलो के माल यातायात (Goods traffic) को बढाने और यात्री जनता को सुख-सुविधाये देकर पर्यटन यात्री-यातायात (Tourist traffic) को आकर्षित करने के भी प्रयत्न किए जायें जिनसे रेलो की आय-वृद्धि हो।

पोप समिति के ये सुझाव दूरदर्शितापूर्ण और अति उपयोगी थे, किन्तु इनसे तत्कालीन वस्तु स्थिति म तुरन्त सुधार की कम आशा थी। इनका प्रभाव कालान्तर मे ही ज्ञात हो सकता था। परिणाम यह हुआ कि १६३२-३३ मे भी रेलो का आर्थिक

स्थिति निराशाजनक दिखाई दी। अब उनके बजट की कमी ६'२० करोड रुपए से बढकर १०'२३ करोड रुपए हो गई जो अवक्षयण निधि से ऋण लेकर पूरी की गई और पिछले दो वर्षों का सरकारी कोष के प्रति रेलों का दायित्व इकट्ठा होकर १०'५९ (५'३६+५'२३) करोड रुपए हो गया।

अपवर्तन समिति और पोप समिति के सुझावो के अनुसार कार्य करने का परिणाम प्रथम बार सन् १९३३-३४ मे प्रतीत हुआ जबकि रेलो के बजट की कमी १०'२३ करोड रुपए से घट कर ७'९६ करोड रुपए रह गई। कई रेला द्वारा कृत्य-विश्लेषण (Job Analysis) की क्रिया अपनाने से भी व्यय मे कुछ कमी हो गई थी। साथ ही साथ अन्य प्रयत्नो के परिणाम भी दृष्टिगोचर हो चले। फलत, १९३४-३५ मे रेलो के बजट की कमी ५'०६ करोड रुपए और १९३५-३६ मे ४ करोड रुपए रह गई। इन सब वार्षिक कमियो की पूर्ति अवक्षयण निधि से ऋण ले ले कर की गई। इस भाँति १९३५-३६ तक इस निधि से ३१'४९ करोड रुपए ऋण रूप म लिए जा चुके थे जब कि अब तक इसमे कुल ४१'१८ करोड़ रुपए जमा हो पाए थे। अत: इसमे वास्तविक शेष ४१'१८ करोड के स्थान पर ९ ६९ करोड रुपए ही रह गया था। यह नीति न केवल दूरदर्शिता से शून्य थी वरन् घोर दुराशापूर्ण थी। इस नीति को अपना कर रेले अपना ही गला काट रही थी। अवक्षयण निधि स लगातार ऋण लेते जाना और व्यय कम करके आय-व्यय मे सन्तुलन स्थापित करने के सफल प्रयत्न न करना अपने कार्य-कौशल और यात्री जनता के कुशल-क्षेम पर जान-बूझ कर कुठाराघात करना था। वार्षिक जीर्णोद्धार और पोषण कार्यों के बलिदान द्वारा ही अवक्षयण निधि का यह दुरुपयोग किया जा रहा था। उक्त निधि से ऋण लेने की सुविधा के कारण न तो रेले कृत्य विश्लेषण (Job Analysis) की क्रिया को ही पूर्ण लगन और तत्परता से कार्यान्वित कर रही थी और न मितव्ययता के कोई अन्य प्रयत्न ही कर रही थी। लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) ने १९३५ और १९३६ के अपने वार्षिक प्रतिवेदनो (Reports) मे रेलो की इस नीति की खुले शब्दो मे निन्दा की और शीघ्र से शीघ्र उसके सुधार की आवश्यकता पर जोर दिया। इस भाँति अप्रैल १९३६ मे सर ऑटो नीमियर (Sir Otto Niemeyer) ने भी रेलो द्वारा सरकारी कोष मे अंशदान (Contribution) देने के महत्व की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए उनके व्यय मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता बतलाई।

वेजवुड समिति (Wedgwood Committee)—भारत सरकार ने उक्त सुझावो को ध्यान मे रखकर २० अक्टूबर १९३६ को सर राल्फ वेजवुड (Sir Ralph Wedgwood) के सभापतित्व मे एक समिति नियुक्ति की जिससे उन्होंने सरकारी रेलो की वस्तु-स्थिति का अध्ययन कर ऐसे यत्न बताने की प्रार्थना की जिनके द्वारा (क) रेलो की शुद्ध आय (Net earnings) मे महत्वपूर्ण सुधार हो सके और

(ख) उनकी आर्थिक स्थिति में शीघ्र से शीघ्र सुदृढता और लाभ की मात्रा दृष्टिगोचर हो सके।

समिति ने रेलो की आर्थिक-स्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर विभिन्न विभागो म सभावित मितव्ययता की ओर सकेत किया और पोप समिति के आदेशानुसार स्थापित मितव्यय अन्वेषण समितियो (Economy Research Committees) के कार्य की प्रगति जारी रखने की अनुमति दी। केवल व्यय कम करने से काम नही चल सकता था। समिति के विचार म रेलो का मुख्य काम न तो धन व्यय करना ही है और न रुपए की बचत ही। उनका मुख्य कर्त्तव्य धनोपार्जन है। अतएव समिति ने रेलो की आय बढाने की अनेक युक्तियाँ बतलाई जिनम से मुख्य निम्नांकित हैं :

(१) प्रत्येक रेल एक वाणिज्य-प्रबन्धकर्ता (Commercial Manager) की नियुक्ति करे जिसका पद अन्य विभागो के सर्वोच्च अधिकारियो के समान समझा जाना चाहिए। वाणिज्य-विभाग के अधीन एक किराया-भाडा उपविभाग, एक यातायात उप विभाग तथा एक अन्वेषण उप विभाग होना चाहिए। इस विभाग मे यातायात बढाने, व्यापारिक पूछ ताछ के उत्तर देने, विज्ञापन करने, तथा अन्वेषण कार्य होने चाहियें। इस विभाग म काम करने वाले कर्मचारियो के उचित प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध रेलो को करना चाहिए।

(२) उद्योगपतियो को नए औद्योगिक केन्द्र स्थापित करने तथा तत्सम्बन्धी स्थान की खोज मे उचित परामर्श देना चाहिए।

(३) औद्योगिक विज्ञापनो का प्रदर्शन करके रेलें अच्छी आय कमा सकती हैं।

(४) खाद्य एव पेय पदार्थों की बिक्री पर किराया लिया जाना चाहिए।

(५) कोयले का १२½% अधिभार (Surcharge) बढा कर १५% कर देना चाहिए।

रेलो को सडक परिवहन की प्रतियोगिता के कारण लगभग ४½ करोड रुपए वार्षिक हानि हो रही थी। इस हानि को ध्यान मे रख कर समिति ने रेल और सडक परिवहन के सूत्रीकरण की योजनाओ पर विशेष जोर दिया। सरकारी कोष के प्रति पिछले वर्षों मे रेलो का जो दायित्व इकट्ठा हो गया था जिसे रेलें अभी तक भुगतान करने मे असमर्थ रही थीं, उससे रेलो को मुक्त किए जाने के सम्बन्ध में समिति को कोई आपत्ति न थी। किन्तु अवक्षयण निधि से जो ऋण लिया गया था उससे रेलो को मुक्त करने के पक्ष मे समिति नही थी। समिति ने बताया कि एक तो इस निधि को वार्षिक वृत्ति देने का मूल ढग ही अपूर्ण[1] था, दूसरे नवीन

1. Report of the Indian Railway Enquiry Committee, 1937, p. 125.

नियमो[1] के अनुसार उसे और अवैज्ञानिक स्वरूप दे दिया गया था, जिससे उसमें उतना धन नही जमा हो सका जितना कि वस्तुत: होना चाहिए था। अतः उक्त ऋण को चुकता न करना, रेलो का गला काटने और अन्ततोगत्वा जनसाधारण के गला काटने के समान था।

१६३६-३७ मे रेलों को १·२१ करोड रुपए का लाभ हुआ जिसे नियमानुसार अवक्षयण निधि से लिए गए ऋण को चुकता करने के लिए दे दिया गया। सरकारी कोष के प्रति रेलो का दायित्व अभी बढता ही जा रहा था; उसे देने मे रेलें अभी तक असमर्थ रही थी। १·२१ करोड रुपए चुकता करने के उपरान्त भी रेलो का कुल ऋण-भार इस समय ६१ करोड रुपए से भी अधिक था। इसके निकट भविष्य मे भुगतान किए जाने की कोई संभावना नही थी। रेलो की इस दीनावस्था पर तरस खाकर एव उनकी ऋण चुकता करने की असमर्थता देख कर सितम्बर १६३७ मे केन्द्रीय विधान मण्डल ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि १ अप्रैल, १६४० से पूर्व रेलो को उपर्युक्त ऋण चुकाने के लिए बाध्य न किया जाए और जो लाभ हो उसे सरकारी कोष के प्रति वार्षिक दायित्व के चुकाने के लिए उपयोग किया जाए। अगले दो वर्षो मे वेजवुड समिति के सुझावो के अनुसार अनेक युक्तियाँ करने के उपरान्त भी रेलो की स्थिति मे इतना सुधार नही हो सका कि वे अपने वार्षिक दायित्व को चुका कर पिछले ऋण को भी चुकाने लगती। हाँ, इतना सुधार अवश्य हुआ कि १६३७-३८ मे वे सरकारी कोष के प्रति अपने वार्षिक दायित्व के एक अंश को चुकता करने मे समर्थ हो सकी ४ सितम्बर १६३६ को विधान-मण्डल ने अपने १६३७ के प्रस्ताव को दुहराया और उसकी अवधि १ अप्रैल १६४२ तक बढा दी।

इस विवरण से स्पष्ट है कि सरकारी कोष के प्रति १६२४ के प्रस्ताव द्वारा रेलो का जो दायित्व निश्चित किया गया था, वह सर्वथा अव्यावहारिक था तथा रेलो के प्रति घातक सिद्ध हुआ। उसने रेलो की वित्त-व्यवस्था मे अविच्छिन्नता और लोच लाने के स्थान पर भारी विच्छेद और संकीर्णता उत्पन्न कर दी। उसकी संक्रामकता से वर्षो के उपचार और विशेषज्ञो की माथापच्ची के उपरान्त भी रेलें मुक्त न हो सकी। यदि द्वितीय महायुद्ध न छिडता और रेलो की अपार आय-वृद्धि न हुई होती, तो इस रोग से रेलो को कभी भी छुटकारा मिल पाता, इसमे सदेह है। सिद्धान्ततः रेलो का सरकारी कोष के प्रति दायित्व लाभ का एक अंश होना चाहिए था। उसमे यह अनिवार्य संकीर्णता नही होनी चाहिये थी कि रेलो को चाहे लाभ हो या हानि;

---

१. १६३४ तक अवक्षयण निधि मे विभिन्न अचल सम्पत्ति के जीवन-काल के आधार पर धन दिया जाता था। यह सिद्धान्त उलझनपूर्ण किन्तु वैज्ञानिक था। १६३४ मे इसे सरल बनाने के लिए अचल सम्पत्ति के कुल मूल्य का $\frac{१}{६०}$ भाग दिया जाने लगा जो अवैज्ञानिक था।

चाहे वे स्वय मरे या जीवें, सरकारी कोष को वे दें ही दे। यह भी आवश्यक था कि विशेष लाभ का उपयोग रेलो की दक्षता बढाने एव सस्ती सेवा प्रदान करने के निमित्त होना चाहिए था न कि सरकारी कोष की कमी पूरी करने के लिए।

लगातार बारह वर्ष तक यातनायें भोगने के उपरान्त १६४०-४१ मे प्रथम बार रेलो के दुर्भाग्य की काली घटाये फटती दिखाई दी और उनको लाभ हुआ। किन्तु आँखे खुलते ही एक दूसरा और पहले से भी अधिक भयानक सकट सामने दिखाई दिया। यह सकट युद्ध का था। अब लाभ का उपयोग, रेलो की दशा सुधारने के लिए न होकर, युद्ध की प्रगति बढाने के निमित्त होने लगा। तो भी लाभ का एक अश पिछले ऋण भार को कम करने के लिए प्रयोग किए जाने लगा और सन् १६४१-४३ तक उस पूर्णत चुकता कर दिया गया। इस भाँति ६ वर्ष की कमी १४ वर्ष म विशेष प्रयत्नो द्वारा पूरी की जा सकी, सो भी युद्धकालीन अभिवृद्धि की कृपा से। अब इस वित्त-व्यवस्था की अव्यावहारिकता भली-भाँति प्रगट हो गई थी और उसे तुरन्त बदलने की आवश्यकता थी। किन्तु युद्धकाल म कोई स्थायी नीति निर्धारित किए जाने की सम्भावना नही थी। अतएव २ मार्च १६४३ को विधान सभा ने १६२४ के प्रस्ताव को अव्यावहारिक घोषित करते हुए, निम्न निश्चय किया :

१६४३ का प्रस्ताव

(१) १ अप्रैल १६४३ से प्राचीन प्रस्ताव का वह भाग, जो सरकारी कोष के प्रति रेलो का दायित्व निर्धारित करता है, कार्यान्वित होना बन्द हो जायगा,

(२) १६४३ ४४ का उत्पादक (Commercial) रेलो का लाभ सर्वप्रथम अवक्षयण निधि से लिए हुए ऋण का भुगतान करने के लिए प्रयुक्त किया जायगा और तदुपरान्त शेष का २५ प्रतिशत सचित निधि मे और ७५ प्रतिशत सरकारी कोष मे दे दिया जायगा, तथा

(३) भविष्य म जब तक कि कोई नई व्यवस्था नही अपनाई जाती तब तक उत्पादक रेलो पर हुए लाभ को प्रति वर्ष सरकार की तथा रेलो की अपनी-अपनी आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर बाँटा जाया करेगा।

नवीन अभिसमय प्रस्ताव (Convention Resolution), १६४६—सन् १६४३ मे जो व्यवस्था बाँधी गई थी वह ३१ मार्च १६५० तक चलती रही। अप्रैल १६४६ मे इसके सशोधन के हेतु एक समिति नियुक्त की गई जिसका निर्णय १२ दिसम्बर १६४६ को विधान सभा ने स्वीकार करते हुए एक नया प्रस्ताव पारित (Pass) किया जो एक अप्रैल १६५० से कार्यान्वित किया गया। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि :—

(१) रेलो का आय-व्यय सरकारी आय-व्यय से पृथक ही रहेगा,

(२) सामान्य करदाता को रेलो के एक मात्र अशधारी (Sole Shareholder) का अधिकार प्राप्त होगा,

(३) रेलें सरकारी कोष को प्रतिवर्ष अपनी पूंजी का एक निश्चित लाभाश दिया करेंगी;

(४) सन् १९५०-५१ से आरम्भ होकर प्रथम पांच वर्षों के लिए उक्त लाभाश की दर रेलो की कुल पूंजी (अनुत्पादक रेलो मे लगी हुई पूंजी को छोड़ कर) की ४ प्रतिशत होगी,

(५) उक्त पांच वर्ष के उपरान्त लोक-सभा की एक समिति इस दर मे परिस्थितियो से अनुकूल परिवर्तन करेगी;

(६) संचित निधि का नाम बदल कर आगम संचित निधि (Revenue Reserve Fund) रख दिया गया जिसका प्रयोग (अ) मुख्यत: सरकारी कोष को प्रतिज्ञानुसार धन देने; और (आ) रेलो के आय-व्यय की वार्षिक कमी को पूरा करने के निमित्त किया जायगा,

(७) एक विकास निधि (Development Fund) की स्थापना की जायगी जिसे निम्न उद्देश्य लाभ के लिए व्यय किया जायगा :—

(क) यात्रियो एवं अन्य रेल प्रयोक्ताओ को सुख-सुविधाये देने,

(ख) श्रम कल्याण, तथा

(ग) हानिप्रद किन्तु आवश्यक रेल-योजनाओ के लिए,

(८) सम्पत्ति के नवकरण तथा प्रतिस्थापन (Renewal and replacement) व्यय के निमित्त अवक्षयण संचित निधि (Depreciation Reserve Fund) को आगामी पाच वर्ष के लिए, प्रतिवर्ष १५ करोड रुपए[१] का न्यूनतम अंशदान (Contribution) दिया जाएगा जो सचालन-व्यय का एक अग समझा जाएगा।

(९) रेलो के बचे हुए लाभ को सचित निधि, विकास निधि और मूल्य ह्रास निधि मे परस्पर इस प्रकार बाँट दिया जाएगा कि अन्तिम निधि को आवश्यकतानुसार पर्याप्त धन मिल सके।

(१०) रेलो के लिए एक स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee) और एक केन्द्रीय मंत्रणा परिषद (Central Advisory Council) की स्थापना की जाएगी।

(११) रेलो के वार्षिक व्यय के अनुदानों (Grants) को विधान सभा के सम्मुख उपस्थित करने से पूर्व संशोधन के लिए स्थायी वित्त समिति के सामने रखा जाएगा।

(१२) रेलो के आय-व्यय का विस्तृत विवरण स्थायी वित समिति की अनुमति से रेल मंत्रालय द्वारा प्रस्तुत किया जाएगा और उसे अनुदानो के रूप मे विधान-

---

१. इस अंशदान को १९५०-५१ मे ३० करोड रुपए १९५४-५५ मे ३५ करोड़ रुपये तथा १९५५-५६ मे ४५ करोड़ रुपए वार्षिक कर दिया गया।

सभा के सम्मुख सरकारी बजट से पूर्व रखा आएगा तथा उनके वाद-विवाद के लिए अलग से दिन निश्चित किए जायेंगे और विधान सभा के सन्मुख रेल-मंत्री रेलो के कार्य तथा वित्त-व्यवस्था के विषय मे एक वक्तव्य देगा।

नई व्यवस्था के गुण--(अ) प्राचीन व्यवस्था के अनुसार रेलो को वार्षिक आय पर सरकारी कोष के दायित्व का पूर्वाधिकार था। चाहे रेलो को लाभ हो या हानि यह दायित्व रेलो को भुगतना ही पडता था। यदि किसी वर्ष वे उसे देने मे असमर्थ हो तो वह उन्हे आगामी वर्षों मे देना पडता था। इस कठोरता के दुष्परिणामो पर पिछले पृष्ठो म दृष्टिपात कर चुके हैं। नए प्रस्ताव के अनुसार इस अनिवार्यता और कट्टरता को दूर कर दिया गया। अब रेले केवल लाभाश देने के लिए उत्तरदायी है। यदि उन्हे लाभ नही होता, तो उनका सरकारी कोष के प्रति कोई दायित्व नही स्थापित होता और यदि एक वर्ष लाभाश नही दे सकती तो आगामी वर्षों मे उसे चुकता करने का उनका पूर्ववत् कोई दायित्व नही रहता। जैसे कोई उद्योगपति किसी उद्योग विशेष मे लगाई हुई पूंजी का व्याज पाने का अधिकारी है, ठीक उसी भांति करदाता को भारतीय रेलें यह लाभाश व्याज रूप म देता है।

(आ) प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत रेलो के दायित्व की दर सदैव एक-सी बनी रहती थी। अब यह बन्धन हट गया है। प्रति पांच वर्ष के उपरान्त लाभाश की दर मे परिवर्तित परिस्थितिया के अनुसार संशोधन किया जाता है। देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ रेलो को अधिक लाभ हो सकता है। इस समय लाभाश की दर ४। प्रतिशत है।[1]

(इ) पहले आय (Revenue) और पूंजी (Capital) का अन्तर स्पष्ट नही था और न दोनो प्रकार के व्यय के लिये अलग अलग निधियां ही थी। अब आय और पूंजी के लिए दो अलग-अलग निधियां है और अतिपूंजीकरण के दोष को दूर करने के लिए आय और पूंजी से व्यय करने के सम्बन्ध मे स्पष्ट नियम बना दिए गए हैं। पूंजीगत व्यय अवक्षयण निधि से और आयगत व्यय आगम सचित निधि से पूरा किए जाने की व्यवस्था करदी गई है। छोटे-छोटे परिवर्धन तथा सुधार कार्यो के निमित्त आय (Revenue) से व्यय करने की न्यूनतम सीमा १०,०००) से बढ़ा कर २५,०००) करदी गई है।

(ई) प्राचीन सचित निधि हर प्रकार के व्यय के निमित्त प्रयोग मे आती थी, किन्तु अब अलग-अलग उद्देश्यो को लेकर तीन अलग-अलग निधियां हैं। विकास निधि

---

१. सन् १९५०-६१ की अवधि मे ४ प्रतिशत तथा १९६१-६६ मे लाभाश ४। प्रतिशत रेल देगी, किन्तु रेलो को दिए गए ऋण पर वाणिज्य-विभागो द्वारा दिए जाने वाले व्याज के बराबर ही लाभाश दिया जाएगा तथा नई रेलो को निर्माण-काल और चालू होने के पांच वर्ष तक लाभाश नही देना पडेगा। छठे वर्ष से उन्हे चालू लाभाश और पुराना संचित लाभाश चुकता करना होगा।

(Development Fund) का निर्माण कर यात्री जनता को सुख-सुविधायें प्रदान करने और कर्मचारी वृन्द के कल्याण के लिए नई व्यवस्था करदी गई है जो पहले नही थी। अब हमारी रेलें लगभग तीन करोड रुपए प्रतिवर्ष यात्री जनता को सुख-सुविधायें देने के निमित्त व्यय करती है। जिन अनुत्पादक किन्तु आवश्यक योजनाओं के लिए बजट मे कोई व्यवस्था नही होती उन्हे विकास निधि से धन देकर तुरन्त कार्यान्वित किया जाता है।

(उ) अब रेलो के अतिरिक्त लाभ (Surplus profit) पर सरकार का कोई अधिकार नही रहा। वह सारा का सारा तीनो निधियो मे आवश्यकतानुसार बाँट दिया जाता है और इस बँटवारे मे भी मूल्य ह्रास निधि को सर्वोपरि अधिकार प्राप्त है। यह रेलो के पुनरसथापन कार्य की प्रगति बढाने के उद्देश्य से किया गया है।

(ऊ) प्राचीन व्यवस्था का सबसे बडा दोष मूल्य ह्रास निधि से ऋण लेने का अधिकार था। इसे अब वापिस ले लिया गया है।

नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत रेले अपने प्रतिस्थापन और पुनर्स्संस्थापन कार्यो को प्रगति के साथ सम्पन्न करने के साथ-साथ देश की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की अच्छी सेवा करने मे समर्थ है और तीनो निधियो के कोष द्वारा अपनी सामान्य स्थिति को सुदृढ़ बनाने मे भी सहायता प्रदान कर रही है।

१९५४ का प्रस्ताव

इस प्रस्ताव की धारा (५) के अन्तर्गत लोक-सभा को वार्षिक लाभाश की दर मे पाँच वर्ष उपरान्त परिवर्तन करने का अधिकार दिया गया था। अतएव सन् १९५४ मे लोक-सभा की एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने ३० नवम्बर सन् १९५४ को इस सम्बन्ध मे अपने सुझाव संसद के सामने रखे। लोक-सभा ने १६ दिसम्बर को और राज्य परिषद् ने २१ दिसम्बर सन् १९५४ को समिति के सुझावो को स्वीकार कर लिया और तदनुकूल सन् १९४९ के प्रस्ताव मे कुछ संशोधन किये, जिनमे मुख्य निम्नांकित है :—

(१) वार्षिक लाभाश की दर को सामान्य राजस्व से रेलो मे लगाई गई पूँजी के प्रतिशत के स्थान पर रेलो मे लगी हुई कुल पूँजी के प्रतिशत के रूप मे घोषित करना सभी के लिये लाभदायक बताया गया।

(२) वार्षिक लाभाश की दर आगामी पाँच वर्ष (३१ मार्च सन् १९६०[1] तक) के लिये ४ प्रतिशत ही रखने का निश्चय किया गया।

---

१. योजना के साथ-साथ चलाने के विचार से इसकी अवधि ३१ मार्च १९६१ तक बढ़ा दी गई थी।

(३) रेल-बोर्ड को अतिपूँजीकरण का ठीक ठीक हिसाब लगाने और उस पर कम दर से लाभांश लगान का आदेश दिया गया। इसके लाभांश की दर वही होगी जिस दर पर भारत सरकार वाणिज्य विभागों को ऋण देती है।

(४) नई रेलो के निर्माण-काल और उनके चालू होने के प्रथम पाँच वर्ष की अवधि मे भी कम दर (भारत सरकार द्वारा वाणिज्य विभागों को दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दर के बराबर) से लाभांश दिया जाना चाहिए, किन्तु इस कमी को छठे वर्ष और उसके उपरान्त काल म सरकारी कोष को दे देना चाहिए।

(५) मूल्य ह्रास निधि म ३१ मार्च सन् १६५५ तक ३० करोड रुपए प्रति-वर्ष दिये जाते थे जब इसे बढाकर ३५ करोड रु० कर दिया गया, किन्तु फिर इसे और भी बढा दिया गया और सन् १६५५-५६ से ४५ करोड रुपए दिए जाने लगे।

(६) रेल-सम्पत्ति की कार्य-शक्ति बनाए रखने के लिए उनके ह्रास का प्रबन्ध रेलो के लाभ-हानि पर निर्भर न होना चाहिये, वरन् उस सम्पत्ति के जीवन-काल पर निर्भर होना चाहिये और उनका नवीकरण उनकी वास्तविक स्थिति के अनुरूप किया जाना चाहिये। ह्रास और नवीकरण का स्थगन सर्वथा अनुचित बताया गया।

(७) विकास निधि का कार्य-क्षेत्र सभी रेल प्रयोक्ताओं के निमित्त बढा दिया गया और इसके लिए ३ करोड रुपए वार्षिक पूर्ववत् ही व्यय किए जाने की भी नीति अपनाई गई।

(८) तृतीय श्रेणी के रेल-कर्मचारियों के लिए बनवाये गये मकानो का किराया उनमे लगी हुई पूँजी के अनुरूप वसूल किया जाना चाहिये।

(६) विकास निधि से खर्च किये जाने वाले रुपये म से रेल-यात्रा को अधिक सुरक्षित बनाए जाने वाले कार्यों को विशेष पूर्वाधिकार दिया जाना चाहिए।

(१०) स्थायी सम्पत्ति पर किये जाने वाले व्यय का विकास निधि और वार्षिक आय म बंटवारा अनावश्यक बताया गया और यह नियम बना दिया गया कि ३ लाख रुपए से अधिक के अनुत्पादक सुधार कार्यों का व्यय पूर्णत विकास निधि मे से लेना चाहिए।

(११) नई रेलो का निर्माण-व्यय प्रारम्भ से ही पूँजीगत व्यय म सम्मिलित कर लेना चाहिए।

(१२) यदि कभी विकास-निधि मे अपर्याप्त धन रह जाए तो आवश्यक विकास कार्यों के लिए सरकारी कोष से रेलो को धन दे देना चाहिए, जिसे वे कालान्तर मे ब्याज सहित भुगतान कर दे।

(१३) किसी योजना को उत्पादक मानने के लिए ५ प्रतिशत की दर उचित बताई गई।

रेल अभिसमय समिति १९६०—१९५४ के अभिसमय प्रस्ताव की अवधि ३१ मार्च १९६० तक थी, किन्तु यह अवधि पंचवर्षीय योजना से मेल नहीं खाती थी। अतएव १९५६ के प्रस्ताव द्वारा उसकी अवधि ३१ मार्च १९६१ तक बढ़ा दी गई थी। इस अवधि के समाप्त होने से पूर्व आगामी पाँच वर्ष के लिए नया प्रस्ताव लाना आवश्यक था। अतएव १९४९ के प्रस्ताव की धारा (५) के अनुसार १९६० में संसद की ओर से एक रेल अभिसमय समिति नियुक्त की गई जिसके सुझाव दिसम्बर १९६० में लोक-सभा ने स्वीकार किए। इस समिति के मुख्य सुझाव निम्नांकित थे :—

(१) समिति के विचार में रेल-वित्त को सामान्य राजस्व से अलग रखने की व्यवस्था सन्तोषजनक रही है और रेलें अपने दायित्वों को निभाने की उपयुक्त स्थिति में आ गई है।

(२) इस व्यवस्था के कारण रेलें दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिए ३७५ करोड़ से कहीं अधिक धन जितना कि योजना बनाते समय अनुमान लगाया गया था, देने में समर्थ हुईं।

(३) समिति ने स्वीकार किया कि कर्मचारियों के वेतन तथा वस्तुओं के भाव बढ़ने के कारण निरन्तर बढ़ते हुए संचालन-व्यय तथा अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए रेलों को माल की भाड़ा-दरों में परिवर्तन करने पड़े है।

(४) तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के लिए सामान्य राजस्व को दी जाने वाली लाभांश की दर ४¼ प्रतिशत निश्चित की गई है।

(५) १९५४ के प्रस्ताव के अन्तर्गत स्वीकार किए गए लाभांश सम्बन्धी दोनों सिद्धान्तों का समिति ने समर्थन किया है : (क) सभी नई रेलों में लगी पूँजी का लाभांश पाँच वर्ष के लिए स्थगित रखा जाएगा, तथा (ख) रेलों के पूँजी विनियोग खाते में अतिपूँजीकरण पर कम दर से लाभांश दिया जाएगा जो ब्याज की औसत दर के बराबर होगा।

(६) पूर्वोत्तर सीमा रेल में लगी पूँजी पर जो घाटे में चल रही है ब्याज की औसत दर से अधिक लाभ की आशा न करनी चाहिए।

(७) सामरिक महत्व की रेलों की पूँजी पर कोई लाभांश न लगाना चाहिए, वरन् इनका घाटा भी केन्द्रीय राजस्व को उठाना चाहिए।

(८) १९५४ के प्रस्ताव के अनुसार नई रेलों में लगी पूँजी पर लाभांश रेलों के चालू होने के छठवें वर्ष से लगाना चाहिए। इस लाभांश का भुगतान नई रेलों की शुद्ध आय से चालू अवधि का लाभांश चुकाने के उपरान्त ही करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यह भुगतान तभी सम्भव है जबकि उनकी आय में से चालू लाभांश देकर धन बच रहे।

(९) रेल-यात्रियों पर लगने वाले अतिरिक्त कर को समिति ने नया रूप देने एवं उसका हिसाब सीधा रखने का सुझाव दिया है।

(१०) १९५४ के प्रस्ताव में मूल्य ह्रास निधि में ३५ करोड़ रुपए प्रति वर्ष डालने की स्वीकृति दी गई थी। कालान्तर में इसे बढ़ाकर ४५ करोड़ रुपए वार्षिक कर दिया गया था। यह भी धन अपर्याप्त सिद्ध हुआ। रेल-भाडा-दर-जांच समिति ने १९६०-६१ तक इसे ६६ करोड रुपए और तदुपरान्त ७० करोड रुपए की सीमा तक बढ़ाने का सुझाव दिया था। अभिसमय समिति ने इस सुझाव का समर्थन किया है।

(११) १९५४ के प्रस्ताव के अनुसार विकास निधि की पूर्ति के लिए केन्द्रीय राजस्व से अस्थायी ऋण लेने की व्यवस्था जारी रखने की बात कही गई है जिस पर ब्याज दिया जाता है, लाभांश नहीं।

(१२) रेल उपयोक्ताओं के निमित्त लगाई जाने वाली ३ करोड रुपए वार्षिक धन राशि को यथाशक्ति बढ़ाने की बात पर जोर दिया है।

(१३) समिति ने ऋण परिशोधन निधि स्थापित करने की सिफारिश नहीं की।

नई व्यवस्था के दोष—अभी रेलों की अर्थ-व्यवस्था से पूर्णतः सरकारी प्रभाव नहीं हटा। सरकारी कोष अभी भी रेलों के बैंक का काम करता है जिसका परिणाम यह होता है कि रेलों के पास अपना सक्रिय शेष (Working balance) सदैव नहीं रहता। रेलों के पास जो भी संचित धन होता है वह भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय के अधिकार में रहता है जिसे वे अपने सामान्य कार्यों के लिए उपयोग करने में स्वतंत्र हैं। यद्यपि रेलों के इस संचय पर सरकार ब्याज देती है, तो भी आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी रेलों को समय पर पर्याप्त धन नहीं मिल पाता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रेलों का अपना अलग खाता हो जिसमें उनके सब कोष संचित रहें और रेलें उसके उपयोग में सदैव स्वतन्त्र रहें।

(ग) कर्मचारीवृन्द का भारतीयकरण—स्वतन्त्रता के उपरान्त इस प्रश्न का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। १९२१-२२ में इसका विशेष महत्व था। इसके इस महत्व को ध्यान में रखकर ही ऑकवर्थ समिति ने इसे भारतवासियों की वास्तविक शिकायत बतलाया था। उस समय उच्चतम पदों पर कोई भी भारतीय नहीं था। उच्चतर पदों पर भी बहुत कम भारतवासी थे। यहाँ तक कि निम्नतम श्रेणी के कर्मचारियों में भी यूरोपीय लोग घुसे हुए थे। ऊँचे से ऊँचा पद जिस पर भारतवासी रखे जा सकते थे जिला अधिकारियों (District Officers) का था। ऑकवर्थ समिति के शब्दों में यद्यपि उस समय रेलों के ७,१०,००० कर्मचारियों में से केवल ७,००० यूरोपीय थे और शेष सब भारतवासी थे, किन्तु ये ७,००० उच्च पदाधिकारी नीचे के ७ लाख कर्मचारियों के ऊपर पानी के गिलास में तेल के बिन्दुओं के समान थे जो ऊपर बैठकर भी नीचे वालों से कभी नहीं मिलते थे। "देश की मुख्य-मुख्य रेलों में १७४६ प्रकृष्ट अथवा उच्च (Superior) कहे जाने वाले पदों में से १८२ अर्थात् लगभग १० प्रतिशत पर भारतीय नियुक्त किए जाते थे। इन १८२ स्थानों में

से १५८ व्यक्ति विभिन्न विभागो मे से सहायक जिला अधिकारियों (Assistant District Officers) के स्थान पर थे और केवल २४ व्यक्ति जिला अधिकारियों (District Officer) के पद पर थे।" स्वतंत्रता प्रेमी भारतवासियो के आत्म-गौरव पर यह भारी कुठाराघात था और इसके विरुद्ध भारी आन्दोलन उठ खडा हुआ था। अतएव भारत सरकार ने इस सम्बन्ध मे ऑकवर्थ समिति के सुझाव मान कर यह निश्चय किया कि आगामी वर्षों मे अधिकाधिक भारतवासियो को उच्च पदो पर नियुक्त किया जाना चाहिए और उन्हे अधिकाधिक प्रशिक्षण (Training) सुविधायें दी जानी चाहिएं। इस नीति के अनुसार शीघ्र कार्य होने लगा और रेल बोर्ड के सदस्यो मे से एक पद भारतीय को दे दिया गया। कालान्तर म भारतवासियों की अधिकाधिक सख्या उच्च पदो पर नियुक्त होने लगी और यूरोपीय लोगो की संख्या मे कमी की जाने लगी जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

रेलों मे भारतोय और यूरोपीय कर्मचारीवृन्द को प्रतिशत संख्या

वर्ष	उच्च पद (Superior)		निम्न पद (Subordinate)		कुल	
	यूरोपीय	भारतीय	यूरोपीय	भारतीय	यूरोपीय	भारतीय
१९२४-२५	७६·२३	२३·७७	३०·८४	६९·१३	५३·५४	४६·४६
१९२९-३०	६५·९१	३४·०९	२१·६०	७८·४०	४३·७५	५३·२५
१९३४-३५	६१·१६	३८·८४	२०·२५	७९·६५	४०·७५	५९·२५
१९४४-४५	३५·३९	६४·६१	८·५७	९१·४३	२१·९८	७८·०२
१९४५-४६	३२·२९	६७·७१	७·९३	९२·०७	२०·११	७९·८९
१९४६-४७	२९·४७	७०·५३	७·०२	९२·९८	१८·२५	८१·७५

तो भी जातीय भेद-भाव और पक्षपात का सर्वथा अन्त नही हुआ और भारत के स्वतंत्र होने तक भी अधिकाश उच्च पदो पर यूरोपीय लोगो का एकाधिकार था।

(घ) द्वितीय विश्व महायुद्ध—अवसाद काल के संकट से रेले मुक्त भी न होने पाई थी कि द्वितीय-युद्ध आरम्भ हो गया। पिछले दस वर्षो से यो ही जीर्णोद्वार व पोषण की समुचित व्यवस्था नही हो सकी थी और नवकरण एवं प्रतिस्थापन (Renewals and replacement) के अनेक आवश्यक कार्य स्थगित किए जाते रहे थे। अब इस ओर और भी उपेक्षा होने लगी। यह जानकर आश्चर्य होगा कि युद्धकाल मे यातायात (Traffic) की वृद्धि के साथ-साथ रेलो का वैभव बढ़ रहा था, किन्तु यह लाभ या तो पिछले ऋण को चुकता करने के लिए या युद्ध की प्रगति बढ़ाने के हेतु सरकारी कोष मे जा रहा था। रेलें अपने हितार्थ कुछ भी व्यय करने मे असमर्थ थी।

युद्धकाल में कोई नए निर्माण-कार्य हाथ में नहीं लिए जा सके, यहाँ तक कि जिन योजनाओं की स्वीकृति मिल चुकी थी और जिन पर युद्ध प्रारम्भ होने के समय निर्माण कार्य प्रारम्भ हो चुका था, उसे भी बन्द कर दिया गया।[1] नई योजनाओं का भूमापन (Survey) कार्य भी युद्धकाल में प्रारम्भ नहीं किया जा सका। आवश्यक साधन-सामग्री के अभाव में अनेक चालू रेलें और गाडियाँ बन्द कर देनी पड़ीं जिससे यात्री जनता को भारी कष्ट होने लगा। युद्ध-तृष्णा इतने से भी शान्त नहीं हुई। लगभग २६ छोटी रेलें जिनकी लम्बाई लगभग ६०० मील थी उखाड़ ली गई और उनका सामान युद्ध की बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया। लगभग ४,००० मील लम्बी रेल की पटरियाँ (Track) ४०,००,००० स्लीपर (Sleepers), आठ प्रतिशत से अधिक मीटर गज (Metre gauge) इंजन (Locomotives) और १५ प्रतिशत मीटर गेज गाड़ियों के माल के डिब्बे (Wagons) इत्यादि युद्ध के निमित्त विदेश भेज दिए गए अथवा देश में प्रयोग कर लिए गए। अनेक कर्मचारियों की सेवायें भी युद्ध के लिए मांग ली गई थीं। इस भाँति हर ओर से रेलें अभावग्रस्त थीं, किन्तु उनका कार्य-भार दिन-दिन बढ़ता चला जा रहा था। नीचे के आँकड़े इस कथन की पुष्टि करने के लिए पर्याप्त हैं।

प्रथम श्रेणी की रेलों का यातायात

विवरण	१९३८-३९	१९४५-४६	१९३८-३९ की अपेक्षा प्रतिशत वृद्धि
	संख्या करोड़ों में	संख्या करोड़ों में	
सवारी मील (Passanger miles)	१८०७	४००५	१२२
टन मील (Ton miles)	२१४६	२८४६	३३

इन आँकड़ों से सिद्ध होता है कि यात्रियों की संख्या युद्ध से पूर्व की अपेक्षा १२२ प्रतिशत अधिक अर्थात् लगभग सवा-दो गुनी हो गई थी और माल का परिणाम ३३ प्रतिशत अधिक हो गया था। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन आँकड़ों में रेलों का अपने लिए ढोया हुआ माल और वह माल अथवा सवारियाँ सम्मिलित नहीं हैं जो सेना सम्बन्धी कार्यों के लिए विशेष (Special) गाड़ियों द्वारा लाई-लेजाई

१. मुदखेद आदिलाबाद (जिसे निजाम राज्य की रेलें निर्माण कर रही थीं) और पर्लाकिमेडी-विसाऊ (जिसे जैपुर राज्य की रेल बना रही थी) रेलों का निर्माण कार्य १९३९ से १९४५ तक बन्द रहा और युद्ध समाप्त होने के उपरान्त ही उसे फिर से प्रारम्भ किया गया।

जाती थी। इस यातायात वृद्धि के मुख्य कारण सैनिकों और सेना सम्बन्धी माल का अधिकाधिक आवागमन, अपूर्व औद्योगिक विस्तार तथा परिवहन के अन्य साधनों की सेवा-सुविधाओं का कम हो जाना इत्यादि थे। अनेक मोटर गाड़ियों के सरकार द्वारा ले लेने तथा पैट्रोल की कठिनाइयों के कारण सड़क परिवहन की सेवा-सुविधायें अत्यंत कम हो गई थी और रेलो का यातायात भार बढ़ गया था। इसी भाँति जापान के आक्रमण के उपरान्त समुद्र तटीय व्यापार से भी बहुत-सा यातायात रेलो की ओर चला आया था। बंगाल के दुर्भिक्ष ने भी खाद्यान्नो के अधिकाधिक परिवहन द्वारा रेलो पर बोझ लाद दिया था।

ऐसी विषम परिस्थितियो मे रेलो को कार्य करना पड रहा था। तो भी उन्हे उपयुक्त मात्रा मे साधन-सामग्री उपलब्ध न थी। बाहर से कल-पुर्जे और उपकरण बन्द हो गए थे। देश में जितने रेलो के कार्यालय थे उनमे से अनेक युद्ध-सामग्री के उत्पादनार्थ ले लिए गए थे। इस सब अभाव और कठिनाइयो का अन्तिम भार जनता को भुगतना पड़ा। युद्ध पूर्व की सारी सुविधायें (Concessions) बन्द कर दिए गए; मेला इत्यादि अवसरो पर की जाने वाली विशेष व्यवस्थाओं का अन्त कर दिया गया, गाडियो की संख्या कम हो जाने से यात्रियो को अपूर्व भीड़-भाड़ व धक्का-मुक्की सहन करनी पडती थी, माल के डिब्बे न मिलने से उद्योग-धन्धो को आवश्यक कच्चा माल व कोयला पर्याप्त मात्रा मे नही मिल पाता था। इस भाँति जनता को भारी कठिनाइयो का सामना करना पडा।

(ड) देश-विभाजन—युद्ध की सताई हुई रेले अभी ऊर्ध्वश्वास ले रही थी कि अनायास देश का विभाजन हो गया। देश के विभाजन के साथ-साथ रेलो का भी विभाजन अवश्यम्भावी था। नार्थ वेस्टर्न (North Western), बंगाल-आसाम और जोधपुर-हैदराबाद रेले विभाजन के उपरान्त केवल टुकडियाँ मात्र रह गई। नार्थ वेस्टर्न रेल के ६८८१$\frac{1}{2}$ मीलो मे से ५,०२६ मील पाकिस्तान और १८५५$\frac{1}{2}$ मील भारत के हाथ लगे। २५५५ मील लम्बी बगाल आसाम रेल का १६१३ मील भाग पाकिस्तान को और १९४२ मील भारत को मिला। जोधपुर-हैदराबाद रेल का ३१९ मील लम्बा सिन्ध क्षेत्र पाकिस्तान चला गया। इस प्रकार कुल ७००० मील रेले पाकिस्तान के हाथ लगी। पूर्वी पजाब रेल और आसाम रेल के पास कोई अपनी शिल्पिशाला (Workshop) न रह गई, क्योकि मुगलपुरा और सैयदपुर की शिल्पिशालाये पाकिस्तान चली गई। दो वर्ष के लिए भारत की उक्त दोनो रेलो का शिल्पिशाला सम्बन्धी कार्य पाकिस्तान की उल्लिखित शिल्पिशालाओ से कराने का समझौता किया गया जो भली-भाँति कार्यान्वित न हो सका और जो काम वहा कराया गया वह भी अति निम्न-कोटि का और देर मे होता रहा। बगाल-आसाम रेल का स्यालदा क्षेत्र (Sealdah Division) भारत को मिला जिसे ईस्ट इण्डिया रेल मे मिलाने से पूर्व दो वर्ष तक अलग रखना पडा। विभाजन के समय रेलो मे लगी हुई कुल पूँजी ८०३·४३ करोड रुपए थी जिसका लगभग १३६ करोड़ रुपए पाकिस्तान मे और शेष ६६७·४३

करोड भारत मे रहा। भारत से पाकिस्तान जाने वाले अधिकतर कर्मचारी दक्षकर्मी (Skilled workers) थे और पाकिस्तान से आने वाले बहुधा लिपिक (Clerks)। अत: विभाजन के उपरान्त भारतीय रेलो के पास दक्षकर्मियो, विशेषत: ड्राइवरो, गाडियो तथा इञ्जनो और शिल्पशालाओ मे काम करने वाले कर्मचारियो की भारी कमी हो गई और लिपिको की सख्या आवश्यकता से अधिक हो गई। अनेक सामयिक यत्नो द्वारा कमी वाले क्षेत्रो की कमी पूरी की गई। कुल १,८६,००० व्यक्ति पाकिस्तान मे आये जिनमे से १,२६,००० तो रिक्त स्थानो पर नियुक्त किए जा सके। शेष ६०,००० को घर बैठे ही वेतन देना पडा जिन्हे धीरे-धीरे कई महीनो म खपाया जा सका।

विभाजन के साथ-साथ होने वाले ग्रहकलह के द्वारा रेलो को भारी क्षति उठानी पडी। ईस्ट इण्डिया रेल की क्षति ६४,६०० रुपए की और ग्रेट इण्डियन पेनुन्सुला की २१,८६६ रुपए की आँकी गई। बगाल-नागपुर रेल पर ३६ दुकानें जला दी गई जिनम से १० रेला की अपनी दुकाने थी।

अराजकता फैलाने और कर्मचारियो के काम पर न जा सकने के फलस्वरूप १९४७-४८ मे रेलो को २,०३,१६४ नरदिनो (Man days) का नुकसान हुआ। उस वर्ष के आय व्यय म भी ७·५० करोड रुपए की हानि रही। यह भी विभाजन के फलस्वरूप ही थी।

कानपुर को सूती मिले बहुधा रुई पजाब से मँगाया करती थी। अब वह रुई विदेश जान लगी और कानपुर की मिलो को मध्य-प्रदेश व बरार से रुई मँगान का प्रबन्ध करना पडा। कराची के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण दिल्ली-बम्बई रेल मार्ग पर खाद्यान्नो और पैट्रोल का यातायात अत्यन्त बढ गया। ईस्ट इण्डिया रेल प्रति दिन ४०० डिब्बे कोयला नार्थ वेस्टर्न रेल को दिया करती थी। वह मार्ग बन्द होने से यह यातायात अन्य मार्गो से भेजने का प्रबन्ध किया गया। इस भाति यातायान की दिशा मे ही भारी परिवर्तन नही हुआ, उसकी मात्रा भी अत्यन्त बढ गई। फलत: रेलो का कार्य भार असह्य हो गया। पूर्वी पंजाब की रेल पर यह भार सबसे अधिक था। अत. उसके यन्त्रयानादि (rolling stock) की मरणासन्न स्थिति हो गई। कई वर्ष मे भारतीय रेले विभाजन-जनित समस्याओ को हल कर पाई।

कुँजरू समिति (१९४७)—द्वितीय महायुद्ध काल मे कर्मचारियो के निर्वाह-व्यय मे बहुत वृद्धि हो चुकी थी किन्तु उनकी आय मे उसके अनुरूप वृद्धि नही हुई थी। अतएव युद्ध समाप्त होते ही रेलवे-कर्मचारी सघ (Railwaymen's Federation) ने अधिक वेतन व मँहगाई भत्ता, काम के कम घण्टे तथा छुट्टी सम्बन्धी संशोधित नियमो के लिए आन्दोलन छेड दिया। उनकी माँगो पर विचार करने के निमित्त भारत सरकार ने केन्द्रीय वेतन आयोग (Central Pay Commisson) और एक अभिनिर्णायक (Adjudicator) नियुक्त किए। किन्तु कर्मचारी संघ सन्तुष्ट न हुआ।

अतएव रेलो को स्थायी वित्त समिति के कथनानुसार नवम्बर १९४६ मे भारत-सरकार ने उसकी मांगो पर विचार करने के निमित्त रेल अनुसंधान समिति नियुक्त की जिसके सभापति श्री० के० सी० नियोगी (K. C. Neogi) थे। इस समिति का का काम पूर्ण भी नही हुआ था कि देश का विभाजन हो गया और यह कार्य अधूरा ही पडा रह गया। विभाजन के उपरान्त उक्त समिति का पुर्नार्माण हुआ और उसके सभापति हृदयनाथ कुंजरू नियुक्त हुए। १९४९ मे इस समिति ने अपना प्रतिवेदन (Report) भारत सरकार के सम्मुख उपस्थित किया। समिति ने देखा कि कई कारणोवश रेलो के श्रम मे अकर्मण्यता बढ रही है और श्रम दक्षता का ३३ से ४० प्रतिशत तक ह्रास हो चुका है। अतएव उसने रेलो की कार्यक्षमता बढाने और उनके कर्मचारियो की अकर्मण्यता दूर करने के अनेक सुझाव दिये। उसने कर्मचारियो के लिए शैक्षणात्मक प्रशिक्षण और कृत्य-विश्लेषण (Job analysis) पर जोर दिया। समिति ने रेलो का गवेषणात्मक कार्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा विद्युत्करण (Electrification) की आवश्यकता समझाई। उन्होने रेलो के पुनर्वर्गीकरण कार्यक्रम को पाँच वर्ष के लिए स्थगित करने और खाद्यान्न व्यवस्था (Grainshop Organisation) को तुरन्त समाप्त करने की अनुमति दी।

भारत सरकार ने कार्यक्षमता बढाने के सम्बन्ध मे बताई गई समिति की अनेक सिफारिशो को मान लिया किन्तु खाद्यान्न व्यवस्था और पुनर्वर्गीकरण सम्बन्धी सुझावो को स्वीकार नही किया।

अन्य घटनायें

(क) **विद्युत्करण (Electrification)**—इस युग की एक प्रमुख घटना रेलो मे बिजली का प्रयोग है। सर्वप्रथम ३ फरवरी १९२५ को ग्रेट इन्डियन पेंनुन्सुला रेल पर वोरीबन्दर (Victoria Terminus) से कुर्ला तक बिजली की रेलें चलनी आरम्भ हुई। तदुपरान्त कलयान तथा थलघाट व भोरघाट के उस पार पूना और इगतपुरी तक बिजली से रेले चलने लगी। बम्बई बडौदा और सेन्ट्रल इण्डिया पर भी धीरे-धीरे बोरिविली और वीरार तक बिजली का प्रयोग होने लगा। १९२८ से मद्रास के निकट भी कार्य आरम्भ हुआ जो १९३१ तक पूरा हो पाया। इस सम्बन्ध मे विशेष विवरण अन्यत्र दिया गया है।

(ख) **तन्तुपथ (Wireless)**—इस युग की उल्लेखनीय घटना बेतार के तार का प्रयोग भी है। सर्वप्रथम १९४२-४३ मे यह विचार उठा कि स्थलीय संचार-तन्तु (Land Lines of Communications) के अविच्छिन्न होने के समय बेतार के तार का प्रयोग रेलों को संकट से बचाने मे सहायक सिद्ध हो सकेगा। अतएव इस सम्बन्ध मे एक योजना बनाई गई तथा आवश्यक उपकरण जुटाने और कर्मचारियो के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाने लगा। साउथ इण्डियन रेल ने इस कार्य मे रेलो का नेतृत्व किया और १९४३-४४ मे बेतार के तार द्वारा संवाद भेजना आरम्भ कर दिया।

तदुपरान्त अन्य रेलो ने भी इस ओर ध्यान दिया। इस प्रयोग की सफलता सिद्ध होने पर १९४४-४५ मे बेनार के तार की योजना को स्थायी जीवन दे दिया गया और तदनुसार कार्य होने लगा। इस वर्ष के अन्त मे भारतीय रेले बेतार के तार द्वारा ५०,००० और १९४५-४६ के अन्त मे १,५०,००० सवाद प्रति मास भेजने लगी। १९४६-४७ तक इस योजना का कार्य लगभग पूर्ण हो गया। अब चलती गाडियो पर भी इस प्रकार सवाद भेजने के सम्बन्ध मे प्रयोग होने लगे जो असफल सिद्ध हुए। तन्तुपथ (Wireless) को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए रेले अब भी नित्यप्रति नए-नए प्रयोग कर रही हैं।

बेतार के तार के प्रयोग से रेलो के पास सकटकाल के लिए एक उत्तम सचार साधन ही नहीं हो गया, उनकी सचालन पटुता (Operational Efficiency) भी बहुत बढ गई है और उसके भविष्य मे और भी अधिक बढने की सम्भावना है।

इस युग मे रेलो ने तार-सचार (Tele communication) का साधन भी अपनाया। बहुत सा धन रेल-पथ को दुहरी-तिहरी पटरियो से सुसज्जित करने, पुलो की शक्ति बढाने व उनके पुनर्निर्माण, स्टेशनो व मालमचो को सुधारने, शिल्पिशालाओ के पुनर्गठन, नए व बडे प्लेटफार्म बनाने, जलपान-गृह तथा निम्न-श्रेणी के विश्राम-गृह निर्माण इत्यादि कार्यों मे व्यय किया गया।

अध्याय १४

भारतीय रेलें (३)

(Indian Railways)

(३) योजना काल (Plan Period)

प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१८) का कटु अनुभव लोगो के समक्ष था। जैसे प्रथम युद्ध के उपरान्त घोर मन्दी का समय आया था, उसी प्रकार की स्थिति द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उत्पन्न होने की सभावना थी। अतएव द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही युद्धोपरान्त काल मे आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाएँ बनाई जाने लगी। रेलो के पुनर्निर्माण के लिए भी इसी भांति प्रयत्न हुए। सन् १९४३-४४ मे रेलो के पुनर्निर्माण की एक सप्तवर्षीय योजना बनाई गई जिसमे ३१९ करोड रुपए व्यय होने का अनुमान लगाया गया जो इस प्रकार थी :—

युद्धोपरान्त काल की सप्तवर्षीय पुनर्निर्माण योजना (करोड रुपये)

युद्धोपरान्त वर्ष	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पंचम	षष्ठ	सप्तम	कुलयोग
क—पुनस्संस्थापन	१०	१५	२०	२०	२०	२०	२०	१२५
ख—सुधार (१) चालक	१	४	८	८	८	८	८	४५
,, (२) श्रम कल्याण	३	५	८	८	८	८	८	४८
ग—तृतीय श्रेणी के यात्रियो को सुख सुविधाये	१	४	८	८	८	८	८	४५
घ—नई रेलो का निर्माण	१	५	१०	१०	१०	१०	१०	५६
कुल जोड	१६	३३	५४	५४	५४	५४	५४	३१९

इस योजना पर विचार-विनिमय हो ही रहा था कि १९४५-४६ मे युद्ध समाप्त हो गया और सप्तवर्षीय योजना के स्थान पर एक पंचवर्षीय कार्यक्रम को अन्तिम स्वरूप दिया गया। इस कार्यक्रम मे निम्न विषयो का समावेश हुआ :—

(१) सवारी गाड़ियों में चार के स्थान पर तीन श्रेणियाँ—प्रथम श्रेणी को हटाकर, प्रथम श्रेणी का द्वितीय श्रेणी नाम देना ; तत्कालीन मध्यम श्रेणी

(Inter Class) को द्वितीय श्रेणी का नाम देना ; तथा तृतीय श्रेणी को ज्यो का त्यो रखना, किन्तु इस श्रेणी के डिब्बो मे चौडे आसन और दर्वाजे, अधिक संडासें (Lavatories) अथवा शौचालय तथा अधिक यात्रियो के लिए सोने के स्थान इत्यादि की सुविधायें प्रदान करना।

(२) यात्रियों को सुख-सुविधायें (Amenities)—अधिकाधिक संख्या मे विश्रामगृह, जलपानगृह, स्त्रियो के लिए विश्रामगृह, उच्च श्रेणी के यात्रियो के लिए स्नानागार, पैदल यात्रियो के उतरन के लिय स्टेशनो पर पुल व प्लेटफार्मों पर बरसाती बनाना तथा तत्कालीन सुविधाओ मे वृद्धि करना।

(३) कर्मचारियों के लिये निवास स्थान—निम्न श्रेणी के कर्मचारियो, विशेषत: १०० रुपये से कम मासिक वेतन पाने वालो के लिए नए घर बनवाना तथा पुराने घरो म स्वच्छता की सुविधाये उपलब्ध करना।

(४) विद्युतीकरण (Electrification)—युद्धोपरान्त काल म औद्योगीकरण की योजनाओ को सफल बनाने के लिए कोयले का सदुपयोग आवश्यक समझा गया। इस उद्देश्य को ध्यान म रखकर देश म लगभग १,५०० मील रेलो को बिजली द्वारा चलाने का विचार किया गया। इनम पश्चिमी रेल (तत्कालीन बम्बई-बडौदा व सैण्टल इण्डिया रेल) का बम्बई अहमदाबाद क्षेत्र, पूर्वी रेल (तत्कालीन ईस्ट इण्डिया रेल) का हावडा-गया क्षेत्र, कलकत्ता उपनगर (Suburb) इत्यादि सम्मिलित थे। मध्यवर्ती रेल (तत्कालीन ग्रेट इन्डियन पेनुन्सुला रेल) की विद्युतचालित रेलो को उत्तर म भुसावल और दक्षिण म पूना तक बढान का भी विचार था।

(५) उखाडी हुई रेलों का पुनर्निमाण और नई रेलों का निर्माण—राज्य की सरकारो की अनुमति द्वारा ५,००० मील नई रेले बनाने का कार्य-क्रम बनाया गया जिसम से ३,७७७ माल पर पडताल कार्य (Survey) प्रारम्भ करने की १९४५-४६ मे स्वीकृति दे दी गई। इसके अतिरिक्त देशी रियासतो ने भी ५० रेलो की योजनाओ के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक कार्यक्रम हाथ म ले लिया।

अविभाजित भारत म लगभग ९८४ मील रेले (विभाजित भारत मे ६०० मील) उखाड ली गई थी। इनमे से ११५ मील का पुनर्निर्माण आवश्यक समझा गया। ४१५ मील लम्बी रेलो के प्रान्तर (Gauge) परिवर्तन का भी विचार था।

इस कार्य क्रम को व्यावहारिक रूप देने के लिये विशेषज्ञो और विशेषज्ञ समितियो की सहायता से प्रयत्न हो ही रहे थे कि देश का विभाजन हो गया और सारी आशाओ पर पानी फिर गया। देश के सन्मुख विभाजन जनित अनेक समस्याये उठ खडी हुई तथा देश की आर्थिक स्थिति इतनी बिगड गई कि उक्त पच-वर्षीय कार्यक्रम को अपने मूल रूप मे पूर्ण करना कठिन हो गया। सारा कार्यक्रम शिथिल पड गया और किसी शुभ घडी की प्रतीक्षा देखने लगा।

युद्धोपरान्त काल में रेल-निर्माण की वार्षिक प्रगति

वर्ष	नई खुली हुई रेलें	अपूर्ण रेलें[1]	नई स्वीकृत रेलें	नई स्वीकृत पड़ताल
	मील	मील	मील	मील
१९४५-४६	२४·००	१००·००	—	—
१९४६-४७	—	१००·००	२५५·९८	११९२·३०
१९४७-४८	१०२·५४	५४७·४९	१८६ २८	९८९·००
१९४८-४९	१५७·८२	५३२·१४	—	५००·००
१९४९-५०	२३३·१४	२९९·९९	१९६·६५	३१०·००
१९५०-५१	६५·६२	२५०·९६	१७०७	२०३·५९
१९५१-५२	१६·३४	५३१ ७६	२९० ८६	८·००
१९५२-५३	२२५·५५	६४३·३०	—	५४६·५८
१९५३-५४	१४४·२४	७१५·९३	—	६०९·००
१९५४-५५	३२४·३९	४८८ ८२	—	६४३·००

युद्धोपरान्त काल के कुछ वर्षों में रेलों में लगाई हुई पूंजी (करोड़ रुपए)

वर्ष	सरकारी रेले						गैर सरकारी रेले	कुल भारतीय रेलो का जोड़
	चालू रेले			नई रेले				
	भवन	यंत्रयानादि	कुल	भवन	यंत्रयानादि	कुल		
१९४५–४६	८ ५२	२·३३	९·८५	—	—	—	०·२६	१०·११
१९४६–४७	८·३६	१·५५	१०·९१	—	—	—	० ४४	११·३५
१९४७–४८	७ १२	१·९३	९·०५	०·२८	—	० २८	१·४९	१०·८२
१९४८–४९	२५·४१	४·०८	२९·४९	४·९१	—	४·९१	१·७०	३६·१०
१९४९–५०	२६ ५०	३·९३	३०·४३	३·८२	—	३·८२	३·१४	३७·३९
१९५०–५१	२० ३७	१·८०	२२·१७	२ ९९	०·२५	३·२४	० १९	२५·६०
१९५१–५२	१४·३९	६·९५	२१·३४	१ ८२	०·०५	१·८०	०·१८	२३·३९
१९५२–५३	२·६७	४·०७	६·७४	०·३०	०·०१	०·३१	—	७·०५
१९५३–५४	१·६७	९·३८	११·०५	० ८७	—	०·८०	०·०९	११·९४
१९५४–५५	७ १५	२३·२४	३०·३९	१ ८५	०·०१	१·८६	० १६	३२·४१

1. जिन रेलो पर काम जारी था।

तो भी हाथ पर हाथ रखकर नही बैठा जा सकता था। विषम परिस्थितियो ने हमे कुछ न कुछ करने को बाध्य किया। यह निश्चय किया गया कि सीमित जन-शक्ति और साधन-सामग्री द्वारा जितना सम्भव हो सके उतना कार्य प्रतिवर्ष किया जाय। तदनुसार रेल बोर्ड ने लगभग १,१०० मील की १२ रेलो की एक योजना बनाई जिसके अन्तर्गत केवल एसी रेल सम्मिलित की गई जिन्हे भारी पूर्वाधिकार प्राप्त होना चाहिए था। इस योजना को केन्द्रीय परिवहन बोर्ड (Central Board of Transport) की भी स्वीकृति मिल गई। बिना बोर्ड की अनुमति के अब कोई भी योजना हस्तगत नही की जा सकती थी और न एसी ही रेल बनाई जा सकती थी जो रेलो की गला घोट (Bottlenecks) स्थिति के सुधारने मे समर्थ न हो। युद्धोपरान्त काल मे रेल-निर्माण और सुधार मे जो प्रगति हुई वह पार्श्ववर्ती तालिका से स्पष्ट है।

पचवर्षीय योजना—योजना आयोग के सम्मुख रेलो की दो प्रमुख समस्याएँ विकराल रूप धारण कर उपस्थित हुई। एक पुनस्सस्थापन की और दूसरी पर्याप्त मात्रा मे साज सज्जा (Equipment) जुटाने की। ये समस्याएँ आज की नहीं, बीस वर्ष पुरानी थी। सन् १९२९-३० मे आर्थिक अवसाद के आरम्भ होने के समय से ही रेलो की सम्पत्ति पर अपार कार्य-भार पडता रहा किन्तु पुनस्स्थापन का उन्हे कोई अवसर प्राप्त न हो सका। उनकी आय इतनी कम हो गई कि वह सरकारी कोष के प्रति ब्याज सम्बन्धी दायित्व को देने भर के लिए अपर्याप्त थी। फलत पोषण-कार्य मन्दगति से होने लगा अथवा आए वर्ष उसका स्थगन कर दिया जाता था। काम चलाने भर के लिए नवकरण और प्रतिस्थापन कार्य सीमित कर देने पडते थे। इस अधोगति से बचने के प्रयत्न किए ही जा रहे थे कि रेलो के ऊपर युद्ध की काली घटायें छा गई जिसके प्रतिकूल प्रभाव का पिछले पृष्ठो मे वर्णन किया जा चुका है। अपने पास साज-सज्जा तथा साधन सामग्री की कमी होते हुए भी, भारतीय रेलो को युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों मे बहुत सा सामान युद्ध के निमित्त देना पडा। आठ प्रतिशत से अधिक मीटर गेज इजन, १५ प्रतिशत मीटर गेज माल के डिब्बे, लगभग ४,००० मील पटरिया और ४०,००,००० सलीपट सेना के निमित्त दिए गए। यह सामान देने के लिए २६ रेल उखाडनी पडी। युद्ध के अन्तिम वर्षो मे रेलो की अनेक शिल्पि-शालाये जिनमे उनकी साज सज्जा की टूट-फूट ठीक होती थी अस्त्र-शस्त्र के कारखानो मे परिणित कर दी गई। अब उनका पोषण कार्य और भी उपेक्षित होने लगा। देश के विभाजन ने जले पर और नमक छिड़क दिया। नार्थ-वेस्टर्न, आसाम-बगाल तथा जोधपुर-हैदराबाद रेले टुकडी मात्र रह गई। इस भाति अवसादजनित पुनस्सस्थापन और प्रतिस्थापन की समस्या, युद्धकालीन परिस्थितियो से उपेक्षित तथा विभाजनजनित कठिनाइयो से पोषित, अपने विकराल रूप मे आ उपस्थित हुई।

प्रथम योजना—३१ मार्च १९५२ को योजना आयोग (Planning Commission) ने अनुमान लगाया कि भारतीय रेलो पर चलने वाले ८,२०९ इन्जनो,

१६,२२५ पथिकयानो (Coaches) और १,६६,०६४ माल के डिब्बों में से १०५० इजन, ५,५१४ पथिकयान, व २१,४१८ माल के डिब्बे अपना जीवन-काल पूरा कर चुके थे और दूसरे १,६०४ इंजन, १३८१ पथिकयान तथा २५,८३८ माल के डिब्बे ऐसे थे जो बहुत पुराने हो चुके थे किन्तु नए गंत्रयानो के अभाव में उनमें काम लिया जाना जरूरी था। इस भाँति प्रथम योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे रेलो के ३२ प्रतिशत इंजन, ३६ प्रतिशत पथिकयान और २४ प्रतिशत डिब्बे पुराने थे जिन्हें तुरन्त बदलने की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त १,०४२ इंजन, ३,०२१ पथिक यान और २६,११५ डिब्बे और प्रथम योजना काल में अपना जीवन काल समाप्त करके बदलने योग्य हो जाने का अनुमान लगाया गया। २६ रेलो की पटरियाँ युद्धकाल में उखाड़ ली गई थी और ३,००० मील रेल-पथ जीर्ण एवं दुर्बल हो चुका था जिस पर चाल सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। प्रथम योजना-काल म रेलो का मुख्य ध्येय इस सब पुनरसंस्थापन कार्य को सम्पन्न करना, बढते हुये यातायात को संचालित करते रहना, सवारी गाडियों की भीड़-भाड को कम करना, यात्री जनता को उपयुक्त सुख-सुविधायें देना, तथा कर्मचारी वृन्द के लिए मकान बनवाना और अन्य कल्याणकारी कार्य करना इत्यादि था।

१६५५-५६ तक रेलो ने ११८६ इजन, ४७७८ पथिकयान और ६१,२५४ डिब्बे नए चालू किए और लगभग ६,१७२ इंजन, २३,१५५ पथिकयान एवं २,३५,१६८ डिब्बे पटरी पर काम करने लगे। इनमे से ३२ प्रतिशत इंजन, २६ प्रतिशत पथिकयान तथा १६ प्रतिशत डिब्बे पुराने थे जिन्हे बदलने की नितान्त आवश्यकता थी अर्थात् भारतीय रेलो के चलयानादि की स्थिति मे विशेष सुधार नही हुआ; वह लगभग उसी स्तर पर रहा जहाँ वह १६५२ मे था।

यद्यपि रेले लगभग १७ प्रतिशत अधिक माल ले जाने की सामर्थ्य बढा सकी, किन्तु यातायात के अधिक तेजी से बढ़ने के कारण अपरिशोधित (Outstanding) माल की मात्रा बहुत बढ गई। योजना काल मे ४३० मील रेलें जो युद्धकाल मे उखाड ली गई थी फिर से स्थापित की गई, ३८० मील नई रेले बनाई गई तथा ४६ मील सबसे छोटी लाइन (Narrow Gauge) मीटर गेज (Metre Gauge) मे परिवर्तित की गई। प्रथम योजना के अन्त मे ४५३ मील नई रेलो पर निर्माण-कार्य जारी था तथा ५२ मील मीटर लाइन (Narrow Gauge) को बडी लाइन (Broad Gauge) मे परिवर्तित किया जा रहा था। कलकत्ता उपनगरीय क्षेत्र मे बिजली के प्रयोग सम्बन्धी कार्यक्रम पर काम चालू किया गया। चाल-सम्बन्धी प्रतिबन्ध वाले रेलपथ की लम्बाई ३,००० मील से घटकर केवल १७८४ मील रह गई।

रेल-पथ की वहन-क्षमता बढाने के विशेष प्रयत्न किए गये और विशेषत: उन क्षेत्रों मे जहाँ माँग तेजी से बढ रही थी, जैसे मद्रास-बेजवाडा, खरगपुर-वाल्टेर, झाझा-मुगलसराय, इलाहाबाद-कानपुर, रतलाम-गोधरा, भुसावल-सूरत, अहमदाबाद-कलोल, तथा सिनी-गोम्हरिया इत्यादि। मन्दुआडीह, सवाई माधोपुर, साबरमती,

वीरमगाँव, घोरपुरी, गुन्तकल, बंगलौर और अरक्कोनम स्थानों पर एक गाडी से माल उतार कर दूसरी गाडी में लादने सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि की गई। वेजवाडा और रतलाम के माल मचों (Goods yards) की क्षमता बढाने के लिए उन्हें तोड कर बनाया गया। यद्यपि केवल ४०० करोड रुपए प्रथम योजना-काल में रेलों पर व्यय करने का अनुमान लगाया था, किन्तु वास्तविक व्यय ४२४ करोड रुपए हुआ।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना के अन्त तक भी रेलों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो सका। बहुत-सा पुनरसस्थापन कार्य शेष रह गया था तथा यातायात अत्यन्त बढ जाने के कारण उनका कार्य-भार अत्यन्त बढ गया था। यद्यपि रेलों की कार्य-क्षमता में प्रथम योजना काल में १७ प्रतिशत वृद्धि की गई थी, किन्तु यातायात की तीव्र गति के कारण निर्यात-क्षमता की वास्तविक वृद्धि केवल १३ ५% हो सकी थी, जैसा कि नीचे के आँकडे स्पष्ट करते हैं :—

	१६५०–५१	१६५५–५६	१६५०–५१ की अपेक्षा वृद्धि
यात्री-मील (करोड)	३,४०६	३,६०८	१५%
टन-मील (करोड)	२,४४६	३,६४७	४६%
रेल-पथ (मील)	३४,०७६	३४,७३६	२%
गाडी-मील (करोड)	१८५	२१०	१३·५%

इन आँकडों से स्पष्ट है कि यात्री यातायात १५% और माल यातायात ४६% बढ गया, किन्तु रेल-पथ केवल २% और ढुलाई-क्षमता १३ ५% बढी। प्रथम योजना के अन्त में ३२% इञ्जन, २६% सवारी-डिब्बे और १६% माल डिब्बे पुराने और बदलने योग्य स्थिति में थे, अर्थात् चलयान-स्थिति द्वितीय योजना के प्रारम्भ में भी लगभग वैसी ही थी जैसी प्रथम योजना के प्रारम्भ में थी। द्वितीय योजना काल में बहुत बडी संख्या चलयानों की पुरानी और बदलने योग्य और हो गई। प्रथम योजना के प्रारम्भ में ३,००० मील रेल-पथ दुर्बल था, द्वितीय योजना के प्रारम्भ में इसकी लम्बाई १८,००० मील आको गई, जिस पर चाल सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये गये। अतएव द्वितीय योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित बताये गये (क) सम्पत्ति के पुनसस्थापन और नवकरण के कार्य को आगे बढाना, (ख) कृषि और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि के कारण बढ हुए यातायात की परिवहन सम्बन्धी माँग की पूर्ति करना, (ग) रेल साज-सज्जा विशेषतः चलयानादि में स्वावलम्बन प्राप्त करना और उनका आधुनिकीकरण, (घ) प्रशिक्षण सुविधाओं और कल्याणकारी कार्यों द्वारा कर्मचारी वर्ग की दक्षता बढाना तथा (ङ) रेल-प्रयोक्ताओं को अधिकाधिक सुख-सुविधाएँ देना। द्वितीय योजना काल में ८६० करोड रुपये रेलों के निमित्त व्यय किया गया।

योजना काल में २,२५८ इञ्जन, ११,३६४ सवारी-डिब्बे, और १,०७,२४७ माल-डिब्बे नये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था जो लगभग प्राप्त कर लिया

गया था। २१०० इन्जन, ८,५०० सवारी-डिब्बे और १,००,००० माल-डिब्बे प्राप्त किये जा चुके थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि द्वितीय योजना के अन्त में लगभग कुल चलयानादि का १०% जीर्ण अवस्था में शेष रह जायगा। देश में चलयान-निर्माण की प्रगति अनुमान से अधिक हुई है। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि चितरंजन में द्वितीय योजना के अन्त तक प्रतिवर्ष १०० इन्जन बनने लगेंगे, किन्तु सन् १९५९ तक इस कारखाने की उत्पादन-क्षमता १५ इन्जन प्रति महीने अर्थात् १८० इन्जन वार्षिक हो गई। इसी भाँति पैराम्बूर कारखाने से ३५० सवारी-डिब्बे प्रतिवर्ष बनने का अनुमान लगाया गया था, किन्तु वहाँ पर सन् १९५९-६० में ४४० डिब्बे बनाये जाने का अनुमान लगाया गया। इस कारखाने में दो पारी चालू कर दी गई। अतएव द्वितीय योजना काल में इसकी उत्पादन-क्षमता ७५० डिब्बे वार्षिक हो गई। इसी भाँति माल-डिब्बों का निर्माण भी अपनी आवश्यकता से अधिक (२०,००० डिब्बे वार्षिक) हम करने लगे है और कुछ डिब्बे निर्यात् करने की स्थिति में देश पहुँच गया है।

यह अनुमान लगाया गया था कि द्वितीय योजना काल मे माल यातायात मे ५०% और यात्री यातायात मे १५% वृद्धि हो जायगी। वस्तुतः माल यातायात मे ३५% और यात्री यातायात मे २५% वृद्धि हुई। इसके लिए ८,००० मील जीर्ण रेल-पथ का नवकरण किया गया, १३०० मील रेल-पथ दुहरा किया गया, २६५ मील मँझले रेल-पथ को चौड़े पथ म परिवर्तित किया गया तथा ५०० मील रेल-पथ पर बिजली का प्रयोग किया गया। ८०० मील रेल-पथ नया बनाया गया।

अन्य कार्यों मे ७० यार्डों का पुनर्निर्माण, ६,००० नये पुलो का निर्माण, जिनमे चार बडे पुल सम्मिलित है, ६ नई शिल्पशालाओं का बनाना और २० वर्तमान शिल्पशालाओं की कार्यक्षमता बढाना, ३४ नये इन्जन शेड बनाना, १०० स्टेशनो पर आधुनिक सिगनल व्यवस्था, २०० नये स्टेशन बनाना, ९०० स्टेशनो पर बिजली लगाना इत्यादि सम्मिलित थे। कर्मचारियो के हित के लिये ६६,००० मकान, १३ अस्पताल और ८५ औषधालय बनाए गए, ९ प्रशिक्षणशालायें खोली गई और १५ करोड रुपये यात्री जनता की सुख-सुविधायें बढाने पर खर्च किए गए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य जीर्ण चलयानादि एवं स्थायी सम्पत्ति का पुनस्संस्थापन था। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ बढते हुए यातायात के अनुरूप सुविधायें बढाना भी आवश्यक था। द्वितीय योजना भी इन्ही उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त बनाई गई। इस योजना मे रेलो ने साज-सज्जा के सम्बन्ध मे स्वावलम्बन प्राप्त करने का भी बीडा उठाया। अभी तक पुनस्संस्थापन का कुछ कार्य शेष है। अतएव तृतीय योजना का उद्देश्य इस पिछडे हुए काम को पूरा करना; बढते हुए यातायात के सुचारु सचालन की समुचित व्यवस्था करना और साज-सज्जा के स्वावलम्बन कार्यक्रम को आगे बढाना है।

१९५०-५१ मे रेले ९·१४ करोड टन माल ढोती थी जो प्रथम योजना के अन्त तक ११.४८ करोड टन (२५% अधिक) और १९६०-६१ तक १५·४० करोड टन (३५% अधिक) हो गया अर्थात् दस वर्ष में ७०% बढ गया है। तृतीय योजना के अन्त तक माल यातायात ८१० करोड टन अर्थात् ५०% और बढ जाएगा और २३ ५० करोड टन की सीमा पर पहुँच जाएगा। यह अनुमान लगाया गया है कि इस वृद्धि का लगभग ७०% केवल लोहे-इस्पात, कोयला और सीमन्ट की उत्पादन वृद्धि के कारण होगा और शेष ३०% अन्य वस्तुओ (सूती वस्त्र, चीनी, जूट उद्योग, कागज, चाय, खाद, वनस्पति तेल, खनिज तेल व खनिज धातु) के कारण।

यात्री यातायात प्रथम योजना के प्रारम्भ से अब तक ३% प्रतिवर्ष बढता रहा है और इसी वृद्धि के अनुरूप रेल क्षमता बढाने का यत्न किया गया है। तृतीय योजना-काल मे ऐसी ही वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। सवारी गाडियों की भीड भाड के तृतीय योजना के अन्त तक भी विशेष कम होने की सभावना नही है।

गत दस वर्ष मे १२०० मील नया रेल पथ बन चुका है, १३०० मील रेल मार्ग दुहरा किया गया है और ८०० मील बिजली चालित रेल पथ जोडा जा चुका है। इसी अवधि मे इजनो की सख्या ८,५०० से बढकर १०,६००, सवारी डिब्बो की २०,५०० से २८,२०० तथा माल डिब्बो की २,२२,००० से ३,४१,००० हो गई है। भाप के इन्जन और डिब्बो मे अब देश पूर्णत: स्वावलम्बी हो चुका है। केवल डीजल और बिजली के इन्जन हमे आयात करने पड़ते हैं। तृतीय योजना मे इसमे भी स्वावलम्बन प्राप्त हो सकेगा।

योजना मे रेलो के निमित्त ९४० करोड रुपए निश्चित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त ३५० करोड रुपए रेलो को अपनी ह्रास निधिऔर ३५ करोड रुपए भण्डार खाते से प्राप्त होने की संभावना है। इस भांति योजना काल म १,३२५ करोड रुपए व्यय करके रेले निम्नाकित विकास कार्य करेगी :

	करोड रु०
१. चलयानादि (Rolling Stock)	५१०
२. बिजली का प्रयोग	७०
३ सिगनल एव सुरक्षा-व्यवस्था	२५
४ नई रेले	१४७
५. शिल्पिशालाएँ व मशीनें इत्यादि	६२
६ पथ नवकरण	१७०
७. पथ क्षमता-कार्य	१८३
८ पुल व्यवस्था	२५
९. अन्य भवन सम्बन्धी कार्य	१५
१०. अन्य बिजली सम्बन्धी कार्य	८

११. कर्मचारी आवास व्यवस्था एवं कल्याण कार्य	५०
१२. प्रयोक्ता सुख-सुविधाएं	१५
१३. सड़क सेवाएं	१०
१४. भण्डार	३५
कुल जोड	१,३२५

उक्त व्यय-सूची में चलयानादि के लिए सब से अधिक धन-राशि की व्यवस्था की गई है। बड़ी रेलों पर ४५ वर्ष पुराने इंजन और माल डिब्बे तथा ३३ वर्ष पुराने सवारी डिब्बे तृतीय योजना के अन्त में चलते रहेंगे। योजना-काल में १७६४ इन्जन ७८७६ सवारी डिब्बे और १,१७,००० माल डिब्बे नए प्राप्त किए जा सकेंगे। तो भी पुराने चलयानादि की संख्या में कोई विशेष कमी न हो सकेगी और तृतीय योजना के अन्त में भी स्थिति लगभग वैसी ही बनी रहेगी जैसे द्वितीय योजना के अन्त में थी। १२०० मील नया रेल-पथ बनेगा एव १,१०० मील पर बिजली की रेलें चालू की जाएँगी; ५४,००० कर्मचारी मकान बनने का अनुमान लगाया गया है। देश में डीज़िल एवं बिजली के इन्जन बनाने का भी प्रयत्न किया जाएगा।

चितरंजन कारखाना—रेलो की सेवा सुविधा की प्रगति मे इंजनों की कमी सबसे अधिक बाधक सिद्ध होती है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से २३ करोड़ रुपए की पूंजी लगाकर आसनसोल के निकट मिहीजम नामक स्थान पर इंजन बनाने का एक आधुनिक कारखाना खोला गया है जिसका नाम देशबन्धु चितरंजन-दास के नाम पर चितरंजन कारखाना रखा गया है। इस कारखाने का निर्माण कार्य १९४७ मे प्रारम्भ होकर १९५२ में पूर्ण हुआ। इस कारखाने में ६८५ आधुनिकतम मशीनें लगी हैं जिनके द्वारा एक आधुनिक इंजन के लिये आवश्यक ५,००० के लगभग संघटक (Component) भागों और कल-पुर्जो मे से शत प्रतिशत बनाने का विचार है। विदेशों मे भी बहुधा कारखाने अनेक संघटक अंग अन्य कारखानों से मँगाकर जोडते हैं। भारत मे ऐसे अंग बनाने के कोई कारखाने नही है। अतः सारे अंग और कल पुर्जे इसी कारखाने मे बनाने का उद्देश्य है। इस कारखाने मे १८० इंजन और ५० अतिरिक्त बाइलर (Spare boilers) प्रति वर्ष बनने लगे है।

अवयव (Parts) बनने का कार्य इस कारखाने मे जनवरी १९५० में प्रारम्भ हो गया था। १ नवम्बर १९५० को प्रथम इंजन बन कर यहाँ से निकला। इसकी उत्पादन क्षमता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अभी यहाँ मालगाड़ियों के ही इंजन बनाये जाते हैं। इसकी वर्तमान उत्पादन क्षमता १५ इंजन मासिक की है।

भारत सरकार ने टाटा लोकोमोटिव व इंजीनीयरिंग कम्पनी, जमशेदपुर के कारखाने मे प्रथम योजना काल मे २ करोड रुपए की पूंजी लगा कर, इसे आर्थिक

सहायता प्रदान की। यह कम्पनी अभी तक बाइलर (Boilers) बनाती थी और १९४७-४८ से १९५१-५२ तक के पाँच वर्ष म इसने १४६ बाइलर बनाकर रेलो को दिये किन्तु अब यह इ जन भी बनाने लगा है। प्रथम बार १९५१-५२ म इसने १० मीटर गज मालगाडी के इ जन भारतीय रेलो को दिए। इस कम्पनी ने प्रथम योजना काल मे रेलो को १६० इ जन बना कर दिए। द्वितीय योजना काल म उसकी उत्पादन क्षमता १०० इ जन प्रति वर्ष हो गई।

इस प्रकार इन दोनो कारखानो से प्रथम योजना काल म कुल ४६७ इ जन प्राप्त हुए। द्वितीय योजना के अन्त तक इन दोनो कारखानो म ३०० इ जन प्रति वर्ष बनने लगे।

पेरम्बूर पथिकयान कारखाना—भारत म सवारी गाडियो के डिब्बे बनाने वाले कारखानो ने १९४८-४९ मे २३८, १९४९-५० मे ३३७, तथा १९५०-५१ म ४७६ डिब्बे बनाये। इस उत्पादन क्षमता के अनुसार योजना आयोग ने अनुमान लगाया कि प्रथम योजना काल मे ४,३८० डिब्बे इन कारखानो म बन सकेगे जो देश की आवश्यकता के लिए बहुत कम थे। अतएव भारत सरकार ने १० करोड की पूँजी लगा कर मद्रास के निकट पेरम्बूर नामक स्थान पर सवारी डिब्बे बनाने का एक कारखाना खोला जिसकी उत्पादन-क्षमता ३५० यान वार्षिक आकी गई है। अक्टूबर सन् १९५५ म इस कारखाने से बना हुआ प्रथम डिब्बा निकला। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष मे वहाँ से १२ यान बनकर निकले। द्वितीय योजना काल मे इसकी उत्पादन क्षमता बढ कर ३५० पथिकयान वार्षिक हो गई। अब इसकी उत्पादन क्षमता दुगनी की जा रही है। इस कारखाने के साथ डिब्बो (Coaches) के सजाने (Furnishing) का एक कारखाना भी जोड दिया गया है। २१ फरवरी १९५७ को प्रथम सुसज्जित डिब्बा यहा से बनकर निकला। बगलौर का हिन्दुस्तान विमान कारखाना तथा रेल शिल्पशालाएँ भी कुछ सवारी डिब्बे बनाती हैं। भारत अब सवारी डिब्बो मे स्वावलम्बी हो चुका है।

माल डिब्बे—देश म हर साल २०,००० माल डिब्बे बनाने की क्षमता है। अब साल मे ३६,००० डिब्बे बनाने की योजना है। इसके लिए देश की १६ नई भारतीय फर्मों को चुना गया है। कुछ ही दिनो मे देश म विशेष प्रकार के माल डिब्बे बिजली-चालित चलयान भी बनने लगेगे।

इ जन पुर्जा कारखाना—बनारस के निकट १.२६ करोड रुपए की पूँजी लगा कर २३ अप्रैल १९५६ को एक इ जन के पुर्जे बनाने का कारखाना खोला गया। यहा पर छोटी बडी दोनो प्रकार की रेलो के इ जनो के पुर्जे बनते है।

मीटर लाइन सवारी डिब्बा कारखाना—बरेली मे मीटर लाइन के सवारी डिब्बे बनाने का कारखाना भी द्वितीय योजना मे खोला गया।

वर्तमान स्थिति—भारत में ३१ मार्च १९६० को ३५,२२३ मील रेलें थीं जिनमें १६३६ करोड़ रुपए की पूंजी लगी हुई थी। ३४८१३ मील रेलें सरकारी स्वामित्व में और १४६६३ मील सरकारी प्रबन्ध में थी और केवल ८०० मील पर गैर-सरकारी प्रभुत्व और ५२० मील पर गैर-सरकारी प्रबन्ध व संचालन था। इसी वर्ष के अन्त में ७५० मील नई रेलों पर निर्माण कार्य जारी था। रेल-मार्ग की दोनों पटरियों के बीच की चौड़ाई को प्रान्तर (Gauge) कहते हैं। प्रान्तर के हिसाब से भारतीय रेलों की तीन श्रेणियाँ की जाती हैं।

५'—६" चौड़ा गेज (Broad Gauge) अथवा बड़ी लाइन १६,४५० मील।

३'—३⅜" मीटर गेज (Metre Gauge) अथवा मंझली लाइन १५,५८२ मील।

२½' व २' सकड़ा गेज (Narrow Gauge) अथवा छोटी लाइन ३,१८१ मील।

आंकड़ों के निमित्त भारतीय रेलों के दो वर्ग हैं, (१) सरकारी रेलें, और (२) गैर-सरकारी।

देश में निम्नांकित १८ रेल इकाइयाँ हैं :—

सरकारी-रेलें

१. मध्य रेल (Central Railway), २. पूर्वी रेल (Eastern Rly), ३. उत्तरी रेल (Northern Rly), ४. पूर्वोत्तर रेल (North-Eastern Rly), ५. दक्षिणीपूर्वी रेल (South-Eastern Rly), ६ दक्षिणी रेल (Southern Rly), ७. पश्चिमी रेल (Western Rly), ८. पूर्वोत्तर सीमान्त रेल (North-Eastern Frontier Rly).

गैर-सरकारी रेलें

१. अहमदपुर-कतवा	६. देहरी-रोहतास
२. आरा-ससराम	७. फतवा-इसलामपुर
३. बाकुरा-दामोदर नदी	८. हावड़ा-अमता
४. बख्तियारपुर-बिहार	९. हावड़ा-शीखला
५. बर्दवान-कतवा	१०. शाहदरा-सहारनपुर

इनमें से केवल नं० ४ जिलाबोर्ड पटना की रेल है और शेष कम्पनियों की रेलें हैं।

हमारी रेलें अधिकतर भाप के इंजिनों द्वारा चलती हैं, केवल ३२९ मील रेलें ऐसी हैं जिनका संचालन बिजली के इंजनों द्वारा होता है। बिजली से चलने वाली रेलों की लम्बाई ३१ मार्च १९६० को निम्नांकित थी :—

मध्यवर्ती (Central) रेल	१८४ ८५ मील
पश्चिमी (Western) रेल	३७ २५ मील
दक्षिणी (Southern) रेल	१८·१४ मील
पूर्वी (Eastern) रेल	८८·६३ मील

यातायात (Traffic)—भारतीय रेलें प्रति वर्ष १५३ ४० करोड यात्री और १४ ५५ करोड टन माल एक स्थान से दूसरे स्थान का ले जाता है। रेला की भाषा म व्यक्त करें तो यह कहना होगा कि ४,६३० करोड यात्री मील (Passenger Miles) और ५,०१६ करोड टन मील (Ton Miles) प्रति वर्ष ढोया करती है जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है।

भारतीय रेलों का कार्य-भार (करोड)

वर्ष	यात्री		माल	
	सख्या	यात्री मील	टन	टन मील
१९५७–५८	१४३·०	४३३२·६	१३·८	४५६४ ४
१९५८–५९	१४४·१	४२४९·७	१३·७	४६८० ६
१९५९–६०	१५३·४	४६३०·४	१४ ५	५०१६ १
माध्य (Average) (१९५७–५९)	१४६·८	४४०४·३	१३ ९	५०८८·१

यात्री मील से तात्पर्य एक यात्री की एक मील यात्रा है अर्थात् यह मान ले कि १५३ ४ करोड यात्रियो मे किसी एक यात्री ने दस मील यात्रा की तो इसका तात्पर्य यह है कि उसने १० यात्री मील का कार्य रेलों को दिया, जिस व्यक्ति ने २० मील यात्रा की उसने २० यात्री मील कार्य दिया। इसी भाँति टन माल का तात्पर्य एक टन माल के एक मील ले जाने से है। यदि कोई व्यक्ति १० टन माल २५ मील ले गया, तो उसने रलो को (१०×२५) २५० टन मील कार्य दिया। भिन्न भिन्न यात्री तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का माल भिन्न भिन्न दूरी को रेलो से जाते हैं। अत रेलो के वास्तविक कार्यभार को जानने के लिए एक यात्री को और एक टन माल को एक-एक भिन्न इकाई मान लिया जाता है, क्योकि यात्रियो की सख्या ज्ञात हो सकती है, उनके भार का पता लगाना व्यावहारिक नही है।

आय व्यय—कुछ वर्ष का आय-व्यय का विवरण इस प्रकार है —

करोड रुपये

	पूंजी	सकल आय	संचालन व्यय	शुद्ध आय	शुद्ध आय पूंज का प्रतिशत	लाख सरकारी लाभांश	रेल निधियाँ
१९५५–५६	९७६	३१८	२६०	५८	६·१४	३६·१	१४·२
१९५६–५७	१०३८	३५१	२८०	७१	६ ७६	३८·२	२०·२
१९५७–५८	१२२९	३८३	३११	७२	६·१३	४४·४	१३·४
१९५८–५९	१२६३	३९२	३२५	६७	५·२२	५०·४	८·९
१९५९–६०	१४३९	४२४	३३७	८७	५·४३	५४·४	२०·१

रेलो की आय के तीन मुख्य उद्गम हैं :—(१) माल, (२) यात्री, (३) यात्रियों के साथ जाने वाला माल-असबाब और पार्सल यातायात। कुल आय का लगभग ६२ प्रतिशत माल यातायात से, ३६ प्रतिशत यात्रियो से और शेष २ प्रतिशत पार्सला इत्यादि से प्रा त होता है जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है :—

भारतीय रेलो की आय के मुख्य उद्गम (करोड रुपए)

यातायात	१९५७-५८		१९५८-५९		१९५९-६०	
	आय	प्रतिशत	आय	प्र तशत	आय	प्रतिशत
माल	२२९·६८	६०·४	२४०·८२	६१·७	२६०·५०	६१·७
यात्री	१४३·३३	३७·७	१४०·३३	३६·०	१५१·०२	३५·८
पार्सल, असबाब आदि	६·७७	१·९	९·०६	२ ३	१०·१८	२·५
कुल आय	३७९·७८	१००	३९०·२१	१००	४२२·३३	१००

यात्रियो से प्राप्त होने वाली आय का लगभग ८८ प्रतिशत तृतीत श्रेणी के यात्रियो से, ७ प्रतिशत प्रथम एवं वातानुकूलित श्रेणी से, और ५ प्रतिशत द्वितीय श्रेणी से प्राप्त होता है।

यात्री यातायात से रेलों की आय (करोड रुपए)

श्रेणी	१९५७-५८		१९५८-५९		१९५९-६०	
	आय	प्रतिशत	आय	प्रतिशत	आय	प्रतिशत
प्रथन एवं यातानुश्रेणी	७·६०	६	८·५७	८	९·२५	७
द्वितीय ,,	५·८१	५	५·९८	५	५·९०	५
तृतीय ,,	१०६·६४	८९	१०३·०३	८७	११२·७७	८८
कुल जोड़	१२०·०५	१००	११७·५८	१००	१२७·९२	१००

माल यातायात में प्रमुख भाग कोयले का है जिससे रेलों को माल यातायात से होने वाली आय का १३ प्रतिशत से अधिक प्राप्त होता है। रेलों से जाने वाली अन्य महत्वपूर्ण वस्तुएँ लोहा व इस्पात, चना व दालें, गेहूँ व आटा, तिलहन, चावल, फल व तरकारियाँ, संगमरमर, नमक, मिट्टी का तेल, लकड़ी, सिमट, गुड़, चीनी, सूती वस्त्र, इत्यादि हैं।

रेल निधियां (Railway Funds)—१९४९ के समान्माय प्रस्ताव के अनुसार परिवर्तित वित्त-व्यवस्था का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इसके अनुसार संचित निधि और अवक्षयण निधि के स्वरूप एवं नियमों में ही परिवर्तन नहीं किया गया, एक विकास निधि (Development Fund) की भी रचना की गई जो १ अप्रैल १९५० से निम्नांकित उद्देश्य पूर्ति के लिए जारी किया गया :—

(१) बिना किसी सीमा और प्रतिबन्ध के यात्रियों को सुख-सुविधाएँ प्रदान करने वाले कार्यों का व्यय इस निधि से भुगतान किया जा सकता है चाहे वह व्यय किसी कार्य-वृद्धि (Additiors) के सम्बन्ध में हुआ हो, चाहे प्रतिस्थापन (Replacement) के निमित्त।

(२) नए नियमों के अनुसार लघु कार्यों (Minor Works) की सीमा २५,००० रुपए रखी गई है। यदि किसी श्रम-कल्याण कार्य की लागत इस सीमा से अधिक हो तो उसका व्यय इस निधि से भरा जा सकता है;

(३) संचालन सम्बन्धी कार्य पटुता में सुधार करने के मन्तव्य से छेड़ी जाने वाली किसी अनुत्पादक योजना का ३ लाख रुपए से ऊपर का व्यय इस निधि से चुकाया जा सकता है;

(४) कोई नई रेलें जिनका निर्माण आवश्यक हो किन्तु वे सर्वथा अनुत्पादक हों, ऐसी रेलों का निर्माण इस निधि से किया जा सकता है।

ऊपर के नियम (३) और (४) के लिए अनुत्पादक योजनाएँ वे मानी हैं जो अवक्षयण (Depreciation), पोषण (Maintenance) और संचालन-व्यय को निकालकर लागत मूल्य पर ५ प्रतिशत से कम लाभ दे सकें। जो योजनाएँ कम से कम ५ प्रतिशत लाभ दे सकें वे उत्पादक समझी जाती हैं।

१९४६-४७ में इसी प्रकार के कुछ उद्देश्य लेकर एक सुधार निधि (Betterment Fund) की रचना की गई थी। इस निधि में ३१ मार्च १९५० को १३·८० करोड़ रुपए शेष थे। यह सारा शेष १ अप्रैल १९५० को विकास निधि में रख दिया गया था। इस प्रकार प्रथम वर्ष के प्रारम्भ में ही इसे १३·८० करोड़ रुपए मिल गए। १९५९-६० के अन्त में इस निधि में ८·९१ करोड़ रुपए से अधिक धन था। इसी दिन मूल्य ह्रास निधि में ३७·३ करोड़ रुपए और आगम संचित निधि में ५१·६ करोड़ रुपए शेष था।

अध्याय १५

रेलों का पुनर्वर्गीकरण

(Railway Regrouping)

रेल-संयोजन (Railway Combination)

रेल स्वभावतः ही एक बड़े पैमाने का व्यवसाय है जिसमें पूँजी की मात्रा सभी आधुनिक व्यवसायों से अधिक होती है। पूँजी की अधिकता का अवश्यम्भावी परिणाम रेल-व्यवसाय की प्रतियोगिता है। प्रत्येक रेल यातायात की मात्रा बढ़ाने के प्रयत्न में दूसरी रेलों और दूसरे परिवहन के साधनों के साथ भारी प्रतियोगिता करती है। इस भाँति प्रतियोगिता रेल-व्यवसाय का एक स्वाभाविक गुण है, किन्तु साथ ही इस व्यवसाय की प्रतियोगिता बड़ी घातक भी होती है। सभी प्रतियोगी पक्षों को भारी हानि सहन करनी पड़ती है और छोटे प्रतियोगी कभी-कभी अपना विनाश कर बैठते हैं। यह पारस्परिक प्रतियोगिता जब अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है तो रेलें संयोजन अथवा समामेलन की शरण लेकर अपनी प्राण-रक्षा करती हैं।

रेल संयोजन के प्रकार

संयोजन की क्रियाओं के बहुधा दो वर्ग किए जाते हैं : (क) जिसके द्वारा प्रतियोगी पक्ष एक प्रबन्ध के अन्तर्गत आ जाते हैं, (ख) जिसके द्वारा प्रतियोगी पक्ष प्रबन्ध पृथक्-पृथक् रख कर सम्मिलित होते और प्रतियोगिता का बचाव करते हैं।

(क) एक प्रबन्ध—

एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत संयोजन के पाँच प्रकार हो सकते हैं: (१) पूर्ण समामेलन (Complete consolidation), (२) पट्टा (Lease), (३) सूत्रधारि कम्पनी (Holding company), (४) काम चलाऊ संघ (Working union), (५) कामचलाऊ समझौता (Working Agreements)।

(१) पूर्ण समामेलन अथवा संघटन—कई कम्पनियों का समामेलन होते समय सारी कम्पनियों की सम्पत्ति पर किसी एक कम्पनी का पूर्ण स्वामित्व हो जाता है। इस प्रकार के संयोजन को कभी-कभी संगलन (Fusion) भी कहते है, क्योंकि विभिन्न कम्पनियों की सम्पत्ति का संचय एक ही के अधिकार मे हो जाता है। समामेलन के

सामान्यतः दो प्रकार हो सकते हैं। (अ) विलय (Merger) जिसमें प्रतियोगी कम्पनियों में से कोई एक अन्य कम्पनियों की सम्पत्ति और अधिकारों को ग्रहण कर लेती है तथा जिसका अपना नाम और अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है। अन्य कम्पनियाँ अपना नाम और अस्तित्व सर्वथा खो बैठती हैं। अवध रुहेलखण्ड रेल १ जुलाई १९२५ से ईस्ट इण्डिया रेल के साथ, बंगाल डुआर्स रेल (Bengal Dooars Railway) १ जनवरी १९४१ से पूर्वी बंगाल रेल के साथ तथा नवाखाली बंगाल रेलवे १ जनवरी १९०६ से आसाम-बंगाल रेल के साथ मिल गई और अपना अस्तित्व खोकर उन कम्पनियों के अन्तर्गत विलीन हो गई। (ब) संघटन (Consolidation) अथवा समामेलन (Amalgamation) में सम्मिलित होने वाली सब की सब कम्पनियों का विघटन हो जाता है और सारी कम्पनियों की सम्पत्ति और अधिकार ग्रहण करने के लिये एक नई कम्पनी बनती है। इस कम्पनी का नाम और अस्तित्व पुरानी कम्पनियों से सर्वथा भिन्न होता है। आसाम-बंगाल रेल और ईस्टर्न बंगाल रेल दो स्वतन्त्र रेल-कम्पनियाँ १ जनवरी १९४२ से *बंगाल एण्ड आसाम* रेल के नाम से भारत सरकार के अधिकार में आ गईं। इसी भाँति अवध-तिरहुत रेल पाँच छोटी-छोटी रेलों के सम्मिलन के उपरान्त बनी : (१) बंगाल एण्ड नार्थ वेस्टर्न रेल, (२) तिरहुत रेल, (३) रुहेलखण्ड एण्ड कमायूँ रेल, (४) मशरक थावे रेल और (५) लखनऊ बरेली रेल।

किन्हीं दो स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच एक अविरत मार्ग बनाने के उद्देश्य से भी रेलों का समामेलन होता है अर्थात् जो रेलें एक दूसरे की पूरक समझी जाती हैं उन्हें एक इकाई मान लिया जाता है। वर्तमान उत्तरी रेल में रूपर-नागल, मुकरियन पठानकोट, कालका-शिमला, कागड़ा घाटी (Kangra Valley), नगरोता-जोगेन्द्रनगर इत्यादि इकाइयाँ सम्मिलित हैं।

(२) **पट्टा (Lease)**—एक रेल कम्पनी अपनी सम्पूर्ण सम्पदा किसी दूसरी रेल कम्पनी को किसी निश्चित समय[१] अथवा सदैव के लिए प्रयोग के निमित्त किसी निश्चित किराए अथवा लाभांश के बदले में दे देती है। पट्टे पर ली गई रेल के भरण-पोषण तथा मरम्मत का उत्तरदायित्व लेने वाली कम्पनी पर ही होता है। ईस्ट इण्डिया और ग्रेट इण्डियन पैनुसुला रेलें यद्यपि भारत सरकार ने १९ वीं शताब्दी में ही अपने स्वामित्व में ले ली थीं, किंतु उनका प्रबन्ध और संचालन १९२४ के अन्त तक कम्पनियों के हाथ में ही दे दिया गया था।

(३) **सूत्रधारि कम्पनी (Holding Company)**—सूत्रधारि कम्पनी वह कम्पनी है जो एक अथवा अनेक कम्पनियों की पूँजी पर अधिकार प्राप्त करने के

१. संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में बहुधा ५० वर्ष के लिए पट्टा दिया जाता है और निश्चित किराया लिया जाता है।

नाते उस कम्पनी अथवा उन कम्पनियों के प्रबन्ध का निर्बाध अधिकार प्राप्त कर लेती है। यह कम्पनी संचालन चाहे स्वयं करती हो अथवा नहीं। यदि सूत्रधारि कम्पनी के अधिकार में केवल पूँजी और मताधिकार का एक बड़ा भाग हो है तो उसका नियन्त्रण तभी तक सम्भव है जब तक प्रबन्धकारिणी में उसका बहुमत हो। स्थायी नियन्त्रण के लिये सम्पूर्ण पूँजी का अधिकार आवश्यक है।

(४) काम चलाऊ संघ (Working Union)—काम चलाऊ संघ बनाने के लिये सभी प्रतियोगी इकाइयों का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है, केवल उनके प्रबन्ध का एकीकरण हो जाता है। प्रत्येक रेल के पूँजीगत व्यय सम्बन्धी खाते भी अलग-अलग रखे जाते हैं।

(५) काम चलाऊ समझौता (Working Agreement)—एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के रेल-पथ के भरण-पोषण तथा प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लेती है जिसके बदले में उस कम्पनी को सकल आय (Gross receipts) का एक निश्चित भाग मिलता रहता है। यातायात का विकास प्रबन्धकर्ता कम्पनी के हित में होता है। अतएव यातायात के विकास के लिए वह कोई बात उठा नहीं रखती।

(ख) पृथक-प्रबन्ध :

पृथक प्रबन्ध रखकर संयोजन कई प्रकार का हो सकता है। बहुधा निम्नांकित संयोजन प्रचलित हैं : (१) रेल-सम्मेलन (Railway Conferences), (२) संनिधि व्यवस्था (Pooling arrangement), (३) क्षेत्र विभाजन (Division of territory), तथा (४) आद्योपान्त यातायात संचालन (Working of through traffic)।

(१) रेल सम्मेलन—बहुधा प्रतियोगी रेलें अपने सम्मेलन बना लेती हैं जिन की बैठक समय-समय पर होती रहती है जहाँ पारस्परिक हित की बातों पर विचार-विनिमय एवं समझौते हुआ करते है। किराये-भाड़े नियत करना, यातायात सम्बन्धी नियम बनाना, दावा (Claim) तथा सहायक सेवाओं इत्यादि के सम्बन्ध में सामूहिक निर्णय किए जा सकते है। भारतीय रेल सम्मेलन (Indian Railway Conference Associtation) वर्षों से भारतीय रेलों में अनेक बातों पर समझौता कराने का प्रयत्न करता रहा है। यातायात ले जाने के सम्बन्ध में विविध प्रकार के नियम बनाना, किराए भाड़े की समान दरें निर्धारित करना, इन नियमों और दरों का प्रकाशन करना तथा सदस्यों से उन्हें मान्यता देने का आग्रह करना इत्यादि सम्मेलन के सराहनीय कार्य हैं।

(२) संनिधि व्यवस्था—इस व्यवस्था द्वारा किसी यातायात से सम्बन्धित आय एक संनिधि में जमा कर दी जाती है और उसका सदस्य कम्पनियों में किसी निश्चित अनुपात में बँटवारा कर दिया जाता है। अतएव: कम्पनियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है। सकल आय से संचालन व्यय घटाने की बहुधा अनुमति देदी जाती है और केवल शुद्ध आय संनिधि में ले जाई जाती हैं। इस व्यवस्था के

उपरान्त जितना यातायात कोई सदस्य कम्पनी ले जाती है, उसी के अनुसार उसे संनिधि में से आय दी जाती है।

(३) क्षेत्र विभाजन (Division of Territory)—प्रतियोगी कम्पनियाँ कभी-कभी प्रतियोगिता का निवारण करने के लिए क्षेत्र विभाजित कर लेती हैं और इस बात पर सहमत हो जाती हैं कि कोई कम्पनी दूसरी कम्पनी के क्षेत्र म रेल नही बनाएगी। कभी-कभी सम्मिलित मार्ग भी बनाया जाता है और उसका प्रबन्ध भी एक सयुक्त कम्पनी के हाथ म दे दिया जाता है।

(४) आद्योपान्त यातायात सचालन—आद्योपान्त यातायात संचालन के निमित्त भी कभी कभी समझौते की आवश्यकता पड़ती है। सचालन अधिकार के द्वारा एक कम्पनी अपने इन्जन, सवारी डिब्बे और माल डिब्बे दूसरी रेल पर चलने का अधिकार प्राप्त करले अथवा आद्योपान्त पथ-सयोग (Connection) के निमित्त सम्मिलित स्वामित्व में रेल-पथ बनाया जाए।

सयोजन के लाभ

रेल कम्पनियों के सम्मिलन का तात्पर्य यह है कि अनेक छोटी-छोटी कम्पनियाँ अथवा कुछ छोटी बड़ी कम्पनियाँ मिलकर बड़ी कम्पनियाँ बन जायें। यद्यपि रेल स्वभाव से ही बड़ा उद्योग होता है और उसे बड़े पैमाने के कार्य-सचालन के अनेक लाभ स्वतः ही प्राप्त होते हैं तो भी सम्मिलन से अस्वस्थ प्रतियोगिता के हट जाने के कारण अनेक प्रकार की मितव्ययता की सम्भावना बढ़ जाती है। इससे होने वाले मुख्य लाभ निम्नांकित हैं :—

(१) मितव्ययता (Economies) :

सम्मिलन का सबसे बड़ा लाभ व्यय की मितव्ययता है। कई क्षेत्रों में व्यय कम हो जाता है। मुख्य कमी के क्षेत्र : (क) प्रबन्ध, (ख) क्रय और (ग) विक्रय हैं।

(क) प्रबन्ध—प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय में कमी का मुख्य कारण उच्च अधिकारियों की सख्या में कमी है। यदि १० इकाइयाँ एक प्रबन्ध के अन्तर्गत आ जाती हैं तो जहाँ पहले १० महाप्रबन्धक (General Manager) थे वहाँ अब केवल एक महाप्रबन्धक रह जायगा। अन्य अधिकारियों की सख्या में भी ऐसी ही कमी होगी। प्रबन्ध व्यय म कमी होने का दूसरा साधन कम्पनियों की पारस्परिक हिसाब व्यवस्था का अन्त है। परस्पर कम्पनियों के बीच होने वाले अनेक प्रकार के लेन-देन और *आदान-प्रदान के व्यवहार समाप्त हो जाने से भी व्यय कम होता है।*

(ख) क्रय—सम्मिलित कम्पनी को अपनी आवश्यकता के पदार्थ सीधे उत्पादकों अथवा थोक व्यापारियों से लेने का अवसर प्राप्त होता है। इससे उन्हें भारी बचत हो जाती है। बड़े पैमाने पर माल खरीदने से अधिक कटौती और छूट मिलती है। उच्च कोटि का माल सस्ते भाव पर मिल जाता है। ढुलाई व्यय भी कम होता है

तथा माल की सुपुर्दगी शीघ्र मिल सकती है। माल विशेषज्ञों की सहायता से लिया जाता है जिन्हें अच्छे उत्पादकों अथवा विक्रेताओं का पूरा ज्ञान होता है।

(ग) बिक्री—रेलें सेवा की बिक्री करती हैं। इसके लिए इन्हें विज्ञापन और प्रचार भी करना पड़ता है। सम्मिलित रेल कम्पनी को विज्ञापन और प्रचार सम्बन्धी व्यय अपेक्षाकृत कम करना पड़ता है। टिकटघरों, दफ्तरों और माल भेजने के स्थानों की संख्या में कमी हो जाती है।

(२) सेवा सुविधाएं :

सम्मिलन के उपरान्त केवल आवश्यक सेवायें चालू रखी जाती हैं और अनावश्यक मार्गों, सीमान्त स्थानों (Terminals), बदलाव केन्द्रों, दुकानों इत्यादि को बन्द कर दिया जाता है। इसी भांति अनावश्यक प्रतियोगी गाडियों को भी रोक दिया जाता है। इससे भारी बचत होती है।

(३) साजसज्जा का पूर्ण उपयोग :

बड़ी रेलों में साजसज्जा का सदुपयोग होना भी स्वाभाविक है। अलग-अलग इकाइयाँ होने पर प्रत्येक को भीड़ काल के लिए कुछ न कुछ चलयान और अन्य साजसज्जा आरक्षित (Reserve) रखनी पड़ती हैं। सम्मिलित रेलों के लिए इस आरक्षित साजसज्जा में बहुत कमी हो जाती है। रेल-पथ, सिगनल व्यवस्था, स्टेशन यार्ड और भवनों का भी पूर्ण उपयोग होने लगता है। पहले जो यातायात घुमावदार मार्गों से जाता था अब छोटे से छोटे मार्ग से जाने लगता है।

(४) विशेषीकरण :

श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की क्रिया के अपनाने से भी अनेक लाभ होते हैं। काम अच्छा, शीघ्र और कम व्यय से होने लगता है। विशेषीकरण के लाभ केवल श्रम के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् साज-सज्जा और अन्य क्षेत्रों में भी होते हैं।

भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण

भारतीय रेलों में संयोजन की महत्वपूर्ण घटना रेलों के पुनर्वर्गीकरण की है जिसे कार्यान्वित करने के लिये किन्हीं प्रतियोगी परिस्थितियों ने हमें बाध्य नहीं किया वरन् राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियों द्वारा हमें इसकी प्रेरणा मिली। इस ऐतिहासिक घटना पर विस्तार से विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं समझा जा सकता।

पुनर्वर्गीकरण की आवश्यकता—जिस समय भारत में रेलों का आविर्भाव हुआ उस समय देश में राजनैतिक, आर्थिक और वित्तीय परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उनका विकास व्यवस्थित रूप में न हो सका। देशी पूँजी और साहस के अभाव में विदेशी पूँजी और साहस के पैर छूने पड़े जिन्होंने मनमानी नीति बरती। इस नीति के जो कड़ुवे फल हमें चखने पड़े उसकी ओर पिछले अध्यायों में संकेत किया जा चुका है। हमारी रेलों का निर्माण-व्यय ही औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं कर गया था, वरन् उनका कार्य-कौशल भी वाछनीय नहीं था। न तो उनका क्रमिक (Systematic) विकास ही हो सका और न उनके प्रबन्ध व नियन्त्रण में ही किसी प्रकार

की एकरूपता आ सकी। स्वामित्व की दृष्टि से ही उनमें असामंजस्य न था, उनके संचालन का अधिकार भी अनेक हाथों में था। यहाँ तक कि पुनर्वर्गीकरण का कार्य वस्तुतः प्रारम्भ होने से ठीक पूर्व भी देश में ३४,०५७ मील लम्बी ३५ रेलें थी जिनका स्वामित्व और संचालन विभिन्न अधिकारों में था, जैसा कि निम्न आँकड़े व्यक्त करते हैं :—

३१ मार्च १९५१ को भारतीय रेलों का स्वामित्व व संचालन अधिकार[1]

स्वामित्व	संचालन अधिकार	लम्बाई (मीलों में)
भारत सरकार	भारत सरकार	३२,८६०
बम्बई राज्य सरकार	भारत सरकार	१९
ब्रान्च रेलवे क०	भारत सरकार	२१३
ज़िला बोर्ड	भारत सरकार	८१
कोचीन हार्बर अधिकारी	भारत सरकार	४
विदेशी शासक	भारत सरकार	७४
कम्पनी	कम्पनी	७३६
कुल जोड़		३४,०५७

उक्त तालिका भी वास्तविक स्थिति पर प्रकाश नहीं डालती, क्योंकि इस विभिन्नता में भी एकरूपता नहीं थी। कोई-कोई रेलें ऐसी थी जिनके कई स्वामी थे। उदाहरणार्थ अकेली साउथ इण्डियन (South Indian) रेल चार स्वामियों की सम्पत्ति थी। उसकी २,३४९ मील लम्बाई में से २,२८४ मील पर भारत सरकार, ३८ मील पर जिला बोर्ड, २३ मील पर विदेशी सरकार और ४ मील पर कोचीन हार्बर का अधिकार था। ३५ रेलों में से १३ प्रथम श्रेणी, ४ द्वितीय श्रेणी और १८ तृतीय श्रेणी की रेलें थीं। इनमें से कुछ रेलें इतनी छोटी थी[2] कि उनका संचालन लाभप्रद होना असंभव था। भिन्न-भिन्न स्वामी होने से इन रेलों की कार्य-विधि और रीति-नीति ही भिन्न नहीं थी, उनकी सेवा का स्वरूप भी अलग-अलग था। इस भिन्नता के कारण परस्पर द्वेषभाव भी होना स्वाभाविक था जिसका अवश्यम्भावी परिणाम था जनता की सुख-सुविधाओं पर कुठाराघात। अच्छी और सस्ती सेवा की ओर उनका स्वप्न में भी ध्यान नहीं जाता था।

राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार करते समय रेलों के पुनर्वर्गीकरण का प्रश्न भी अप्रत्यक्ष रूप से ऑकवर्थ समिति के सामने उठा था। तत्कालीन परिस्थितियों को

1. Report by the Railway Board on Indian Railways for 1950-51, vol. I, p 115-118.
2. जगाधरी लाइट रेलवे केवल ३ मील लम्बी थी।

ध्यान में रखकर उस समिति ने यही मत व्यक्त किया था कि 'रेलों का प्रशासन चाहे कितना ही विकेन्द्रीकृत हो, उनके प्रबन्ध और नियन्त्रण का अन्तिम उत्तरदायित्व एक केन्द्रीय अधिकारी के हाथ में ही रहना चाहिये।' इसका संकेत रेलों के पुनर्वर्गीकरण की ओर ही था।

सांसारिक परिस्थितियों ने भी इस ओर हमें कम प्रेरणा प्रदान नहीं की। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही और विशेषतः प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अनेक देशों में रेलों के एकीकरण और प्रतिमानीकरण (Standardisation) तथा प्रशासकीय परिधि के परिवर्द्धन की एक लहर सी आई। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन की २७ मुख्य रेलें और लगभग १०० सहायक रेलें मिलाकर केवल चार बड़ी-बड़ी रेलों में परिणत कर दी गई जिनको द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त वहाँ की सरकार ने हथिया लिया। फ्रान्स और जर्मनी में भी इसी प्रकार का चलन दिखाई दिया। कनाडा और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी यह विचारधारा फैल गई।

भारतीय रेलें जीर्णोद्धार और नवकरण के लिए तो अवसाद काल (Depression) से ही तड़प रही थीं, किन्तु द्वितीय महायुद्धकाल में कार्यभार के आधिक्य से उनकी रही सही सेवा-क्षमता भी क्षीण हो गई और उनकी और भी कमर टूट गई। युद्धकाल में अनेक इन्जन, डिब्बे और पटरियाँ तथा अन्य सामग्री मध्य पूर्व में भेजनी पड़ी जिसके फलस्वरूप हमारी रेलों को कम से कम २६ शाखाएँ-उपशाखाएँ उखाड़ कर रद्द करनी पड़ीं। युद्धोपरान्त काल में इस विध्वंस और विघटन की पूर्ति द्वारा उनके पुनर्संस्थापन की आवश्यकता थी। साथ ही साथ हमें उनकी कार्यक्षमता और सेवा-सीमा इस भाँति बढ़ानी थी कि वे हमारी विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की समुचित सेवा कर सकें। बिना केन्द्रीयकरण और पुनर्वर्गीकरण के यह संभव नहीं था।

देश-विभाजन का हमारी रेलों पर बुरा प्रभाव पड़ा और तीन रेलें, नार्थ वेस्टर्न, बंगाल-आसाम और जोधपुर, विभाजन के उपरान्त टुकड़ियाँ मात्र रह गईं जिनका संचालन लाभप्रद नहीं था। देशी राज्यों की अनेक छोटी-छोटी रेलों के भारत सरकार द्वारा अपने अधिकार में लेने के उपरान्त रेलों के पुनर्वर्गीकरण की और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

ऐतिहासिक झलक

सर्वप्रथम दक्षिण भारत की रेलों के वर्गीकरण का प्रश्न १९०४ में उठाया गया था, किन्तु शीघ्र ही यह प्रश्न शान्त हो गया। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त भारतीय विशेषज्ञों का इस ओर विशेष ध्यान गया। ऑक्वर्थ समिति ने देश भर की रेलों के निम्नांकित तीन वर्ग करने का सुझाव दिया था :—

(१) **पश्चिमी वर्ग**—ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला, बम्बई बड़ौदा व सेन्ट्रल इण्डिया, नार्थ वेस्टर्न और जोधपुर-बीकानेर रेलें तथा उनकी सहायक और उप-सहायक रेलें।

(२) पूर्वी वर्ग—ईस्ट इण्डियन, अवध-रुहेलखण्ड, बंगाल व नार्थ-वेस्टर्न, रुहेलखण्ड-कमायूँ, आसाम-बंगाल, बंगाल-नागपुर और ईस्टर्न बंगाल रेलें तथा बन्दरगाहों की रेलें और स्थानीय रेलें।

(३) दक्षिण रेल—मद्रास व साउथ मरहठा, साउथ इण्डियन, निजाम की रेलें और इस क्षेत्र के बन्दरगाहों की तथा अन्य स्थानीय रेलें।

ऑकवर्थ समिति के इस प्रस्ताव का इंचकेप समिति (१६२२-२३) ने भी समर्थन किया और रेलों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में योजना बनाने का आग्रह किया। यद्यपि सन् १६३७ में रेलों के वर्गीकरण के अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं थी तो भी वैजवुड समिति (Wedgwood Committee) ने अन्ततोगत्वा भारतीय रेलों को निम्न आठ इकाइयों में बाँटने का सुझाव दिया।[1]

१. ईस्ट इण्डियन रेल
२ ईस्टर्न बंगाल और आसाम-बंगाल रेलें
३. नॉर्थ वेस्टर्न
४. ग्रेट इंडियन पेनिन्सुला रेल
५. बम्बई बड़ौदा व सेन्ट्रल इंडिया रेल
६. मद्रास व साउथ मरहठा और साउथ इंडियन रेलें
७. बंगाल नागपुर रेल
८. बंगाल व नार्थ वेस्टर्न रेल।

२६ फरवरी १६३६ में वार्षिक आय-व्ययक (Budget) पर वाद-विवाद होते समय रेलों के सदस्य (Railway Member) ने बम्बई बड़ौदा व सेन्ट्रल इण्डिया रेल को ग्रेट इंडियन पेनिन्सुला रेल के साथ और मद्रास वा साउथ मरहठा रेल को साउथ इंडियन रेल के साथ मिलाने का प्रस्ताव भावी नीति का आधार स्वीकार कर लिया था[2], किन्तु कोई सक्रिय प्रयत्न इस ओर नहीं हो सके, क्योंकि रेलों का स्वामित्व और प्रबन्ध विभिन्न होने से कोई एकसूत्रीय कार्यक्रम नहीं उपस्थित किया जा सकता था। कुंजरू समिति (१६४७) ने इस प्रश्न को पाँच वर्ष के लिए स्थगित करने का सुझाव दिया। उन्होंने अपने निर्णय के दो मुख्य कारण बताए। देशी राज्यों और उनकी रेलों के भारत में सम्मिलित होने तक इस ओर कोई कदम नहीं उठाया जा सकता था। दूसरे, देश के विभाजन से उत्पन्न हुई प्रतिकूल परिस्थितियों में ऐसी महत्वपूर्ण योजनाओं के उठाने का अनुकूल अवसर नहीं था। उस समय देश की राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियाँ एक तो यों ही सङ्कटापन्न अवस्था को पहुँची हुई थी। ऐसी बड़ी योजनाओं के छेड़ने का अर्थ और जले पर नमक डालने के समान था।

---

1. Report of the Indian Railway Enquiry Committee 1937, p 119.
2. Indian Railways : *One Hundred Years 1853-1953*, P. 163.

अप्रैल १९५० तक देशी रियासतों की सभी रेलों के भारत सरकार द्वारा ले लेने और देश की परिस्थितियों में सुधार होने पर इस प्रश्न पर विचार विनिमय प्रारम्भ हुआ और जून मास में भारत सरकार ने अपनी योजना प्रकाशित करके इस कार्य को उत्साह के साथ आगे बढ़ाया। इस योजना को प्रकाशित करके जनता की अनुमति माँगी गई। कुछ महीनों तक पत्र-पत्रिकाओं में इसकी खूब चर्चा होती रही। व्यापार- व्यवसाय सम्बन्धी संस्थाओं और व्यक्तियों ने भी अपने-अपने विचार प्रकट किए। तदुपरान्त दिसम्बर १९५० में इसे रेलों की केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद (Central Advisory Council for Railways) के सन्मुख रखा गया जिसने जनता के विचारों को ध्यान में रख कर आवश्यक संशोधन के उपरान्त उसे स्वीकार कर लिया।

पुनर्वर्गीकृत क्षेत्र—इस योजना के अनुसार ३३,५८२ मील लम्बी सरकारी रेलों को निम्न ६ क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया :

रेल का नाम	मुख्यालय (Head Quarter)	कुल लम्बाई (मील)	कौन-कौन रेलें सम्मिलित की गईं	प्रारम्भ होने की तिथि
१. दक्षिणी रेल	मद्रास	६,०१६	मद्रास व साउथ मरह्ठा, साउथ इण्डियन और मैसूर की रेलें।	१४ अप्रैल १९५१
२. मध्यवर्ती रेल	बम्बई	५,४२८	ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला, निजाम राज्य, सिंधिया व धौलपुर राज्यों की रेलें।	५ नवम्बर १९५१
३. पश्चिमी रेल	बम्बई	५,६३१	बम्बई बड़ौदा व सैण्ट्रल इण्डिया, सौराष्ट्र, कच्छ, जैपुर राज्य और राजस्थान की रेलें।	५ नवम्बर १९५१
४. उत्तरी रेल	दिल्ली	६,०४०	पूर्वी पंजाब, जोधपुर, बीकानेर की रेलें और ईस्ट इण्डियन रेल के तीन (लखनऊ, मुरादाबाद व इलाहाबाद) ऊपरी भाग तथा पश्चिमी रेल का दिल्ली, रिवाड़ी, फाजिलका भाग।	१४ अप्रैल १९५१

५.	उत्तर पूर्वी रेल	गोरखपुर	४,८०१	अवध-तिरहुत और आसाम की रेले तथा पश्चिमी रेल का कानपुर-अछनेरा भाग।	१४ अप्रैल १९५२
६.	पूर्वी रेल	कलकत्ता	५,६७५	ईस्ट इण्डियन रेल के शेष भाग और बगाल-नागपुर रेल।	१४ अप्रैल १९५२

जनता इस योजना से सन्तुष्ट न हुई और यह आवाज उठाई जाती रही कि रेलो का पुनर्वर्गीकरण वैज्ञानिक ढङ्ग से नही हुआ तथा उसके पुनर्विचार के लिए कोई विशेषज्ञ समिति बिठाई जानी चाहिए। उक्त नई इकाइयाँ लम्बाई मे अत्यन्त बडी कही जाती थी, जिनका कुशल प्रबन्ध सम्भव नही था। भारत सरकार ने इस प्रश्न की ठीक-ठीक स्थिति जानने का आश्वासन दिया। ५ मार्च १९५४ को रेल मन्त्री ने अपने कार्य-कौशल विभाग (Efficiency Bureau) द्वारा इस प्रश्न की पूरी जाँच कराने की घोषणा की। कार्यकौशल विभाग ने बताया कि पूर्वी रेल का कार्य-भार बहुत अधिक था। भूतपूर्व जी० आई० पी० रेल के कार्यभार को १०० मान कर यह अनुमान लगाया गया कि उस समय पश्चिमी रेल का कार्यभार ९८, पूर्वोत्तर रेल का १०९, दक्षिणी रेल का १२७, मध्य और उत्तरी रेलो म से प्रत्येक का ११८ और पूर्वी रेल का २१५ था। पूर्वी रेल उस समय के भारतीय रेलो के कुछ माल यातायात का ३३% और यात्री यातायात का १९·३% ले जाती थी। पूर्वी रेल के क्षेत्र मे द्वितीय योजना काल मे यातायात-वृद्धि अन्य रेलो मे सर्वाधिक आकी गई। अतएव १ अगस्त सन् १९५५ को उसे दो इकाइयो मे बाँट दिया गया। भूतपूर्व बगाल-नागपुर रेल को दक्षिण-पूर्वी रेल का नाम दे दिया गया। इस भाँति ६ के स्थान पर ७ इकाइयाँ हो गई।

जनता अब भी सन्तुष्ट न हुई। पूर्वोत्तर, दक्षिणी और मध्य रेलो को अत्यन्त बडी इकाई कहा जाने लगा, जिनका कि कुशल प्रबन्ध और प्रशासन असम्भव कहा जाता था। विभिन्न राजनीतिक दल और राज्य अपनी-अपनी माँग उपस्थित करने लगे। देश के विभाजन के समय से ही आसाम और उत्तरी बगाल के विस्तृत क्षेत्र मे रेल प्रबन्ध एक कठिन समस्या बन गई थी। वर्षा ऋतु मे अति वर्षा और बाढ इत्यादि के कारण कभी-कभी गोरखपुर से इतने लम्बे रेल-मार्ग की देख-रेख असम्भव हो जाती थी और कई-कई दिन कुछ टुकडो पर रेल-सेवा बन्द हो जाती थी। अतएव पाण्डु मे एक उपमहाप्रबन्धक (Deputy General Manager) रखना पडा। इन परिस्थितियो मे भारत सरकार ने पूर्वोत्तर रेल को १५ जनवरी सन् १९५८ को दो भागो मे बाँट दिया। नई इकाई का नाम पूर्वोत्तर सीमान्त रेल रखा गया। इस भाँति अब सरकारी रेलो की आठ-इकाइयाँ हो गई हैं। इन इकाइयो के बनने की तारीखे, उनकी प्रारम्भिक और वर्तमान लम्बाई इत्यादि का विवरण निम्न तालिका मे दिया गया है :—

पुनर्वर्गीकरण के उपरान्त भारत सरकार की रेल इकाइयाँ

नाम	मुख्यालय	बनने की तिथि	प्रारम्भिक लम्बाई (मील)	वर्तमान (३१-३-५८) लम्बाई (मील)			
				बड़ी	मँझली	छोटी	कुल लम्बाई
(१) दक्षिणी रेल	मद्रास	१४-४-१९५१	६,०००	१,८५८	४,२०५	९६	६,१५९
(२) मध्य रेल	बम्बई	५-११-१९५१	५,४२८	३,७९७	८०९	७२५	५,३३१
(३) पश्चिमी रेल	बम्बई	५-११-१९५१	५,४६१	१,५८६	३,७१४	७५९	६,०५९
(४) उत्तरी रेल	नई दिल्ली	१४-४-१९५२	५,९८१	४,२०२	२,००५	१६२	६,३६९
(५) पूर्वोत्तर रेल	गोरखपुर	१४-४-१९५२	४,७८४	—	३,०७५	—	३,०७५
(६) पूर्वी रेल	कलकत्ता	१४-४-१९५२	५,६७५	२,३०८	—	१७	२,३२५
(७) दक्षिणी-पूर्वी रेल	कलकत्ता	१-८-१९५५	३,३९९	२,४९५	—	९२५	३,४२०
(८) पूर्वोत्तर सीमान्त रेल	पाण्डू	१५-१-१९५८	१,७२६	२	१,६७२	५२	१,७२६
			३८,४५४	१६,२४८	१५,४८०	२,७३६	३४,४६७

यद्यपि इस योजना को लागू हुए कई वर्ष हो चुके, अभी तक रेलों ने न तो कोई ऐसे आँकड़े जनता के सम्मुख उपस्थित किए हैं जिनसे इस योजना की सफलता-विफलता का कुछ अनुमान लगाया जा सके और न इस सम्बन्ध म कोई वक्तव्य ही प्रकाशित किया है। अतएव यह कहना कठिन है कि इस योजना से कितना लाभ हुआ है अथवा हमारी रेलों के कार्य-कौशल म कितना सुधार हुआ है।

हाँ, रेलों के अब तक के कार्य-विवरण से इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि भारतीय रेलों का परिचालन अनुपात (Operating ratio) सन् १९५१-५२ मे ७७·३% था, जो १९५७-५८ म बढ़कर ८१·२% हो गया। गत वर्षों म योजना-जनित बढ़ते हुए यातायात को ले जाने म भी रेले पूर्णत. सफल हुई ह। पुनर्वर्गीकरण के कारण बडी-बडी रेल-इकाइया बनने से रेलों के प्रबन्ध-प्रशासन एव सचालन म एकरूपता आ गई है और अत्यन्त सुविधा हुई है। रेलों की अनेक इकाइया होने से जनता को जो कठिनाइया होती थी उनका अब अन्त हो गया है। रेल-सेवा का स्तर अब देश भर म समान और उच्च कोटि का हो गया है, रीति-नीति, प्रथाओ एव किराए-भाडे की विषमता दूर हो गई है और सार्वदेशिक साम्य स्थापित हो गया है।

जितनी ही अधिक इकाइयाँ होती हैं उनके प्रबन्ध-प्रशासन म उतनी ही विविधता होना स्वाभाविक है, क्योंकि मुण्डे मुण्डे. मति. भिन्ना:। पुनर्वर्गीकरण से पूर्व देश मे केवल सरकारी रेलों की २० इकाइया थी, जो ६ इकाइयो म परिणत कर दी गई। कालान्तर मे इन्हे आठ कर दिया गया। इस भाँति उनके प्रबन्ध-प्रशासन म सुधार एव एकरूपता आई। इस पुनर्गठन का एक बडा लाभ प्रबन्ध-प्रशासन, साज-सज्जा एव क्रय-विक्रय म मितव्ययता है। रेलों के पारस्परिक लेन-देन तथा हिसाब-किताब के समायोजन मे भारी सुविधा हो गई है।

बडी-बडी रेले अपनी आवश्यकता की साधन-सामग्री और भण्डार सस्ते मूल्य पर और उच्च कोटि के निर्माताओ से लेने म समर्थ है। अब सारा माल रेल-बोर्ड स्वय मोल लेता है। इससे सेवा का स्तर ऊँचा होता है। सेवा सस्ती भी दी जा सकती है।

किसी भी आधुनिक व्यापारी-व्यवसायी की भाति रेलो को विज्ञापन-व्यय करना पडता है। कम इकाइयाँ होने से प्रतियोगिता मे और विज्ञापन मे कमी होना स्वाभाविक है। इन्जनो, डिब्बो एव अन्य साज-सज्जा का सदुपयोग भी बडी इकाइयो का अवश्यम्भावी परिणाम है।

पुनर्वर्गीकरण से पूर्व भारतीय रेलो के प्रबन्ध-प्रशासन मे भारी विविधता पाई जाती थी। कुछ रेलो का प्रबन्ध विभागीय (Departmental), कुछ का प्रादेशिक (Divisional) तथा कुछ का दोनो प्रकार का था। अब सभी इकाइयो का प्रबन्ध प्रादेशिक हो गया है, जो बडी रेलों के प्रबन्ध का सर्वोत्तम आदर्श माना जाता है।

इसके अन्तर्गत प्रबन्ध का विकेन्द्रीकरण किया गया है। इससे प्रत्येक अधिकारी को पूरी रुचि और उत्साह तथा कार्य-कौशल दिखाने की प्रेरणा मिलती है।

इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सन् १९५१-५२ में हमारी रेलें अपनी कुल आय का ४७·७% ही प्रशासन पर खर्च करती थीं; किन्तु सन् १९५७-५८ में यह ६१·९% तक बढ़ गया। संचालन-व्यय भी उक्त अवधि में १२·११ रुपये से बढ़कर १४·६० रुपए प्रति गाड़ी-मील (Per train mile) हो गया। ये आँकड़े पुनर्वर्गीकरण के सम्बन्ध में उत्साहजनक विवरण उपस्थित नहीं करते।

हर वर्ष रेलों के वार्षिक आय-व्यय पर लोक-सभा में वाद-विवाद होते समय ऐसा कहा जाता है कि हमारी रेलों का पुनर्वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग से नहीं हुआ। हमारी कई रेलें इतनी बड़ी हैं जिनका सुप्रबन्ध सम्भव नहीं। कुछ लोग रेलों में अधिकाधिक दुर्घटनाएँ होना भी पुनर्वर्गीकरण का कारण बताते हैं। अतएव यह माँग की जाती है कि कोई विशेषज्ञ समिति बिठाकर इस योजना को वैज्ञानिक रूप देना चाहिए। ठीक ऐसे ही विचार प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) ने भी व्यक्त किए हैं और इस योजना को वैज्ञानिक रूप देने का सुझाव दिया है। समिति का विचार है कि देश में कई चौड़ाई की रेलें हमारे लिए एक स्थायी समस्या है। इसका अन्तिम हल निकाले बिना हम रेल-सुधार की अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँच सकते। अतएव पुनर्वर्गीकरण की योजना पर विचार करते समय इस प्रश्न को न भुला देना चाहिए। अनेक विद्वानों का विचार है कि भारत सरकार को रेलों के पुनर्वर्गीकरण की इस योजना को अन्तिम नहीं मान लेना चाहिए, वरन् इस सम्बन्ध में पूर्णतः खुले विचार रख कर काम करना चाहिए।

अध्याय १६

रेलों का प्रवन्ध

(Administration of Railways)

प्राचीन काल

भारतीय रेलो का निर्माण ब्रिटिश कम्पनियो द्वारा हुआ। भारत सरकार मे इन्हे न्यूनतम लाभ की प्रत्याभूति (Guarantee) प्राप्त हुई। ये कम्पनियाँ ब्रिटेन म ही स्थापित हुई थी और वही से इनके सचालक-गण (Board of Directors) रेलो का प्रबन्ध करते थे। भारत सरकार का रेलो मे आर्थिक हित होने के कारण प्रवन्ध मे भी उनका हाथ था। प्रत्येक रेल कम्पनी के सचालक-मण्डल (Board of Directors) मे एक सरकारी सचालक भी रहता था जिसे सचालक मण्डल के निर्णय को अस्वीकृत करने का अधिकार (Power of veto) था। भारत में सरकार की ओर से रेलो के प्रवन्ध की देख-रेख करने के लिए एक परामर्शदाता इञ्जीनियर काम करता था। कालान्तर मे ऐसे लोगो की आवश्यकता पडी जिन्हे स्थानीय परिस्थितियो का पूर्ण ज्ञान हो। फलत प्रत्येक प्रान्त मे एक परामर्शदाता इञ्जीनियर रहने लगा। उन सबके कार्य का सूचीकरण केन्द्रीय सरकार के एक मुख्य परामर्शदाता इञ्जीनियर (Chief Consulting Engineer) द्वारा किया जाने लगा। कुछ समय के उपरान्त प्रत्येक रेल के लिए एक-एक परामर्शदाता इञ्जीनियर रखा जाने लगा क्योंकि रेलो की संख्या बढ गई थी।

१८६९ मे रेलो के राजकीय निर्माण की नीति अपनाने के उपरान्त अधिक केन्द्रीय नियन्त्रण और प्रबन्ध की आवश्यकता पडी। १८७० मे राजकीय रेलो का एक परामर्शदाता इञ्जीनियर नियुक्त किया गया। साथ ही प्रान्तीय परामर्शदाता इञ्जीनियर भी सरकारी और गैर-सरकारी दोनो प्रकार की रेलो के प्रवन्ध को देख-रेख रखते थे। राजकीय रेल निर्माण कार्य बढने से १८७४ मे एक राजकीय रेल-सचालकालय (State Railway Directorate) की स्थापना की गई और राजकीय रेलो के सामान्य सचालक (Director General of State Railways) की नियुक्ति की गई जिसे सरकारी व गैर-सरकारी दोनो प्रकार की रेलो के नियन्त्रण का अधिकार था। किन्तु उसे नीति सम्बन्धी विषयो पर पूर्ण अधिकार न था और महत्वपूर्ण प्रश्नो

का निर्णय लोक कर्म विभाग की सहायता से करना पडता था। १८७१ में सारी रेलो को तीन क्षेत्रो में बाँट दिया गया और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक संचालक (Director) नियुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त राजकीय-रेल-कोष्टागार संचालक (Director of State Railway Stores) का एक नया पद और नियुक्त किया। यह नई पद्धति सफल न हुई। अतः उसे शीघ्र ही समाप्त कर देना पड़ा। १८७६ में दो संचालकों के स्थान समाप्त करके उनका काम गारण्टी कम्पनियों के परामर्शदाता इञ्जीनियरों के सुपुर्द कर दिया। उनके ऊपर नियन्त्रण रखने के लिये रेलो के सामान्य संचालक (Director General for Railways) की नियुक्ति की गई जो दोनों प्रकार की रेलो के प्रबन्ध की देख-रेख के लिए उत्तरदायी था। यातायात संचालक (Director of Traffic) की भी नियुक्ति की गई। इस भांति १८८० में रेलो का सर्वोच्च अधिकारी सामान्य संचालक (Director General) था। कोष्टागार संचालक (Director of Stores), यातायात संचालक (Director of Traffic), महासंख्यानक (Accountant General), और परामर्शदाता इञ्जीनियर (Consulting Engineers) उसके सहायक अधिकारी थे। १८८७ में फिर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रेलो के सामान्य संचालक (Director General) का पद समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर भारत सरकार के लोक कर्म विभाग (Public Works Depa-rtment) के सचिव (Secretay) का पद स्थापित किया गया। और भी अनेक परिवर्तन इस काल में हुए जिनका मुख्य मन्तव्य प्रबन्ध का केन्द्रीकरण और सफल नियन्त्रण था।

रेल बोर्ड (Railway Board)

१९०१ में श्री टामस राबर्टसन (Thomas Robertson) ने रेलो के प्रबन्ध के केन्द्रीकरण और सुसगठन के निमित्त एक छोटी मण्डली (Board) बनाने का सुझाव रखा था। यह मण्डली (Board) रेल-संचालन कार्य में योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की हो और उसे रेलो को वाणिज्य सम्बन्धी सिद्धान्तो के अनुसार संचालित करने के स्वतन्त्र अधिकार हो। यह बोर्ड तीन व्यक्तियों का हो जिसमें से एक सभापति (President) अथवा मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) कहलाए और शेष दो सदस्य हो। रेलो का उत्तरदायित्व ओढ़ने वाले एक केन्द्रीय सरकार के मन्त्री (Minister) का भी उन्होने सुझाव रखा।

भारत सरकार ने श्री टामस राबर्टसन के सुझावो के अनुसार १९०५ में रेल बोर्ड की स्थापना की। भारत सरकार के लोक कर्म विभाग का रेल-विभाग अब बन्द कर दिया गया और सरकारी निरीक्षण और नियन्त्रण के सम्पूर्ण अधिकार रेल बोर्ड को दे दिए गये। सभापति के समेत बोर्ड के तीन सदस्य थे। बोर्ड को सर्वथा स्वतन्त्र अधिकार न देकर उसे भारत सरकार के वाणिज्य एवं उद्योग विभाग के अधीन रखा गया। बोर्ड को स्वतन्त्र अधिकार न मिलने के कारण कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगी। १९०७ में मैके समिति (Mackay Committee) अनेक कठि-

नाइयों का पता लगाने के लिए नियुक्ति की गई। इस समिति के सुझावों के अनुसार १६०८ में बोर्ड के सभापति (Chairman) के पद का नाम बदल कर प्रधान (President) कर दिया गया और उसके अधिकार भी बढ़ा दिए गये। बोर्ड के प्रधान का पद सरकारी विभाग के एक सचिव (Secretary) के समान समझा जाने लगा जिसे वाइसराय के पास सीधा जाने का अधिकार मिल गया। बोर्ड के ऊपर से सरकार के वाणिज्य एवं उद्योग विभाग का अधिकार हट गया और अब रेलों का स्वतन्त्र विभाग बन गया। तो भी रेल बोर्ड वाणिज्य सदस्य (Commerce Member) के अधीन रहा। १६०६ में बोर्ड को विशेषित विषयों में परामर्श देने के लिये एक मुख्य इञ्जीनियर (Chief Engineer) नियुक्त कर दिया गया। प्रथम विश्वयुद्ध-काल में बोर्ड में अनेक परिवर्तन किए गये, किन्तु विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन आकवर्थ समिति के प्रतिवेदन (Report) के उपरान्त हुए। आकवर्थ समिति ने रेल बोर्ड के विधान में अनेक दोष बतलाते हुए उसके विधान और कार्यविधि में अनेक परिवर्तन करने के सुझाव दिये जिनमें से मुख्य निम्नांकित थे :—

(१) एक नए सवादवहन विभाग की स्थापना होनी चाहिये जो रेलों, आन्तरिक जल परिवहन, सड़क परिवहन एवं तार विभाग के लिए उत्तरदायी हो। यह विभाग सवादवहन मन्त्री के अधीन हो,

(२) रेल बोर्ड का नाम बदल कर रेल-आयोग (Railway Commission) रख देना चाहिये। इस आयोग के पाँच सदस्य हों : एक मुख्य आयुक्त (Chief Commissiner), दूसरा वित्त आयुक्त (Financial Commissiorer), एवं तीन और आयुक्त रेलों के पूर्वी, पश्चिमी व दक्षिणी क्षेत्रों के लिये उत्तरदायी हों। सवादवहन मंत्री रेल-आयोग के सभापति का स्थान ग्रहण करे।

(३) रेल-बोर्ड अपने निजी शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्र रहे।

(४) रेल आयोग की सहायता के लिए विशेष योग्यता प्राप्त कर्मचारी वृन्द हो। पाँच संचालकों (दो इञ्जीनियरी, दो यातायात और एक लेखा विभाग) की और एक सामान्य सचिव (General Secretary) की नियुक्ति की जानी चाहिए।

आँकवर्थ समिति के कुछ सुझावों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और १६२२ में रेल बोर्ड के प्रधान (President) के स्थान पर मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) की नियुक्ति की गई। मुख्य आयुक्त का कार्य भारत सरकार के अधीन रह कर व्यावसायिक प्रश्नों और नीति सम्बन्धी विषयों में सरकार को परामर्श देना था। रेल बोर्ड के प्रधान के निर्णय को उसके साथी रद्द नहीं कर सकते थे ; मुख्य-आयुक्त रेल-विभाग के सचिव का काम करता था। १६२३ में एक वित्त-आयुक्त (Financial Commissioner) की भी नियुक्ति की गई। वित्त आयुक्त

या वित्त-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विचार करना था। ऑकवर्थ समिति ने तीन और सदस्यों की नियुक्ति के लिए कहा था किन्तु सरकार ने केवल दो और सदस्य नियुक्त किए। इन दोनों सदस्यों का कार्य विभाजन भी क्षेत्रों के अनुसार न करके विषयानुसार किया। एक सदस्य व्यावसायिक विषयों (Technical Subjects) और दूसरा यातायात तथा सामान्य विषयों के लिए उत्तरदायी समझा गया।

रेल बोर्ड के विधान में ये परिवर्तन इस मन्तव्य से किए गए थे कि बोर्ड के सदस्यों को कम महत्व के दैनिक कार्यों से छुटकारा मिल सके और वे अपना समय महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने तथा स्थानीय सरकारों, रेल अधिकारियों और सार्वजनिक संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए दे सकें। फलतः संचालकों (Directors), उप-संचालकों (Deputy Directors) एवं सहायक संचालकों (Assistant Directors) के कई नये पद रखे गये। पाँच संचालक, ११ उप-संचालक और दो सहायक संचालक नियुक्त हुए। १९२९ में तीसरे सदस्य की भी नियुक्ति की गई जो श्रम सम्बन्धी समस्याओं को हल करने और श्रमजीवियों की दशा में सुधार करने के लिये उत्तरदायी समझा गया। रेल बोर्ड अब भी वाणिज्य सदस्य (Commerce Member) के अधीन रहा। सरकार ने उस समय संवादवहन विभाग का अलग संगठन न किया। रेलों के कार्य में कमी-बेशी होने के अनुसार रेल बोर्ड के सदस्यों एवं कर्मचारीवृन्द की संख्या समय-समय पर घटती-बढ़ती रही। १९३१-३२ में मन्दी के कारण संख्या घटानी पड़ी। मन्दी का प्रभाव कम होने पर धीरे धीरे संख्या में वृद्धि होती गई। १९३८ में भारत सरकार ने संवादवहन विभाग (Department of Communication) का निर्माण किया और रेल बोर्ड उसके अधीन हो गया। युद्ध काल में सदस्यों और कर्मचारी वृन्द की संख्या काम बढ़ने से बहुत बढ़ गई थी। युद्ध के उपरान्त उसमें आवश्यकतानुसार समायोजन कर लिया गया।

इस समय रेलों का प्रबन्ध निम्नांकित अधिकारियों एवं संगठनों के हाथ में है :—

रेल-मंत्रालय (Railway Ministry)—भारतीय रेलों के प्रबन्ध और संचालन का अन्तिम उत्तरदायित्व भारत सरकार का है। भारत सरकार ने रेलों की देख-रेख के लिए एक अलग मंत्रालय बना दिया है। रेल-मन्त्री और रेल-उपमन्त्री इस मंत्रालय के सर्वोच्च अधिकारी हैं। सम्पूर्ण नीति विषयक बातों का निर्णय रेल-मन्त्री की अनुमति से ही होता है।

रेल-बोर्ड (Railway Board)—वस्तुतः रेलों का प्रबन्ध रेल-बोर्ड के अधिकार में है। इसका कार्य-संचालन भारत सरकार के मन्त्रालय की भाँति होता है। रेलों का नियमन, निर्माण, अनुरक्षण और संचालन सम्बन्धी भारत सरकार के सभी अधिकार रेल-बोर्ड द्वारा क्रियान्वित किये जाते हैं। रेलों के व्यय सम्बन्धी भारत सरकार के सारे अधिकार रेल-बोर्ड के हाथ में है। यह बोर्ड एक निगम (Corporate

Body) की भाँति कार्य करता है और रेल-नीति सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण प्रश्नो पर रेल-मन्त्री को परामर्श देता है।

इसके ५ सदस्य हैं . (१) अध्यक्ष (Chairman), (२) रेल-वित्त आयुक्त (Financial Commissioner, Railways), (३) सदस्य (कर्मचारी-वर्ग), (४) सदस्य (इन्जीनियरी), (५) सदस्य यात्रिक (Mechanical)। सदस्यो की सहायता के लिए पाँच अतिरिक्त सदस्य हैं।

सदस्यो की सहायता के लिए कुछ विशेष योग्यता प्राप्त अधिकारी नियुक्त किये गये हैं जिन्हे निदेशक (Directors) कहते हैं। निदेशको की सहायता के लिए उपनिदेशक, सहायक निदेशक और सयुक्त निदेशक हैं। प्रत्येक निदेशक अपने निदेशालय (Directorate) का सर्वोच्च अधिकारी समझा जाता है और रेल-प्रशासनो को आदेश देता है। इस समय रेल बोर्ड के अधीन १५ निदेशक, २३ सयुक्त निदेशक (Joint Directors), ३६ उप-निदेशक (Deputy Directors) तथा १५ सहायक निदेशक हैं। इनके अतिरिक्त २८ और उच्चकोटि के विविध अधिकारी भी है।

अन्वेषण, रूपांकण तथा प्रतिमान संगठन (Research, Design and Standards Organisation)—इसका मुख्य उद्देश्य गवेषणा है। रेलो के इन्जीनियरी तथा वस्तु-कला (Architectural) क्षेत्रो म रूपाकण और प्रतिमान निर्धारित करने का सारा उत्तरदायित्व इसी सस्था का है। पुलो, पटरियो, सिगनलो व भवनो के रूपाकण और प्रतिमान इसी कार्यालय म प्रस्तुत किये जाते हैं। व्यावसायिक विषयो पर परामर्श देना, प्रशिक्षण सुविधाये उपलब्ध करना और अन्य शिल्पिक महत्व के कार्य करना भी इसका उत्तरदायित्व है। इसका एक पुस्तकालय है। इसके अपने अन्वेषण सम्बन्धी कार्यो का परिणाम पुस्तक रूप म प्रकाशित किया जाता है। अब तक ३२४ ऐसी पुस्तके (Technical Papers) प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसके तीन केन्द्र हैं . (१) नई दिल्ली, (२) चित्तरंजन, (३) लखनऊ। चित्तरजन मे एक उप-केन्द्र भी है।

रेल-भाडा न्यायाधिकरण (Railway Rates Tribunal)—रेल भाडो के सम्बन्ध मे उपभोक्ताओ एव जनता की शिकायते सुनने के लिए एक न्यायाधिकरण की स्थापना की गई है। यह एक स्वायत्त सस्था है जिसकी नियुक्ति १९४९ मे की गई थी। सभापति के समेत इसके ३ सदस्य हैं। न्यायाधिकरण को व्यवहार न्यायालय के (Civil Court) के समान अधिकार प्राप्त हैं। यह न्यायाधिकरण भाडो से सम्बन्धित रेलो द्वारा अनुचित पक्षपात दिखाने के सभी झगडो को सुनता और निर्णय देता है। इसका विशेष विवरण पिछले पृष्ठो मे दिया जा चुका है।

राष्ट्रीय रेल प्रयोक्ता सलाहकार परिषद् (National Railway Users Consultative Council)—केन्द्रीय सरकार तक जनता की आवाज पहुँचाने के

लिए नई दिल्ली मे १९५४ म एक परिषद् बनी थी। इसके ५६ सदस्य है जिनमे रेल-मन्त्री (सभापति), रेल उप-मन्त्री, भारत सरकार के ४ महत्वपूर्ण मन्त्रालयो के मन्त्री, रेल-बोर्ड के सदस्य, कुछ ससद सदस्य, रेल प्रयोक्ताओ के प्रतिनिधि (कृषि, उद्योग, व्यापार) तथा विभिन्न रेल इकाइयों के प्रतिनिधि सम्मिलित है।

क्षेत्रीय रेल प्रयोक्ता सलाहकार समितियां (Zonal Railway Users Consultative Committees)—प्रत्येक रेल के मुख्यालय पर एक क्षेत्रीय सलाहकार समिति बनाई गई है जो उस रेल के क्षेत्र के निवासियों की आवाज रेल अधिकारियो तक पहुँचाती है। प्रत्येक रेल इकाई का महा-प्रबन्धक (General Manager) इसका सभापति होता है और उस क्षेत्र के विभिन्न प्रतिनिधि उनके सदस्य होते है। रेल की समय सारणी (Time Table) मे सदस्यों के नाम व पते दिए रहते है।

प्रादेशिक रेल प्रयोक्ता सलाहकार समितियां (Regional Railway Users Consultative Committees)—प्रत्येक रेल के क्षेत्र को प्रबन्ध के लिए कई प्रदेशो मे बाटा गया है जिनका कि सर्वोच्च अधिकारी प्रादेशिक अधीक्षक कहलाता है। इनमे से प्रत्येक प्रदेश के लिए एक प्रादेशिक सलाहकार समिति बनाई गई है जो कि उस प्रदेश के निवासियों की शिकायते और सुझाव प्रदेश के अधिकारियों तक पहुँचाती है। इन समितियों के नाम और सदस्यो के नाम और पते प्रत्येक रेल की समय सारणी मे दिए जाते हैं।

अन्य समितियाँ—इनके अतिरिक्त प्रत्येक रेल के लिये अपनी-अपनी यात्री सुख-सुविधा समिति, किताबो की दुकान, सलाहकार समिति, समय सारणी समिति, खान पान देख-रेख समिति, स्टेशन सलाहकार समिति इत्यादि भी हैं।

आन्तरिक सगठन (Internal Organisation)—सारा सरकारी रेल-संगठन ८ मुख्य इकाइयो मे बँटा हुआ है: (१) मध्य रेल, (२) उत्तरी रेल, (३) दक्षिणी रेल (४) पश्चिमी रेल, (५) पूर्वी रेल, (६) दक्षिणी पूर्वी रेल, (७) पूर्वोत्तर रेल, (८) पूर्वोत्तर सीमा रेल।

प्रत्येक रेल इकाई का सर्वोच्च अधिकारी महा-प्रबन्धक (General Manager) होता है। उस रेल के सभी विभागो की देख-रेख और नियन्त्रण तथा सूत्रीकरण महा-प्रबन्धक का ही उत्तरदायित्व है। रेल-बोर्ड ने कर्मचारियो और भवनों सम्बन्धी व्ययो का अधिकार महा-प्रबन्धकों को दे दिया है।

प्रत्येक रेल का कार्य विषयो के अनुसार भिन्न-भिन्न अधिकारियों मे बँटा रहता है जिनमे से निम्नांकित मुख्य है:—

(क) नागर इन्जीनियरी विभाग (Civil Engineering Department)

(ख) यांत्रिक इन्जीनियरी विभाग (Mechanical Engineering Department)

(ग) वाणिज्य विभाग (Commercial Department)
(घ) परिचालन विभाग (Operating Department)
(ङ) वित्त एवं हिसाब विभाग (Financial & Accounts Department)
(च) भण्डार विभाग (Stores Department)
(छ) बिजली इन्जीनियरी विभाग (Electric Engineering Department)
(ज) सिगनल एवं तार-संचार विभाग (Signal and Tele-Communications Department)
(झ) चिकित्सा विभाग (Medical Department)
(ञ) रेल सुरक्षा बल (Railway Protection Force)
(ट) कर्मचारी वर्ग विभाग (Personnel Department)

विभागीय एवं प्रादेशिक पद्धति

बहुधा दो प्रकार के आंतरिक संगठन रेलों के प्रबन्ध व प्रशासन के लिये प्रचलित हैं। एक प्रादेशिक (Divisional) पद्धति और दूसरी विभागीय (Departmental) पद्धति। प्रादेशिक पद्धति में रेल का सम्पूर्ण क्षेत्र सुविधाजनक प्रदेशों में बाँट दिया जाता है और उस प्रदेश अथवा क्षेत्र विशेष के सभी कार्यों (इन्जीनियरी, वाणिज्य, संचालन हिसाब किताब इत्यादि) का उत्तरदायित्व एक अधिकारी को सौंप दिया जाता है। इन अधिकारियों को प्रादेशिक अधीक्षक (Divisional Superintendents) अथवा प्रादेशिक प्रबन्ध कर्त्ता (District Managers) कहते हैं। विभागीय पद्धति में विषयों के अनुसार कार्य विभाजन किया जाता है। प्रत्येक विभाग का एक उच्च अधिकारी होता है जो सारी रेल के विभागीय कार्य के लिये उत्तरदायी समझा जाता है इन्जीनियरी विषय का सर्वोच्च अधिकारी मुख्य इन्जीनियर (Chief Engineer) कहलाता है, वाणिज्य विषय का वाणिज्य अधीक्षक (Commercial Superintendent)। सर्वोच्च अधिकारी के नीचे प्रत्येक क्षेत्र में अधीन अधिकारी होते हैं जो उसके सहायक की भांति काम करते हैं। प्रादेशिक पद्धति में प्रबन्ध विकेन्द्रीकृत और विभागीय पद्धति में केन्द्रीकृत होता है। दोनों पद्धतियों के अपने अपने गुण दोष हैं।

प्रादेशिक पद्धति (Divisional System)—(१) प्रदेश विशेष में प्रादेशिक प्रबन्धकर्त्ता अथवा प्रादेशिक अधीक्षक का अविभाजित उत्तरदायित्व होने के कारण शीघ्र निर्णय सम्भव है।

(२) विभागीय पद्धति की भाँति इसमें अधिक पत्र-व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती और बहुत से दुहरे परिश्रम की बचत हो जाती है।

(३) विभागीय मतभेद के कम अवसर आते हैं और एक प्रदेश के सभी विषयाधिकारी सम्मिलित उत्तरदायित्व के साथ काम करते हैं।

(४) किसी भी अधिकारी के उत्तरदायित्व का तुरन्त पता लग जाता है। विभागीय पद्धति की भाँति हानि का उत्तरदायित्व एक दूसरे पर टाला नहीं जा सकता।

(५) प्रत्येक कर्मचारी को रेल-विषयक प्रत्येक काम सीखने का अवसर प्राप्त होता है।

(६) रेल अधिकारी जनता से निकट सम्पर्क-स्थापित कर सकते हैं और अच्छी सेवा करने में सफल हो सकते हैं।

इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष विशेषीकरण (Specialization) की कमी है। आधुनिक ढंग से श्रम विभाजन न होने के कारण कर्मचारियों का कार्य कौशल उस कोटि का नहीं होता जो विभागीय पद्धति में हो सकता है। एक ही क्षेत्र में अनेक अधिकारी और अनेक अधीनस्थ अधिकारी होते हैं। अतः कर्मचारियों का अधिकारियों से निकट सम्पर्क नहीं हो पाता। यह पद्धति बड़ी इकाइयों के प्रबन्ध के लिए अधिक उपयुक्त समझी जाती है, छोटी के लिए नहीं।

विभागीय पद्धति (Departmental System)—(१) केन्द्रीकृत प्रबन्ध होने के कारण प्रत्येक अधिकारी अपने विषय का विशेषज्ञ हो जाता है। (२) अतएव वह अधिक योग्यता और कार्यकौशल के साथ काम करता है (३) मुख्यालय में काम करने वाले मुख्य अधिकारी (Chief Officers) अपने विभाग अथवा विषय से सम्बन्धित समस्याओं का सारे विभाग के हितानुसार अध्ययन करके क्षय कम कर सकते हैं। (४) जिला अधिकारियों का अपने कर्मचारियों से निकट सम्पर्क बना रहता है। (५) अतएव प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्यकौशल दिखाने के अधिक अवसर मिल सकते है। इस प्रकार कार्यकौशल के अच्छे नमूने उपस्थित किये जा सकते है। (६) इस पद्धति के द्वारा प्रबन्ध करने से अनुशासन (Discipline) अच्छा रहता है।

इसमें कई दोष भी है। सबसे बड़ा दोष इसमें निर्णय होने की देरी है। किसी कार्य का निर्णय करने के लिए नीचे के अधिकारी से सर्वोच्च अधिकारी तक जाना आवश्यक है। लम्बे समय के पत्र-व्यवहार के उपरान्त कोई निर्णय हो पाता है। विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारियों में अपने विभाग विशेष के संकुचित दृष्टि-कोण से विविध समस्याओं के देखने और हल करने की विचारधारा का प्राबल्य होता है। इससे विभिन्न विभागों के अधिकारियों में बहुधा विरोध उत्पन्न हो जाता है। उनमें सम्मिलित दायित्व की भावना नहीं रहती और सूत्रीकरण का अभाव होता है। स्थानीय अधिकारियों का सम्पूर्ण अधिकार नहीं होता। उनका जनता से निकट सम्पर्क नहीं हो सकता। अतः वे न स्थानीय समस्याओं को भली-भाँति सुलझा सकते हैं और न जनता की माँग को भली-भाँति पूर्ण कर सकते हैं। इस प्रकार का प्रबन्ध केवल छोटी रेल इकाइयों के लिए उपयुक्त समझा जाता है।

भारतीय रेलो का प्रबन्ध प्रारम्भ से विभागीय पद्धति के अनुसार किया गया था। १९२२ मे यह अनुभव किया गया कि यह पद्धति दिन प्रति दिन बढती हुई इकाइयो के प्रबन्ध मे सफल नही हो सकती। अतएव नवम्बर १९२२ मे ग्रेट इ डियन पेनु सुला रेल पर सर्वप्रथम प्रादेशिक पद्धति के प्रयोग किए गये। इस रेल को सफलता मिलने पर इसे कुछ अन्य रेलो पर भी लागू किया गया। पुनर्वर्गीकरण के उपरान्त दक्षिण, पश्चिम और उत्तरी-पूर्वी रेला का प्रबन्ध विभागीय पद्धति के अनुसार किया गया तथा उत्तरा व मध्यवर्ती रेलो का प्रादेशिक पद्धति के अनुसार। पूर्वी रेल के लिए दोना पद्धतियाँ अपनाई गई क्योकि पुनर्वर्गीकरण से पूर्व ईस्ट इण्डियन रेल का प्रबन्ध प्रादेशिक पद्धति के अनुसार और बगाल नागपुर रेल का विभागीय पद्धति के अनुसार था। इसमे परिवर्तन आवश्यक नही समझा गया।

किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि वर्तमान बडी-बडी इकाइयो का प्रबन्ध प्रादेशिक पद्धति के अनुसार ही ठीक हो सकता है। अतएव १९५६ म सभी सरकारी रेला के लिए प्रादेशिक पद्धति लागू करने का निश्चय किया गया। यह कहा जाता है कि प्रबन्ध के विकेन्द्रीकरण के कारण यह पद्धति रेलो की परिचालन श्रेष्ठता (Operational efficiency) बढाने और उनके निम्न स्तर पर एकीकरण (Co-ordination) लाने म अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकेगी।

अध्याय १७

रेलों में बिजली का प्रयोग

(Electrification of Railways)

बिजली द्वारा रेलगाड़ी चलाने का प्रथम सफल प्रयास १८७६ की बर्लिन प्रदर्शिनी में किया गया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बिजली की रेलें नगर-उपनगर क्षेत्रों के भारी यातायात को ले जाने का एक लोकप्रिय साधन बन गई। कुछ ही दिन में इस नए साधन का इतना विकास हुआ कि भारी उतार-चढ़ाव (Gradients) वाली और सुरंगों से होकर जाने वाली रेलों के लिए बिजली का प्रयोग आवश्यक समझा जाने लगा। आजकल जापान (८६%), इटली (३८%), स्वीडन (४०%), स्विट्ज़रलैंड (९८%) व फ्रांस इत्यादि देशों में बिजली की रेलों का बहुत प्रचार है। नगर-उपनगर क्षेत्रों के भारी यातायात के लिए तो आज अनेक देशों में बिजली की रेलें अनिवार्य समझी जाती हैं।

भारत में सर्वप्रथम १९२५ में बम्बई और कुर्ला के बीच की रेल पर बिजली का प्रयोग किया गया। १९२६ में इस योजना को आगे बढ़ाया गया। सन् १९२६ में बम्बई से कल्यान तक ३४ मील में बिजली की रेलें चलने लगीं। १९२८ में बम्बई से बोरेवली वाली रेल भी बिजली से चलने लगी। १९२९ और १९३० में मध्यवर्ती रेल का २५ मील लम्बा कल्यान और इगतपुरी के बीच का टुकड़ा तथा ८६ मील लम्बा कल्यान और पूना के बीच का भाग भी बिजली के क्षेत्र में आ गए। १९३१ में मद्रास से तम्बारम के बीच बिजली का प्रयोग हुआ। १९३६ में बोरेवली और वीरर के बीच पश्चिमी रेल पर भी बिजली की रेलें चलने लगीं। सन् १९३६ के उपरान्त १९५२ तक भारत में बिजली की रेलों की कोई वृद्धि नहीं हुई।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त बम्बई में मकानों की समस्या जटिल हो गई। अतएव उपनगर क्षेत्र में जनसंख्या के बसाने के प्रयत्न में बिजली की रेलों का सहयोग प्राप्त किया गया। साथ ही साथ थलघाट और भोरघाट दर्रों के भारी उतार-चढ़ावों (Gradients) पर भाप के इंजन काम नहीं देते थे। सवारी गाड़ियों को दर्रों के उतारने के लिए विशेष शक्तिशाली इंजनों का प्रयोग करना पड़ता था और मालगाड़ियों को दो बार में तोड़ कर उतारना पड़ता था। उपनगरीय क्षेत्र के बढ़ते हुए

यातायात विशेषतः बम्बई और पूना के बीच के यात्री यातायात ने भी इस ओर प्रेरणा प्रदान की।

प्रारम्भ में बिजली की रेलें भारत में बहुत सफल न हो सकीं, क्योंकि इसी समय घोर आर्थिक मन्दी आ चुकी थी और यातायात में उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी सोची गई थी। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में बिजली की रेलें बड़ी लोकप्रिय हो गई हैं और इनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

बिजली की रेलों के लाभ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विशेष परिस्थितियों में रेलों में बिजली का प्रयोग लाभदायक समझा जाता है। रेलों में बिजली के प्रयोग से सबसे बड़ा लाभ कोयले की बचत है। हमारे देश में कोयले की मात्रा सीमित है। देश की विभिन्न औद्योगिक योजनाओं को सफल बनाने के लिए कोयले के सदुपयोग और संरक्षण (Conservation) की परम आवश्यकता है। जिन क्षेत्रों में जल-विद्युत उपलब्ध है, वहाँ बिजली की रेलों के संचालन का अर्थ कोयले की शत प्रतिशत बचत है। जहाँ जल-विद्युत उपलब्ध नहीं वहाँ भी ६० प्रतिशत तक कोयले की बचत हो सकती है, क्योंकि भाप-शक्ति के लिए जितने कोयले की आवश्यकता होती है, उसके ४० प्रतिशत कोयले से उतनी विद्युतशक्ति उत्पन्न की जा सकती है। आज हम उच्च कोटि का कोयला इंजन में जलाते हैं। बिजली उत्पन्न करने के लिए निम्न कोटि का कोयला प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार उच्च कोटि का कोयला औद्योगिक उपयोग के लिए बच सकता है। विशेषज्ञों का मत है कि भाप के इंजनों में कोयले का जलाना उसका भारी दुरुपयोग है। भाप के लिए कोयले के प्रयोग से उसकी केवल ४ प्रतिशत शक्ति का उपयोग हो पाता है, शेष ९६ प्रतिशत शक्ति व्यर्थ जाती है।

फ्रांस का अनुभव बतलाता है कि ४ टन उच्च कोटि का कोयला भाप के इंजन में जलाकर जितनी शक्ति उत्पन्न की जाती है बिजलीघर में उतनी ही शक्ति प्राप्त करने के लिए केवल एक टन निम्न कोटि का कोयला पर्याप्त होता है।[1]

यद्यपि २,००० अश्व शक्ति वाले बिजली के इंजन का वर्तमान मूल्य उसी शक्ति के भाप के इंजन से लगभग दूना है, किन्तु एक बिजली का इंजन भाप के २·५ इंजनों के बराबर काम कर सकता है। अतएव बिजली के इंजन का प्रारम्भिक मूल्य *भाप के इंजन से कम पड़ता है। उसका जीवन-काल और उसकी कार्य-शक्ति भी* अधिक होती है। भाप के इंजन को काम में लाने से पूर्व और उसके उपरान्त कई घण्टे का समय उसे ठीक करने में लगता है अतएव दिन के २४ घण्टों में अधिक से अधिक वह १० से १२ घंटे तक काम कर सकता है, जबकि बिजली का इञ्जन प्रतिदिन २३ घण्टे तक लगातार काम कर सकता है। कुंजरू समिति (१९४९) के अनुसार

---

1. Modern Transport dated 4-2-1956, p. 1.

बिजली का इंजन भाप के इंजन की अपेक्षा वर्ष भर में दूने मील चलने की क्षमता रखता है। मरसी रेल (इंग्लैंड) के बिजली के इंजन पचास वर्ष के उपरान्त भी अच्छी सेवा दे रहे हैं, जबकि भाप के इंजन चालीस वर्ष में ही जीर्ण हो जाते हैं।

बिजली के इञ्जन का वार्षिक पोषण-व्यय भी भाप के इञ्जन से कम होता है। भाप के इञ्जन में धधकती हुई ज्वाला उसका पोषण-व्यय बढाती और जीवन-काल कम कर देती है। बिजली के इञ्जन का संचालन-व्यय भाप के इञ्जन की अपेक्षा लगभग आधा होता है। डाक्टर डी० एल० मलहोत्रा द्वारा उपलब्ध किए गए निम्न आँकड़े इस सम्बन्ध में बड़े रोचक प्रतीत होते हैं।

	प्रति इञ्जन मील व्यय रुपयों में	
	भाप का इञ्जन	बिजली का इञ्जन
भरण-पोषण	०·७०	०·४०
उपस्नेहन (Lubrication)	०·०६	०·०१
पानी....	०·०८	—
	०·८४	०·४१

बिजली के इञ्जनों को भाप के इञ्जनों की अपेक्षा कम कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। पेरिस-लियोन रेल पर बिजली का प्रयोग होने के उपरान्त उसके कर्मचारियों की संख्या बहुत घट गई है। १९४७ में उसके नौ दफ्तरों[1] (Depots) में ७,७८७ कर्मचारी काम करते थे, अब वहाँ केवल ४६०० कर्मचारी हैं अर्थात् ४० प्रतिशत की कमी हो गई है। उक्त रेल के संचालन-व्यय में भाप की रेलों की अपेक्षा ६६ प्रतिशत की मितव्ययता आँकी गई है।[1]

बिजली की गाड़ियों की चाल सामान्यतः भाप की गाड़ियों से अधिक होती है। बिजली का इञ्जन रुकने के उपरान्त शीघ्र चाल पकड़ लेता है; भाप के इञ्जन को सामान्य चाल पकड़ने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। बिजली की गाड़ियों की अधिक चाल का एक कारण यह भी है कि उनमें इञ्जन को कोयला-पानी लेने अथवा राख निकालने के लिए बीच-बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे देश में तेज गाड़ियों (मेल अथवा ऐक्सप्रेस) की सामान्य चाल ४५ से ५० मील तक प्रति घण्टे होती है। अधिक से अधिक भाप के इञ्जन ६० मील तक चल सकते हैं। किन्तु इटली में बिजली की रेलों की चाल ९८ मील प्रति घण्टे के लगभग होती है;[2] कभी-कभी १११ मील की चाल भी देखी गई है। फ्रांस में एक रेल पर बिजली की गाड़ियों की चाल २०७ मील प्रति घण्टा है।

एक ही पटरी पर भाप की गाड़ियों की अपेक्षा बिजली की अधिक गाड़ियाँ चल सकती हैं। इससे पर्याप्त सेवा प्रदान करने में सुविधा रहती है। मध्यवर्ती रेल के

1. Modern Transport dated 26-12-1953, p. 3
2. Modern Transport dated 23-5-53, pp. 10-11.

उपनगर क्षेत्र मे ५५० से अधिक बिजली की गाडियाँ प्रति दिन चलती हैं। एक पटरी पर भाप की अधिक से अधिक ६० गाडियाँ एक दिन म चल सकती ह। दुहरी पटरी पर १२० गाडिया चल सकती ह। इससे बिजली की गाडिया का सघन सवा का अनुमान लगाया जा सकता है। मरसी रेल (इगलैण्ड) पर भीड-काल के कुछ घण्टो म २४ गाडिया प्रति घण्टे चलती हैं जो प्रति घण्टे मे नौ-दस हजार यात्रियो को केवल एक दिशा म ले जाती हैं।[1] सामान्यत दो-तीन मिनट के अन्तर से गाडियाँ आती-जाती रहती हैं।[2] भाप की गाडिया से धुआ फेलकर स्टेशनो की सफाई का व्यय बढा देता है, बिजली के प्रयोग से यह व्यय कम हो जाता है। बिजली की गाडिया की भार-क्षमता भी अधिक होती है, यात्रियो की सुख-सुविधाये भी बढ जाती हैं, उन्हे आराम भी अधिक मिलता है, भीड भाड कम हो जाती है। अधिक चाल से चलते समय भी बिजली की गाडियो म भाप की गाडिया के बराबर शब्द नही होता। इटली मे बिजली की गाडियो म टेलीफोन लगे रहते हैं जो नगरो के टेलीफोन से सम्बन्धित होते हैं। इन गाडियो से यात्रा करते समय भी यात्री अपने घर अथवा दफ्तर के सम्पर्क मे रह सकता है।

बिजली की रेलो का सचालन-व्यय भाप की रेलो की अपेक्षा कम होता है। भाप के स्थान पर बिजली का प्रयोग करने से सचालन-व्यय मे तीस-चालीस प्रतिशत की कमी हो सकती है। यह कथन अनुभव से सिद्ध भी हो चुका है। मरसी रेलवे १८८६ मे चालू हुई थी। यद्यपि यातायात मे प्रति-वर्ष वृद्धि होती रही, किन्तु लगातार चौदह-पन्द्रह वर्ष तक इस रेल का सचालन व्यय आय से बहुत अधिक होता रहा और यह रेल हानि उठाती रही। दो बार (सन् १८६४ और १८६८) मे इस प्रतिकूल स्थिति पर विशेषज्ञो ने विचार किया और बिजली के प्रयोग का परामर्श दिया। किन्तु तो भी रेल कम्पनी ने इस प्रश्न को गम्भीरता से नही सोचा। परिणाम यह हुआ कि १९०२ मे स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि विवश होकर बिजली के प्रयोग का निश्चय किया गया। तब से यह रेल लगातार लाभ उठा रही है और यातायात भी बहुत बढ गया है। १९०३ मे इस रेल का सचालन-व्यय आय से ५ प्रतिशत अधिक था। १९३९ मे सचालन व्यय १०५ प्रतिशत से घटकर ६०.५ प्रतिशत रह गया और १९४७ मे यह प्रतिशत केवल ५४ ८ था।[2] बिजली के प्रयोग से यातायात म भी वृद्धि होती है और यातायात-वृद्धि के कारण सचालन-व्यय मे कमी और लाभ मे वृद्धि होता है। कोपेनहेगिन म १९२१ और १९४७ के बीच बिजली के प्रयोग के कारण यात्रियो की सख्या ६५ लाख से बढकर ४६० लाख अर्थात् सात गुनी हो गई। इगलैण्ड की दक्षिणी रेल की पश्चिमी ससेक्स (West Sussex) योजना के अन्तर्गत यात्रियो मे एक वर्ष मे ५८% और आय मे ४३% वृद्धि हुई।[3]

---

1 Modern Transport dated 9 5-53, p 12
2 Modern Tran.port dated 9-5-53, p 12
3 Modern Transport dated 4-2 1656, p 1

भारतीय योजनाएँ

रेलो के सम्बन्ध मे युद्धोपरान्त काल की योजनायें बनाते समय १९४५ मे कई बिजली-योजनाओं के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कई कारणों से १९५२ से पूर्व इस काम मे कोई प्रगति न हो सकी। इन योजनाओं मे पश्चिमी रेल का बम्बई-अहमदाबाद क्षेत्र, पूर्वी रेल के हावडा-गया और कलकत्ता-उपनगर क्षेत्र तथा मध्यवर्ती रेल के कलयान-भुसावल और कलयान-पूना क्षेत्र सम्मिलित थे। युद्धोपरान्त काल मे इन क्षेत्रो मे यातायात अपनी परिपूर्ण स्थिति को पहुँच गया। अतएव प्रथम योजना काल मे बिजली की रेलें चलाने का कार्यक्रम उठाया गया।

(क) कलकत्ता-उपनगर योजना—कलकत्ता-उपनगर क्षेत्र मे सर्वप्रथम काम जारी हुआ और सन् १९५४-५५ मे ११·८५ करोड रुपए पूर्वी रेल के हावडा-बर्दवान क्षेत्र के लिए मंजूर किए गये। १९५३ मे एक विशाल योजना बनाई गई जिसे १९५४ मे स्वीकृति मिली। द्वितीय योजना मे इस क्षेत्र मे लगभग ११५० मील रेल-पथ बिजली का करने का निश्चय किया गया था जिसमे से ५५० मील इस योजना के अन्त तक पूरा होगया और शेष तीसरी योजना मे सम्मिलित किया गया। इस क्षेत्र मे प्रथम बिजली की रेल दिसम्बर १९५७ मे चालू हुई।

यह योजना बडी महत्वपूर्ण योजना है। सिन्दरी मे खाद का कारखाना खुलने और राउरकेला (उडीसा) मे लोहे व इस्पात का कारखाना खुलने की योजना के कारण इस योजना का महत्व और भी बढ गया है। यह योजना पूर्वी रेल के कलकत्ता से मुंगेर तक उत्तर मे, मुगलसराय तक पश्चिम मे और तातानगर व चक्रधरपुर तक दक्षिण मे १५०० मील की विस्तृत योजना है। यह सारा क्षेत्र बंगाल-बिहार की कोयले की खानो से १५० से २०० मील दूर तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र से प्रति वर्ष लगभग २८० लाख टन कोयला देश के विभिन्न भागो को जाता है। यह भारतीय रेलो द्वारा वर्ष भर मे ले जाए जाने वाले कुल यातायात का २८½ प्रतिशत है। बिजली के प्रयोग से कोयले के परिवहन मे ही शीघ्रता व सुविधा नही हो जायगी, वरन् लगभग ६ लाख टन बहुमूल्य कोयले की प्रतिवर्ष बचत हो सकेगी जो देश के अन्य उद्योगो के लिए उपलब्ध हो सकेगा। अमित मात्रा मे बिजली उपलब्ध होने से इस क्षेत्र मे लोहा व इस्पात, रासायनिक उद्योग, अलमुनियम (Aluminium) उद्योगों के पनपने की भारी सम्भावना है। सूती-वस्त्र उद्योग की स्थापना की भी आशा की जाती है। ग्रामीण-क्षेत्र मे बिजली उपलब्ध होने से ग्रामीण जनता को अपार लाभ व सुविधायें प्राप्त होगी और ग्रामीण जीवन मे एक नई स्फूर्ति दिखाई देने लगेगी।

इस योजना के कार्यान्वित होने से, समय के विचार से कोयले की खानें कलकत्ता के बहुत निकट आ जायेंगी, क्योकि सवारी गाडियो की चाल और संख्या बहुत बढ जायेगी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रातः काल और संध्या समय के घन्टो मे प्रति १५ मिनट मे प्रत्येक स्टेशन से गाड़ियाँ मिल सकेंगी और कुछ गाड़ियों का समय ५०%

तक कम हो जायगा। हावडा और गोमा के बीच तेज गाडियो के समय म एक घंटा कम समय लगेगा। पथ क्षमता बढन से गाडियो की भीड भाड भी बहुत कम हो जायगी। इस क्षेत्र को धुंए स छुटकारा मिल जायगा। सचालन और पोषण (maintenance) व्यय म लगभग ३ ०८ करोड रुपए की बचत की सम्भावना है। आय-वृद्धि से सारा पूंजीगत व्यय लगभग सात वर्ष म चुकता किया जा सकेगा, क्योकि लगभग १५% लाभ का अनुमान लगाया गया है।

(ख) **बम्बई योजना**—बम्बई क्षेत्र म बिजली की रेले वर्षों से चल रही हैं। सन् १६५२ म कलयान क बिजली घर की शक्ति ४०,००० किलोवाट स बढा कर ५२,००० किलोवाट कर दी गइ थी। इसकी शक्ति ८२,००० किलोवाट तक बढा कर इस क्षेत्र मे बिजली का प्रयोग बढाया जाने का विचार है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अंतिम महीनो म मध्य रेल के इगतपुरी भुसावल और पश्चिमी रेल के वीरर अहमदाबाद क्षेत्रो म काम जारी कर दिया गया था।

इस समय (३१-३ ६०) देश म ३२८ मील रेल पथ पर बिजली की रेलें चलती है । द्वितीय योजना काल म इसे १४४२ मील तक बढाने का निश्चय किया गया था जैसा कि नीचे के विवरण से ज्ञात होता है —

		मील
१	पूर्वी रेल	७३०
२	दक्षिणी-पूर्वी रेल	४२०
३	मध्यवर्ती रेल	१६२
४	दक्षिणी रेल मद्रास, तम्बारम विल्लुपुरम	१००
	कुल	१४४२

द्वितीय योजना काल मे केवल ५५० मील रेल पथ पर बिजली की रेले चालू हुई। शेष भाग तृतीय योजना मे सम्मिलित किया गया है। तृतीय योजना मे ७० करोड रुपए लगाकर ११०० मील रेल पथ को बिजली का करने का विचार है। मुख्य क्षेत्र निम्नांकित है

		मील
१	मध्य रेल	१८५
	पूर्वी रेल	८६
	दक्षिणी रेल	१८
	पश्चिमी रेल	३७
	जोड	३२६

(च) सस्ती बिजली—रेलो के लिए अपार शक्ति की आवश्यकता होती है। अतएव बिजली की रेनें चलने से निकटवर्ती क्षेत्र को सस्ती बिजली मिलने लगगी। दामोदर घाटी, हीराकुण्ड और रिहन्द योजना को इससे अपार लाभ होगा।

(छ) कोयले की बचत—सबसे बडा लाभ कोयले की बचत होगी। यह बताया जाता है कि ४ टन उच्च कोटि का कोयला भाप के इन्जन म जलाकर जितनी शक्ति उत्पन्न की जाती है बिजली घर म एक टन कोयला जलाकर उतनी ही शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। उच्च कोटि का कोयला औद्योगिक कार्यों के लिए बच जायेगा और निम्न कोटि का कोयला रेलो के लिए बिजली बनाने के काम म लिया जा सकता है।

(ज) सचालन व्यय मे कमी—बिजली की रेलो का सचालन-व्यय भाप की रेलो का लगभग आधा होता है। केवल कलकत्ता के निकट के क्षेत्र म प्रतिवर्ष ६५ लाख रुपये की बचत की सम्भावना आकी गई है।

बिजली के इन्जनो का जीवनकाल और चाल भाप के इन्जनो से बहुत अधिक होते हैं। समय से और अधिक यातायात ले जाने म भी बिजली की गाडियाँ समर्थ होती हैं। धुँए से पूर्णतया छुटकारा मिल जाता है।

अध्याय १८

रेलों की समस्यायें

(Problems of Railways)

(१) बिना टिकट यात्रा

बिना टिकट यात्रा करने वालो की रोकथाम रेलो की एक दैनिक समस्या है। बिना टिकट यात्रा करने वालो को प्रोत्साहन मिलने से रेलो की आय कम होती है और साथ ही साथ टिकट लेकर यात्रा करने वालो की कठिनाइयाँ बढ़ती है, क्योकि बिना आवश्यकता के ऐसे यात्री यात्रा करते हैं और डिब्बे मे भीड बढाते है। कभी-कभी यात्रियो का माल मारने वाले भी बिना टिकट यात्रा करते हैं। गत वर्षों मे बिना टिकट यात्रा करते हुए पकडे जाने वाले यात्रियो की सख्या और उनसे वसूल हुए धन सम्बन्धी आँकडे नीचे दिए जाते है:—

	बिना टिकट यात्रा करने वालो की संख्या (लाख)	बिना टिकट यात्रा करने वालों से वसूल किया गया धन (लाख रुपए)
१९५०-५१	८७	१७१
१९५७-५८	६३	१४३
१९५८-५९	६३	१४३
१९५९-६०	६८	१८१

इसके अतिरिक्त अनेक यात्री ऐसे होते है जो बच कर निकल जाते है और रेल-कर्मचारियो द्वारा विशेष सावधानी बरतने पर भी पकडे नही जाते। कुछ लोग इतने निर्धन होते हैं कि पकडे जाने पर भी उनसे कुछ वसूल नही हो पाता। इस भाँति उपर्युक्त आँकडे रेलो को होने वाली वार्षिक हानि का पूर्ण स्वरूप नही बतलाते। रेल बोर्ड का अनुमान है कि बिना टिकट यात्रा करने वालो के कारण रेलो को पाँच करोड़ रुपए वार्षिक हानि होती है। इसके अतिरिक्त टिकट निरीक्षको, न्यायाधीशो तथा अन्य कर्मचारियो पर इस समस्या को रोक-थाम के लिए लगभग १० करोड़ रुपए वार्षिक और व्यय करना पडता है। अतएव इस समस्या का हल परम आवश्यक है।

बिना टिकट यात्रा करने वालो के साधारणत: तीन वर्ग किए जा सकते हैं:—

(१) छलिया—जिनके पास किराए के लिए पैसा है, किन्तु वे देना नही चाहते और रेलो को धोखा देकर पैसा बचाना चाहते हैं।

(२) धनहीन यात्री—जिनके पास किराए के लिये वस्तुतः पैसा नही है, किन्तु जो जीवन-निर्वाह के साधनो की खोज मे अथवा विषम परिस्थितियो मे पकड कर विवशतावश यात्रा करते है।

(३) विवश यात्री—वह यात्री जिसके पास पैसा है और जो टिकट लेना भी चाहता है, किन्तु परिस्थितियो से विवश होकर वह टिकट ले नही पाता। टिकट घरो की कमी अथवा टिकट घर के देर से खुलने के कारण इतनी भीड हो जाती है कि वह टिकट लेने म असमर्थ रहता है।

तीसरी श्रेणी के यात्रियो की विवशता रेल कर्मचारियो की उपेक्षा अथवा उनके कार्य-कौशल की कमी के कारण बढ जाती है। इसका एकमात्र इलाज टिकट बाँटने की सुविधाओं का प्रसार एव सुधार है। अनेक बडे स्टेशनो पर रेलो ने ऐसे टिकट घर खोले है जो चौबीस घण्टे खुले रहते ह। इस प्रयोग को अन्यत्र भी किया जा सकता है। बडे नगरो म नगर स्थित टिकट घरो की स्थापना भी इस कठिनाई को दूर करने म सहायक हुई है। कही-कही बड स्टेशनो पर टिकट शीघ्रता से बाँटने के उद्देश्य से टिकट छापने वाली मशीनें भी प्रयुक्त की जाती हैं। टिकट बाँटने वाले विशेष अनुभव अथवा जानकारी प्राप्त व्यक्ति हो तो इस समस्या का हल बहुत कुछ सरल हो जाता है। नए कर्मचारियो को टिकट की खिडकी पर कदापि न बिठाना चाहिये।

दूसरे वर्ग के यात्री पर हमे तरस आता है। भारत की निर्धनता उसका प्रमुख कारण है। बढती हुई बेकारी इस प्रकार के लोगो की सख्या और बढाती जा रही है। देश म अधिकाधिक व्यावसायिक सुविधाएँ बढाने, पचवर्षीय योजनाओ की सफलता और जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध करने से ही इस प्रकार के यात्रियो की सख्या कम की जा सकती है।

प्रथम कोटि के यात्रियो की समस्या सबसे कठिन है और रेलो के लिए सबसे अधिक सिर-दर्द करने वाली है। इसे हल करने के लिए समय-समय पर निम्नाकित यत्न किए गए हैं। इनसे बहुत कुछ सफलता मिली है। अतएव इन्हे परिष्कृत एव परिवर्धित रूप म लागू करने से और भी अधिक सफलता मिलने की आशा है:—

(१) टिकट देखने वाले कर्मचारियो की सख्या बढाना। अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ टिकट निरीक्षको की सख्या अनुपयुक्त है। वहाँ पर उनकी सख्या बढानी आवश्यक है। रूस और यूरोप को भेजे गए प्रतिनिधि मण्डल के सुझावो के अनुसार लम्बी यात्रा वाली कुछ महत्वपूर्ण गाडियो पर प्रत्येक दो सवारी-डिब्बे पीछे एक टिकट निरीक्षक नियुक्त करना आवश्यक है।

(२) अनायास निरीक्षण भी विशेष उपयोगी है। अनेक यात्री नियमित निरीक्षण का बचाव कर लेते हैं। ऐसे यात्रियो को एक-दो बार सफलता मिलने पर बिना टिकट यात्रा करने की आदत पड जाती है। ऐसे लोगो के विरुद्ध अनियमित एवं अनायास निरीक्षण ही सफल हो सकता है। कुछ क्षेत्रो मे सादा वस्त्रो मे रहने वाले टिकट निरीक्षक रखे गये हैं, क्योंकि वर्दी मे रहने वाले निरीक्षको का अनेक यात्री, भिखमंगे और फेरी वाले (Vendors) आसानी से बचाव कर सकते है।

(३) युद्ध काल और युद्धोपरान्त काल मे भीड-भाड बढने से बिना टिकट यात्रा करने वालो की संख्या बढती देखकर रेल अधिकारियो ने विशेषाधिकार प्राप्त दण्डाधीश (Magistrates) नियुक्त किये। इन लोगो को तुरन्त दण्ड देने का अधिकार था। यह प्रयोग बहुत कुछ सफल हुआ और अब भी जारी है।

(४) चलते फिरते न्यायालय (Mobile Courts) भी सफल सिद्ध हुए हैं।

(५) उत्तर प्रदेश, बम्बई एवं बिहार राज्यो की सरकारो ने विशेष दण्डाधीश और पुलिस नियुक्त की जिसका व्यय केन्द्रीय सरकार का दायित्व था। राज्य की सरकारो की सहायता से रेलो को बिना टिकट यात्रा करने वालो को रोकने मे बहुत सहायता मिली। ये दण्डाधीश और पुलिस के सिपाही चलती हुई गाडियो मे यात्रियो के टिकट देखते है।

(६) रेलों के सब विभागो के कर्मचारियो को टिकट देखने का अधिकार दे दिया गया है।

(७) विशेष क्षेत्रो मे हथियारबन्द पुलिस की सहायता ली जाती है।

(८) टिकट निरीक्षको मे परस्पर प्रतियोगिता उत्पन्न करने के मन्तव्य से उनकी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को अस्थायी रूप मे बदली कर दी जाती है।

(९) हाल मे राष्ट्रीय रेल उपभोक्ता सलाहकार समिति के सदस्यो को किसी भी स्टेशन मास्टर अथवा टिकट निरीक्षक को अपने सामने बुलाकर यात्रियो के टिकट देखने की आज्ञा देने का अधिकार दे दिया गया है।

(१०) विशेष एवं आकस्मिक निरीक्षण के लिए उडन-स्क्वाड (Flying Squads) नियुक्त किए गए हैं।

(११) रेल कानून मे संशोधन करके बिना टिकट यात्रा करने वालों की गिरफ्तारी का अधिकार दिया गया है।

(२) यात्रियों की सुख-सुविधाएँ (Amenities to Passengers)

यात्री जनता की सुख-सुविधाएँ बढाने के लिए रेलें सदैव से प्रयत्नशील रही हैं। द्वितीय महायुद्ध काल मे यात्रियो को अपार कष्टो का सामना करना पड़ा; रेलो मे अपार भीड चलने लगी, टिकट मिलने दुश्वार हो गये; खिड़कियो पर धक्का-मुक्की होने लगी, स्टेशनो पर पीने का पानी पर्याप्त मात्रा मे नही मिलता था। तृतीय श्रेणी के यात्री विश्रामगृहो के अभाव मे और भी अधिक कष्ट उठाते थे। फलत: युद्धोपरान्त काल मे रेलो ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। १९४६-४७ मे एक सुधार

निधि (Betterment Fund) बनाई गई जिसका उपयोग निम्न-श्रेणी के यात्रियों की सुख-सुविधाएं बढाने और कर्मचारी-कल्याण के लिए किया जाने लगा। १९४९ में नई वित्त व्यवस्था के कार्यान्वित होने पर इस निधि को विकास निधि (Development Fund) मे मिला दिया गया। विकास निधि का एक बडा भाग यात्री जनता की सुख-सुविधाएं बढाने के निमित्त प्रति-वर्ष व्यय किया जाता है।

यात्रियो का पुनर्वर्गीकरण भी इसी उद्देश्य से किया गया है। यह सोचा गया है कि यदि चार के स्थान पर यात्रियो को तीन श्रेणियां ही रहे, तो रेले यात्रियो की यात्रा को अधिक सुलभ और सुखमय बना सकेगी।

प्रथम पचवर्षीय योजना म १५ करोड रुपये रेल यात्रियो को सुख-सुविधायें उपलब्ध करने के निमित्त रखे गए थे जिसम से १३·४३ करोड रुपये उक्त अवधिकाल मे व्यय किए गए। द्वितीय योजना म भी १५ करोड रुपए रखे गए थे जो पूरे खर्च हो गए। तृतीय योजना म भी ३ करोड रु० वार्षिक व्यय करने का विचार है।

नमूने के डिब्बे उपलब्ध करना, तृतीय श्रेणी के डिब्बो म पखे लगाना, गाडियो में प्रकाश का समुचित प्रबन्ध, शयन यान व्यवस्था, नए स्टेशन और रेल रुकन के स्थान बनाना, अधिकाधिक विश्रामगृह बनवाना, प्लेटफार्मों को ऊँच कराना, नए टिकटघर खोलना, स्टेशनो पर बिजली का प्रकाश, खान-पान की वस्तुओ का समुचित प्रबन्ध, गाडियो और स्टेशनो की सफाई, पीने के पानी का प्रबन्ध, गाडियो की भीड-भाड कम करने के यत्न इत्यादि विषय जनता की सुख-सुविधाओ के सम्बन्ध म विशेष उल्लेखनीय हैं। १९५९-६० मे भारतीय रेलो ने इस विषय मे लगभग २ ३६ करोड रुपय व्यय किए। इस व्यय का ब्यौरेवार विवरण नीचे दिया जाता है ताकि यह विषय और भी स्पष्ट हो सके :—

१९५९-६० मे विकास निधि से यात्रियों की सुख-सुविधाओं पर किया गया व्यय

विषय		व्यय (हजार रुपये म)
स्टेशनो पर पानी		१९,३८
विश्रामगृह		२५,४३
जलपान गृह	....	६,७२
शौचालय	...	८,४१
प्लेटफार्मों का सुधार	...	५६,६७
ऊपर के पुल तथा मार्ग	...	११,५२
स्टेशनो पर स्नानगृह	...	१,१९
स्टेशनो पर रोशनी तथा अन्य सुधार कार्य	..	५,२६
डिब्बो म पखे लगाना और अन्य सुधार कार्य	....	२७,१७

प्लेटफार्मों व विश्रामगृहों में पंखे लगवाना तथा प्रकाश		२८,३७
झंडी स्टेशनों का व्यय	....	८,८१
बैठने के स्थानों का सुधार, वृक्षारोपण इत्यादि	...	१६,६५
अन्य कार्य	....	१८,६७
कुल व्यय		२,३५,५५

यथाशक्ति नए डिब्बे और इन्जन प्रति-वर्ष क्रय किए जाते है और गाड़ियों की संख्या बढाई जाती है। निम्न-श्रेणी के यात्रियो के लिए जनता नामक गाड़ियाँ भी तृतीय-श्रेणी की यात्रा को सुखमय बनाने के लिए ही चालू की गई है। इस समय १२ जोडी जनता गाड़ियाँ चल रही है जिनमे से १० चौडे रेल-पथ पर और दो मँझले रेल पथ पर। इनमें से कुछ गाडियों का क्षेत्र बढाने और कुछ क्षेत्रो मे ऐसी नई गाड़ियाँ चलाने की माँग की गई है।

तृतीय श्रेणी की यात्रा को सुखमय बनाने के और भी प्रयत्न किए जा रहे हैं। बडे स्टेशनों पर अनेक गाड़ियों में लम्बी यात्रा के लिए पहले से स्थान सुरक्षित (Reserve) किया जा सकता है। १९४९ से लगभग सभी मेल और ऐक्सप्रेस गाड़ियों में दूरवर्ती तृतीय श्रेणी के यात्रियों के लिए अलग डिब्बे लगाए जाते है और थोड़ी दूर जाने वाले यात्रियों को ऐसे डिब्बों में घुसने से रोकने के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किए गए है। यात्रियों की सुविधा के लिए बडे-बडे स्टेशनों पर पथप्रदर्शक (Guides) रखे गए है जो विशेषतः निम्न-श्रेणी के यात्रियो की सहायता करते है।

डिब्बों और इन्जनों तथा गाड़ियों की संख्या बढ़ने से रेलों की भीड़-भाड धीरे-धीरे कम होती जा रही है। १९४८-४९ मे प्रत्येक गाडी मे ४१४ सवारियाँ बैठती थी, १९५०-५१ मे ४०४ और १९५२-५३ मे ३३० अर्थात् १९४८-४९ की स्थिति को देखते हुए १९५२-५३ तक २० प्रतिशत सुधार हो गया। १९५६ की एक गणना से ज्ञात हुआ है कि १९५५ की अपेक्षा भीड-भाड में मंझली रेलों पर ३०% से १६% तक तथा बडी रेलों पर १६% से १३% तक गिरावट हुई है। तृतीय श्रेणी के डिब्बो में बैठने वाले यात्रियो की उन डिब्बों की यात्री बिठाने की क्षमता से तुलना करें तो ज्ञात होता है कि इस ओर स्थिति बहुत सुधर रही है। नीचे के आँकडो से इस कथन का स्पष्टीकरण होता है।

बैठने का अनुपात (Occupation Ratio)

	बडी लाइन	छोटी लाइन
अप्रैल १९५०	८८·४	९७·७
अप्रैल १९५१	८०·१	९९·१
मई १९५२	७९·८	८०·५
नवम्बर १९५२	६०·०	५२·५

रेलो की इस सफलता पर हमे गर्व करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अन्य देशों की भाँति यात्रा को सुलभ व सुखमय बनाने के लिए अभी हमे बहुत कार्य करना है।

(३) रेल दुर्घटनायें

दुर्घटनाओ का घटित होना रेलो के सिर-दर्द का एक मुख्य कारण है और उनकी एक महत्वपूर्ण समस्या है। दुर्घटनाओ से तात्पर्य गाडियो का पटरियो से उतर जाना, गाडियो का परस्पर लड जाना, उनका नदी-नाले मे गिर जाना अथवा अन्य प्रकार उनकी टूट-फूट और टक्कर हो जाना है। दुर्घटनाओ के घटित होने से रेलो की बदनामी ही नही होती, उन्हे भारी हानि भी होती है। १९५३-५४ से १९५७-५८ के पाँच वर्षो मे भारतीय रेलो को दुर्घटनाओ के कारण लगभग ४७ लाख रुपए से ऊपर की वार्षिक क्षति (Damage) उठानी पडी। इन्ही वर्षो मे उन्हे लगभग १६ हजार घटे प्रतिवर्ष यातायात की रुकावट हुई। नीचे के आकडो से इस कथन की पुष्टि होती है।

दुर्घटनाओं से रेलों की क्षति

वर्ष	इजनो व चलया-नादि की हानि	स्थायी मार्ग की हानि	यातायात की रुकावट (घण्टे)
	रु०	रु०	
१९५३–५४	२५,१६,२६०	१५,३०,७८०	६,६५०
१९५४–५५	१८,८४,३८६	६,६५,६५७	२५,३८२
१९५५–५६	२०,७४,४०७	३६,२३,१८३	१६,०७६
१९५६–५७	२५,०६,७२२	४३,८७,३००	१६,६३०
१९५७–५८	२५,५६,३११	१६,३४,३७४	१०,३५५
१९५३–५४ से १९५७ ५८का औसत	२३,०८,४१८	२४,३४,३१६	१५,६७८

रेलो की सम्पत्ति की हानि के अतिरिक्त, प्रतिवर्ष लगभग ५ हजार व्यक्तियो की रेल-दुर्घटनाओ से मृत्यु होती है और लगभग ३५ हजार व्यक्ति हताहत हो जाते हैं जैसा कि नीचे के आकडो से स्पष्ट है —

वर्ष	दुर्घटनाओ से ग्रसित कुल व्यक्तियो की सख्या		दुर्घटनाओ से ग्रसित यात्री			
			मृतक		हताहत	
	मृतक	हताहत	सख्या	प्रति दसहजार यात्रियो पीछे	सख्या	प्रति दस हजार यात्रियो पीछे
१९५५–५६	४,३२२	२८,७७०	१६	०·०१	२६६	०·२०
१९५६–५७	५,०५४	३२,३४१	२७६	०·२०	३३५	०·२४
१९५७–५८	५,१०१	३४,३४२	७७	०·०५	५०४	०·३५
१९५८–५९	५,२७०	३५,१६२	३६	०·०३	३१५	०·२२
१९५९–६०	५,३६३	३४,२५७	४	०·००२	२८६	०·२१

दुर्घटनाओं का घटित होना मानव-जीवन की एक आवश्यक क्रिया है। जैसे जीवन से मृत्यु को अलग नहीं किया जा सकता, उसी भाँति दुर्घटनाओं का सर्वथा निवारण संभव नहीं। अतएव रेल-दुर्घटनाओं का घटित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात है उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि। आज के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकासोन्मुख प्रगति स्वाभाविक है। स्वास्थ्य एवं शरीर विज्ञान के विकास द्वारा मनुष्य ने मृत्यु जैसी प्राकृतिक क्रियाओं पर विजय प्राप्त करने का बीड़ा उठाया है और अकाल मृत्यु की संभावना दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। वस्तुतः यही सिद्धान्त रेल-दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में लागू होना चाहिये। किन्तु हमारी रेलों की स्थिति इसके विपरीत दिखाई देती है। यही चिन्ता का विषय है। युद्धोपरान्त काल में सामान्यतः दुर्घटनाओं का प्रभाव कम होता दिखाई देता था, किन्तु १९५०-५१ के उपरान्त उनका प्रभाव बढ़ता गया। १९५०-५१ में प्रति दस हजार यात्रियों के पीछे ०·०२ यात्रियों की मृत्यु हुई और ०·२१ यात्री हताहत हुए, किन्तु १९५१-५२ में ये अनुपात क्रमशः ०·०३ और ०·२४, १९५२-५३ में ०·०५ और ०·२६, १९५३-५४ में ०·१० और ०·३५ तथा १९५४-५५ में ०·१२ और ०·२४ हो गए। सन् १९५३-५४ रेल-दुर्घटनाओं के इतिहास में सम्भवतः उल्लेखनीय वर्ष समझा जायगा। १९५४ के जनवरी महीने में तो रेल-दुर्घटनाओं की एक बाढ़-सी आती दिखाई दी। उक्त महीने के प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन एक भीषण दुर्घटना का घटित होना भयानक स्थिति का सूचक समझा जाने लगा और सरकार को एक जाँच समिति (Inquiry Committee) बिठानी पड़ी। इस समिति के सुझावों को कार्यान्वित किए जाने के उपरान्त भी स्थिति में सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ और कई भीषण दुर्घटनाओं के कारण १९५६ में रेल-मंत्री को अपना पद त्याग करना पड़ा।

रेल-दुर्घटनाओं के कारण एवं प्रभाव को ध्यान में रखकर उनका निम्न वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। कारखानों (Workshops) में होने वाली दुर्घटनायें इसमें सम्मिलित नहीं हैं जो कुल का लगभग सात या आठ प्रतिशत होती हैं।

रेल दुर्घटनाओं का वर्गीकरण (प्रतिशत)[1]

वर्ष	माल गाड़ियों का पटरी से उतरना	सवारी गाड़ियों का पटरी से उतरना	पशु हत्या	रेल की साज-सज्जा व इंजन की खराबी	विध्वंस व अन्य कारण
१९४७-४८	३५	१	१६	३६	२
१९४८-४९	३५	१	१८	३७	३
१९५६-५७	१२	२	१६	५२	५
१९५७-५८	१३	२	१८	५१	६
१९५८-५९	१४	२	१५	५३	६
१९५९-६०	१५	२	१५	५३	६

1. Reports of the Railway Board on Indian Railways.

पशु-हत्या सबसे सामान्य एवं निर्दोष दुर्घटनाये कही जा सकती हैं, क्योकि इनमे जान-माल की जोखिम कम से कम होती है। रेलो मे होने वाली कुल दुर्घटनाओ का १५% पशु-हत्या से सम्बन्धित हैं। इनका मुख्य कारण मुख्य रेलो की पार्श्ववर्ती तारबन्दी (Fencing) का ह्रास है। रेल की सडक के दोनो ओर कोई रुकावट अथवा बाड न होने के कारण पशुओ का निरन्तर आना-जाना बना रहता है और गाडी आने पर बहुधा वे उसके चक्कर मे आ जाते हैं। अवसाद काल से ही रेलो की तारबन्दी के पुनर्निर्माण का कोई अवसर नही आया। बाड बन जाने से इस श्रेणी की दुर्घटनाये कम हो सकती हैं।

गाडियो का पटरो से उतरना (Dera lment) ऐसी दुर्घटनायें हैं जिनमे मनुष्य के जान-माल की कुछ जोखिम अवश्य रहती है। कभी-कभी इन दुर्घटनाओ से रेलो को ही भारी हानि नही होती, अनेक मनुष्यो की जाने भी चली जाती हैं अथवा माल की भी टूट-फूट हो जाती। माल गाडिया के पटरी से उतरने की दुर्घटनाये कुल का १५% है और सवारी गाडियो को २०% है। सवारी गाडियो के पटरी से उतरने की दुर्घटनाओ की सख्या बढती दिखाई देती है जिसमे यात्रिया की जान-जोखिम बढती है। यह विशेष चिन्ता का विषय है जिसकी रोक-थाम अति आवश्यक है। १९५०-५१ तक इस प्रकार की दुर्घटनाओ की सख्या कुल का केवल एक प्रतिशत हुआ करती थी। १९५१-५२ म यह सख्या १·५ प्रतिशत, १९५२-५३ म १·७ प्रतिशत तथा तदुपरान्त २ प्रतिशत हो गई। इस श्रेणी की दुर्घटनाओ का मुख्य कारण प्रबन्ध-व्यवस्था का ढीलापन अथवा रेल-कर्मचारियो की असावधानी समझना चाहिए।

इससे अधिक दुर्घटनाये रेलो के इजन एव अन्य साज-सज्जा मे विकार (Failure) के कारण होती हैं। १९५०-५१ मे इस प्रकार की दुर्घटनाओ की सख्या केवल ३२ प्रतिशत थी, १९५१-५२ और १९५२-५३ मे ४६ प्रतिशत एव १९५९-६० मे ५३% हो गई। यह वृद्धि इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गत कुछ वर्षो मे रेलो की साज-सज्जा के भरण-पोषण (Maintenance) का स्तर (Standard) गिर गया है।

लगभग ६ प्रतिशत दुर्घटनायें विध्वसकारियो और अन्य कारणो से घटित होती हैं। युद्धोपरात काल मे दुर्घटनाओ की सख्या बढने से यह विश्वास किया जाने लगा था कि बहुधा दुर्घटनायें विध्वस (Sabotage) द्वारा घटित होती हैं और उनकी रोक-थाम के प्रयत्न भी किये गये। लाइन की देख-रेख और पहरेदारी का विशेष प्रबन्ध किया गया, पथ प्रदर्शक इञ्जनो (Pilot engines) का प्रयोग किया गया, सशस्त्र रक्षक (Armed Guards) बिठाए गये, तथा कुछ ऐसी विशेष युक्तियो (Special devices) का प्रयोग किया गया जिससे लाइन की तोड-फोड का काम कठिन हो जाए। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप इस प्रकार की दुर्घटनायें कम हो गईं किन्तु कालान्तर मे यह विश्वास निर्मूल सिद्ध हुआ और अब यह स्पष्ट हो गया है कि विध्वंस-

कार्य (Sabotage) रेल-दुर्घटनाओं का मुख्य कारण नहीं है।[1] रेल दुर्घटनाओं के मुख्य कारण दो है :—(१) रेल-मार्ग तथा साज-सज्जा का अपर्याप्त भरण-पोषण (Maintenance) तथा (२) रेल कर्मचारियों की अयोग्यता अथवा उपेक्षा। १९५२-५३ में १५ ऐसी दुर्घटनाये घटी जिनके विषय में सरकारी निरीक्षक (Govt. Inspector) ने जाच की। इन १५ दुर्घटनाओं मे से एक विध्वस द्वारा; तीन गाडियों के पटरी से उतरने, छः गाडियो मे टक्कर होने, तथा पाँच अन्य कारणों से घटी। सरकारी निरीक्षक के उक्त वर्ष के प्रतिवेदन से ज्ञात होता है कि बहुधा दुर्घटनायें रेल कर्मचारियों की असावधानी से घटित होती है।[1] दुर्घटना जाँच समिति के प्रतिवेदन ने भी इस कथन का समर्थन किया। १९५४ के इतिहास प्रसिद्ध सप्ताह की अधिकतर दुर्घटनाओं का कारण भी गाडियो अथवा स्टेशनों पर काम करने वाले कर्मचारियों की उपेक्षा बतलाया जाता है। रेल एक लोकोपयोगी सेवा है, फलतः उसके कर्मचारियो का उत्तरदायित्व अन्य उद्योगो के कर्मचारियो से अधिक है। उनका कार्य अत्यन्त कोमल एवं महत्वपूर्ण है। उनकी तनिक असावधानी, आलस्य अथवा कर्त्तव्य-उपेक्षा से हजारो की जान व माल संकट मे पड जाती है। अतः उन्हे अपने भारी उत्तरदायित्व को समझ कर कर्त्तव्य-परायणता एवं सावधानी के साथ कार्य करना चाहिए ताकि लोगो के जान-माल का संकट कम हो सके।

(४) अन्तर्माप (Gauge)

भारत मे रेल-निर्माण योजनायें बनाते समय देश के लिए उपयुक्त अन्तर्माप पर गम्भीरता से विचार किया गया था। सन् १८४६ मे भारत सरकार के तत्कालीन परामर्शदाता इ'जीनियर श्री सिम्स (Simms) ने ५ फीट ६ इंच का अन्तर्माप (Gauge) उपयुक्त बतलाया। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डलहौजी ने उसे स्वीकार कर लिया। उस समय देश भर की रेलो के लिए एक से अन्तर्माप का सिद्धान्त भी मान लिया गया था। लॉर्ड डलहौजी का विश्वास था कि भारत मे तेज हवाओ, भयानक आँधियो और घनघोर वर्षा के कारण छोटी रेले (Light Railways) सफल नही हो सकती। खुले स्थानो मे, घुमावो और पुलो पर ऐसी रेलो के लिए भारी भय की आशंका बतलाई गई। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि चौडी रेलें (Broad Gauge) भारत जैसे कंगाल देश के लिये विलास की वस्तु है जिनका दायित्वभार देश

---

1. Major General Shah Nawaz, Chairman of the Railway Accident's Enquiry Committee, stated at Gorakhpur on March 28, 1954. "It did not hold much good that Sabotage is the cause of accidents on Indian Railways."

By and Large the majority of the accidents are due to failure of Railway Staff. 42% of the Serious accidents and 44% of all accidents are of this type.

(*Railway Ministry—A Foctual Review of Accidents, 1958.*)

की अर्थ-व्यवस्था सहन नहीं कर सकती। इस प्रकार की रेलों का व्यय बहुत अधिक पड़ता है और रेल-निर्माण कार्य में भारी बाधा पड़ती है एवं प्रगति सन्तोषजनक नहीं होती। अतएव १८६६ में नई योजनाओं के लिए मीटरगेज (Metre Gauge) को अपनाया गया। कालान्तर में कुछ क्षेत्रों में और भी कम चौड़ी रेलें बनाई गईं। इस भाँति अन्तर्माप (Gauge) की दृष्टि से देश में चार प्रकार की रेलों का आविर्भाव हुआ। ३१ मार्च १६६० को ३५,२१३ मील रेलमार्ग में से १६,४५० मील बड़ा मार्ग (Broad Gauge), १५,५८२ मील मँझला मार्ग (Metre Gauge), ३,१८१ मील छोटा मार्ग (Narrow Gauge) था।

भारत अपनी विलक्षणता के लिये प्रसिद्ध है। रेल-पथ सम्बन्धी विलक्षणता में भी वह अद्वितीय है। यद्यपि आस्ट्रेलिया, जापान, तस्मानिया और नार्वे आदि देशों में भी विविध प्रकार के अन्तर्माप अपनाए गए हैं, किन्तु वहाँ का लोकप्रिय एवं सामान्य प्रतिमान ३ फीट ६ इंच है। ब्रिटेन और संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका जैसे समृद्ध एवं धनी देशों में अधिकतर रेलों के लिए ४ फीट ८½ इञ्च का अन्तर्माप (Gauge) अपनाया गया है, जबकि भारत में ५ फीट ६ इञ्च का। यह निर्विवाद है कि भारत जैसे कंगाल देश में इतनी चौड़ी रेलें बनाना दूरदर्शिता का सूचक नहीं। इतनी चौड़ी रेलें सदैव से देश के लिए भार स्वरूप समझी गई हैं, किन्तु इससे भी भयानक बात विविध प्रकार का अन्तर्माप है। यह सदैव से रेलों के लिये भारी असुविधा और सिर-दर्द पैदा करता रहा है तथा भारतीय व्यापार-व्यवसाय की उन्नति और विकास में बाधा उपस्थित करता रहा है। विविध प्रकार के अन्तर्माप के कारण भारतीय रेलों पर अनेक यानान्तरण स्थान (Transhipment points) बन गये हैं जहाँ माल एक रेल के डिब्बे से उतार कर दूसरी रेलों के डिब्बों में भरना पड़ता है। और माल के यथा-स्थान पहुँचने में आवश्यकता से अधिक समय लगता है। कभी-कभी इस अदल बदल में कई-कई दिन लग जाते हैं और यातायात रुका पड़ा रहता है। गत वर्षों में ऐसे कुछ स्थानों पर यातायात का भारी जमघट होता रहा है और रेलों एवं रेल उप-भोक्ताओं दोनों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। मडुआडीह (बनारस), वीरमगाँव, साबरमती, पूना, गुन्तकल, बंगलौर, बेजवाड़ा, रायचूर, महसाना, मोकमघाट, भागलपुर, लकरीगली, मणिहारी, आगरा पूर्वोत्तर इत्यादि स्थान यातायात की रुकावट और पिच-पिच के उल्लेखनीय स्थान हैं। अकेली पूर्वोत्तर रेल पर ऐसे यानान्तरण (Transhipment) स्थानों की संख्या १८ है। जून १६५१ में यहाँ की यातायात अदल-बदल क्षमता ३० बड़े डिब्बे (B. G. Wagons) थी। १६५४ के प्रारम्भ में यह १०२ बड़े डिब्बों के बराबर हो गई और दिसम्बर १६५४ में उसे १२० डिब्बे तक करना पड़ा। अब २०० से अधिक बड़े डिब्बों (B. G. Wagons) के माल की यहाँ अदल-बदल होती है।[1]

1. ३१ मार्च १६५६ में २१६ बड़े डिब्बों (B. G. Wagons) के माल की अदल-बदल हुई। (Indian Railways, Vol. I, No. 2-3, p. 60).

६ मीटर-गेज मालगाड़ियाँ और ४ ब्राडगेज मालगाड़ियाँ यहाँ प्रतिदिन माल लाकर उतारती हैं और इतनी ही गाड़ियाँ यहाँ से माल लेकर जाती है। लगभग ३३४ रेल कर्मचारी इस काम में प्रतिदिन व्यस्त रहते हैं। दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए यातायात को संभालने के लिए यहाँ की माल उतारने-चढ़ाने की क्षमता भी बढ़ानी पड़ी है और इसे और भी अधिक बढ़ाने की योजनायें बनाई गई हैं।

इस कठिनाई से छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग देश भर के लिए एक से अन्तर्माप का अपनाया जाना है, किन्तु देश की और देश की रेलों की वर्तमान स्थिति में यह सर्वथा असम्भव है। पुरानी रेलों को उखाड़ने, उनके स्थान पर नई रेलें बनाने और सारे यंत्रयानादि एवं साज-सज्जा को बदलने का अपार व्यय रेलें सहन नहीं कर सकतीं। तो भी भारतीय रेलों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया है और प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में ४६ मील छोटी लाइन मीटर लाइन में बदली गई तथा ५२ मील मीटर लाइन को बड़ी लाइन में बदला गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २६५ मील मझले पथ (Metre Gauge) को बड़े पथ (Broad Gauge) में परिवर्तित किया गया। इसी प्रकार का कार्य तृतीय योजना में भी किया जाएगा। यह सर्वथा संदेहात्मक है कि भारत को अन्तर्माप (Gauge) की इस विविधता से पूर्णतः छुटकारा मिल सकेगा। वर्तमान विविधता को देखते हुए व्यावहारिक नीति देश में मुख्यतः दो प्रकार की रेलें (बड़ी और मझली) रखने की उचित प्रतीत होती है, किन्तु कुछ पहाड़ी रेलों (कालका-शिमला, दार्जिलिंग-हिमालय एवं नीलगिरी इत्यादि) के लिए छोटा अन्तर्माप (Gauge) अनिवार्य प्रतीत होता है। इस प्रकार की स्थायी नीति अपनाने से देश का बहुत कुछ क्षय बच जायगा तथा यातायात के अदल-बदल और रुकावट की वर्तमान समस्या पर काबू किया जा सकेगा।

अध्याय १९

सड़कों का महत्व

(Importance of Roads)

सडके राष्ट्रीय समृद्धि के विशाल महल का आधार-स्तम्भ हैं। भारत के पुनर्जन्म एव पुनर्निर्माण रूपी गत्यात्मक अभिनय का सडके केन्द्र बिन्दु हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया चाहे वह राष्ट्रीय हो चाहे वह व्यक्तिगत, सस्ते, सुगम और वेगवान परिवहन पर निर्भर है। कृषि, उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय, प्रशासन, प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा अन्य किसी सामाजिक व सास्कृतिक प्रयत्न को अपने पूर्ण रूप मे फलीभूत होने और आगे बढने के लिए सडको की आवश्यकता होती है। किसी राष्ट्र के स्वास्थ्य को स्थिर रखने मे सडकें वही काम करती हैं जो शरीर मे धमनी और शिराये करती हैं। जैसे धमनियाँ स्वच्छ रक्त को शरीर के अंग-प्रत्यगो मे सचारित करती रहती है वैसे ही सडके राष्ट्रीय जीवन के आवश्यक उपकरणो—मनुष्यो, वस्तुओ और विचारो को देश के कोने-कोने तक पहुँचाती हैं। उत्पादन, विनिमय और वितरण के सारे घटना-चक्र का सफल और सुचारु रूप से सचालन पर्याप्त और सुगम परिवहन द्वारा ही सम्भव है और सडके उसका एक आवश्यक अग हैं। यह किसी ने ठीक ही कहा है कि पहिया आधुनिक सभ्यता को गतिविधि देने वाला यन्त्र है।

सड़कों का आर्थिक उपयोग

यो तो सडको का मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उनका आर्थिक क्षेत्र मे विशेष उपयोग है। पर्याप्त और सुगम सडको पर ही राष्ट्र के आर्थिक साधनो का पूर्ण उपयोग सम्भव है और भारतवर्ष जैसे अर्द्धविकसित देश मे जहाँ कि आर्थिक साधनो का अभी पूर्ण विकास नही हो सका, सडको का विशेष महत्व है।

सड़के और कृषि

सडके एक ऐसी सुदृढ धुरी के समान हैं जिसके चारो ओर कृषि और कृषक तथा सारा गत्यात्मक ग्रामीण जीवन घूमता है। कृषि का विकास सडको के विकास से सम्बद्ध है।

(क) कृषियोग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि—ग्रामीण क्षेत्र में अधिक सड़कें बनाने से कृषि-भूमि की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। देश में बहुत सी भूमि ऐसी है जिस पर मार्गों के अभाव के कारण कृषि सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ तक पहुँचना और कृषि-उपकरणों का ले जाना अति दूभर काम है। तराई और खादर की भूमि तथा कास व मूँज आच्छादित भूमि इसी प्रकार की है। यह इतनी दलदली ऊँची-नीची अथवा झाड़-झंखाड़युक्त होती है कि साधारणतः इसमें प्रवेश सम्भव नहीं। सड़क परिवहन एक प्रारम्भिक साधन है और जब तक ऊसर और परती भूमि के प्रत्येक एकड में सड़क नहीं बन जाती, तब तक हम किसान द्वारा उस पर खेती किये जाने की कोई आशा नहीं कर सकते। भारतीय सड़क एवं परिवहन विकास संस्था (Indian Roads and Transport Development Association) के अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में सड़कें बनाने मात्र से हम **कृषि-भूमि की की मात्रा में २५ प्रतिशत वृद्धि कर सकते हैं।**

(ख) उत्पादन वृद्धि—इस भाँति सड़कों के विकास से विस्तीर्ण-कृषि द्वारा ही उत्पादन वृद्धि नहीं होती वरन् गहन-कृषि द्वारा भी उत्पादन वृद्धि सहज संभव है क्योंकि खादों, अच्छे बीजों और कृषि यन्त्रों एवं अन्य आवश्यक उपकरणों का सरलता से सस्ते मूल्य पर यातायात सम्भव है। जैसे-जैसे हम सड़क से दूर चलते जाते हैं वैसे-वैसे कृषि क्रिया की क्षमता और गहनता घटती चली जाती है और अन्त में हम एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ जुताई सर्वथा असम्भव हो जाती है। वहाँ पर कृषि करने में इतना खर्च पड़ता है कि उपज उसे सहन नहीं कर सकती और न वह उपज बाजार तक ले जाने का ही खर्च सहन कर सकती है। इस कथन की सत्यता इस बात से पूर्णतः सिद्ध हो जाती है कि सड़क बनते ही उसके दोनों ओर की भूमि के मूल्य में आशातीत वृद्धि हो जाती है। **सड़क बनने से भूमि की उत्पादन क्षमता बढ़ती है जिसका प्रभाव उसके मूल्य पर पड़ना अवश्यम्भावी है।** इस भाँति यह हमारी खाद्य समस्या का एक मुख्य नहीं तो सहायक हल अवश्य है। ग्रामीण क्षेत्र में सड़कों द्वारा यदि हम उक्त सब क्षेत्र को जोत में ला सकें तो अन्न का उत्पादन आप से आप बढ़ जायगा। हम आसानी से यह कल्पना कर सकते हैं कि जितने मील लम्बी हम सड़कें बना सकेंगे ठीक उसी अनुपात से हमारा खाद्यान्न उत्पादन बढ़ सकेगा। सड़कों के मन्द गति से विकास होने और भूमि की उपज एवं किसान के पसीने की कमाई को बाजार तक ले जाने के लिए सस्ते परिवहन के साधन उपलब्ध करने से बड़े उत्साहवर्द्धक परिणाम निकल सकते हैं क्योंकि इससे किसान की उपज उचित मूल्य पर बिक सकती है और इसे उचित लाभ प्राप्त हो सकता है। **फलस्वरूप हमारा किसान खाद, बीज और कृषि-उपकरण सरलता से खरीदने में समर्थ हो सकता है तथा उन प्राचीन भद्दे औजारों से पीछा छुड़ा सकता है जिन्हें वह सदियों से प्रयोग करता हुआ पर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन करने के असफल प्रयत्न करता रहा है।** इसी भाँति खाद्यान्न के वितरण में भी सड़कों का महत्व कम नहीं है। यदि

हम अपने खाद्यान्न की वर्तमान उपज भर को उस स्थान पर शीघ्रता से भेज सकें जहाँ और जब उसकी आवश्यकता होती है, तो हम खाद्यान्न के सम्बन्ध में तनिक भी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।

(ग) कृषि का स्वरूप परिवर्तन—सड़कों के विकास द्वारा **कृषि का स्वरूप सर्वथा बदला जा सकता है** और खाद्यान्न के स्थान पर बिक्री वाली फसलें अधिक उगाई जा सकती हैं। कृषि के स्वरूप में इस प्रकार के परिवर्तन की हमें आवश्यकता भी है क्योंकि इससे हमारे किसान की आय-वृद्धि होगी और उसका जीवन स्तर ऊँचा उठ सकेगा। हमारी खाद्य समस्या का वास्तविक हल अधिक मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध करने में ही नहीं है, वरन् पोषक पदार्थ उपलब्ध करने में भी है। अधिक सड़के बनने का प्रभाव यह होगा कि **किसान सहायक भोज्य पदार्थ जैसे तरकारियाँ, फल, अण्डे, दूध तथा दूध से बने हुए अन्य पदार्थ अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकेगा** जिनके द्वारा हमारा दैनिक भोजन संतुलित बन सकेगा। आज सड़कों के अभाव में हमारा किसान इन पदार्थों को इसलिए नहीं उत्पन्न कर पाता कि उनका शीघ्र परिवहन सम्भव नहीं है। वस्तुतः इन वस्तुओं का यथेष्ट उत्पादन ग्रामीण क्षेत्र में ही सम्भव है किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब उन्हें शीघ्रता से ताजी और अच्छी दशा में बाजार भेजने के साधन उपलब्ध हों ताकि उत्पादक को उनका उचित मूल्य प्राप्त हो सके। बाजार तक पहुँचने में विलम्ब के कारण आज भारत की क्षय होने वाली आधी से अधिक उपज व्यर्थ नष्ट हो जाती है। कलकत्ता के 'हिन्दुस्तान स्टेंडर्ड' नामक पत्र का एक विशेष प्रतिनिधि कुछ काल पूर्व नागा पहाड़ियों के कुछ गाँवों का निरीक्षण करने गया था। उसने वहाँ जा कर देखा कि वहाँ अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ आलू और चावल एक बड़ी मात्रा में निर्यात के लिए प्रति वर्ष बच रहते हैं किन्तु यातायात के साधनों के अभाव में उनका निर्यात सम्भव नहीं। इसी भाँति लकड़ी, नारंगियाँ, सेब, नाशपाती इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं जो केवल यातायात के साधनों के अभाव में यहाँ बड़े पैमाने पर पैदा नहीं की जा सकतीं। जो बात इस क्षेत्र के लिए सत्य है वह देश के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी लागू होती है।

(घ) कृषि उपज की बिक्री—कृषि-उपज की बिक्री पर सड़कों का प्रशंसनीय प्रभाव पड़ता है। कृषि-उपज अथवा अन्य किसी भी वस्तु की बिक्री में जितने खर्च करने पड़ते हैं, परिवहन व्यय का उनमें एक महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न-वस्तुओं के सम्बन्ध में सड़कों की दशा और उनके प्रकार, माल ले जाने की दूरी, और ऋतु इत्यादि के अनुसार यद्यपि ये खर्च घटते-बढ़ते रहते हैं किन्तु साधारणतः उनका कुल विक्रय व्यय में २८ प्रतिशत भाग समझा जा सकता है। सड़कों के अच्छे होने से इसमें थोड़ी कमी और उनके बुरे होने से कुछ वृद्धि हो सकती है। भारत में खेतों से गाँवों तक और गाँवों से निकटवर्ती मण्डियों अथवा बिक्री-केन्द्रों तक सड़कों की बड़ी दुर्दशा है। ऊबड़-खाबड़ गाड़ी की लीकें जिनमें कहीं दलदल है तो कहीं गहरे गड्ढे और रेतीली पगडण्डियाँ ही अनेक स्थानों पर आवागमन के साधन हैं। खेतों

से गाँवो तक जाने के लिए तो बहुधा घुमावदार और तंग पगडण्डियाँ ही हैं जिन्हें सड़क अथवा मार्ग की संज्ञा कठिनाई से दी जा सकती है। इसी भाँति गाँवो से निकटवर्ती मण्डियो को कच्ची सडकें अथवा पैदल मार्ग है। ऐसे मार्गों पर आधुनिक गाड़ियाँ नही ले जाई जा सकती। अतएव कृषि उपज को सिर पर रख कर, लदैनू जानवरो की पीठ पर लाद कर अथवा बैलगाडी द्वारा बाजार तक ले जाया जाता है जिससे समय भी बहुत लगता है और खर्च भी बहुत पडता है। ऐसी सड़को पर बैलगाडी का ही प्रयोग किया जाता है। कच्ची सडको पर जानवरो का प्रयोग अधिक किया जाता है और विशेषत: वर्षा ऋतु मे जब कि पानी अथवा दलदल द्वारा बैलगाडी का चलना सर्वथा असम्भव हो जाता है। ऐसी सडको के स्थान पर यदि पक्की सडकें बन सकें तो परिवहन व्यय मे भारी कमी हो सकती है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

विभिन्न परिवहन के साधनों द्वारा होने वाला लगभग व्यय

वस्तु	सिर पर रख कर	जानवरो से	बैलगाडी से	मोटरलारी से
	रु. आ. पा.	रु. आ. पा	रु. आ. पा.	रु. आ. पा.
कहवा (प्रति टन मील)	२—६—६	१—१—० से १-१४—० तक	४ आने से ८ आने तक	३½ आने से ५ आने तक
अंगूर (प्रति मन प्रति मील)	०-१-१·७	—	१२·७ पाई	६ पाई से १ आने तक

उक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि यदि कच्ची सडक के स्थान पर पक्की सड़क हो जिस पर बैलगाडी के स्थान पर मोटर गाडी चल सके तो कहवा के परिवहन-व्यय मे १२·५ से ६२·५ प्रतिशत तक और अंगूर के व्यय मे ६ से ५३ प्रतिशत तक कमी हो सकती है।[1] इसी भाँति गेहूँ के सम्बन्ध मे कच्ची और पक्की सड़को पर परिवहन व्यय १९३७ मे इस भाँति आंका गया था :—

परिवहन व्यय प्रति मील प्रति मन पाइयों में[2]

प्रान्त	कच्ची सडको पर	पक्की सड़को पर
पंजाब	१·६	१·२५
उत्तर प्रदेश	१ से ४	१ से २
बम्बई	२ से ३	२
बिहार	६	४

1. संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे कच्ची सडको पर बैलगाडी द्वारा एक टन माल एक मील ले जाने मे ६८ सेंट व्यय होता है, किन्तु पक्की सडको पर मोटर ठेले से केवल १० से १५ सेंट व्यय होता है।
Bombay State Transport Review, Vol. VIII, No. 3 (Nov. 1957), p. 155.
2. Report on the Marketing of Wheat in India 1937, p, 237.

यदि हम ऐसे स्थानों को लें जहाँ की सड़कें इतनी खराब हैं कि वहाँ मोटर की तो बात ही क्या है बैलगाड़ी भी नहीं चल सकती और जानवरों अथवा मनुष्यों द्वारा ही माल ढोया जा सकता है तो परिवहन व्यय में इससे कहीं अधिक कमी हो सकेगी जैसा कि ऊपर बताया गया है। इस कथन की सत्यता वास्तविक घटनाओं द्वारा पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है। हमारी उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९५२ में उत्तर के पहाड़ी क्षेत्र में १०० मील लम्बी तनकपुर-पिथौरागढ़ सड़क बनाई। इस सड़क के बनने से पूर्व यहाँ मार्ग इतनी दुर्दशा में थे कि भेड़ों और खच्चरों के अतिरिक्त और किसी साधन द्वारा माल का यातायात असम्भव था। तनकपुर से पिथौरागढ़ तक खच्चरों से माल ले जाने में परिवहन व्यय ९ रुपए प्रति मन पड़ता था। अब पक्की सड़क बन जाने से मोटर ठेलों द्वारा माल ले जाने का भाड़ा केवल ३ रुपए मन लगता है अर्थात् परिवहन व्यय में ६७ प्रतिशत की कमी हो गई है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि परिवहन व्यय में लगभग ८ से १० लाख रुपए प्रति वर्ष की बचत हो गई है। समय की जो बचत हुई है उसका तो कुछ कहना ही नहीं है। सड़क बनने से पूर्व माल के तनकपुर से पिथौरागढ़ पहुँचने में चार दिन लगते थे। अब केवल एक दिन लगता है।

अधिकतर कच्ची सड़कें वर्ष के कुछ ही महीने ठीक रहती हैं। गर्मियों में रेत और वर्षा ऋतु में कीचड़ इतना हो जाता है कि गाड़ियों का आवागमन एक दूभर कार्य हो जाता है। वर्षा ऋतु में तो अनेक सड़कें पानी में डूब जाती हैं और उन पर यातायात सर्वथा बन्द हो जाता है। बम्बई की आर्थिक व औद्योगिक सर्वेक्षण समिति (Economic and Industrial Survey Committee) के अनुसार बम्बई राज्य में ४० प्रतिशत क्षेत्र ऐसा है जिसमें किसी प्रकार की सड़कों की सेवा उपलब्ध नहीं है। मानसून के समय स्थिति और भी बिगड़ जाती है और लगभग ८० प्रतिशत क्षेत्र किसी भी प्रकार के आवागमन के लिए कट जाता है। इसी भाँति त्रिपुरा और मनीपुर ऐसे राज्य हैं जहाँ साधारणतः किसी भी प्रकार की सड़कों की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में वर्षा ऋतु में परिवहन व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता है। उदाहरणतः गेहूँ का भाड़ा मानसून के समय लगभग दूना हो जाता है।[1]

कृषक को सड़कों के खराब होने के कारण परिवहन व्यय ही अधिक नहीं देना पड़ता, वरन् वह फसल के प्रारम्भ में अच्छे मूल्य पर माल बेचने में भी असमर्थ है जिसके कारण उसे भारी हानि होती है। यदि इन दिनों माल बाजार में जाकर बेचा जा सके तो बहुधा ऊँचे मूल्य पर बिक जाता है किन्तु सारी फसल के बाजार में पहुँचने पर मूल्य गिर जाते हैं। इस समय वह फसल काटने, उसे गाहने-बरसाने इत्यादि कामों में इतना संलग्न रहता है कि उसे बाजार तक जाने की फुरसत नहीं मिल पाती क्योंकि बैलगाड़ी अथवा जानवरों की पीठ पर लाद कर माल मण्डी ले जाने में जो साधारणतः २५-३० मील की दूरी पर होती है उसे कम से कम तीन

1. The Report on the Marketing of Wheat in India 1937, p. 237.

दिन काम बन्द करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसे गाँव में ही जिस मूल्य पर माल बिक जाता है उस पर स्थानीय बनिया या आढ़तिया के हाथ बेचना पड़ता है क्योंकि इस समय उसे रुपए की अत्यन्त आवश्यकता है। भूमि कर देने, विवाहोत्सव मनाने, ऋण चुकाने इत्यादि सभी माँगें उसे इसके लिए बाध्य करती हैं। यदि अच्छी सड़कें हों तो फसल के प्रारम्भिक दिनों में ही माल को अच्छे मूल्य पर बाजार में जाकर बेचा जा सकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कुछ ही घण्टों अथवा एक दिन में काम हो सकता है।

चौपाए पालने वाले कृषक के लिए अच्छी सड़कों और मोटर गाड़ी का विशेष महत्व है, क्योंकि अच्छी नसल के चौपायों को शीघ्रता से बाजार ले जाया जा सकता है और उन्हें मेला अथवा प्रदर्शिनी से शीघ्र उसी दिन वापिस लाया जा सकता है। यान्त्रिक परिवहन की सुविधा के अभाव में उसे जानवरों को पैदल ही लाना व ले जाना पड़ता है। मार्ग में अधिक समय लगने और रात बसने के कारण जानवरों का खान-पान सुचारु रूप से नहीं हो पाता। फलतः उनकी आब चली जाती है और अच्छा मूल्य नहीं मिल पाता। आवश्यकता इस बात की है कि मार्ग में कम समय लगना चाहिए और शीघ्र पहुँचना अथवा लौटना चाहिए।

सड़कें और बड़े उद्योग

उच्च कोटि का औद्योगिक-विकास सड़कों के विकास से सम्बद्ध है। जब तक किसी देश अथवा क्षेत्र में सड़कों का जाल न बिछा हो तब तक कच्चे माल का कारखानों तक और बने हुए माल का उपभोक्ता तक आवश्यकतानुसार लगातार पहुँचना सम्भव नहीं। रेलें, वायुयान अथवा जल यातायात ऐसे साधन हैं जो साधारणत: खान से, कृषि से, वनों से अथवा अन्य प्रकार से उत्पन्न होने वाले हर प्रकार के कच्चे माल के उद्गम तक नहीं पहुँच सकते और बहुधा सड़कों द्वारा ही अनेक स्थानों पर पहुँचना सम्भव है। अतएव उपर्युक्त साधनों के सहायक के रूप में सड़कें अत्यन्त आवश्यक हैं।

उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित करना सड़कों का ही काम है। रेलों को अधिक मात्रा में माल और सवारियों की आवश्यकता पड़ती है। अतएव वे बहुधा उन्हीं स्थानों के लिये लाभदायक सिद्ध होती हैं जहाँ उद्योग धन्धों का केन्द्रीकरण हो। कम विकसित क्षेत्र अथवा ऐसे क्षेत्र जहाँ अनेक उद्योग केन्द्रित नहीं हैं रेलों की परिधि के बाहर रह जाते हैं। वह उनको सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। केवल सड़कें ही ऐसे साधन हैं जो अविकसित आन्तरिक क्षेत्रों में औद्योगिक उन्नति को प्रोत्साहन प्रदान करती हैं।

सड़कें और लघु एवं कुटीर उद्योग

सड़कें और सड़क परिवहन छोटे और कुटीर उद्योगों की वृद्धि के लिए विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि उनकी यातायात सम्बन्धी आवश्यकतायें कम होती हैं जिन्हें रेलें

प्रोत्साहित नही करती। रेले डिब्बे भरे माल के लिए सस्ता भाडा लेती हैं और डिब्बे की सामर्थ्य से थोडे माल पर अधिक। इस भांति वे बडे उद्योगो के प्रति पक्षपात की नीति अपनाती हैं। माल की जितनी मात्रा रेल स जाने के लिए अपर्याप्त होती है वह सडक से माल ले जाने वाले के लिए पर्याप्त होती है। इस प्रकार सडक से थोडा माल रेल की अपेक्षा कम भाडे से और सुविधापूर्वक ले जाया जा सकता है। सस्ते भाडे की अनुपस्थिति म छोटे और कुटीर उद्योगो की बनी हुई सस्ती वस्तुएँ दूर के बाजारो म जाकर बिकनी सम्भव नही। सडक परिवहन की सुविधा मिलने पर अनेको उद्योग फल-फूल सकते है जैसे गुड और शक्कर बनाना, फल और दूध से बनी हुई वस्तुये, खपरैल, ईट, हाथ करघा की बुनाई, धातु का काम, नारियल की जटा से बनी हुई वस्तुएँ, लकडी का सामान और औजार, बेत और बांस का माल, कागज की लुग्दी इत्यादि।

सडके और औद्योगिक साधन

सडको के विकास द्वारा उद्योग-धन्धो को अपने उत्पादन कार्य और परिवहन मे ही सुविधाये नही मिलती, वरन् **अनेक ऐसे सहायक साधन उपलब्ध हो जाते हैं जो उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास के लिए उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं।** उदाहरणार्थ, केन्द्रीय औद्योगिक परामर्शदात्री समिति (Central Advisory Council of Industries) ने जुलाई १९४९ म औद्योगिक प्रगति के लिए एक यह सुझाव दिया था कि लोगो म बचत और विनियोग (Investment) की आदत डालने के लिए यह आवश्यक है कि देश के प्रमुख पाँच छ म से प्रत्येक वाणिज्य बैंक को ग्रामीण क्षेत्र मे अपनी अपनी लगभग २०० शाखाये स्थापित करने की प्रेरणा दी जाए। इस पर गम्भीरता से विचार करने पर बैंको और सडको के पारस्परिक सम्बन्ध का पता लग जाएगा। देश के ५½ लाख गाँवो से पूँजी-सचय सडको की सहायता से ही सभव है। यह स्पष्ट है कि य हजार-बारह सौ बैंको की शाखायें वर्तमान बैंको के अतिरिक्त नई सस्थाये होगी। इनको उन छोटे छोटे नगरो मे स्थापित करना पडेगा जहाँ पर सडके बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि हम साढे पाँच लाख गाँवो मे से प्रत्येक मे बैंक या उसकी शाखा स्थापित नही कर सकते। अत: हमे इनके लिए निकटवर्ती छोटे नगरो को ही प्रधानता देनी पडेगी जहाँ जाकर आस-पास के गाँवो के लोग रुपया जमा कर सके। ऐसी स्थिति म यदि गाँवो और उन नगरो के बीच जिन मे बैंको की स्थापना की जाती है, अच्छी और वर्ष भर काम आने वाली सडकें नही हैं तो बडी कठिनाई का सामना करना पडेगा, न तो गाँव वाले ही रुपया जमा करने और निकालने के लिए सरलता से आ जा सकेंगे और न बैंको को ही अपना कार्य सुविधापूर्वक चलाना सम्भव हो सकेगा। अत इस प्रकार की सारी योजना सडको के अभाव मे असफल सिद्ध होगी।[5]

औद्योगिक उन्नति के लिए बीमा महत्वपूर्ण सहायक साधन है **और ग्रामीण क्षेत्र मे बीमा सुविधाएँ बढ़ाकर बचत की भावना तीव्रतर की जा सकती है।**

पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्र में श्रम को उच्च कोटि की गतिशीलता सड़कों के विकास द्वारा ही संभव है।

ध्यानपूर्वक देखें तो सड़कों और अन्य उत्पादन के साधनों में भी इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अतएव यह बात सत्य है कि **वर्ष भर काम आने वाली पर्याप्त पक्की सडकें छोटे और बड़े सभी उद्योगों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने और आर्थिक प्रगति के लिए परम आवश्यक हैं।**

अन्य आर्थिक लाभ

आवश्यकता से अधिक और कम उत्पादन वाले दो स्थानों के मूल्य में भारी अन्तर का एक मात्र प्रमुख कारण वस्तुओं का परिवहन व्यय है। उदाहरणार्थ सन् १९३७ में गेहूँ के लायलपुर के भाव में कलकत्ता के भाव से १ रु० १ आ० ७ पा० का अन्तर पाया गया था जिसमें से १ रु० ४ पाई का अन्तर केवल परिवहन व्यय के कारण था।[1] यदि सडकें अच्छी हों तो मूल्य का यह अन्तर कम हो जाता है और दो स्थानों के मूल्यों में समानता स्थापित हो जाती है।

अकाल रक्षा—अकालों से पीड़ितों की रक्षा करने अथवा अकालों के भयावह प्रभाव को कम करने में सड़कों और सडक परिवहन का स्थान कम महत्व का नहीं है। भूखों को अन्न पहुँचा कर, रोगियों को दवा-दारू का प्रबन्ध करके वे महान उपकार करती है। यह हमारे दुर्भाग्य की बात है कि देश के किसी न किसी भाग में प्रति वर्ष अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और इसका कारण यह नहीं कि खाद्यान्न की हमारे पास कमी है, वरन् इसका प्रमुख कारण क्षेत्रीय कमी है अर्थात् एक क्षेत्र में अन्न की प्रचुरता है तो दूसरे क्षेत्र में उसका भारी अभाव। जहाँ उपयुक्त मात्रा में अच्छी सडकें नहीं है अथवा वे इतनी खराब हैं कि उनसे ले जाने में माल का भाडा ले जाने वाले की देय-शक्ति से भी अधिक बढ़ जाता है, तो ऐसी स्थिति में सडकें उन अकाल पीड़ित क्षेत्रों की उचित सेवा करने में असमर्थ रहती हैं। यदि अच्छी सडकें हों तो माल का विभिन्न क्षेत्रों में वांछित वितरण सम्भव हो सकता है और अकालों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो सकता है।

बेकारी दूर करना—बेकारी दूर करने में भी सडकों का कार्य श्लाघनीय है। अति प्राचीन काल से संकट काल में सडकों ने अनेक अदक्षकर्मियों को काम दे कर बेकारी की समस्या को सुलझाने में सहायता की है। आज भी उनका महत्व कम नहीं हुआ। साथ ही साथ आज के युग में सडक परिवहन सम्बन्धी अनेक उद्योगों में अनेक दक्षकर्मियों को भी काम मिलने लगा है।

राष्ट्रीय फलित आर्थिक गवेषणा परिषद (NCAER) के एक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि सडक परिवहन रेल परिवहन की अपेक्षा दूने लोगों को काम देता है तथा

---

1. Report on the Marketing of Wheat in India. 1937, p. 232.

सडक परिवहन की प्रत्येक क्रिया रेलो की अपेक्षा अधिक लोगो को काम देने में समर्थ है जैसा नीचे के आँकडे वतलाते हैं :—

सडकों और रेलो मे नियोजन (Employment) (लाख)

	सडक	रेल
१. मार्ग निर्माण	६·६१	०·०८
२. मार्ग अनुरक्षण	३·०६	२·७१
३. वाहन सचालन	७·१२	३·७८
४. वाहन अनुरक्षण एव ई धन	४·६२	४·५२
५ सीमान्त सेवाएँ (लादने-उतारने वाले)	१·५६	०·५५
६. परिवहन प्रशासन एव यातायात नियत्रण	०·२४	०·३०
जोड	२३ ५४	११ ६४

यही कारण है कि प्रत्येक देश के जनहितकारी कार्यों में सडको का विशेष स्थान समझा जाता है। इससे दो उद्देश्य लाभ होते हैं। एक तो वेकारो को काम मिलता है और दूसरे कुछ जन-उपयोगी निर्माण कार्यों द्वारा लोगो की क्रय-शक्ति बढाई जाती है। सडको को जन-हितकारी कार्यों मे इतना ऊँचा स्थान मिलने का मुख्य कारण यह है कि उन पर जितना व्यय होता है उसमे मजदूरी का एक बडा भाग होता है। साधारणत कुल व्यय का ७०-७५ प्रतिशत भाग मजदूरी का होता है और केवल २५-३० प्रतिशत व्यय आवश्यक सामग्री पर होता है। कभी-कभी मजदूरी ८५ प्रतिशत होती है। यह इन सडको के बनने के सम्बध मे हैं। यदि पुरानी सडकों की मरम्मत का काम लिया जाए तो मजदूरी का अनुपात और भी अधिक वैठता है। भारतवर्ष जैसे देश म जहाँ की जनसख्या अपार है किंतु लोगो को काम देने के साधन बहुत कम हैं, सडकों का महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक है।

सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का सडक परिवहन उद्योग आज वहाँ के असख्य चालको को काम देता है। इन उद्योगों म मोटरें बनाने के कारखाने, मोटरो के अनेक कल पुर्जे और अग-प्रत्यग बनाने के कारखाने, उनकी मरम्मत की दुकाने, तेल की दुकाने, पैट्रोल साफ करने के कार्यालय, टायर बनाने के कारखाने, साज सामान बनाने की दुकाने, यात्रियों को सुविधा देने वाली सस्थायें, मोटरो के होटल इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

सड़कें और आर्थिक आयोजन—आज देश भौतिक और आध्यात्मिक पुन-र्निर्माण के कार्यों मे लगा है। सरिताओं के जल का सदुपयोग करने, कृषि के आधुनिकीकरण, और औद्योगिक उत्थान की अनेक योजनायें बनाई गई हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी महत्वपूर्ण योजना के सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए सडको को प्राथमिकता मिलनी आवश्यक है। सडको के इस महत्व को ध्यान मे रख कर ही १६ जुलाई १९५२ को प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली

के निकट सडक अन्वेषणालय (Road Research Institute) का उद्घाटन करते समय कहा था कि इस देश मे सड़को के निर्माण कार्य को सर्वोपरि पूर्वाधिकार मिलना चाहिए।

परिवहन के अन्य साधनों की पूरक—सडक निर्माण समाज की प्रारम्भिक आवश्यकता पूर्ति करता है क्योंकि अन्य सभी परिवहन के साधनों की सफलता एकमात्र सडक परिवहन पर निर्भर है। रेले, जलमार्ग, वायुमार्ग इत्यादि सभी परिवहन के साधनो की पोषक सडके हैं। रेल स्टेशन, हवाई अड्डे, बन्दरगाह अथवा नदी व नहर के घाट तक माल व सवारियाँ सडक मार्ग से ही पहुँच पाती है और निर्दिष्ट स्थान पर उनका पहुँचना भी सडक द्वारा ही सम्भव है। जलमार्गों और वायुमार्गों मे से कोई भी माल को भेजने वाले अथवा पाने वाले के द्वार तक पहुँचाने की क्षमता नही रखते। रेलें इस प्रकार की कुछ क्षमता अवश्य रखती हैं किन्तु इसके लिए विशेष प्रबन्ध करना होता है और अपार धन व्यय की आवश्यकता पडती है, किन्तु सडके प्रत्येक स्थान तक जा सकती है। अत: वे घर-घर अपनी सेवा प्रदान करने मे पूर्णत: समर्थ है।

कभी-कभी विभिन्न परिवहन के साधनो को एक दूसरे का प्रतियोगी समझने की भूल की जाती है, परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवहन के विभिन्न साधन समाज की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं और उनमे परस्पर प्रतियोगिता की कोई सम्भावना नही है। विश्व का अमीर से अमीर राष्ट्र भी एक क्षेत्र मे दुहरे-तिहरे परिवहन के साधन रखने की भूल नही कर सकता, फिर भारत जैसे कगाल देश का तो कहना ही क्या है। अतएव एक साधन द्वारा दूसरे के विनाश का कोई प्रश्न ही नही उठता। हाँ, एक साधन दूसरे का आंशिक अपहरण करके उसका स्थानापन्न अवश्य हो सकता है और बहुधा यही देखने मे आता है कि एक साधन के साथ-साथ दूसरे साधन भी कार्य करते है। किन्तु एक से अधिक साधनो का एक ही क्षेत्र मे विद्यमान होना एक स्वस्थ घटना ही कही जा सकती है क्योंकि ऐसी स्थिति मे एक साधन दूसरे की कार्यपटुता पर दृष्टि रखकर उसे सदैव सतर्क रखना है और उनकी कार्यपटुता कम नहीं होने पाती ; वरन् उत्तरोत्तर बढती हो जाती है। इसका परिणाम यह भी होता है कि कोई भी साधन किसी भी क्षेत्र मे एकाधिकार प्राप्त कर मनमानी नीति नही अपना सकता। इन दोनो स्थितियों से जनता को लाभ होता है।

सार्वजनिक मार्ग—सडको से एक बडा लाभ यह भी है कि वे बिजली और टेलीफोन के तारो तथा पानी के नलो के लिये आवश्यक मार्ग प्रदान करती हैं। यदि सड़कें ये सुविधा न प्रदान करे तो बिजली व टेलीफोन के तार और पानी के नल लगाने के लिये अलग से मार्ग प्राप्त करना पड़े जिसमे अपार कठिनाइयो का सामना करना पडे और अमित धन व्यय करना पड़े तथा उनकी सेवा का मूल्य बहुत बढ जाए।

व्यापारिक विस्तार, बैंकों की व्यवस्था तथा बीमा के विकास के लिये भी सडकों का महत्व कम नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आर्थिक कार्यक्रम की सफलता के लिये अच्छी सडकों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

माल ढोने वालों की मितव्ययता—चाहे हम बैलगाडी को ले चाहे मोटर को, इसमें सन्देह नहीं कि बुरी सडकों के कारण प्रति मील पर हम माल ढोने में दो आना से पाँच आना तक अधिक व्यय करना पडता है।[1] भारतीय सडक और परिवहन विकास संस्था द्वारा यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में आधुनिक सडकों के अभाव के कारण हमें माल के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में प्रतिवर्ष ६० करोड रुपए अधिक व्यय करने पडते हैं। इस व्यय का एक बडा भाग कच्ची सडकों पर बैलगाडियों द्वारा माल ढोने के कारण उनके संचालन का व्यय है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रत्येक मील पर बैलगाडी अथवा मोटर को बुरी सडकों पर चलाने में दो आने से पांच आने तक अधिक व्यय करना पडता है। यदि अच्छी सडकें हों तो यह व्यर्थ व्यय न करना पडे। मोटर गाडियों के टैक्स के सम्बन्ध में नियुक्त समिति (The Motor Vehicle Taxation Enquiry Committee) ने बताया है कि देश में अच्छी सडकों की व्यवस्था के अभाव में आजकल प्रतिवर्ष केवल मोटर-गाडियों के संचालन में हम दस करोड रुपए अधिक व्यय करने पडते हैं। इन बातों से हम उस अमेरिकी कहावत की सत्यता स्पष्ट हो जाती है जिसमें कहा गया है कि "हम अच्छी सडकों का मूल्य अवश्य चुकाना पडता है, चाहे वे आपके देश में हों या न हों—और यदि आपके यहां अच्छी सडकें नहीं हैं तो आपको उनके लिए और भी अधिक मूल्य चुकाना पडता है।"

अच्छी सडकों के कारण माल ढोने वालों के लिए संचालन-व्यय में ही कमी नहीं हो जाती वरन् उनका बहुत-सा अमूल्य समय बच जाता है क्योंकि अच्छी सडकों पर गाडियां थोडे परिश्रम द्वारा अधिक चाल से चल सकती हैं। गाडियों के अवमूल्यन (Depreciation) व्यय में भी कमी हो जाती है क्योंकि अच्छी सडकों पर गाडियों में टूट-फूट कम होती है और उनका जीवन काल बढ जाता है।

सरकारी विनियोग—जहाँ जितनी ही अधिक अच्छी सडकें होंगी वहाँ उतना ही आर्थिक उत्थान अधिक होगा। अधिकाधिक आर्थिक उत्थान से उत्पादन वृद्धि होगी जिससे समाज का धन वैभव बढेगा। समाज में धन सम्पदा वृद्धि का भाग सरकार को भी मिलेगा। इस भांति सडकों के निर्माण से सरकारी कोष में अधिक धन संचय की सम्भावना हो जाती है। कृषि, व्यापार व व्यवसाय से अधिकाधिक आय सरकार को प्राप्त होती है। व्यापार-व्यवसाय की उन्नति के कारण अधिक संख्या में मोटर-

1. The Indian Roads and Transport Development Association Ltd. —Monthly News Letter, Vol. XX, No. 11 (Nov. 1951), p. 2

गाडियो की आवश्यकता होती है जिसके फलस्वरूप सरकार को अधिक कर मिलता है। अधिक मोटर-गाडियो के चलने से पैट्रोल का उपयोग अधिकाधिक होता है जिससे तत्सम्बन्धी कर-वृद्धि होती है। सन् १९५७-५८ में सडकों का उपयोग करने वालो ने सरकारी कोष मे १३३·५५ करोड रुपए दिए। इसमें से सडक परिवहन सम्बन्धी व्यय निकाल दें तो सरकारी कोष मे जाने वाली शुद्ध आय ६५·५५ करोड़ रुपए होती है।

इन आँकडो से स्पष्ट प्रकट होता है कि सडक-निर्माण सरकार के लिए एक महत्वपूर्ण विनियोग है जितना कि संभवत: रेलें और दूसरे वाणिज्य-व्यवसाय भी नही है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रत्येक मोटर-गाडी के सडक पर आने से सरकारी कोष मे १०००) से भी अधिक की वार्षिक आय होती है।[1]

सामाजिक महत्व—सड़को से होने वाले आर्थिक लाभ के साथ-साथ हमे उनसे होने वाले सामाजिक एवं सास्कृतिक लाभो पर भी विचार कर लेना चाहिए। सर्व-प्रथम हम **सामाजिक स्वास्थ्य** को लेते हैं। शहरो से दूर गाँवो मे बसने वाले लोगों को हमारे देश मे जीवन के सामान्य साधन भी उपलब्ध नही है। अनेक गाँवो मे चिकित्सा सम्बन्धी कोई सुविधाये नही हैं। प्रसूति-सहायता का सर्वथा अभाव है; शिशुओ की मृत्यु-संख्या अत्यधिक है; संक्रामक रोगो का विनाशकारी भय बना रहता है। चिकित्सा सम्बन्धी सडको के महत्व को समझने के लिए हमे ग्रामीण जीवन की दैनिक घटनाओ पर दृष्टिपात करना चाहिए। भयानक ज्वर से पीडित बच्चे को गोद मे लिए हुए एक नवयुवक रेतीली एवं ऊबड-खाबड सडको से धीरे-धीरे पैदल यात्रा करके अथवा एक मरणासन्न घायल युवक को बैलगाडी मे डालकर मन्द गति से डाक्टर की खोज मे निकटवर्ती शहर की ओर जा रहा है। रास्ता लम्बा है; चाल धीमी है, तेज धूप, कडी शीत, वेगवती वायु अथवा वर्षा के कारण रोगी की दशा और भी गिर जाती है। डाक्टर तक पहुंचते-पहुंचते रोग काबू से बाहर हो जाता है और उसे सर धुनते, हाथ मलते घर लौटना पडता है। यदि अच्छी सडके हो जिन पर तेज सवारियाँ चल सके तो तुरन्त रोगी को डाक्टर के पास ले जाया जा सकता है और उसके प्राण बचाए जा सकते है।

सन् १९४३-४४ मे भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी जिसे यह कार्य सुपुर्द किया गया था कि वह देश के विभिन्न भागो में घूम-घूम कर इस बात की खोजबीन करे कि लोगो की चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताये कितनी हैं तथा जन-स्वास्थ्य सुधार के लिए सरकार को क्या करना चाहिए। इस समिति ने जो मुख्य बात कही थी वह यह थी कि प्रत्येक राज्य के केन्द्रीय नगर और उस राज्य के प्रत्येक जिले के मुख्य-मुख्य नगरो के बीच मे आवागमन के उपयुक्त साधन होने चाहियें।

---

1. The Indian Roads and Transport Development Association—Monthly News Letter, Vol. XX, No. 7 (July 1951), p. 1.

साथ ही साथ जिले के शहरों को तहसीलो के शहरो को जोडने वाली सडके होनी चाहिये। उक्त समिति ने यह भी कहा था कि स्वास्थ्य सुधार के लिए यह भी आवश्यक है कि तहसीलो के शहर प्रत्येक ग्राम्य समूह के केन्द्रो से मिले हुए होने चाहिये। कारण स्पष्ट है। मान लो हमे गांवो म बिखरी हुई लगभग ५० हजार जनसख्या को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता पहुँचानी है। यदि अच्छी सडके हो तो केवल एक ही केन्द्र से थोडे से कर्मचारियो की सहायता से सारे क्षेत्र को सरलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। किन्तु आजकल जैसी सडको की दशा है उसे देखते हुए हमे उतने ही क्षेत्र मे कम से कम पाँच छ केन्द्र स्थापित करने होगे और कई गुने अधिक कर्मचारी रखने होगे, जिन पर कम से कम दस गुना अधिक व्यय करना पडेगा। एक ही केन्द्र से सहायता पहुँचाई जाए तो सेवा का मापदण्ड भी अच्छा होगा।

अच्छी सडको के क्षेत्र मे मोटर-कार के द्वारा एक विशेषज्ञ डाक्टर कहीं बड़े क्षेत्र मे भ्रमण कर सकता और कहीं अधिक जनता की सेवा कर सकता है जितना कि सडको के अभाव मे असम्भव है।

चोडी और अच्छी सड़कें स्वस्थ वातावरण और स्वच्छता की सूचक हैं और तग गलियाँ और घनी आबादी से जाते वाली सडके अस्वास्थ्यकर और गदगी की द्योतक हैं। यही कारण है कि आधुनिक जितनी नगर-निर्माण की योजनायें बनाई जाती हैं उनम चौडी और अच्छी सडको को प्राथमिक स्थान दिया जाता है।

आधुनिक सभ्यता के सम्मुख जो **गम्भीर सामाजिक समस्यायें** उपस्थित हैं उनका हल भी सडक परिवहन के विकास द्वारा सरलता से सम्भव है। लन्दन, न्यूयार्क, शिकागो, पेरिस, बम्बई, कलकत्ता इत्यादि बडे-बडे शहरो क बसने से इतनी आर्थिक एव सामाजिक समस्याय समाज के सम्मुख आ उपस्थित हुई हैं कि जिनका कही अत नही। इनका एकमात्र हल जनसख्या के छोटे छोटे स्वत पूर्ण शहरो म बाँट देना है जहाँ पर कि उनके अपने जीवनयापन के सभी साधन उपलब्ध हो। यह तभी सभव है जबकि हम अच्छी सडकें बना दें और जनता के लिए सरल साधन उपलब्ध कर सकें।

सडकें ज्ञान स्रोत हैं। जो देश अपनी अधिकाधिक जनसख्या को शिक्षित देखना चाहता है उसको चाहिए कि गाँव-गाँव म सुविधाजनक परिवहन के साधन उपस्थित करे। भारत की जनसख्या का एक बडा भाग अशिक्षित एव कूप मण्डूक है। इसका कारण यही है कि हमारे गाँव शहरो से पूर्णत सम्बन्धित नही है। सडको का सुधार होने से ग्रामीण जनता बाहर निकल सकेगी और अपने को शिक्षित बना सकेगी। ग्रामीण बच्चे अधिकाधिक सख्या मे स्कूल जा सकेंगे, **चलते-फिरते पुस्तकालयों, पत्र-पत्रिकाओ द्वारा ग्रामीण जनता तक देश के कोने-कोने से सूचनायें पहुँचाई जा सकेंगी** जिससे कि ग्रामीण लोग समाज के एक सभ्य और

सक्रिय सदस्य बन सकेंगे। देश के अन्य लोगो के साथ सम्पर्क बढाने के कारण हमारी ग्रामीण जनता दूसरे क्षेत्रो को समझने और सराहने लगेगी जिससे राष्ट्रीय एकता बढेगी।

सड़कों के विकास से यात्री यातायात (Tourist Traffic) में अपूर्व वृद्धि हो सकेगी। हमारा देश अपने कला-कौशल और शिल्पकला के लिए ससार मे अग्रणी हैं। हिमाच्छादित हिमालय पर्वत, रमणीय सरिता तट व घाट, सुन्दर झीलें, नदी-घाटियाँ और सघन वन, ऐसे स्थान है जो विदेशी लोगो के लिए अद्भुत आकर्षण उपस्थित करते हैं। यदि हम अच्छी सडको द्वारा विदेशी यात्रियो को यात्रा सुविधायें प्रदान कर सकें तो ऐसे यात्रियो की संख्या बहुत बढ सकेगी। इससे हमे अतिवांछित विदेशी विनिमय लाभ ही नही होगा, वरन् विदेशो मे हमारी प्रतिष्ठा भी बढ सकेगी।

देश के विभाजन के कारण उत्पन्न हुई शरणार्थी समस्या के हल करने मे सडको ने जो योग दिया है वह किसी से छिपा नही है। **सदियो की रूढियो और अन्धविश्वासों को हटाने में भी सड़को ने कम योग नहीं दिया।** बुरी सडके ऐसे बंधन है जो हमें प्राचीनता और रूढियो मे जकडे रहते हैं।

प्रशासनात्मक सुविधायें—चाहे हम किसी देश की सरकार को लें, चाहे किसी व्यापार-व्यवसाय अथवा अन्य इकाई को ले, यह बात निस्सन्देह है कि प्रत्येक क्षेत्र मे प्रशासन सम्बन्धी क्षमता सर्वथा परिवहन की क्षमता पर निर्भर है। यह बात सच है कि रेल, टेलीफोन, तार, वायुयान इत्यादि सभी ने प्रशासन कार्य को सफल बनाने मे सहयोग दिया है और भारत जैसे विस्तृत देश मे शान्ति और रक्षा बनाए रखने मे कुछ उठा नही रखा, किन्तु तो भी **यह बात निर्विवाद है कि स्थानीय प्रशासन में सड़कों का प्रमुख हाथ रहा है।** रोम राज्य का इतना विस्तार इसी कारण हो सका कि रोमवासियो ने देश मे अच्छी सडके बनाने की बुद्धिमत्ता की। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका अपने लम्बे-चौडे मैदानो, रेगिस्तानो और दुर्गम पर्वतीय प्रदेशो के होते हुए भी एक सुसम्बद्ध राष्ट्र है क्योकि उसके राजमार्ग हजारो मीलो चलकर विभिन्न जातियो को परस्पर मिला देते है। भारत भी एक ऐसा ही विस्तृत राष्ट्र है जहाँ बिना अच्छी सडको के सफल शासन नही स्थापित किया जा सकता। दुर्भाग्यवश **यदि देश के किसी भाग मे गृह-युद्ध छिड़ जाता है अथवा साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं तो सड़को के द्वारा ही पुलिस अथवा अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सेना के सिपाहियों की गति बढ़ाई जा सकती है।** अच्छी आधुनिक सड़को पर पूर्ण चाल से जाने वाली **मोटर गाड़ियों द्वारा भीषण-अग्निकाण्डो से बड़े नगरों मे बचाव सरल है।** शासन सम्बन्धी गडबड को समझने मे हमे तनिक भी कठिनाई नही होगी यदि हम थोडी देर के लिए यह मान लें कि किसी क्षेत्र में सडके खराब होने से दफ्तर के प्रत्येक कर्मचारी को समय पर पहुँचना कठिन ही नही असम्भव है। सडक के अवरुद्ध हो जाने के कारण सरकारी अफसर की मोटरकार मार्ग मे रुक जाती है; दफ्तर के बाबू की साईकिल मे पंचर हो जाता है; मार्ग की नहर को पार करते समय दफ्तर के चपरासी के हाथ से फाइलों का गट्ठा

ज तमग्न हो कर भीग जाता है। इस प्रकार का अनेक कठिनाइयां समय पर पहुंचने म बाधक हो सकती है।

किसी भी देश की प्रतिरक्षा के लिए सडको का महत्व कम नही है। हमारा देश एक विस्तृत देश है जिसम कि प्रत्येक स्थान पर फौजो का प्रतिस्थापन सभव नही है। ऐसी स्थिति म देश को **सफल प्रतिरक्षा तभी सभव है जबकि हम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेनाओं को कम से कम समय मे आक्रान्त क्षेत्रों मे एकत्रित कर सकें। आजकल सशस्त्र सेनायें मशीनो का प्रयोग करती हैं जो कि पहियों पर चलती हैं और पहियो के लिए अच्छी सडको की आवश्यकता है। युद्धक्षेत्र मे वास्तविक मोर्चे पर बढती हुई विजयी सेनाओं की पदगति बढाने का श्रेय सडकों को ही है,** क्योंकि सडको द्वारा ही आवश्यक सामग्री जैसे खाद्य पदार्थ, अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद, सिपाही इत्यादि तत्परता से भेजी जा सकती हैं। ऐसी स्थिति म न तो रेले और न जलमार्ग ही किसी प्रकार सहायक हो सकते है। रातो-रात नई सडके बना कर भी आक्रामक का पीछा किया जा सकता है।

सड़के उत्पादक है

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सभ्यता सडको पर आश्रित है। सारी शिक्षा, सभी स्वास्थ्य सेवायें, आधुनिक कृषि, आर्थिक विकास, इत्यादि विकास और समृद्धि के आवश्यक उपकरण हैं, वे सभी सडक और मोटर गाडी के पिछलग्गू हैं। तो भी लोगो की ऐसी धारणा है कि सडक-निर्माण उत्पादन कार्य नही है। फल यह होता है कि सारे सरकारी कागजो मे सडको का उल्लेख अनुत्पादक विषयो म किया जाता है जिसके फलस्वरूप सडकें बनाने और उनकी वार्षिक मरम्मत के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम रुपया दिया जाता है। हम अब इस धारणा को सर्वथा त्याग देना चाहिए और यह समझना चाहिए कि सडके भी नहरो और नदियों के समान ही उत्पादक हैं।

हाल ही मे भारतीय सडक एव परिवहन विकास संस्था (Indian Roads and Transport Development Association) द्वारा बम्बई के दो क्षेत्रो म (जिनमे से एक नम और एक शुष्क क्षेत्र था) एक सर्वेक्षण (Survey) कार्य किया गया था। उनके उक्त अन्वेषण कार्य से यह सिद्ध हो चुका है कि सडको के विकास से उक्त क्षेत्रो को साधारणतः ११·९७ लाख रुपये के मूल्य के बराबर आर्थिक लाभ हुआ, जबकि सडकें बनाने और उनकी बीस वर्ष तक मरम्मत का व्यय ४·३२ लाख रुपये से अधिक नही था। इन आकडो के लिए यह मान लिया गया है कि सडको पर व्यय होने वाले रुपये को ऋण के रूप म लिया गया था और उस पर ३½ प्रतिशत ब्याज २० वर्ष म चुकता किया गया। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक १०० रु० के लिए जो कि सडको पर व्यय किए गए, समाज के लिए २७७ रु० की उत्पादन-वृद्धि हुई जिसम कि सरकारी कोष को सडक परिवहन के प्रयोग द्वारा होने वाली कर-वृद्धि से

होने वाले लाभ सम्मिलित नहीं हैं और न इसमें वे सब कर सम्मिलित हैं जो इस समय भी सडकों पर किए जाने वाले व्यय के लगभग दुगुने है। सडकें बनने से कुछ और भी लाभ है जैसे रेलो और अन्य परिवहन के साधनों को अधिकाधिक यातायात (Traffic) मिल सकेगा ; गांवो के लिए मार्ग खुल जाने से लोगों को भौतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त हो सकेंगे।

इससे प्रगट होता है कि सडके अपने व्यय को चुकता कर देती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। अत: सडको पर रुपया खर्च करना एक अच्छा विनियोग है। अनेक समृद्धशाली देशों का अनुभव हमें यह बताता है कि यदि भली-भाँति सडकों की योजनायें बनाई जाये तो वे अवश्य किसी भी अन्य उत्पादक सम्पत्ति की भाँति उत्पादक सिद्ध होंगी। यदि किन्ही विषम परिस्थितियों में ऐसा सम्भव नही है तो कम से कम वे स्वावलम्बी तो अवश्य ही हो सकेंगी और किसी भी दशा मे देश के राजस्व के लिए भार स्वरूप नही सिद्ध होगी।

इस प्रकार हम कह सकते है कि देश की उन्नति और समृद्धि, शिक्षा-दीक्षा, व्यक्तिगत सुरक्षा, सामाजिक एकता, एवं समता, शान्ति, सन्तोष और सास्कृतिक विकास एकमात्र सडको पर निर्भर है। अत: सडको का निर्माण और उनका उपचार एक देश सेवा और सामाजिक कार्य है। इन तथ्य को समझ कर प्रत्येक देशभक्त का यह कर्तव्य है कि वह सडको के निर्माण और विकास मे तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग दे।

अध्याय २०

सड़क परिवहन का महत्व

(Characteristics of Road Transport)

सड़क परिवहन समाज की एक प्रारम्भिक एव मूल-भूत आवश्यकता की पूर्ति करता है। जैसे अन्न-जल जीवनयापन के लिए अनिवार्य हैं, उसी भांति सड़क परिवहन माल और मानव के स्थानान्तर के लिए आवश्यक है। रेल यात्रा के लिए हम मोटर, तांगा, इक्का, बैलगाडी रिक्शा इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। यही बात जल एव वायु परिवहन के सम्बन्ध मे सत्य है। आज भी विश्व म ऐसे स्थान मिलते हैं जहाँ रेल, नाव, जहाज अथवा वायुयान का प्रयोग नही होता, किन्तु ऐसा एक भी स्थल हम नही मिलेगा जहाँ किसी न किसी प्रकार की सडक पर चलने वाली गाडी का प्रयोग न होता हो।

विचारपूर्वक देखा जाए तो प्रत्येक परिवहन के साधन का अपना अलग क्षेत्र होता है जिसम कि वह दूसरो की अपेक्षा सस्ती सेवा प्रदान करने की क्षमता रखता है। एक का जहाँ अन्त होता है वहाँ दूसरे का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। रेतीली, कंकरीली-पथरीली, दलदली व उबड-खाबड सड़को पर, तग गलियो म, एव १५ मील या उससे भी कम दूरी के लिए, बैलगाडी, इक्के-तांगे, इत्यादि का महत्व अधिक है, ऐसे स्थान पर मोटर काम नही दे सकती। किंतु आधुनिक सडको पर और पचास मील तक की दूरी के लिए मोटर गाडी का क्षेत्र समझना चाहिए। अत्यन्त भारी और बडे आकार की वस्तुओ के लिए और पचास मील से अधिक दूरी के लिए रेल की सेवा सस्ती और अधिक उपयोगी समझी जाती है। विरले बसे हुए प्रदेशो म रेल के लिए पर्याप्त यातायात न हो तो मोटर की सेवा वाछनीय होगी।

सडक परिवहन का अपना अलग क्षेत्र है और उसकी अपनी अलग विशेषतायें हैं जिनके कारण उस क्षेत्र म उसका महत्व अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक समझा जाता है। उनम से कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओ का उल्लेख नीचे किया जाता है।

लचक (Flexibilty)

लचक से तात्पर्य आवश्यकतानुसार सेवा का घटा-बढ़ी की सुविधा है। सडक वाहन के अन्य वाहनो की अपेक्षा छोटे होने के कारण उसम माग की घटा-बढ़ी के

अनुसार आवश्यक समायोजन सहज संभव है। सडक की पहुँच प्रत्येक स्थान तक है। **वह गली-गली, घर घर और प्रत्येक हाट-बाट को मिलाती है।** अतः आवश्यकता पड़ने पर मोटर, तांगे अथवा गाड़ी को घर या गोदाम के द्वार तक ले जा सकते हैं और माल अथवा सवारी को उतार व चढा सकते है। यह सुविधा रेल, जल अथवा वायु परिवहन मे प्राप्त नही है। इनका अपना विशेष मार्ग होता है और गाड़ी (Vehicle) उस मार्ग से सर्वथा सम्बद्ध होता है। जहाँ उनका मार्ग नही है वहाँ गाड़ी नही ले जाई जा सकती। **रेल पटरी से नीचे उतर कर एक इंच भी नहीं चल सकती; इसी प्रकार नाव या जहाज भी। किन्तु सडक पर चलने वाली मोटर, तांगा अथवा बैल-गाड़ी इत्यादि के लिए इतना भारी बन्धन उपस्थित नहीं होता।** साधारणतः मोटर पक्की सडक पर चलती है, किन्तु आवश्यकता पडने पर उसे हम कच्ची और बुरी सड़क पर ले जा कर परेषणी (Consignee) को अधिक से अधिक सुविधा दे सकते हैं। यह एक ऐसा गुण है जिसके कारण सडक परिवहन का महत्व रेल से अधिक है और जहाँ शीघ्रता से व्यक्तिगत सेवा करने का प्रश्न उठता है वहाँ अन्य साधनो की अपेक्षा सडक परिवहन को प्रधानता दी जाती है। सडक परिवहन की लचक गाड़ी के प्रकार और सड़क की दशा द्वारा सीमित अवश्य है। बहुत तंग और घुमावदार गलियो मे मोटर नही जा सकती किन्तु रिक्षा, तांगा अथवा इक्का जा सकता है। कच्ची, रेतीली, दलदली सडको पर बैलगाडी अधिक सुविधाजनक समझी जाती है।

हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि रेल और जल की सेवा को सडक की भाँति लचकदार बनाने के लिए अथवा उनसे व्यक्तिगत सेवा लेने के लिए पार्श्वपथ (Siding) और अड्डे (Terminals) की आवश्यकता पडती है जिनमे बहुत खर्च होता है, किन्तु सडक के लिए ऐसे किसी विशेष प्रकार के प्रबन्ध और व्यय की आवश्यकता नही पडती। यही कारण है कि **जहाँ अन्य साधनों के लिए माल अथवा सवारी को गाड़ी (Vehicle) के पास ले जाया जाता है वहाँ सड़क परिवहन मे गाड़ी को माल और सवारी के पास ले जाया जा सकता है।** इसी सुविधा के कारण माल को कारखाने, गोदाम अथवा उत्पादन केन्द्र से उठाया जा सकता है और परेषणी के इच्छानुसार उसके द्वार पर उतारा जा सकता है। सवारियो के लिए भी इससे बडी भारी सुविधा होती है।

स्वतन्त्रता (Freedom)

दूसरा विशेष गुण जो सडक परिवहन मे पाया जाता है वह उसकी स्वतन्त्रता है। **स्वतन्त्रता से तात्पर्य इच्छानुसार मार्ग अथवा सेवा परिवर्तन की सुविधा से है।** सडक का क्षेत्र विस्तृत होता है। **यदि एक मार्ग पर गाड़ी चलाना लाभदायक सिद्ध नहीं होता तो हम दूसरे मार्ग पर गाड़ी को ले जा सकते है।** चाहे हम आगरा-दिल्ली मार्ग पर गाडी चलायें, चाहे आगरा-एटा अथवा आगरा-कानपुर पर। इसमे गाड़ीवान सर्वथा स्वतन्त्र है। यह सुविधा रेल परिवहन मे प्राप्त नही है, क्योंकि उसके मार्ग

बनाने मे और उसे सुसज्जित करने मे इतना व्यय होता है कि यदि एक मार्ग लाभप्रद सिद्ध नही होता तो दूसरे मार्ग पर रेलगाडी चलाने के लिए हमे सारे साज-सामान को उखाड कर अन्यत्र लगाना होगा जिसमे कि इतना व्यय होगा जो कि साधारणत: एक असम्भव कार्य ही है। सडक परिवहन के मार्ग परिवर्तन मे इतनी कठिनाई उपस्थित नही होती और न विशेष व्यय करना पडता है। जो सडक खाली दिखाई दे और जहाँ लाभ होने की सम्भावना हो वहाँ का लाइसेंस (Licence) बदला जा सकता है।

इसी प्रकार सेवा परिवर्तन की सुविधा भी है। गाडी को चाहे हम सवारियो के लिए प्रयोग करें, चाहे माल के लिए। इसमे बहुत थाडे रूप परिवर्तन की आवश्यकता है, वही गाडी यथासम्भव काम दे सकती है। जिस गाडी से हम अनाज ढोते हैं उससे कोयला, ककड, पत्थर, ईंट, चूना इत्यादि कोई भी माल ढो सकते हैं यहाँ तक कि द्रव पदार्थ भी ढो सकते हैं। किन्तु रेल अथवा अन्य साधन की सेवा मे ये परिवर्तन और सुविधाये प्राप्त नही हैं। मालगाडी के डिब्बे और इञ्जन सवारी गाडी के डिब्बे और इजनो से भिन्न होते हैं। एक का दूसरे मे परिवर्तन व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है। फिर माल के डिब्बे भी अलग-अलग माल के लिए अलग-अलग होते हैं। लकडी, कोयला, ईट, पत्थर इत्यादि के लिए खुले डिब्बे होते है, अन्न, वस्त्र, इत्यादि के लिए बन्द छत वाले डिब्बे और द्रव पदार्थों के लिए टंकी वाले विशेष प्रकार के डिब्बे होते है।

पूर्ण सेवा (Completed Service)

सडक की गाडियाँ पूर्ण सेवा प्रदान करती हैं और माल को भेजने वाले की सुविधानुसार उसके स्थान से उठाकर पाने वाले की दुकान पर या गोदाम में उतार देती हैं। बीच मे माल के उतारने-चढाने की अथवा वाहक के बदलने की कोई आवश्यकता नही पडती। सारे मार्ग म एक ही व्यक्ति का उत्तरदायित्व रहता है। अन्य परिवहन के साधनो म यह बात नही है। भेजने वाला माल को गाडी, ठेला अथवा कुलियो द्वारा स्टेशन अथवा अड्डे पर पहुँचावेगा और उसे रेल अथवा जहाज के स्वामियो के सुपुर्द करेगा। ये लोग उसे ले जा कर अन्तिम स्टेशन अथवा बन्दर पर छोड देगे जहाँ से फिर अन्य साधन की आवश्यकता पडेगी। तब माल निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचेगा। कही-कही रेले सडको का स्वामित्व प्राप्त कर ऐसी पूर्ण सेवा प्रदान करती हैं किंतु अपने देश मे ऐसा प्रबन्ध बहुत कम है। एक ही अभिकर्त्ता द्वारा पूर्ण सेवा करने से बडा लाभ यह होता है कि माल शीघ्र यथास्थान पहुच जाता है और उसकी टूट-फूट और खराब होने की कम संभावना होती है।

सस्ती सेवा (Cheap Service)

थोडी दूरी के लिए अपेक्षाकृत थोडा माल ले जाने के लिए सडक सर्वोत्तम एवं सस्ता साधन है। दक्षिणी भारत मे एक मन माल को पांच-छ: दिन मे ३०० मील भेजने का रेल-भाडा सड़क-भाडे से तीन गुना अधिक होता है। इसके कई कारण

है। सड़क बनाना, उसकी मरम्मत और गाड़ी का संचालन अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सस्ता पड़ता है। रेल की अपेक्षा सडक बनाने का खर्च बहुत कम होता है। कारण ? सड़क बनाने का सामान बहुधा स्थानीय होता है जब कि रेल के लिए वह बाहर से मँगाना पडता है जो मँहगा ही नही होता, उसके लाने मे भी खर्च पडता है। सड़क बनाने के लिए उतने चतुर इञ्जीनियरों अथवा श्रमिकों की आवश्यकता नही पड़ती जितनी रेल मे जिनका कि वेतन अपेक्षाकृत अधिक होता है। रेल मार्ग की प्रत्येक वस्तु वैज्ञानिक ढंग से विशेषज्ञों द्वारा बनाई जाती है। यही बात रेल की मरम्मत के लिए सत्य है। दूसरे, रेल मार्ग रेल कम्पनी को स्वयं ही बनाना पड़ता है किन्तु सडक बनाने और उसकी मरम्मत का भार देश की सरकार अथवा समाज पर होता है। उसका गाडीवान से कोई सम्बन्ध नही। जल और वायु परिवहन मे मार्ग प्राकृतिक होता है, तो भी उनकी गाडी का मूल्य सडक की गाडी की अपेक्षा कही अधिक होता है जहाँ सडक की गाडियो का मूल्य कुछ सैकडो अथवा हजारो में होता है वहाँ जहाजो और विमानो का मूल्य लाखो मे और रेल के इञ्जनो व डिब्बों का करोड़ो मे होता है। हाँ, यह बात भी ठीक है सडक की गाड़ियाँ अपेक्षाकृत छोटी होती हैं और थोडा ही माल ले जा सकती हैं। इसी भाँति उनका संचालन-व्यय भी बहुत कम होता है। जल और वायु परिवहन मे प्राकृतिक मार्ग होते हुए भी संचालन व्यय सडक से कई गुना अधिक होता है।

दूसरे साधनो का भाड़ा सडक के भाडे की अपेक्षा इसलिए भी अधिक होता है कि उसमे मार्ग परिवर्तन और अड्डे पर उतारने-चढाने के व्यय भी जुड़ जाते हैं जोकि थोडी दूर के लिए माल ले जाने के प्रति मील भाडे को बहुत बढा देते हैं। रेल का भाडा बहुत अधिक दूरी के लिए कम होता है और थोड़ी दूरी के लिए अधिक। किन्तु सडक का भाडा प्रति मील के हिसाब से होता है अर्थात् कम दूरी के लिए कम और अधिक के लिए अधिक। अतएव भारत जैसे देश मे जहाँ की अधिकांश जनता निर्धन है जिनकी आवश्यकताये कम हैं और बहुधा थोड़ा माल थोड़ी दूरी को ही ले जाना होता है, सडक परिवहन विशेष उपयोगी है।

सुरक्षा (Safety)

माल की सुरक्षा की दृष्टि से सडक परिवहन अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक सुरक्षित समझा जाता है क्योंकि **माल एक व्यक्ति विशेष के सुपुर्द कर दिया जाता है जिसका उत्तरदायित्व सारे रास्ते भर बना रहता है।** अन्य परिवहन के साधनों में माल अनेक हाथो में होकर निकलता है अतएव उतना सुरक्षित नही रह सकता। ऐसी स्थिति मे टूट-फूट का उत्तरदायी कौन है इसका पता लगाना भी कठिन होता है, किन्तु सडक से माल भेजने मे पूर्णत: व्यक्तिगत उत्तरदायित्व होता है। **माल मार्ग के बीच में उतारना-चढ़ाना नहीं पड़ता। इस कारण उसके टूटने-फूटने के अवसर भी सड़क परिवहन मे कम आते हैं** किन्तु अन्य साधनो मे उसे मार्ग मे उतारना-चढाना पड़ता है जिससे उसके टूट-फूट की सम्भावना बढ जाती है।

दुर्घटनाओं की दृष्टि से देखा जाए तो सडक उतनी सुरक्षित नही है जितनी कि रेल अथवा विमान। रेल-पथ एक विशेष मार्ग होता है और गाडी का उसी के अनुरूप होना आवश्यक है। अतएव गाडी और उसके मार्ग को प्रतिक्षण सुरक्षित रखने के प्रयत्न किए जाते हैं। गाडी को एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन को छोडने से पूर्व उसका भली-भाँति निरीक्षण कर लिया जाता है। यही नियम जहाज और विमान के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। सडक की गाडियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का नियम सदैव नही बरता जाता। अतएव उनके मार्ग मे खराब होने और धोखा देने के अवसर अधिक आ सकते हैं। यद्यपि **सडक की दुर्घटनायें उतनी भयानक नहीं होतीं जितनी रेल, जल अथवा वायु परिवहन की**, तो भी यह निर्विवाद है कि सडक पर दुर्घटनाये बहुधा अधिक सख्या मे होती हैं। इसके कई कारण हैं। सडको पर चलने वाली गाडियो के लिए रेल अथवा अन्य साधनो की भाँति पूर्व निश्चित समय-सारणी (Time-Table) नही लागू होती। सडक पर अनेक प्रकार की गाडिया, पैदल यात्री, पशु इत्यादि बिना किसी समय-सारणी के चलते हैं जिससे भीड भाड अधिक हो जाती है और दुर्घटनाओं की सम्भावना बढ जाती है। रेल की पटरी की भाँति सडक पर गाडी छूटने के लिए मार्ग के खाली होने का कोई सिगनल नही दिया जाता। दूसरा कारण घटनाओ के अधिक घटित होने का यह है कि सडक के प्रयोग करने वाले लोग उतने सचेत नही रहते जितने कि रेल, विमान अथवा जहाज के चलाने वाले। घण्टी अथवा हार्न (Horn) की आवाज सुनकर सब यात्री एक ही दिशा मे नही बचते या एक ही नियम का पालन नही करते। अनेक लोग आवश्यक नियमो से अनभिज्ञ होते हैं। अत गाडीवान गाडी को एक ओर बचाएगा, तो गधे वाला गधे को दूसरी ओर और बकरी वाला बकरियो को तीसरी ओर। ऊँटगाडी वाला आँख मूँदे, कान बन्द किए, बीच सडक पर चला जाता है और किधर भी बचने का प्रयत्न नही करता। रेल, जहाज और विमान चालक प्रशिक्षित व्यक्ति होते हैं और उनमे गाडी को काबू मे करने की पूर्ण योग्यता होती है, किन्तु सडक की गाडियो के हाँकने वाले आवश्यक शिक्षा प्राप्त किए हुए नही होते। मोटर गाडियो के चलाने के लिए लाइसेंस लेना आवश्यक है, किन्तु बैलगाडी, इक्का, ताँगा, रिक्शा, ऊँटगाडी, रथ इत्यादि के लिए ऐसा कोई नियम नही है। कोई भी अनाडी आदमी इन गाडियो के हाकने के लिए बिठा दिया जा सकता है जिससे दुर्घटनाये घटित होने की पूरी सम्भावना बढ जाती है। कभी कभी घुमाव पर आवश्यक चिह्नो के अभाव मे और सडक की मरम्मत पर उचित ध्यान न देने से भी दुर्घटनाये घटित हो जाती हैं।

कम विश्वसनीय (Less Reliable)

सडक पर चलने वाली गाडिया समय के विचार से उतनी विश्वसनीय नही होती जितने रेल, जहाज अथवा विमान होते हैं। कारण यह है कि सडक की प्रत्येक यात्रा दूसरी यात्रा से सम्बन्धित नही होती। अतएव एक यात्रा के देर मे पूर्ण होने का प्रभाव दूसरी यात्राओ पर नही पडता। रेल-यात्रा मे एक गाडी के देर से पहुँचने

के कारण अनेक गाड़ियों को देर हो जाती है और सारा कार्यक्रम गड़बड़ में पड़ जाता है। हाँ, शहरों में चलने वाली मोटर गाड़ियों को समय का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। उन्हें रेलगाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन जाना होता है अथवा यात्रियों को समय से दफ्तर, कारखाने, विद्यालय इत्यादि में पहुँचना पड़ता है। यदि वे समय का ध्यान न रक्खें तो सबका कार्यक्रम गड़बड़ में पड़ जाए।

समय की बचत (Saving of Time)

यद्यपि रेल और विमान की अपेक्षा सड़क परिवहन की चाल धीमी होती है, किन्तु थोड़ी दूरी के लिए अनेक प्रकार से समय की बचत हो जाती है। **माल भेजने अथवा ले जाने वाले के अधिकार में गाड़ी के रहने के कारण समय की बचत हो जाती है क्योंकि उसकी सुविधानुसार माल लादा अथवा उतारा जा सकता है। घर से माल उठाकर सीधा घर पर उतारा जा सकता है; उसे बीच में उतारने-चढ़ाने अथवा रोकने की कोई आवश्यकता नहीं होती। थोड़े माल से गाड़ी भर जाती है और वह तुरन्त यात्रा आरम्भ कर देती है।** रेल से ले जाने के लिए अधिक माल की आवश्यकता होती है, एक डिब्बे को ले कर इञ्जन की यात्रा आरम्भ नहीं की जा सकता। कभी-कभी पूरी गाड़ी बनाने के लिए कई-कई दिन तक माल स्टेशन पर पड़ा रहता है अथवा डिब्बे में भरा खड़ा रहता है। माल एक साथ आ जाए तो भी उसे स्टेशन तक लाने और अन्तिम स्टेशन से पाने वाले के घर तक भेजने में समय लगता है। गाड़ी के डिब्बों को कभी-कभी रुक कर मार्ग बदलना पड़ता है।[1] फिर रेलगाड़ियाँ निश्चित समय से ही चल सकती हैं, किन्तु मोटर अथवा बैलगाड़ी माल भरकर तुरन्त चल देती है। उन्हें किसी विशेष समय की प्रतीक्षा देखनी नहीं पड़ती। फल, तरकारियां इत्यादि शीघ्र नाशवान वस्तुओं और ऐसी वस्तुओं के लिए जिनकी माँग सहसा आ जाती है, सड़क परिवहन विशेष उपयोगी है क्योंकि उससे शीघ्र माल चलता किया जा सकता है।

सड़क द्वारा समय की बचत का एक कारण यह भी है कि वे दो स्थान जिनके बीच में माल आता जाता है, बहुधा रेल की अपेक्षा सड़क द्वारा सीधे सम्बन्धित होते हैं और उनके बीच की दूरी कम होती है। रेल को एक बड़े क्षेत्र से माल इकट्ठा करना पड़ता है और फिर उसे एक विस्तृत क्षेत्र में वितरण भी करना पड़ता है, किन्तु सड़क परिवहन में ऐसा नहीं होता। माल एक स्थान पर लादा और एक ही निर्दिष्ट स्थान पर जा कर उतार देना पड़ता है। इस भांति सड़क की गाड़ियाँ उतने

---

१. ऐसा अनुमान लगाया गया है कि थोड़े माल को, जिससे कि पूरा डिब्बा नहीं भरता, रेल से ले जाने में लगभग आठ बार बदली और हस्तान्तरण करना पड़ता है जब कि उसी माल को मोटर ठेले से ले जाने में केवल तीन बार बदली करनी पड़ती है। Truman C. Bigham : *Transportation, Principles, and Problems*, 1947, p. 92.

ही समय म कई चक्कर कर सकती हैं, जितनी दर मे रेल केवल एक चक्कर करेगी। साधारणत ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि १५० मील तक की दूरी तक माल ले जाने के लिए मोटर ठेला रेल की अपेक्षा शीघ्रता से माल पहुँचा सकता है, किन्तु ३५० मील से ऊपर की दूरी के लिए रेलगाडी बेगवती सिद्ध होगी। काठगोदाम, होशियारपुर, कोटा, बरेली, कानपुर, निजामाबाद इत्यादि नहरा से रेल द्वारा बम्बई माल भेजन म ४ सप्ताह अथवा अधिक समय लगता है, जबकि सड़क मार्ग से केवल ४ दिन।[1]

सवेष्टन (Packing)

रेल अथवा जहाज से माल भेजन के लिए सुदृढ और सुसम्बद्ध सवेष्टन की आवश्यकता होती है। यदि ऐसा नही करते तो माल को रेल या जहाजी कम्पनियाँ स्वीकार नही करती। कभी-कभी विशेषज्ञ सवेष्टका को माल उतरवाने तक के लिए भेजना पड़ता है। सडक-परिवहन म सवेष्टन म इतनी चतुराई की आवश्यकता नही पड़ती और अनेक वस्तुआ के लिए तो कतई सवेष्टन की आवश्यकता नही। उन्हे गाडी म भरकर या ही भेज देते हैं और उनके खराब होने का कोई भय नहीं होता। फल, तरकारियाँ गृहस्थी का सामान इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं जो बिना सवेष्टन के लादकर भेज दी जाती हैं।

बहुमुखी सेवा (Multi Purpose Character)

रेल, जल और वायु मार्ग विशेष प्रकार की गाडियो के चलाने के लिए बनाये जाते हैं और उन्ही के लिए प्रयुक्त किय जाते हैं। किन्तु सड़को का निर्माण किसी गाडी विशेष के उपयोग के लिए नही होता, वरन् सार्वजनिक हितार्थ होता है। एक बार सडक बन जाने पर वह बैलगाडी मोटर कार, मोटर ठेला ताँगा, रिक्षा, बग्गी, रथ ऊँटगाडी और अन्य किसी प्रकार की गाडी के लिए प्रयोग म ली जा सकती है। साथ ही साथ उस पर ढोर-चौपाए, मनुष्य और पशु भी चल सकते हैं। सेना के लिये भी सड़का का उपयोग किया जाता है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सडके बहु-उद्देशीय भावना से प्रेरित होकर सार्वजनिक हित के लिए बनाई जाती हैं, रेल की भाँति उनकी सेवा सीमित नही होती।

अधिकतम सामाजिक हित (Maximum Social Benefit)

रेल, जहाज व विमान से वही लोग लाभ उठा सकते हैं जिनके पास पैसा है और जो कि उनका टिकट खरीदने की सामर्थ्य रखते हैं। बिना टिकट लिए कोई यात्री यात्रा नही कर सकता अथवा अपना माल नही ले जा सकता। सडक के सम्बन्ध मे ऐसी कठिनाई नही उपस्थित होती। जिसके पास अपनी गाडी है उसके द्वारा वह

---

1. Report of the Road Transport Re-organisation Committee, 1959, p. 7.

सडक से यात्रा कर सकता और माल ले जा सकता है। उसे किसी से आज्ञा लेने या टिकट खरीदने की आवश्यकता नही है। यदि किसी के पास कोई गाडी नही है तो वह पैदल यात्रा कर सकता अथवा सिर पर माल ढो सकता है। हम कह सकते हैं कि **रेल, जहाज और विमान केवल धनिक वर्ग के लिए उपयोगी हैं किन्तु सड़कें अमीर-गरीब सभी के लिए समान रूप से लाभदायक हैं।** उनका निर्माण, मरम्मत और रक्षा देश की सरकार का उत्तरदायित्व होता है। यही कारण था कि प्राचीन काल में भारतीय शासक सडको का बनाना, उनका उचित अवस्था मे रखना और उनके निकट ऐसी सुविधायें प्रदान करना जिनसे यात्री जनता को आराम मिले, अपना धर्म समझते थे। उनके किनारे सरायें, धर्मशालायें, कुएँ बनवाते थे और छायादार वृक्ष लगवाते थे। क्या हमारे वर्तमान शासक सडको के इस महत्व की ओर ध्यान देंगे?

विचारपूर्वक देखा जाय तो हमे पता लगेगा कि **विमान परिवहन विलास की वस्तु है, रेल और जहाज आराम की और केवल सड़क परिवहन ऐसा है जिसे हम जीवन के लिए आवश्यक कह सकते हैं** क्योंकि बिना सडक के किसी प्रकार का गमनागमन सम्भव नहीं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है—

"पाये बिना पथ पहुँच सकता कौन इष्ट स्थान मे ?"

विरोधी हित (Diversity of Interests)

सडक परिवहन मे सडक के स्वामी और उसके उपयोग करने वालों के हित समान नही होते। उनमे परस्पर विरोध होता है। रेल की सडक का निर्माण और उसकी गाडियाँ, उनका सचालन, प्रबन्ध इत्यादि सब एक ही स्वामी के अधिकार में होता है जिसके फलस्वरूप सडक बनाने मे गाडी की सुविधा और सस्ते संचालन का ध्यान रखा जाता है और गाडी के डिब्बे, इञ्जन आदि बनाने मे सडक की शक्ति का ध्यान रखा जाता है अर्थात् एक दूसरे के अनुरूप बनाया जाता है। सडक के सम्बन्ध मे ऐसा सम्भव नही। सडक निर्माण करने, उसे सुरक्षित रखने इत्यादि का भार बहुधा देश की सरकार पर होता है जो कि सडक बनाते समय इस बात का कतई ध्यान नही रखती कि वह सडक विभिन्न गाडियो के लिए उपयुक्त सिद्ध होगी अथवा नही। उसका ध्यान केवल कम व्यय की ओर रहता है। इसी भाँति जब गाड़ीवान अपनी गाड़ी बनवाता अथवा मोल लेता है तो उसे इस बात का कतई ध्यान नही होता कि उसकी गाडी ऐसी हो जिससे सड़क की टूट-फूट कम से कम हो चाहे और किन्ही बातो का उसे ध्यान रहता हो। इस पारस्परिक हित-विरोध के कारण संचालक के सम्मुख कई समस्यायें उठ खडी होती हैं जो कि उसे पग-पग पर बाधा उपस्थित करती है।

(अ) यदि सड़कें खराब हैं और किसी गाड़ी विशेष के अनुरूप नही है तो **संचालक का संचालन-व्यय अकारण बढ़ जाता है।** टायर जल्दी घिस जायेंगे, ट्यूब

में पंचर हो जायेंगे, पैट्रोल अधिक जलेगा, टूट-फूट के कारण मरम्मत का खर्च अधिक होगा तथा उनकी गाडी का जीवन कम हो जायगा। फलत: उसे वार्षिक अवमूल्यन (Depreciation) अधिक लगाना पडेगा। यदि सडक का वह स्वयं ही स्वामी हुआ होता तो ये व्यय उसे न भुगतने पडते। सडक का स्वामित्व भिन्न होने से उसका इन पर कोई वश नही चलता, वह मजबूर है। फलत: वह उतनी अच्छी सेवा नही कर सकता जितनी वह अन्यथा कर सकता था।

(ब) रेल का अपना अलग सगठन होता है। उसके अपने अलग नियम होते हैं जिनका उन्हे पालन करना पडता है। सडक परिवहन मे गाडीवानो का अपना सगठन नही होता। उन्हे **सरकारी नियमो का पालन करना पड़ता है।** कितनी चाल होगी, किन-किन नियमो के अनुसार उन्हे काम करना होगा, इत्यादि बाते उन्हे बाहरी अधिकारियो की माननी पडती हैं। इससे उनकी स्वतन्त्रता कम हो जाती है, यद्यपि उनका व्यय भी कम हो जाता है।

(स) सडक के प्रयोग करने वाले का अपने आय-व्ययक (Budget) पर पूर्ण अधिकार नहीं होता। केन्द्रीय सरकार पैट्रोल, मोटर गाडियो और उनके कल-पुर्जों के आयात पर कर लेती है और राज्यो की सरकारे उनसे लाइसेंस की फीस लेती हैं और अन्य फीसे भी कभी-कभी लगा दी जाती हैं। ये सब व्यय लगभग एक साधारण श्रेणी के सचालक के कुल व्यय का लगभग ३५ प्रतिशत हो जाते हैं। इनसे बचने का उसके लिए कोई मार्ग नही है।

सडक परिवहन के उपर्युक्त गुण-अवगुणो का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **थोडे माल को थोडे समय मे थोडी दूर सस्ते भाडे द्वारा ले जाने के लिए सडक परिवहन सर्वोपरि है।** यो तो प्रत्येक परिवहन के साधन का अपना अलग क्षेत्र है किन्तु बहुधा सडक और रेल मे कही-कही प्रतियोगिता होती दिखाई देती है। तो भी भारत जैसे विस्तृत किन्तु कगाल देश के लिए सडक परिवहन सार्वजनिक हित की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे माल ले जाने वालो ने निम्न कारणो की ओर सकेत करते हुए मोटर ठेले को रेल से उत्तम बतलाया है[1] : सत्वर सेवा, गोदाम के द्वार पर सुपुर्दगी, कम व्यय, गोदाम के द्वार से माल उठाना, अधिक लचकदार अथवा सुविधाजनक सेवा, सस्ता वेष्टन, माल देरी से पहुँचने पर भी स्वीकार कर लेना, भाडे का सरल स्वरूप, माल की कम टूट-फूट और ह्रास, और व्यक्तिगत मित्रभाव अथवा रुचि।

भारत जैसे विस्तृत देश मे गाँव-गाँव और स्थान-स्थान को न रेलो से और न जल-मार्गों से जोडा जा सकता है, किन्तु सडको से यह सहज सम्भव है। आधुनिक

---

1. Truman C. Bigham : *Transportation, Principles and Problems* 1947, p. 92.

सड़कें बनाने में हम असमर्थ हों तो कंकड़ अथवा अन्य स्थानीय पदार्थ की अथवा कच्ची सड़कें बनाई जा सकती हैं।

भारत गाँवों और छोटे उद्योगों का देश है। अधिकांश यातायात कम मात्रा में एक स्थान पर उपलब्ध होता है। ऐसे माल के संचय और वितरण की क्रिया सड़क वाहनों द्वारा ही सहज सम्भव है जिनकी इकाई छोटी और लागत व संचालन-व्यय कम होता है।

सड़कों से रेलों तक, रेल-स्टेशनों से गाँवों तक, गाँवों से रेल-स्टेशनों तक, रेलों से मंडियों तक, मंडियों से रेलों अथवा मुख्य सड़कों तक हमें विविध प्रकार की दायक व्यवस्था (feeder services) की आवश्यकता है जो सड़कों द्वारा ही सम्भव है।

ग्रामीण क्षेत्र का विकास एवं कृषि उपज की बिक्री की समस्याओं का समाधान सड़क परिवहन के विकास से सम्बद्ध है। देश की गरीबी और पूँजी का अभाव भी हमें सड़क परिवहन के अधिक विकास के लिए विवश करते हैं। बैलगाड़ी, मोटरें, रिक्शा, इक्का-तांगे इत्यादि सड़क वाहन भारत के अनेक लोगों के जीवन-निर्वाह का साधन भी है।

अध्याय २१

सड़कों का विकास

(Development of Roads)

अति प्राचीन काल—अति प्राचीन काल से भारतवासी सडको के महत्व को समझते रहे हैं। ससार के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद मे सडको (महापथ) का वर्णन मिलता है, सिन्ध के मोहनजोदडो स्थान की खुदाई से सिद्ध हो चुका है कि भारत के नागरिक ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व सडके बनाने की कला मे निपुण थे। पंजाब के हडप्पा नामक स्थान की खुदाई मे दो पहिए वाले ताँबे के रथ की एक मूर्ति मिली थी जिसमे कि गाडीवान सामने बैठा था जिसे हम ससार का पहिए वाली गाडी का प्राचीनतम रूप कह सकते हैं। मोहनजोदडो म गाडी की आकृति के खिलौने पाय गये हैं जो वर्तमान सिन्ध मे प्रचलित गाडी से मिलते-जुलते है और जो इस बात का प्रमाण है कि बैलगाडी का उस समय खूब प्रयोग होता था। हाल ही मे बस्ती जिले की खलीलाबाद तहसील के अन्तर्गत रसूलपुर गाँव मे एक स्थान पर खुदाई करते समय भगवान विष्णु की एक सुन्दर मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमे कि भगवान विष्णु रथ पर सवार हैं और उसमे सात घोडे जुते हैं। विशेषज्ञो का कहना है कि यह मूर्ति प्रस्तर युग (Stone age) की है।[1] यह स्वयं सिद्ध बात है कि बिना उत्तम सडको के इस प्रकार की गाडिया का होना सम्भव नही। सिन्धु सभ्यता कालीन सडको का विवरण अध्याय १ मे दिया जा चुका है।

प्राचीन काल मे भारतवासी युद्ध मे रथो का प्रयोग करते थे। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थो मे इनका वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन के सारथी थे। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व राजा बिम्बिसार द्वारा बनवाई हुई एक सडक पटना जिले के दक्षिणी पूर्वी भाग मे राजगिरि (प्राचीन राजगृह) नामक स्थान पर अब भी मिलती है। ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री ने लिखा है कि बिम्बिसार ने गिरियकूट पर्वत पर गौतम बुद्ध से मिलने के लिए जाते समय अनेक लोगो को अपने साथ ले लिया था जिन्होने पहाडियो को काटकर और घाटियो को पत्थरो से भर कर यह सडक बनाई थी जो आज भी गिरियकूट जाते समय जंगलो मे उत्तम मार्ग बनाती है।

---

१. अमृत पत्रिका ३-१-१९५३।

मौर्य्य-काल—बौद्ध साहित्य, विशेषकर जातकों में, सड़कों का बहुधा उल्लेख मिलता है, किन्तु कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र और शुक्रनीति दो सबसे बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें सड़कों का विस्तृत विवरण दिया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में विविध उद्देश्यों के लिए विभिन्न चौड़ाई की सड़कों[1] का उल्लेख करते हुए तत्सम्बन्धी नियमों का वर्णन करता है तथा सड़कों को तोड़ने-फोड़ने या उनमें बाधा उपस्थित करने के लिए दण्ड का भी विधान करता है। वह दो प्रकार की सड़कों (पथ) का उल्लेख करता है : (१) नगर के आन्तरिक मार्ग, (२) नगर से बाहर के मार्ग। प्रथम श्रेणी के मार्गों के पाँच और द्वितीय श्रेणी के मार्गों के छः भेद बतलाए गए हैं :—

नगर के आन्तरिक मार्ग—

(१) राजमार्ग—आठ दण्ड अर्थात् सोलह गज चौड़े होते थे।
(२) रथ्या—रथ आदि सवारियों के काम आते थे और चार दण्ड अर्थात् आठ गज चौड़े होते थे।
(३) रथ-पथ—छोटी गाड़ियों के लिये होते थे जिनकी चौड़ाई पाँच अरत्नि (ढाई गज) होती थी।
(४) पशु-पथ—विविध प्रकार के पशुओं के लिए होता था जिसकी चौड़ाई चार अरत्नि (दो गज) होती थी।
(५) क्षुद्र पशुपथ—भेड़ बकरी आदि छोटे पशुओं एवं मनुष्यों के लिए होता था जिसकी चौड़ाई दो अरत्नि (एक गज) होती थी।

नगर से बाहर के मार्ग—

(१) राष्ट्रपथ—राजधानी से बड़े नगरों को जाने वाला,
(२) विवीत पथ—चारागाह को जाने वाला,
(३) द्रोणमुख पथ—चार सौ गाँवों के केन्द्रीय नगर का मार्ग,
(४) स्थानीय पथ—आठ सौ गाँवों के केन्द्रीय नगर को जाने वाला,
(५) संयानी पथ—व्यापारी मण्डियों को जाने वाला,
(६) ग्राम पथ—गाँवों को जाने वाला मार्ग।

इनमें से प्रत्येक की चौड़ाई सोलह गज होती थी। आचार्य ने लिखा है कि नगराध्यक्ष, ग्रामाध्यक्ष और अन्य अधिकारी समय-समय पर सड़कों और पुलों की देख-रेख करें। कौटिल्य ने विविध मार्गों के लिए वणिक पथ शब्द प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि इन मार्गों के निर्माण का एक प्रधान उद्देश्य व्यापारियों को सुविधा पहुँचाना था। मार्गों के दोनों ओर पेड़ लगवाए जाते थे तथा कुएँ खुदवाए जाते थे।

---

१. राजमार्ग द्रोणमुखस्थानीय राष्ट्र विवीत पथाः संयानीव्यूह श्मशान ग्राम पथाश्चाष्टदण्डाः ॥४॥ चतुर्दण्डः सेतुवन पथः ॥५॥ द्विदण्डो हस्तिक्षेत्रपथः ॥६॥ पंचारत्नयो रथपथश्चत्वारःपशुपथः ॥७॥ द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्यपथः ॥८॥

रास्तों को नापने और निर्धारित अन्तर पर दूरी सूचक चिह्न लगाने की भी व्यवस्था थी। कौटिल्य के अनुसार माल ढोने के लिए ऐसी गाडियाँ काम म लाई जाती थी जिन्हे, बैल, घोडे, खच्चर, गधे तथा अन्य एक खुर के पशु खींचते थे।

इसी भाँति शुक्रनीति मे विभिन्न प्रकार की सडको की चौडाई, उनके बनाने का ढग तथा आवश्यक नियम बतलाए गये हैं।[1] सडके कछुवे की पीठ के समान (बीच मे ऊँची) होनी चाहिये। उन पर पुल और दोनो ओर पानी के लिये नालियाँ होनी चाहिये।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे सडको की देख-रेख के लिए एक विशेष विभाग था। प्रत्येक आधे कोस (२०२२½ गज) पर मील लगे थे और सकेत अङ्कित थे। एक सडक पाटलिपुत्र राजधानी से उत्तरी-पश्चिमी सीमा तक जाती थी जो कि १०,००० स्तदिया (५०० कोस) लम्बी थी। अशोक के एक स्तम्भ पर ऐसा लेख लिखा है कि सडको पर छाया के लिए बरगद के पेड और बाग लगाए जाने थे, प्रत्येक आधे कोस पर कुएं खादे जाते थे, सरायो, धर्मशालाओ और पियाऊओ का भी प्रबन्ध किया जाता था।

आन्ध्र-काल—ईसा से २०० वर्ष पूर्व और ३०० ईसवी के बीच के समय मे उत्तरी भारत म दो मार्गों से प्रान्तरिक व्यापार होता था जो पाटलिपुत्र से काबुल और सिन्ध की घाटी तक जाते थे। एक बडी सडक महाराष्ट्र और मालवा के बीच मे थी जो बुरहानपुर से होकर जाती थी। फाह्यान (पाँचवी शताब्दी) और ह्वेनचाग (सातवी शताब्दी) ने भी अपनी यात्राओ म सडको का वर्णन किया है। लगभग ७०० ईसवी के ताओसन नामक चीनी यात्री भारत आया था जिसने चीन और भारत के बीच तीन व्यापारिक मार्गों का वर्णन किया है। एक मार्ग लाप भील से तिब्बत और नैपाल तक जाता था, दूसरा खानखान से कोयन तक और तीसरा मार्ग वह था जिससे ह्वेनचाग भारत आया था।

पठान और मुगल काल—इस काल के राजाओ ने सडको की ओर विशेष ध्यान दिया। उस काल की मीनारे और मील, अब भी अनेक स्थानो पर पाए जाते हैं। इब्नबतूता (चौदहवी शताब्दी) ने अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र सुल्तान कुतुबुद्दीन की दिल्ली से दौलताबाद की एक यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि दोनो नगरो के बीच चालीस दिन का मार्ग है और सारे मार्ग म सडक बिल्लौर तथा अन्य पेडो से इस भाँति आच्छादित है कि यात्री को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह एक उद्यान से होकर जा रहा हो। दौलताबाद से तेलगाना और मलाबार तक छः महीने का मार्ग है जिसमे स्थान-स्थान पर राजा और उसके अनुगामियो तथा यात्रियो के रहने के स्थान बने हैं जहाँ हर प्रकार की सुविधायें मिलती हैं। अतः इस सडक से यात्रा करने वालो को अपने साथ भोज्य पदार्थ ले जाने की कोई आवश्यकता नही।

---

१. देखो अध्याय १।

नई सडकें बनवाने, पुरानी सड़कों का सुधार करने और सभी सड़कों पर यात्रियों के लिए विविध सुविधायें प्रदान करने के लिये शेरशाह इतिहास प्रसिद्ध है। उसकी बनवाई हुई सडको मे प्रमुख ये हैं : पंजाब मे बनवाये हुए किले से सुनारगांव (बंगाल) तक, आगरा से बुरहानपुर तक, आगरा से जोधपुर और चित्तौर तक तथा लाहौर से मुल्तान तक। सडको पर प्रत्येक दो कोस पर सराये बनवाई थी जहां सरकार की ओर से भोजन, पानी, दाना, घास चारपाइयों इत्यादि की पूर्ण व्यवस्था की गई थी। उसने कुल मिला कर १,७०० सराये बनवाई थी।

चहार गुलशन नामक पुस्तक मे जो अठारहवी शताब्दी के मध्य मे लिखी गई थी। मुगल-काल की २४ सडकों का उल्लेख मिलता है जिनमे से १३ का पूर्णत: और ८ का अंशत: पता लग चुका है। केवल तीन का अभी पता नही लग सका। इसी भांति योरोपीय यात्री टेवरनीयर ने जिसने १६४० और १६६७ के बीच भारत मे यात्रायें की, १२ सडकों के नाम उनके तट के प्रसिद्ध नगरों के साथ दिये है।

ब्रिटिश काल—भारत मे आने पर अंग्रेजो का भी सडको की ओर ध्यान गया। इस समय सडको का निर्माण और उनकी मरम्मत आदि कार्य एक सैनिक मण्डल (Military Board) के सुपुर्द था। यद्यपि इस समय मे अनेक नई-नई सडकें बनाई अथवा पक्की की गई और उन पर पुल बांधे गए, किन्तु उन्ही सडको की ओर बहुधा ध्यान दिया गया जो सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। वे सडके जो व्यापारिक महत्व की थी अथवा जो जनता के लिए उपयोगी थी वे साधारणत: बिना मरम्मत के पडी रही और खराब हो गई; उनके अनेक पुल टूट गये। लार्ड विलियम बैंटिंग (१८२८-३५) पहला गवर्नर जनरल था जिसने सडको के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। उसका प्रारम्भ किया हुआ कार्य लार्ड डलहौजी (१८४८-५६) ने भी जारी रखा। सन् १८५५ मे लोक-कर्म विभाग (Public Works Department) की स्थापना की गई और सडको का कार्य सैनिक मडल (Military Board) से लेकर इस विभाग के सुपुर्द कर दिया गया। अब सडको पर पर्याप्त धन व्यय करने की व्यवस्था होने लगी। यदि सुचारु रूप से कार्य चलता रहता तो भारत मे सडकों का बहुत कुछ सुधार और विकास हो जाता। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ब्रिटेन मे रेलों की सफलता सिद्ध हो चुकी थी। अत: हमारे शासको का ध्यान भी भारत मे रेलो की स्थापना की ओर गया। अब क्या था, सारी धन-सम्पदा, सारी योग्यता और विचार रेलो की ओर पिल पडी। सन् १८४४ से ही इस सम्बन्ध मे चर्चा होनी प्रारम्भ हो गई थी। अत: सडको की ओर से पूर्णत: ध्यान हट गया। केन्द्रीय सरकार ने सड़कों की ओर से पूर्णत: अपना हाथ खींच लिया। सड़क निर्माण और सुधार का कार्य प्रान्तो के ऊपर छोड़ दिया गया जिन्होने अपना उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं के मत्थे मढ दिया। इस प्रकार सडको का जीवन संकट मे पड़ गया और उनकी दशा दिन दूनी रात चौगुनी शोचनीय होने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक यही दशा

रही। इस भाँति लगभग सौ वर्ष का समय भारतीय सडको के इतिहास मे ऐसा आता है जबकि सडको की भारी उपेक्षा की गई।

आधुनिक काल

(क) जयकर समिति—इतिहास हमे बताता है कि घोर अवनति के उपरान्त उन्नति अवश्यम्भावी है। जबकि यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सडको का कोई पूछा-गछा नही था, तो प्रथम विश्व-युद्ध के फलस्वरूप भारत मे सडक परिवहन के क्षेत्र मे एक महान् क्रान्ति की भावना जाग्रत होती दिखाई दी। विश्व-युद्ध मे मोटरगाडियो ने नाम पैदा कर लिया था। युद्ध समाप्त होते ही अनेक बसे (Buses) और लारियाँ (Lorries) सस्ते मूल्य पर बिकने लगी। अनेक मोटर ड्राइवर फौज से निकले और इन्हे चलाने के कार्य मे जुट गये। सभी भारतीय सडको पर मोटरगाडियाँ दौडने लगी। फल यह हुआ कि वह सडके जो उपेक्षित दशा मे पडी हुई थी और जो कि केवल बैलगाडिया के चलने के लिए बनी थी, तेज मोटरो से शीघ्र टूटने-फूटने लगी। उनकी मरम्मत का खर्च बहुत अधिक बढ गया और स्थानीय सस्थाओ को उसका सहन करना सर्वथा असम्भव हो गया। जितनी तेजी से यातायात (Traffic) बढ रहा था उतनी तेजी से सडको का निर्माण सम्भव न हो सका और सडको की बुरी दशा हो चली। जनसाधारण का ध्यान इस ओर गया जिन्होने सरकार की नीद मे भारी विघ्न डालना प्रारम्भ किया। फरवरी सन् १९२७ मे केन्द्रीय राज्य परिषद मे एक प्रस्ताव द्वारा यह माँग की गई कि स्थिति का अन्वेषण करने के लिये एक समिति नियुक्त की जाय। इसी माँग के अनुसार सरकार ने श्री एम० आर०- जयकर की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की जिसने सन् १९२८ मे अपना प्रतिवेदन दिया। इस समिति का मुख्य आग्रह इस बात पर था कि सडको के विकास का भार प्रान्तीय सरकारो और स्थानीय सस्थाओ के लिये असह्य हो चला है और उनमे उसे वहन करने की सामर्थ्य नही है। सडके राष्ट्रीय महत्व की हैं और केन्द्रीय सरकार अपने उत्तरदायित्व से अछूती नही छूट सकती। उसे उनके निर्माण और सुधार मे हाथ बटाना चाहिए। समिति ने पैट्रोल पर दो आना प्रति गैलन अतिरिक्त कर लगा कर एक केन्द्रीय सडक निधि (Central Road Fund) बनाने की सिफारिश की और कहा कि केन्द्रीय सरकार इस निधि का प्रान्तो मे वितरण करके सडको के एक-सूत्रीय विकास का नेतृत्व कर सकती है। समिति की इन सिफारिशो के फलस्वरूप मार्च १९२९ मे केन्द्रीय सडक निधि की स्थापना हुई।

(ख) केन्द्रीय सडक निधि—इस निधि का प्रशासन केन्द्रीय सरकार के हाथ मे था। केन्द्रीय विधान मण्डल की एक स्थायी सडक समिति (Standing Committee for Roads) के परामर्श से सरकार इस कार्य का सम्पादन करती थी। जितना धन निधि मे एकत्रित होता था उसका १०% केन्द्रीय सरकार स्वय व्यय कर सकती थी और शेष को प्रति वर्ष राज्यो एव प्रान्तो मे अपने-अपने पैट्रोल के उपभोग के अनुपात से बाँट दिया जाता था। उक्त १०% को केन्द्रीय सरकार निधि के

प्रशासन, ग्रन्वेषण, सूचना इत्यादि में ग्रथवा ग्रखिल भारतीय महत्त्व की विशेष योजनाग्रो के कार्यान्वित करने के लिए व्यय कर सकती थी। प्रान्तो को दिये जाने वाले ग्रनुदानो (Grants) का मन्तव्य उनके ग्रपने सडको पर किये जाने वाले धन मे वृद्धि करना था। प्रान्तो को उन्ही योजनाग्रो पर व्यय करने की ग्रनुमति दी जाती थी जिनको कि केन्द्र ने मंजूर कर दिया हो। यह निधि-योजना सर्वप्रथम पाँच वर्ष के लिए चालू की गई थी। सन् १६३४ मे इसे स्थायी जीवन प्रदान कर दिया गया। निधि के स्थापन के साथ ही देश मे ग्राथिक ग्रवसाद (Depression) का ग्राविर्भाव हुग्रा। प्रान्तो की ग्राय ग्रत्यन्त कम हो गई। सडको के निर्माण की तो बात ही कौन कहे, वे उनकी मरम्मत भी ढग मे करने म ग्रसमर्थता दिखाने लगे। ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय सरकार को सडक निधि मे से प्रा तो को दिये जाने वाले धन मे से सडको की मरम्मत तथा अन्य उद्देश्यो के लिये व्यय करने की अनुमति देनी पडी। ग्रतएव ग्राथिक ग्रवसाद के कारण हमारी सडको की प्रगति ग्रौर सुधार मे एक बडी भारी बाधा ग्रा उपस्थित हुई। तो भी इस निधि की सहायता से सड़को के विकास मे बहुत कुछ सहायता मिली। सडको के सुसंगठित विकास, तत्सम्बन्धी प्रयोग ग्रौर ग्रन्वेषण के निमित्त धन उपलब्ध करने के लिए ग्राज भी सड़क निधि एक मुख्य साधन है। इससे प्रतिवर्ष ५ करोड रुपए मिलते रहते हैं। राष्ट्रीय राजमार्गों को छोडकर राज्यो मे सडक विकास के लिए इस निधि से लगभग ४½ करोड रुपये प्रति वर्ष मिल जाते है। १६५० तक इसकी सहायता से ३८२ पुल, १,२५० मील ग्राधुनिक सडके, ग्रौर १,५०० मील बाहरमासी सडके बनाई गई तथा २,२०० मील प्राचीन सडको का सुधार किया गया।[1] ग्रब तक इस निधि मे से लगभग ५४ करोड रुपये विभिन्न राज्यो को सडक विकास के लिए दिए जा चुके है।[2]

(ग) भारतीय सडक कांग्रेस—१६४३ मे जब सडक निधि को एक स्थायी स्वरूप प्राप्त हो चुका तो सरकार ने एक ग्रर्द्ध-सरकारी संस्था की स्थापना की जिसका नाम भारतीय सडक काँग्रेस (Indian Roads Congress) रखा गया। सडको के सम्बन्ध मे शिक्षा प्राप्त किये हुए इञ्जीनियर इसके सदस्य हो सकते हैं। जो लोग इञ्जीनियर नही है किन्तु सडको के विकास में रुचि रखते है वे भी एक निश्चित चन्दा देकर इसके सहायक सदस्य बन सकते हैं। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य सड़को के विकास के सम्बन्ध मे परस्पर विचार-विनिमय ग्रौर सड़को के निर्माण ग्रौर मरम्मत सम्बन्धी ज्ञान एवं ग्रनुभवो का संचय था। ७४ सदस्यो से प्रारम्भ होकर, ग्राज यह १००० से ग्रधिक सामान्य सदस्यो की विशाल संस्था है जिनमें उच्चकोटि के इञ्जीनियर जो केन्द्रीय व राज्य सरकारो ग्रौर सैनिक इञ्जीनियरी विभाग के प्रतिनिधि हैं तथा व्यक्तिगत वाणिज्य हितों के समर्थक हैं। इसके ग्रतिरिक्त ग्रनेक सहायक सदस्य

1. Report of the Ministry of Transport for 1952-53, p. 67.
2. Report of the Ministry of Transport for 1960-61, p. 94.

और है। यह समय-समय पर अपने सम्मेलन करती रहती है। इसका दफ्तर नई दिल्ली मे है जहाँ से यह अपनी एक पत्रिका भी प्रकाशित करती है। जब-जब सदस्य सम्मेलन होता है उसका कार्य विवरण सदस्यो के पास सूचनार्थ भेज दिया जाता है जिसमे सडको के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विवरण दिया जाता है। इसकी अपनी अनेक समितियाँ हैं जो विविध प्रकार के अन्वेषण कार्य करती हैं। सडक कांग्रेस ने देश के लिये एक सेतु सहिता (Bridge Code) की रचना की है और कई नई प्रकार के सडक तल (Road Surfacing) प्रस्तुत किये हैं जो भारतीय सडको के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। नागपुर योजना का निर्माण भी इसी के प्रयत्नो का परिणाम था। हाल म इसने देश के लिए सडक-विकास की एक बीस वर्षीय योजना बनाई है जिसके अनुसार सन् १९८०-८१ तक देश म सडक-पथ अब से दुना हो जायगा।

(घ) वर्तमान स्थिति—मार्च १९२९ मे केन्द्रीय सडक निधि के बनने के उपरान्त भारत की सडक नीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अब केन्द्रीय सरकार भी इस ओर अपना उत्तरदायित्व समझने लगी और सडक निधि की सहायता से सडक-सुधार एव सडक-निर्माण कार्य किए जाने लगे। तब से अब तक देश म जो प्रगति हुई है, वह निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

गत वर्षो मे सडक निर्माण की प्रगति

वर्ष	सडक-पथ की लम्बाई (मील)		
	पक्की सडके	अन्य सडके	कुल सडके
१९२७–२८	६१,०००	१,४४,०००	२,०५,०००
१९३७–३८	६४,०००	२,२०,०००	२,८४,०००
१९४३–४४	७०,०००	१,५७,०००	२,२७,०००
१९५०–५१	९८,०००	१,५१,०००	२,४९,०००
१९५५–५६	१,२२,०००	१,९५,०००	३,१७,०००
१९५८–५९	१,३९,०००	२,५४,०००	३,९३,०००
१९६०–६१ (अनुमानित)	१,४४,०००	२,५४,०००	३,९८,०००
१९८०–८१ (अनुमानित)	२,५२,०००	४,०५,०००	६,५७,०००

इन आँकडो से विदित होता है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष मे ही हमने नागपुर योजना के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया था और तदुपरान्त हम यथा-शक्ति आगे बढते गए हैं। यद्यपि यह प्रगति सन्तोषजनक है, तो भी देश की विकासो-न्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिए यह अपर्याप्त है। अतएव, सडक विकास की एक नई बीस वर्षीय योजना बनाई गई है जिसके अनुसार सन् १९८०-८१ तक देश म सडक-पथ की लम्बाई ६,५७,००० मील हो जाएगी।

अधिक सड़कों की आवश्यकता

पिछले पृष्ठों में हम सड़कों के महत्व की ओर दृष्टिपात कर चुके हैं। आधुनिक युग में सड़कों और सड़क परिवहन के महत्व के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता। योजना आयोग ने सड़कों के महत्व की ओर संकेत करते हुए कहा है कि सड़कें सभी प्रकार के विकास कार्यों की पोषक हैं। चाहे हम कृषि को लें, चाहे उद्योग-धन्धों को, चाहे व्यापार को—सड़कों की सेवा सभी के विकास के लिये अनिवार्य है। दुःख इस बात का है कि जिन सड़कों को हम इतनी महत्वपूर्ण समझते हैं उनकी हमारे देश में सर्वथा अवहेलना की गई है। आज भी हमारी सड़कों की दशा सन्तोषजनक नहीं है और न इस ओर सन्तोषजनक प्रगति ही होती दिखाई देती है। हम कहाँ पर हैं और वस्तुतः कहाँ हमें पहुँचना है, इस बात को पूर्णतः हृदयगम करने के लिये नीचे की तालिका में हम कुछ देशों की सड़कों के विषय में आँकड़े प्रस्तुत करते हैं :—

देश	सड़कों की लम्बाई मीलों में	
	प्रति वर्गमील क्षेत्रफल पीछे	प्रति एक लाख जनसंख्या पीछे
जापान	३·००	६६४
इंग्लैंड	२·०२	३६२
फ्रांस	१·८४	६३४
सं० रा० अमेरिका	१·०२	२४६६
जर्मनी	०·६५	२६०
इटली	०·८६	२४७
भारत	०·२२	७२

उक्त तालिका में भारत का स्थान सबसे नीचे है, यदि हम कुछ और देशों के आँकड़े सम्मिलित करके तालिका का आकार बढ़ा दें, तो इसमें सन्देह नहीं कि भारत का स्थान और भी नीचे उतर आयेगा। जापान, इंग्लैंड, फ्रांस जैसे छोटे और औद्योगिक देशों से भारत की बराबरी अनुपयुक्त समझी जा सकती है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका एक ऐसा देश है जो अपने विस्तार और भौगोलिक परिस्थितियों के विचार से भारत के अनुरूप है। जबकि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में प्रति वर्ग मील क्षेत्रफल के पीछे एक मील से अधिक सड़कें हैं, हमारे देश में केवल ·२२ मील अर्थात् अमेरिका का लगभग पाँचवाँ भाग। अमेरिका में प्रत्येक एक लाख लोगों के लिये लगभग २,५०० मील लम्बी सड़कें हैं, किन्तु हमारे यहाँ केवल ७२ मील अर्थात् अमेरिका की अपेक्षा पैंतीसवाँ भाग। प्रत्येक एक हजार जनसंख्या को लें तो संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में २५ मील सड़कें हैं, इङ्गलैंड में लगभग ४ मील, किन्तु भारत में छः फर्लाङ्ग से भी कम। यह भयानक स्थिति है। यदि हम अमेरिका की स्थिति को प्राप्त करना चाहें तो हमें अपने ११,८०,००० वर्ग मील क्षेत्रफल के लिए कम से कम उतने ही मील लम्बी सड़कें

चाहिएँ। जब हम इसका वर्तमान ४ लाख मील सडको से तुलना करते है तो हमें अपनी सडको का आकार तीन गुना करना होगा अर्थात् वर्तमान सडको म २०० प्रतिशत वृद्धि करनी होगी।

यह हमने परिमाण की बात कही। जो कुछ भी सडके हमे उपलब्ध हैं उनमे से अधिकाश की बडी दुर्दशा है। ३,९८,००० मील सडको म से केवल एक-तिहाई पक्की हैं। शेष दो-तिहाई कच्ची सडके है जो ग्रीष्म ऋतु मे रेत से ढक जाती हैं। अनेक ऐसी हैं जो वर्षा ऋतु म जल मग्न होकर यात्रा के सर्वथा अयोग्य हो जाती हैं। नदी-नालो पर पुल न होने से उतरना दुस्तर हो जाता है। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'हमारी सडके' (Our Roads) नामक पुस्तक मे बैलगाडी का एक चित्र दिया है जो हमारी सडको के वास्तविक स्वरूप का चित्र अकित करता है। बैलगाडी माल से भरी हुई है, उसमे दो बैल जुते हैं। गाडी कीचड मे फँस जाती है और पहिये आधे-आधे गज कीचड मे डूब जाते है। दस-बारह आदमी जिनकी टाँगें भी घुटनो तक कीचड मे फँसी हैं गाडी को पीछे से धक्का दे रहे है। गाडी का हाँकने वाला बैलो को बुरी तरह मार रहा है तो भी गाडी कीचड से नहीं निकलती। विवश होकर वह भी नीचे उतर आता है और बैलो के रस्से पकड कर आगे की ओर खीचता है। यह एक साधारण घटना का चित्र है। किन्तु ऐसी ही और इससे भी दुस्सह अनेक घटनायें हमारी ग्रामीण सडको पर प्रतिदिन घटती रहती है।

पक्की सडको के अभाव मे हम यान्त्रिक परिवहन का उतना लाभ नही उठा सकते जितना अन्य देश उठा रहे है। इस सम्बन्ध मे कुछ देशो के मोटर गाडियो के आँकडे देकर हम यह बतला देना चाहते हैं कि भारत इस दृष्टि से भी कितना पिछडा हुआ है :—

विश्व के कुछ देशो मे मोटर गाडियो का घनत्व[1]

(प्रति लाख जनसख्या पीछे)

देश	मोटर गाडियो की सख्या
सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	२५,८०१
कनाडा	१७,०००
आस्ट्रेलिया	१६,६६६
न्यूजीलैंड	१४,२८५
ग्रेट ब्रिटेन	५,५९०
दक्षिणी अफ्रीका	४,०२७
फ्रास	३,५९३
स्विट्जरलेड	२,५३१
लंका	४९७
भारत	६३

1. Indian Roads and Transport Development Association-Monthly News Letter Vol. XXI No. 2 (Feb. 1952), p. 1.

उक्त तालिका मे भारत का स्थान सबसे नीचे है। जबकि अमेरिका मे प्रति चार व्यक्तियो पीछे एक मोटर गाडी है, भारत मे १,०५५ व्यक्तियो पीछे केवल एक गाडी है। इसमे सन्देह नही कि अमेरिका के इतने समृद्धशाली और धनी देश होने का एक प्रमुख कारण वहाँ अच्छी सडका और सडक परिवहन का विकास ही है। मोटर परिवहन की प्रगति द्वारा ही अमेरिका की प्रति व्यक्ति पीछे वार्षिक आय ६,५३० रुपए है जबकि भारत मे केवल ३३० रु० है।

अत: आज हमे अधिक सडका की ही आवश्यकता नही है, वरन् अच्छी और अधिकाधिक पक्की सडको की आवश्यकता है। तो भी भावी योजनाओ मे हमे ग्रामीण सड़को को पूर्वाधिकार देना चाहिए क्योंकि हमारे राष्ट्र की आत्मा गांवो मे बसती है। हमारी इतनी बडी जनसंख्या का भरण-पोषण और हमारे विविध उद्योग-धन्धो का सुचारु संचालन केवल ग्रामीण समृद्धि पर ही निर्भर है।

यह बात सर्वमान्य है कि देश को अधिक और अच्छी सडको की आवश्यकता है। गत सौ वर्षो मे रेलो की ओर ही ध्यान दिया गया है। अत: अब हमे रेलो की लम्बाई बढाने की इतनी आवश्यकता नही जितनी सड़को की। हमारे सम्मुख मुख्य समस्या पोषक सडको अर्थात् ऐसी सड़को का निर्माण है जो मुख्य मडकों को ग्रामीण और जिलो की सडको से तथा रेलों से मिलावें। ब्रिटिश काल मे हमारी सड़कें और रेले विदेशी उद्योग व व्यापार को प्रोत्साहन देती रही थी, अब उन्हे देशी उद्योग-धन्धो और आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन देना है।

अनेक नई-नई योजनाओ के कार्यान्वित होने और तेजी से बढते हुए यातायात के कारण भी सडक-निर्माण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यातायात की स्थिति पर विचार करके यह अनुमान लगाया गया है कि देश मे लगभग ४०,००० मील नये रेल-पथ की और आवश्यकता है। प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ के दस वर्ष मे केवल १,२०० मील नया रेल-पथ चालू हुआ है। इस चाल से ४०,००० मील नया रेल-पथ बनाने मे सैकड़ो वर्ष का समय लगेगा। अतएव जब तक देश के उन क्षेत्रो मे जहाँ रेल-पथ की आवश्यकता बतलाई गई है, हमे सडकें बनानी चाहियें और बढते हुए यातायात को सडक-परिवहन सेवा प्रदान करनी चाहिए। इस भाँति हमे उन क्षेत्रो को आवश्यक परिवहन सेवा प्रदान करने का श्रेय ही नही मिलेगा, वरन् उन क्षेत्रो की यातायात-क्षमता का भी पूर्णत: ज्ञान हो जाएगा और रेल-पथ के निर्माण का मार्ग नि:सन्देह खुल जाएगा। हम भावी रेल योजनाओ को अपने अनुभव के आधार पर बना सकेंगे; उसमे कल्पना का स्थान कम से कम रह जाएगा।

इन क्षेत्रो के अतिरिक्त देश के कुछ भाग ऐसे है जिन्हे हमारी उपर्युक्त रेल-योजनायें शताब्दियो तक नही छू सकेंगी, क्योकि हमारे पास रेल-पथ बनाने के लिए आवश्यक धन की कमी है। तो क्या ये क्षेत्र परिवहन-सेवा से सदियो तक वंचित

रहे ? नही । इस प्रकार की नीति आधुनिक नियोजित कार्यक्रम पर कुठाराघात करने वाला समभी जाएगी । अतएव इन क्षेत्रो मे सडके बनने की आवश्यकता है । ये सडकें रेलो और अन्य साधनो के पोषण (Feeding) का कार्य करेगी और देश की आर्थिक स्थिति मे सहायक सिद्ध होगी ।

देश की कृषि-व्यवस्था जब तक पशु शक्ति पर निर्भर है तब तक भारत के ग्रामीण क्षेत्र मे पशु-परिवहन अर्थात् सडको का महत्व कम नहीं हो सकता । आज जब हमने ग्राम-सुधार सम्बन्धी अनेक बडी-बडी योजनाये छेड रखी हैं, इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि अधिक सडकें बना कर उस क्षेत्र का कायाकल्प किया जाए और ग्रामीण जनता का नगर-प्रवास रोका जाए । ग्रामीण क्षेत्र की सेवा के लिए सडक परिवहन सर्वोपरि साधन है , रेले अथवा अन्य साधन वहाँ हार मान जाते और हथियार डाल देते हैं ।

देश मे पूँजी का अभाव भी हमे रेलो की अपेक्षा देश के आतरिक भागो मे सडक निर्माण की प्रेरणा प्रदान करता है । वर्तमान मूल्य स्तर के अनुसार एक मील रेल-पथ बनाने का व्यय लगभग ७,००,००० रु० होता है, जब कि एक मील सडक का व्यय केवल ८५,००० रु० ।[1]

विश्व के सभी देशो मे आजकल रेलो की अपेक्षा सडक निर्माण को अच्छा समभा जाता है । उदाहरणार्थ १६३६ और १६५३ के बीच सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे सडक यातायात मे २८६% वृद्धि हुई जबकि रेल-यातायात मे केवल ८३% वृद्धि हुई ।

देश मे इस समय लोहे और इस्पात की भारी कमी है और रेल-निर्माण के लिए *सडक-निर्माण की अपेक्षा कही अधिक लोहे और इस्पात की आवश्यकता* पडती है । ऐसी स्थिति मे हमारा ध्यान रेलो की अपेक्षा सडको की ओर विशेष जाना चाहिए ।

सड़क विकास की कठिनाइयाँ

सडको के विकास एव सडक-निर्माण की सर्वाङ्गपूर्ण एव व्यापक योजना बनाने मे तीन प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं : (क) प्रशासन सम्बन्धी, (ख) शैल्पिक (Technical) एव (ग) वित्तीय ।

(क) प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ—सडके राष्ट्रीय महत्व की हैं । कृषि, उद्योग एवं व्यापार के विस्तार के लिए ही वे लाभदायक नहीं हैं, शिक्षा-प्रसार, स्वास्थ्य-सुधार और राष्ट्र-रक्षा के लिए भी उनका महत्व है । उनका उपयोग भी सार्वभौमिक है । अतएव सडको के विकास की कोई भी योजना राष्ट्रीय स्तर पर

1. Indian Roads and Transport Development Association News Letter, Vol. XXV, No. 13, (16th July 1956), p. 7.

बननी चाहिए और उसके बनाने मे उनके उक्त राष्ट्रीय महत्व तथा राष्ट्रीय नीति का ध्यान सदैव रखना चाहिए। हमारे यहाँ सन् १६२८ तक सड़कों का निर्माण और अनुरक्षण सर्वथा प्रान्तीय सरकारो और स्थानीय संस्थाओ का उत्तरदायित्व समझा जाता था। जयकर समिति के सुझावो के उपरान्त उनके प्रति केन्द्रीय सरकार भी अपना दायित्व समझने लगी, किन्तु तो भी व्यवहार मे सरकारी मनोवृत्ति मे विशेष परिवर्तन न हुआ। सन् १६४७ मे नागपुर योजना का कार्यक्रम उठाने के उपरान्त सरकारी दृष्टिकोण मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और केन्द्र में एक अलग सड़क संगठन स्थापित किया गया। अब सडक-विषय परिवहन एव संवहन मंत्रालय का उत्तरदायित्व है। इस मंत्रालय मे एक अलग से सडक कक्ष (Road Wing) है, जो सड़क-विकास की योजनायें बनाने व उनके सूत्रीकरण इत्यादि के लिये उत्तरदायी है। इस भांति प्रवन्ध-प्रशासन सम्बन्धी कठिनाई अब हमारी सड़को के मार्ग से हट गई है। आवश्यकता है तो केवल रेलो पर सडको से अधिक ध्यान देने की पुरानी मनोवृत्ति के बदलने की। कुछ लोगों का विचार है कि सारी सडको का अधिकार केन्द्रीय सरकार का होना चाहिए तथा रेल-मन्त्रालय की भांति एक अलग सड़क मंत्रालय भी होना चाहिए। राज्यों की सरकारें एवं नगरपालिकाएँ केन्द्र के प्रतिनिधियों की भाँति काम करें। प्रत्येक राज्य मे एक सडक अधिकारी का स्थान होना चाहिए।

(ख) **शैल्पिक कठिनाइयाँ**—भारत एक विशाल एवं विविधतापूर्ण राष्ट्र है। यहाँ की भूमि की बनावट, जलवायु एव परिस्थितियों मे भारी अन्तर पाया जाता है। यदि देश मे इन बातो की एकरूपता हो तो सरलता से सड़क-विकास की कोई योजना बनाई जा सकती है। हमारे लिए यह सम्भव नही है। आसाम व बंगाल मे हर ऋतु मे काम आने वाली एवं उपयोगी सडकें बनाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु पंजाब, मद्रास एव उत्तर-प्रदेश इत्यादि राज्यो मे यह काम सरल है। उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों, बिहार व उडीसा में बाढ एक वार्षिक घटना है, जो सड़को के लिए महान् समस्या है। गंगा के मैदान मे सड़क-विकास मे सस्ती सामग्री सबसे बडी बाधा है। मध्य-प्रदेश और दक्षिण की काली मिट्टी भी सड़क-निर्माण के लिए अनुकूल नही। हिमालय पर्वत अथवा तराई क्षेत्र मे सडक-निर्माण दूभर ही नही, बडा खर्चीला काम है। सड़क-निर्माण के लिये यह क्षेत्रीय विविधता महान समस्या बन जाती है।

मिश्रित यातायात की दूसरी कठिनाई सड़क-निर्माताओं के मार्ग मे आती है। ऐसी सड़कें बनना सामान्यतः व्यावहारिक नही जो पशु-वाहनो (बैलगाड़ियो, इक्को, ताँगो) और मोटर-गाड़ियो दोनो के लिए सुविधाजनक हो।

इन कठिनाइयो को दूर करने के गत वर्षो मे यत्न किये गये हैं और हमारी कठिनाइयाँ बहुत कुछ कम हो गई हैं तथा और भी कम होती जा रही हैं। भारतीय सड़क कांग्रेस ने खोज-कार्य करके देश के विभिन्न भागो के लिए उपयोगी सड़क-तल (Road surfacing) और सेतु-संहितायें (Bridge codes) प्रस्तुत की है। बड़े नगरो

के निकट पहुँच कर सड़के दो प्रकार की बनाई जाने लगी हैं। एक मोटर गाडियों के लिए और दूसरी, बैलगाडियों और अन्य पशु-वाहनों के लिए। देश में एक केन्द्रीय सड़क गवेषणाशाला खुल चुकी है, जो सन् १९५० से इस ओर महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। देश में सड़क-निर्माण सम्बन्धी मशीनें और यन्त्र भी बनने लगे हैं।

(ग) वित्तीय कठिनाइयाँ—तीसरी बडी कठिनाई सड़क-योजना बनाने में धन का अभाव है। भारत निर्धन देश है और यहाँ पर्याप्त धन की भारी कमी है। सड़कों को अभी तक व्यावहारिक दृष्टि से अनुत्पादक माना जाता है। अतएव ऋण लेकर यह काम नहीं किया जाता। प्रसिद्ध नागपुर योजना के कार्यान्वित करने में सबसे भारी बाधा धन की कमी रही। इस समय देश में सड़क-निर्माण का कार्य केन्द्रीय सरकार, राज्य की सरकारें तथा स्थानीय संस्थायें सभी मिल कर करती हैं। यह नीति लाभदायक है। केन्द्र की सरकार कुछ अपनी वार्षिक आय से, कुछ केन्द्रीय सड़क निधि से (लगभग ५० लाख रुपए प्रति वर्ष) तथा कुछ पंचवर्षीय योजना से धन लेकर सड़क-निर्माण एवं विकास के लिए व्यय करती है। राज्य की सरकारें भी कुछ अपनी वार्षिक आय से, कुछ केन्द्रीय सड़क निधि से तथा कुछ योजना आयोग से धन प्राप्त करती हैं। स्थानीय संस्थायें बहुधा अपनी आय और राज्य सरकार की सहायता पर निर्भर रहती हैं। कुछ सड़क-निर्माण कार्य, मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्र में, श्रमदान से भी होता है। तो भी देश की आवश्यकताओं को देखते हुए ये सब साधन अनुपयुक्त हैं। वित्तीय अभाव दूर करने के लिए निम्नांकित अन्य सुझाव बहुधा दिए जाते हैं :—

(१) सड़क परिवहन से होने वाली सारी आय सड़क-निर्माण एवं सुधार के लिए नियत कर देनी चाहिए।

(२) कुछ लोग सड़कों के निमित्त एक विशेष भूमि कर लगाने का सुझाव देते हैं।

(३) केन्द्रीय सड़क निधि की भाँति प्रत्येक राज्य में एक-एक स्थायी सड़क निधि स्थापित की जानी चाहिए।

(४) यह सिद्ध हो चुका है कि सड़कें नहरों की भाँति ही उत्पादक हैं। अतः ऋण लेकर सड़कें बनाई जायें। ये ऋण ब्याज सहित सड़कों की आय से चुकाए जा सकते हैं।

(५) सड़क राष्ट्र-रक्षा के लिए भी उपयोगी हैं। अतः प्रतिरक्षा बजट (Defence budget) से भी उनके लिए कुछ धन देना चाहिए।

(६) गन्ना परिषदा, ग्राम-पंचायतों अथवा अन्य ऐसी ही विशेष संस्थाओं को सड़कों के विकास के लिए धन देना चाहिए।

अध्याय २२

नागपुर योजना

(Nagpur Plan)

द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व भारत मे सडकों की स्थिति सन्तोष-जनक नही थी। व्यावहारिक दृष्टि से सडको का सारा उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों के ऊपर था। केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सडक निधि (Central Road Fund) से प्रान्तो को वार्षिक अनुदान देकर समाप्त हो जाता था। घोर आर्थिक मन्दी के कारण प्रान्तो की वित्तीय स्थिति अच्छी नही थी। फलत: सड़को की दशा बडी शोचनीय हो चली थी। युद्ध छिड जाने पर स्थिति और भी बिगडने लगी क्योंकि सारी शक्ति उधर ही केन्द्रीभूत हो गई। युद्ध की प्रगति के साथ और विशेषत: जापानी आक्रमण के उपरान्त भारत सरकार का माथा ठनका, अब उसे सडको का वास्तविक महत्व ज्ञात हुआ। चिन्ता इस बात की थी कि किस भाँति सडको के क्षेत्र मे प्रगति की जाय। सैनिक महत्व की ही सडको की नही वरन् अब देश को व्यापारिक महत्व की सडको की भी आवश्यकता थी। प्रान्तीय सरकारो के पास पर्याप्त धन नही था। अतएव युद्ध क्षेत्र की और सैनिक महत्व की अन्य सड़को के लिए प्रतिरक्षा कोष से अनुदान दिए जाने लगे। किन्तु प्रश्न रहा व्यापारिक महत्व की सडकों का; उनके लिये रुपया कहाँ से आये। इस भाँति केन्द्रीय सरकार ने सडको के विकास के सम्बन्ध मे अपना उत्तरदायित्व समझा और अब उसके पेट मे खलबली मची। कहने का तात्पर्य यह है कि सडको के विकास के प्रश्न के सम्बन्ध मे सरकारी दृष्टिकोण मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चला।

जब उक्त विचारधारा चल रही थी, उसी समय रूस का उदाहरण लोगो के सामने था। रूस ने शान्ति-काल मे नियोजित ढंग से देश के आर्थिक उत्थान का प्रयत्न किया था। उसे जर्मन जैसे शत्रु को हराते देख कर विश्व के राजनीतिज्ञ दंग थे और यह समझ रहे थे कि रूस की इतनी शक्ति बढ़ाने का एकमात्र कारण उसकी पंचवर्षीय योजनायें और व्यवस्थित कार्यक्रम ही है। फलत: प्रत्येक देश के विद्वान् अपने-अपने देशो के लिए युद्धोत्तरकालीन विकास की योजनाएँ बनाने लगे। भारतीय राजनीतिज्ञो की भी इस ओर दृष्टि गई। जब युद्ध चल रहा था तभी देश के विकास और आर्थिक उत्थान की योजनायें बनने लगी। परिवहन के क्षेत्र मे यह बात पूर्णत: सिद्ध हो चुकी

थी, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, कि सडके बडे महत्व की हैं, किन्तु उनकी दशा बडी शोचनीय थी। साथ ही यह भी प्रगट हो गया था कि देश मे किसी भी प्रकार की योजना की सफलता और किसी भी प्रकार के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए सडको का विकास अनिवार्य है।

इस विचारधारा से प्रेरित होकर भारत सरकार ने भारतीय सडक कांग्रेस के आग्रह पर देश के सभी मुख्य-मुख्य इजीनियरो का एक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन दिसम्बर १९४३ म नागपुर म हुआ। इस सम्मेलन ने सडको के भावी विकास पर विचार किया तथा निम्नाकित सुझाव दिए :—

(क) सडके चार प्रकार की होनी चाहिये, राष्ट्रीय राजपथ, प्रान्तीय अथवा राज्य-राजपथ, जिले की सडके, तथा ग्रामीण सडके, राष्ट्रीय राज-पथ, देश के सडक पथ का मूलाधार समझी गई,

(ख) उक्त चारो ही प्रकार की सडके राष्ट्रहित के लिए महत्वपूर्ण समझनी चाहिये और एक का विकास दूसरे को हानि पहुँचा कर न होना चाहिये, सब का सतुलित विकास होना चाहिये।

(ग) केन्द्रीय सरकार को राष्ट्रीय राजपथो के निर्माण और पोषण का पूरा उत्तरदायित्व किसी योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुसार ओढ़ना चाहिये। इस योजना म अन्य प्रकार की सडको के विकास का कार्यक्रम भी सम्मिलित हो।

(घ) किसी अधिकृत योजना को कार्यान्वित करने एव तत्सम्बन्धी कार्य के नियन्त्रण और समन्वय के लिए एक स्वतत्र सडक बोर्ड की स्थापना होनी चाहिये और बोर्ड के पथ-प्रदर्शन के निमित्त एक सलाहकार परिषद होनी चाहिए।

इस सम्मेलन ने सडको के विकास की एक दसवर्षीय योजना बनाई जिसके अनुसार आगामी दस वर्ष म सडक-पथ की लम्बाई ४ लाख मील होने की सभावना की। यह योजना ही नागपुर योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सड़कों का वर्गीकरण

इस योजना की सबसे बडी विशेषता सडको का विधिवत् वर्गीकरण था। सारी सडको के चार वर्ग किए गये। योजना का वर्गों के अनुसार स्वरूप इस भाँति था :—

वर्ग का नाम	मीलो म लम्बाई	व्यय (करोड रुपयो म)
(१) राष्ट्रीय राजपथ (National Highways)	२२,०००	४७
राष्ट्रीय अनुयान (National Trails)	३,०००	३
(२) प्रान्तीय राजपथ (Provincial Highways)	६५,०००	१२१
(३) जिलों की सडके—बडी (District Roads—Major)	६०,०००	६२

जिलो की सडकें—छोटी ,, (Minor)	१००,०००	८०
(४) गाँवो की सड़कें (Village Roads)	१५०,०००	३०
युद्धकाल के पिछड़े हुए कार्य	—	१०'
पुल बनाना		४५
भूमि उपार्जन (Land acquisition)	—	५०
कुल जोड	४००,०००	४४८

राष्ट्रीय राजपथ—वे सडके हैं जो प्रांतो अथवा राज्यो के राजधानी के नगरों, बडे-बडे बन्दरगाहो, प्रमुख व्यापारिक केन्द्रो को परस्पर मिलाती है तथा देश की सडको का विदेशी (नेपाल, पाकिस्तान, ब्रह्मा, तिब्बत आदि) सड़को से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। ये देश मे आवागमन और संचार के मुख्य साधन है। इनमें सैनिक महत्व की सडके भी सम्मिलित हैं। इनके निर्माण, सुधार और मरम्मत का भार केन्द्रीय सरकार के ऊपर है।

प्रान्तीय राजपथ—ये विभिन्न प्रान्तो अथवा राज्यो के अन्तर्गत मुख्य सड़कें हैं जो एक ओर राष्ट्रीय राजपथो और पडोसी राज्यो की सडको से जा मिलती हैं और दूसरी ओर राज्य के राजधानी-नगरो एवं मुख्य व्यापारिक केन्द्रो को परस्पर जोडती है। इनके निर्माण और ठीक दशा मे रखने का भार राज्य की सरकारो पर है।

जिले की सड़कें—ये प्रत्येक जिले की मुख्य सड़कें है जो एक ओर राज्य की मुख्य सडको से जा मिलती हैं और दूसरी ओर जिले के मुख्य नगरो, उत्पादन केन्द्रो और मण्डियो को राजपथो अथवा रेलो से जोडती है। विभिन्न जिलो की राजधानियों को भी ये मिलाती है। इनका उत्तरदायित्व जिला बोर्डों पर है। जिले की छोटी सड़के गाँवो की सेवा करती है। ये बहुधा निम्नकोटि की और कच्ची सडकें हैं।

गाँव की सड़कें—एक गाँव का दूसरे गाँव से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। ये जिले की निकटवर्ती सडको से जा मिलती है। इनके बनने और सुरक्षित रखने का भार गाँव वालो के पारस्परिक सहयोग पर है। बहुधा ग्राम-पंचायतें इनकी देख-रेख रखती है। राज्य की सरकारो की भी इन के विकास मे रुचि होती है और ये पंचायतो को सहायता देती हैं।

नागपुर योजना का मुख्य उद्देश्य देश मे प्रत्येक वर्ग की सड़को का संतुलित विकास था ताकि विकसित कृषि क्षेत्रों का प्रत्येक गाँव निकट की मुख्य सडक से मिल सके और उसकी उपज का परिवहन सहज-संभव हो सके। योजना के अनुसार विकसित कृषि-क्षेत्रो का कोई गाँव मुख्य सडक से पांच मील से अधिक दूर न होना चाहिए चाहे औसत अन्तर दो मील तक हो। योजना मे नई सड़कें बनाने के साथ-साथ पुरानी सड़को के सुधार की ओर भी ध्यान दिया गया।

नागपुर सम्मेलन ने केन्द्रीय सरकार से राष्ट्रीय राजपथो का सारा उत्तरदायित्व ओढ़ने के साथ यह भी आग्रह किया था कि वह इनकी देख-रेख और प्रशासन

राष्ट्रीय राज-पथों की मुख्य-मुख्य सडकें निम्नांकित हैं[1] :

(१) अमृतसर-कलकत्ता,
(२) आगरा-बम्बई,
(३) बम्बई-मद्रास (बंगलौर होकर),
(४) मद्रास-कलकत्ता,
(५) कलकत्ता-बम्बई (नागपुर हो कर),
(६) वाराणसी-कुमारी अन्तरीप (नागपुर, हैदराबाद, कुर्नूल एवं बंगलौर हो कर)।
(७) दिल्ली-बम्बई (अहमदाबाद हो कर),
(८) अहमदाबाद-कांधला बन्दरगाह।
(९) अम्बाला—तिब्बत सीमा (शिमला हो कर)
(१०) दिल्ली-लखनऊ (मुरादाबाद हो कर)
(११) लखनऊ-बरौनी (मुजफ्फरपुर हो कर), इसकी एक शाखा नैपाल की सीमा तक जाती है।
(१२) असम पहुँच सडक,
(१३) असम मुख्य सडक। इसकी एक शाखा मणिपुर हो कर ब्रह्मा की सीमा तक जाती है।
(१४) जब्बलपुर-भोपाल-बायोरा सडक,
(१५) आगरा-जैपुर-बीकानेर,
(१६) शोलापुर-चित्रदुर्ग सडक।

(२) अन्य महत्वपूर्ण सडकें—राष्ट्रीय सडकों के अतिरिक्त कुछ अन्य राष्ट्रीय महत्व की सडको पर भी प्रथम योजना काल मे भारत सरकार ने काम जारी किया था जिनमे पस्सी-बदरपुर सडक (असम), पश्चिमी तट की सडक (महाराष्ट्र, मैसूर व केरल) और पठानकोट-ऊधमपुर सडक मुख्य थी। प्रथम योजना काल म पस्सी-बदरपुर सडक पूरी हो गई थी, केवल तारकोल करने और स्थायी पुल बनाने का काम शेष रह गया था जो द्वितीय योजना काल मे किया गया। पठानकोट-ऊधमपुर सडक भी अब पूरा हो चुकी है तथा पश्चिमी तट की सडक का लगभग तीन-चौथाई भाग बन गया है। बचा हुआ काम तृतीय योजनाकाल म पूरा किया जाएगा जिसके लिए २२ क० रु० के व्यय का अनुमान है।

(ख) राज्यों की सडकें

राज्यो की सडको का भार राज्य की सरकारो पर है। हाँ, उन्हे केन्द्रीय सडक निधि (Central Road Fund) से कुछ सहायता अवश्य मिल जाती है। प्रथम योजना काल मे यद्यपि ७८ करोड रुपए ही राज्यो की सडको के लिए रखे गए थे,

1. India 1961, p. 360 and Report of Ministry of Transport and Communications 1960-61, page 86.

किन्तु कालान्तर मे इसे बढाना पड़ा और वास्तविक व्यय लगभग ६३ करोड रुपए किया गया। द्वितीय योजना मे १६४ करोड़ रुपए नियत किए गए। तृतीय योजना मे राज्यो के लिए २४४ करोड़ रुपए नियत किए गए हैं। प्रथम योजना काल मे लगभग १६,००० मील पक्की और ५४,००० मील कच्ची सड़कें राज्यो मे बनी तथा द्वितीय योजना काल में २१,००० मील पक्की और ३७,००० मील अन्य प्रकार की सड़कें बनाई गईं। तृतीय योजना काल मे लगभग २५,००० मील पक्की सडकें बनने का अनुमान है। इस भाँति १९८०-८१ तक राज्यो मे सड़क-पथ की लम्बाई ६,२५,००० मील होने की आशा है।

द्वितीय योजना की भाँति तृतीय योजना मे उन क्षेत्रो को विशेष महत्व दिया गया है जो आवागमन के साधनो मे पिछड़े हुए है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंडमन व निकोबार द्वीपो, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, पूर्वोत्तर सीमान्त क्षेत्र, त्रिपुरा इत्यादि की कुल धनराशि का एक-चौथाई से एक-तिहाई तक सडक-विकास के निमित्त निर्धारित किया गया है। इसी कारण असम, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान राज्यो मे सडक-विकास को उच्च पूर्वाधिकार दिया गया है। राज्यो के अन्तर्गत भी पिछड़े क्षेत्रो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है अर्थात् पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र; उत्तर-प्रदेश के उत्तराखण्ड, बुन्देलखण्ड व अन्य पहाडी क्षेत्र, महाराष्ट्र के विदर्भ व मरहठावाद; आन्ध्र के तेलगाना; मैसूर व केरल के उत्तरी जिले तथा जम्मू-कश्मीर के लद्दाख और सोनावरी क्षेत्र इत्यादि।

ग्रामीण सड़कें—ग्रामीण जनता का सहयोग प्राप्त कर प्रान्तीय सरकारें स्थानीय संस्थाओ की सहायता से इनका विकास करती है। केन्द्रीय सरकार भी इस काम मे रुचि रखती है। अपनी सहानुभूति का परिचय देने के लिए प्रथम योजना काल में १५ लाख रुपए का एक अनुदान विशेष ग्रामीण सडको की योजनाओ के लिए दिया था और सडको के विकास के लिए एक 'आदर्श योजना' भी बनाई थी। केन्द्रीय सरकार ने प्रथम योजना काल मे ६० लाख रुपए केन्द्रीय सड़क आरक्षित निधि से ग्रामीण सड़को के लिए स्वीकार किए। इस भाँति केन्द्रीय सरकार के प्रोत्साहन, राज्य-सरकारो के सहयोग एवं ग्रामीण जनता के उत्साह के कारण प्रथम योजना काल मे लगभग २९,००० मील नया सड़क-पथ गाँवो मे बना। यह काम बहुधा सामुदायिक विकास योजनाओ के अन्तर्गत हुआ। द्वितीय योजना मे इसे और भी अधिक महत्व दिया गया। इस अवधि मे परिवहन मंत्रालय ने ग्रामीण सड़को के विकास के लिए सभी जिलो मे दाग-बेल लगा कर उनका भावी स्वरूप निर्धारित किया। इसी कार्यक्रम के अनुसार अब काम हो रहा है तथा योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र मे काम करने वाली विभिन्न संस्थाओ के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है।

अध्याय २३

सड़क परिवहन का विकास

(Development of Road Transport)

सडक परिवहन से तात्पर्य सडक मार्ग से यातायात (माल और यात्रिया) का आवागमन है। सडक मार्ग से यातायान का गमनागमन मुख्यत: बैलगाडियों, मोटरो, बाइसिकिलो एव अन्य वाहनो से होता है। आधुनिक युग म मोटर-गाडी ही सडक परिवहन का प्रधान अग मानी जाती है, यद्यपि भारतीय गाँवो मे बैलगाडी का महत्व भी कम नही हुआ।

मोटरें—भारत मे प्रथम मोटर गाडी सन् १८९८ मे आयात की गई थी। सन् १९१३ तक इसका प्रयोग अत्यन्त सीमित था, जबकि ३,०८९ गाडियाँ आयात की गई। धीरे-धीरे मोटरें लोकप्रिय होती गईं और प्रथम विश्व-युद्ध के वर्षों मे उन्होने युद्धक्षेत्र मे नाम पा लिया। युद्ध के उपरान्त अनेक मोटर गाडियाँ नागरिक जनता की सेवा करने लगी, यहाँ तक कि आर्थिक मन्दी के वर्षों मे ये रेलो के साथ टक्कर लेने लगी। तो भी सन् १९३८ तक आयात की हुई अधिकतर मोटर गाडियाँ, कारें व मोटर बाइसकिले थी। बस और मोटर ठेले बहुत कम आयात किए जाते थे। वस्तुत: सन् १९३८ तक मोटर गाडियाँ जन-साधारण की केवल सीमित सेवा करती थी। सन् १९३८ के उपरान्त स्थिति तेजी से बदलती गई। सन् १९४० से अधिकाधिक सख्या म बसे और मोटर ठेले आयात किए जाने लगे। इस समय देश म कारो की अपेक्षा बसो और मोटर ठेलो का उत्पादन अधिक होता है, जो इस बात का सूचक है, कि मोटरो की सेवा की माँग जन-साधारण म बढती जा रही है। सन् १९२० तक सारी मोटरे अपनी पूरी अवस्था म आयात की जाती थी, किन्तु तदुपरात उनकी जडाई (assembling) का काम देश मे होने लगा। सन् १९४४ मे दो भारतीय-मोटर निर्माण कम्पनियाँ बनी। अब देश म ९ अधिकृत निर्माता हैं तथा अनेक सहायक उद्योग हैं, जिनमे इन्जन, बैटरी, टायर इत्यादि बनते हैं। अब मोटरो अथवा कल-पुर्जो का आयात सर्वथा बन्द है और मोटर-निर्माण पूर्णत: एक देशी उद्योग है।

सन् १९२०-२१ मे विभाजित भारत के क्षेत्र म ३७,००० मोटर गाडियाँ थी। सन् १९३५-३६ तक इनकी सख्या १,१५,०००, सन् १९५०-५१ तक ३,१०,००० तथा सन् १९५५-५६ तक ४,१८,००० हो गई। अब देश मे मोटरो की

संख्या लगभग पाँच लाख है। ये आँकड़े मोटरो की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या की ओर संकेत करते है, किन्तु यह वृद्धि बढ़ते हुए अनुपात मे नही हुई। सन् १६२०-२१ से सन् १६३५-३६ की अवधि मे सन् १६२०-२१ की संख्या पर यह वृद्धि १४% प्रतिवर्ष थी; सन् १६३५-३६ से सन् १६५०-५१ तक की अवधि मे ११.५% प्रति वर्ष और सन् १६५०-५१ से सन् १६५५-५६ की अवधि मे केवल ७%। सन् १६५७-५८ के अन्त मे ४,६६,००० मोटर गाड़ियो मे से १,३३,००० मोटर ठेले, २,०५,००० व्यक्तिगत कारें, ४५,००० बसें, ५५,००० मोटर साइकिलें, १८,००० जीप गाड़ियाँ और शेष विविध गाड़ियाँ थी।

बाईसाक्लें—हाल के वर्षो मे बाईसकिल का प्रयोग बहुत बढ गया है और अब यह नाशवान् पदार्थों एवं लघु आकार की वस्तुओ के स्थानीय वितरण के लिए भी प्रयोग की जाने लगी है, यद्यपि इसका प्रयोग बहुधा यात्री यातायात के लिए होता है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे बाईसकिले भी यहाँ विदेश से आती थी। १६१२-१३ मे इनकी संख्या लगभग ८६,००० थी। सन् १६४७-४८ मे यह बढकर २,६१,००० हो गई। आज देश मे १०½ लाख बाईसकिलें बनती है और सन् १६६५-६६ के अन्त तक २० लाख बाईसक्लिे प्रति वर्ष बनने की सम्भावना है। इनके निर्माण मे १७ बड़े-बड़े कारखाने, जिनकी उत्पादन-क्षमता १० लाख है, और ४६५ छोटे-छोटे कारखाने जिनका उत्पादन-क्षमता २½ लाख है, भाग लेते है। देश मे अब मोटर, स्कूटर भी बनने लगे है।

बैलगाड़ियाँ—यद्यपि मोटरो और बाईसकिलो का प्रयोग दिन-पर-दिन बढता जा रहा है, किन्तु बैलगाडी जो प्राचीनतम साधन है, की भी देश मे महत्ता कम नही हुई। ग्रामीण क्षेत्र मे अभी भी उसका एकक्षत्र राज्य है। सन् १६४३ मे देश मे बैलगाडियो की संख्या ८० लाख थी और ये गाडिया लगभग १० करोड़ टन अर्थात् ठीक रेलो के बराबर माल यातायात ले जाती थी। अब देश मे बैलगाड़ियो की संख्या एक करोड़ हैं, जो लगभग १२·५० करोड़ टन माल यातायात को सेवा प्रदान करती हैं।

मोटर परिवहन का नियमन

यद्यपि सन् १६०३ और सन् १६११ के बीच अधिकतर प्रान्तो ने मोटर गाडियो के पंजीयन (Registration) के निमित्त कानून बना लिए थे, किन्तु सन् १६१४ से पूर्व कोई अखिल भारतीय विधान नही था। उस समय तक भाड़े पर मोटर गाडियाँ चलने लगी थी। अतएव सन् १६१४ का भारतीय मोटर वाहन कानून (Motor Vehicles Act) बनाया गया। इस कानून के अन्तर्गत केवल १८ धाराएँ थी। इस कानून के द्वारा मोटर गाडियो के पंजीयन, ड्राइवरो को लाइसेंस देने और असावधानी से गाडी चलाने पर दण्ड का विधान किया गया। इस कानून ने स्थानीय सरकारो को मोटर गाडियो के नियमन का अधिकार दे दिया। देशी राज्य इस कानून की परिधि से बाहर रहे। इस कानून के बनते ही प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ गया और मोटर गाडियो की संख्या बढ गई। युद्ध समाप्त होने पर अनेक गाड़ियाँ

इसी भाँति माल ले जाने वाले मोटर ठेलो का भी स्वतन्त्र संचालन बन्द हो गया। परमिट सामान्यत: सीमित क्षेत्र के लिए दिए जाने लगे। रेलों को मोटर गाड़ियों की अस्वस्थ्य प्रतियोगिता से बचाने के निमित्त लाइसेंस देने वाले अधिकारियों को अनुज्ञा-पत्रो को सीमित करने का अधिकार मिल गया।

इसी समय द्वितीय युद्ध छिड़ गया; यातायात मे भारी वृद्धि होती गई। बाहर से नई मोटरें आनी बन्द हो गई; पैट्रोल मिलना कठिन हो गया; कल-पुर्जों और टायर-ट्यूब इत्यादि का अभाव हो गया। इस भाँति मोटर गाड़ियों को भारी तनाव का सामना करना पड़ा और इस शिशु उद्योग का विकास रुक गया। रेलें और मोटरें दोनो ही अपनी पूरी-पूरी क्षमता का उपयोग करके भी बढ़े हुए यातायात को ले जाने मे असमर्थ रही। यह स्थिति युद्ध के उपरान्त भी बनी रही।

सिद्धान्त-व्यवहार-संहिता (Code of Principles)

इस विषम स्थिति मे भारत सरकार ने मोटर व्यवसाय पर एक और बोझ लाद दिया। सन् १९४५ में उन्होने रेल-हितो की रक्षा के निमित्त एवं मोटर ठेलो के क्षेत्र को सीमित करने के विचार से "सिद्धान्तो एवं व्यवहारो की एक संहिता" (Code of Principles and Practices) बनाई। इसके द्वारा राज्य-सरकारो को यह आदेश दिया गया कि ७५ मील से अधिक दूरी तक माल ले जाने की अनुमति मोटर गाड़ियो को तभी दी जाए जब यह देख लिया जाए कि रेलें उक्त क्षेत्र की यातायात ले जाने मे सर्वथा असमर्थ हैं। अब मोटरो की सेवा ७५ मील तक सीमित हो गई अर्थात् उनका व्यवसाय और भी गड़बड़ मे पड़ गया।

मोटर-वाहन कर जाँच समिति सन् १९५०

मोटर मालिको की ओर से इन सरकारी प्रतिबन्धो की कड़ी आलोचना होने लगी। मोटरो पर कर-भार भी अधिक लाद दिया गया। यह स्पष्ट हो गया था कि मोटरो के लिए कर-भार असह्य हो चला था तथा कर एवं उनकी दरें विभिन्न राज्यो मे विभिन्न थी। अतएव सन् १९५० मे भारत सरकार ने मोटर वाहन कर जाँच समिति बिठाई, जिसने मद्रास राज्य की दरो के ७५% के बराबर सभी राज्यो की मोटरो पर कर घटाने का सुझाव दिया तथा सीमा-कर, धुरी-कर, माल व यात्री करो के समाप्त करने का विचार व्यक्त किया। समिति ने यह भी कहा कि मोटरो और सह साधनो (accessories) पर बिक्री-कर जीवनोपयोगी वस्तुओ से अधिक दर से न लगना चाहिए तथा पैट्रोल पर केन्द्रीय उत्पादन-कर की तत्कालीन दर अर्थात् १५ आना गैलन से अधिक नही होना चाहिए। समिति ने "सिद्धान्तो एवं व्यवहारो की संहिता" द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धो और रुकावटो को भी मोटरो से तीन वर्ष के लिए हटाने का सुझाव दिया। समिति के इन सुझावो को भारत सरकार कार्यान्वित न कर सकी और मोटर गाड़ियो का कर-भार और बढ़ता चला गया।

परिवहन अध्ययन समुदाय (Study Group on Transport)

मोटर व्यवसाय इस भाँति कर-भार के अतिरिक्त भारी बन्धनो मे बँधकर

अवनत होता गया। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे ही परिवहन का भारी अभाव प्रतीत होने लगा और इससे योजना की प्रगति म बाधा पडने लगी। अतएव सन् १९५३ म भारत सरकार ने एक परिवहन-अध्ययन समुदाय की नियुक्ति की। इस समुदाय ने अपने प्रतिवेदन मे बतलाया कि रेलें प्राप्त होने वाले यातायात का केवल ६०% ले जाने म समर्थ हैं। इसके विपरीत सडक परिवहन की ३० से ४०% तक कार्य-क्षमता का प्रयोग नही हो रहा। समुदाय ने मोटर परिवहन की धीमी प्रगति के कारण म (१) अच्छी और पर्याप्त सडको का अभाव, (२) मोटर गाडियो का अधिक मूल्य और उनका ऊँचा सचालन व्यय, (३) अपर्याप्त मरम्मत सुविधाएँ, (४) मोटर-उद्योग का असगठित स्थिति, (५) उच्च कर-भार, (६) राष्ट्रीयकरण का भय तथा (७) विरोधी सरकारी नाति इत्यादि मुख्य कारण बताए। इससे मोटर व्यवसाय को बचाने के लिए समुदाय ने मोटरो को "सिद्धान्त सहिता' से मुक्त करने को कहा। उन्हाने कहा कि मोटरो का स्वतन्त्र-क्षेत्र ७५ से बढाकर १५० मील कर देना चाहिए और करो मे २०% कमी होनी चाहिये। समुदाय ने राष्ट्रीय परिवहन नीति निर्धारित *करने का भी सुझाव दिया और कहा कि इस नीति के अन्तर्गत पिछडे हुए और उपेक्षित* परिवहन के साधना को विकास का पूरा अवसर देना चाहिए। समुदाय ने देश में मोटर ठलो को सख्या द्वितीय याजना काल मे १,६०,००० तक करने का भी विचार व्यक्त किया।

सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति

योजना आयोग ने भी परिवहन सम्बन्धी कठिनाइया को ध्यान में रखकर मोटर व्यवसाय को बाधाओं को हटाने और उसे समुन्नत करने की बात पर द्वितीय योजना मे जोर दिया। भारत सरकार ने भी सन् १९५६ मे मोटर वाहन कानून में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। ता भी इस व्यवसाय की स्थिति सुधरती दिखाई न दी और मई सन् १९५८ में केन्द्रीय सरकार ने सडक परिवहन पुनर्गठन समिति नियुक्त की, जिसने मार्च सन् १९५९ में अपना प्रतिवेदन देते हुए मोटर परिवहन की अवनति के कारणो पर प्रकाश डाला और उसकी उन्नति के अनेक सुझाव दिए।

सडक परिवहन की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते हुए समिति ने बताया कि भारत एक विस्तृत देश है, जिसका क्षेत्रफल लगभग १२,७०,००० मील है और यहाँ की जनसख्या लगभग ३८ करोड है[1]। इस विस्तृत क्षेत्र और विशाल जनसख्या की आवश्यकता के लिए देश मे ३,९८,००० मील सडक-मार्ग है, जिनमे से १,४४,००० मील (३६%) पक्की सडके और शेष २,५४,००० मील (६४%) अन्य निम्न कोटि की और कच्ची सडके हैं। हमारी इन सडको पर अगणित पैदल यात्री, एक करोड पशु-वाहन, १,३३,००० मोटर ठेले, ४५,००० मोटर बसे, दो लाख निजी मोटर कार तथा सवा लाख के लगभग अन्य मोटर गाडियाँ चलती हैं। अकेली बैलगाडिया वर्ष

---

१. १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या ४३ ८० करोड़ है।

भर में उतना ही माल ढोती है जितना कि रेलें। मोटर बसो के वार्षिक यातायात का परिमाण ३,७७० करोड यात्री-मील तथा मोटर ठेलो का १,१४४ करोड़ टन मील आँका गया है।[2] भारतीय सडको एव सडक परिवहन मे लगभग १,४०० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है, जो भारतीय रेलो मे लगी हुई पूँजी के समान ही है।

यह स्थिति बडी आकर्षक प्रतीत होती है, किन्तु देश की जनसख्या और विस्तार को देखते हुए सन्तोषजनक नही है। देश की ८२% जनसंख्या एव विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र की सेवा का सारा उत्तरदायित्व बैलगाड़ियो और अन्य पशुवाहनो पर है, किन्तु इसकी दशा बडी शोचनीय है। हमारे पशु-वाहनो का रूप-रग और ढांचा अभी तक वही है जो सदियों पहले था; उसमे समाज की विकसित माँग के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन नही हुए। आधुनिक सड़कों के अभाव मे मोटर गाड़ियों की सेवा से यह क्षेत्र कोई विशेष लाभ नही उठा सकता।

देश मे मोटर गाडियों की संख्या भी पर्याप्त नही हैं। प्रति एक लाख जनसंख्या के लिए संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे ३८,०००, कनाडा मे २५,०००; आस्ट्रेलिया मे २३,०००, मलाया में १,४०० तथा लंका मे ६०० मोटर गाडियाँ है, किन्तु भारत मे केवल ८६ मोटरे है। इसी भाँति प्रति मील सडक-पथ के लिये ब्रिटेन मे २५, संयुक्त राष्ट्र मे २१, मलाया मे १३, लका मे ८ तथा कनाडा मे ७ मोटर गाडियों की व्यवस्था है, किन्तु भारत मे केवल एक गाडी की। यदि बैलगाडियो को भी सम्मिलित कर लें तो प्रति मील सडक के लिए १.५६ गाडियाँ होती हैं।

इस भाँति भारत सडक परिवहन में अन्य देशो से अत्यन्त पीछे है। इस पिछड़ेपन के समिति ने अनेक कारण बताए जिनमे से मुख्य निम्नांकित है :—

(१) **अपर्याप्त एवं बुरी सड़कें**—सडक परिवहन की उन्नति और विकास पर्याप्त एव सुदृढ सडको पर निर्भर है। भारत इस सम्बन्ध मे अन्य देशो से अत्यन्त पिछडा हुआ है। नीचे के आँकडे भारत के पिछड़ेपन की स्पष्ट सूचना देते हैं :—

सड़क-पथ की लम्बाई (मीलों में)

देश	प्रति वर्गमील क्षेत्रफल	प्रति एक लाख जनसंख्या
ब्रिटेन	३.२४	३८४
फ्रास	३.०३	१,५०२
सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	१.००	१,८३४
स्पेन	०.३८	२५१
लंका	०.३८	११५
भारत	०.२५	८२

2. Report of the Road Transport Re-organisation Committee, 1959, p. 4.

उपर्युक्त आँकड़े हमारे सडक सम्बन्धी पिछड़ेपन का पूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं करते, क्योंकि अन्य देशो मे बहुधा पक्की सडकें हैं, उन पर यथास्थान पुल भी बने हुए हैं तथा वे वर्ष भर यातायात के लिये खुली रहती हैं। भारतीय सडकों मे से ६४% कच्ची सडके हैं, जो वर्ष भर काम नहीं देती। उनमें से बहुत-सी ऐसी है जिन पर या तो पुलो का भारी अभाव है, या उनके पुल-पुलिया बड़े दुर्बल हैं। केवल देश के राष्ट्रीय राज-पथो पर द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे १५० बड़े पुलो का अभाव था, जिनमे से ७३ प्रथम और द्वितीय योजना मे बनाएगा और ८० तृतीय योजना मे बनाए जायेंगे। इस भाँति बहुत सी सडके केवल सीमित उपयोग की है। आज हमे अधिक सडकों और विशेषत: आधुनिक सडकों की आवश्यकता है। हमारी सडको की चौडाई भी कम है। देश मे नई सडकें कम से कम २२ फीट और हो सके तो २४ फीट चौड़ी बननी चाहिए, जिन पर नवीनतम गाड़ियाँ (अनुयान-मोटर ठेले इत्यादि) सुविधापूर्वक चल सके।

(२) अपर्याप्त मोटर गाड़ियाँ—एक तो यो ही देश मे अच्छी सडको का अभाव है और जो कुछ पक्की सडकें है उनका पूर्ण उपयोग नहीं होता, क्योंकि हमे पर्याप्त मोटर गाड़ियाँ उपलब्ध नहीं हैं। गत वर्षों मे मोटरो के आयात पर रोक लगा दी गई है और देश की उत्पादन-क्षमता हमारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कम है। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्ष मे ६७,००० गाड़ियो के उत्पादन का अनुमान लगाया गया था, किन्तु वस्तुत: उत्पादन केवल ४५,००० हुआ। अतएव हमारे देश मे प्रति एक लाख जनसंख्या के लिए केवल ८६ मोटरे हैं, जबकि संयुक्त-राष्ट्र मे ३८,००० कनाडा मे २५,०००, आस्ट्रेलिया मे २३,०००, ब्रिटेन मे ६,६००, फ्रास मे १,४०० तथा लंका मे ६०० मोटरें हैं। इसी भाँति प्रति मील सडक के लिए हमारे यहाँ एक मोटर गाडी है, जबकि ब्रिटेन मे २५, संयुक्त-राष्ट्र मे २१, मलाया मे १३, लंका मे ८, कनाडा मे ७, फ्रास मे ६ तथा ईराक मे २ गाड़ियाँ हैं। इस पिछडेपन का परिणाम यह है कि इस समय हमारी मोटर चलने योग्य सडको की २० से ४० प्रतिशत तक क्षमता प्रयोग मे नहीं आती अर्थात् हमे अपनी सडकों का पूर्ण उपयोग करने के लिए चार-पाँच गुनी मोटरों की आवश्यकता है।[1] देश मे मोटरो का उत्पादन बढाने के भरसक यत्न करने चाहिएँ और सरकार को इस सम्बन्ध मे आवश्यक विदेशी विनिमय पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिए।

(३) असह्य कर-भार—यह अधिकृत रूप से सिद्ध हो चुका है कि भारत मे मोटर गाडियो पर ससार भर मे उच्चतम कर-भार है। एक ओर मोटर गाडी, टायर, ट्यूब, उपकरण तथा मोटर स्प्रिट पर केन्द्रीय सरकार सीमा शुल्क (customs) और उत्पादन कर (excise duties) लगाती है और दूसरी ओर राज्य की सरकारें वाहन कर (Vehicle tax), माल और यात्री कर, प्रमाण-पत्र (permit) फीस, मोटर स्प्रिट, मोटर गाड़िया एव उनके कल-पुर्जों पर बिक्री-कर तथा धुरी शुल्क

---

1. I R, T D. A.—Roads and Road Transport in India, p. 21.

(wheel tax), चुंगी प्रवेश-शुल्क इत्यादि स्थानीय कर लगाती हैं। ये सब कर मिल कर मोटरो के संचालन व्यय का २०% के लगभग हो जाते हैं, कभी-कभी ३५% तक होते हैं। राज्यों की सरकारो द्वारा लगाए हुए करों सम्बन्धी नीति और उनकी दरें विभिन्न राज्यो मे भिन्न हैं। इन करो की मात्रा ही अधिक और असह्य नही, इनकी विविधता और वसूल करने वालो का व्यवहार भी मोटर संचालको के लिए अत्यन्त कष्टदायक है। मोटर कर जाँच समिति ने बताया था कि सन् १९५२-५३ मे भारत के लगभग ११ राज्यो से ११ करोड रुपए चुंगी अथवा सीमा कर के मोटरो से वसूल किए जाते थे, जिसे वसूल करने मे मार्ग की रुकावट के कारण मोटर चालकों को लगभग ६ करोड रुपए के मूल्य के बराबर संचालन व्यय मे हानि उठानी पड़ती थी। इस हानि के अतिरिक्त उन्हे वसूल करने के व्यय का अनुमान रुपए मे १४ आने लगाया गया।[2] अतएव यह सुभाव दिया गया है कि मोटरो के कर-भार मे कम से कम २० प्रतिशत कमी की जानी चाहिये और उनमे एकरूपता आनी चाहिये। नगर-पालिकाओ द्वारा ली जाने वाले चुंगी व कर और माल अथवा यात्री-कर सर्वथा बन्द कर देने चाहिये एवं केवल दो स्थानो पर कर मोटरो से वसूल करने चाहियें, केन्द्र मे और राज्यो मे। केन्द्रीय सरकार केवल पेट्रोल पर सीमा-कर और उत्पादन-कर लगाये एवं राज्य की सरकारें ईंधन-कर और मोटर वाहन-कर लगायें। मोटर ठेलो और बसो के बिक्री-कर की दर विलासी वस्तुओ के समान ऊँची नही होनी चाहिए।

(४) **वहन-भार सीमाएँ**—मोटर ठेलो की भार सम्बन्धी सीमाएँ भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न हैं। चार राज्यो मे (पंजाब, दिल्ली, प० बगाल और बम्बई) को छोड़कर अन्यत्र भार-सीमा इतनी कम है कि मोटरो का संचालन-व्यय एवं भाड़ा-दरें आवश्यकता से अधिक ऊँची हो जाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि पुलो और सड़को की शक्ति का ध्यान रखकर वैज्ञानिक ढंग से इन भार-सीमाओं को लगाना चाहिये, ताकि देश की सडकों एव मोटर गाडियो का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सके। भार-सीमा निर्धारित करने मे प्रति गाडी सीमा लगाना उचित नही, वरन् प्रति धुरी भार-सीमा बाधना उसका वैज्ञानिक ढंग है। राष्ट्रीय राजपथो पर चलने वाली गाडियो के लिये दो धुरियो पर १२ टन की भार-सीमा उचित बताई गई है। राज्य की सरकारो को भी कोई सर्वमान्य समान भार-सीमा अपनानी चाहिए।

(५) **अनुयान मोटर-ठेले (Truck Trailers)**—अनुयानों (trailers) एवं अर्द्ध-अनुयानो का अधिकाधिक प्रयोग देश की मोटर बनाने की सीमित क्षमता को देखकर परिवहन सुविधाओ के अधिकतम उपयोग का सहज मार्ग है। इससे परिवहन व्यय भी कम हो जाता है। अनुयान बनाने की क्रिया भी सामान्य मोटरों की क्रिया से सीधी-सादी बताई जाती है, जिसे मोटर-निर्माताओ के अतिरिक्त अन्य कारखाने

2. Report of the Road Transport Reorganisation Committee, *1959, P. 25.*

भी अपना सकते हैं और देश की निर्माण-क्षमता बढा सकते हैं। अनुयान मोटर ठेला सामान्य मोटर ठेले से दुना भार ले जाने मे समर्थ होता है। इससे परिवहन व्यय मे ३०% कमी हो जाती है। ऐसी गाडियो पर भार सचित नही रहता, वरन् फैला रहता है। अतएव दुर्बल पुलो को पार करने का भय कम हो जाता है और सडको की टूट-फूट भी कम होती है। अतएव हमे अनुयान मोटर ठेलो और अर्द्ध-अनुयान ठेलो को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(६) प्रतिस्पर्द्धी इकाइयाँ (Viable Units)—हमारे देश मे मोटर मालिको की एक बडी सख्या ऐसी है, जिसके पास एक या दो मोटरे होती है। ऐसे छोटे चालक न तो सेवा का उचित स्तर स्थापित कर सकते हैं और न कुशल प्रबन्ध के नमूने ही। उनके साधन सीमित होते हैं। अतएव अपने व्यवसाय का विकास करने मे भी वे बहुधा असमर्थ रहते हैं। शिल्पशालाओ और अनुरक्षण सुविधाओ का भी उनके पास अभाव होता है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि ऐसी इकाइयाँ बनाई जाएँ जो प्रबन्ध, सचालन एव सेवा के अच्छे नमूने उपस्थित कर सके और अच्छा कार्यकौशल दिखा सकें। प्रान्तीय सेवा के लिए ५ मोटरो की और अन्त-र्प्रान्तीय सेवा के लिए १० मोटरो की प्रतिस्पर्द्धी इकाई का सुझाव दिया गया है। इससे छोटी इकाइयाँ सामान्यत: अच्छी सेवा-सुविधाये नही दे सकती। ऐसी न्यूनतम इकाइयाँ हिसाब-किताब ठीक ढग से रख सकती हैं, पर्याप्त वित्तीय साधन जुटा सकती हैं और उपभोक्ताओ की अच्छी सेवा कर सकती हैं।

(७) साख सुविधाओं का अभाव—धन का अभाव मोटर व्यवसाय के विकास की भारी बाधा है। साख सुविधाओ के अभाव मे मोटर व्यवसायी अपने व्यवसाय की उन्नति करने मे असमर्थ हैं। अतएव उचित मूल्य पर ऋण देने की पर्याप्त सुविधाये देश मे बढाई जानी चाहिए। राजकीय बैंक कानून के सन् १९५७ के सशोधनो के उपरान्त भी उक्त बैंक मोटर-व्यवसाय की पर्याप्त सहायता करने मे असमर्थ रहा है। यह सुझाव दिया गया है कि रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह राजकीय बैंक (State Bank) और अनुसूचित बैंको को यह आदेश दे कि वे किराया-खरीद सस्थाओ, सहकारी बैंको एव मोटर सचालको को अधिक से अधिक ऋण देने की व्यवस्था करे। राज्य-वित्त निगमो को भी मोटर-सचालको को ऋण देने के यत्न करने चाहिए। साथ ही केन्द्रीय सरकार को पोतचालन एव अनुसूचित उद्योगो की भाति मोटर-सचालको को भी विकास-छूट (Development rebate) देनी चाहिए।

(८) राष्ट्रीयकरण का भय—अनेक राज्यो ने सन् १९४७ से मोटर-सेवा के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई, यद्यपि इसमे बहुधा उन्हे सफलता नही मिली है। तो भी वे सडको पर अधिकाधिक सरकारी मोटरें लाने के लिए लालायित रहे हैं और व्यक्तिगत मोटर व्यवसाइयो को दीर्घकालीन अनुज्ञा-पत्र (Permit) देने मे हिचकिचाते रहे हैं। जिन राज्यो ने सीमित मार्गों पर भी सरकारी मोटरे चलाई हैं उन्होने अन्य मार्गों के लिए भी व्यक्तिगत मोटर-सचालको को अल्पकालीन अनुज्ञापत्र (Permit)

दिए हैं। कभी-कभी अपर्याप्त सूचना देकर भी मार्गों का राष्ट्रीयकरण किया गया है। इससे मोटर मालिकों के लिए अनिश्चित स्थिति उत्पन्न हो गई है और व्यवसाय का विकास रुक गया है। वे इस व्यवसाय में धन लगाने से घबराते हैं। वस्तुतः मोटर-व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण को योजना में स्थान नहीं मिला। अतएव योजना आयोग ने राज्य की सरकारों को यह आदेश दिया है कि वे यात्री सेवा सम्बन्धी मोटर-व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के क्रमबद्ध कार्यक्रम (Phased Programme) अपनायें, ताकि मोटर मालिकों को उसकी पूर्व जानकारी हो सके। यह भी आदेश दिया गया है कि तृतीय योजना के अन्त तक माल-यातायात सम्बन्धी मोटर-सेवाओं का राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिए। सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति ने इस अवधि को तृतीय योजना के उपरान्त और दस वर्ष आगे तक बढ़ाने का सुझाव दिया है तथा कहा है कि जिन क्षेत्रों में परिवहन सुविधायें अपर्याप्त हैं, वहाँ मोटर मालिकों को लम्बी अवधि के अनुज्ञापत्र (Permits) स्वतन्त्रतापूर्वक दिये जाने चाहिएँ एवं राष्ट्रीयकरण के कारण विस्थापित संचालकों को अन्य मार्गों पर मोटरें चलाने के अनुज्ञापत्र देने चाहिएँ।

(९) राज्यों में सहयोग का अभाव—प्रत्येक राज्य की अन्य राज्यों की मोटरों पर कर लगाने की अपनी अलग नीति और अपने अलग नियम सीधे यातायात (Through traffic) के विकास में एक भारी बाधा है। जिस राज्य में से होकर कोई भी अन्तर्प्रान्तीय यातायात जाता है वहाँ उसे अलग-अलग कर देने पड़ते हैं। कुछ राज्यों ने पड़ौसी राज्यों की मोटरों पर कर लगाने की पारस्परिक सहयोगी व्यवस्था की है, किन्तु कई राज्यों में यह व्यवस्था नहीं है। कुछ राज्यों ने कुछ पड़ौसियों के साथ उचित समझौता किया है, किन्तु अन्य के साथ ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं किया। मध्य-प्रदेश और उड़ीसा ने अपने किसी पड़ौसी के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया; मद्रास ने आन्ध्र के साथ समझौता किया है, किन्तु केरल और मैसूर के साथ नहीं, बिहार ने प० बंगाल के साथ सहयोग किया है, किन्तु उड़ीसा और मध्य-प्रदेश के साथ नहीं। इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक राज्य को अन्य सभी पड़ौसियों के साथ पारस्परिक सहयोग करना चाहिए और जैसे व्यक्तिगत पर्यटक मोटरों को बिना रुकावट के एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने का अधिकार दिया जाता है उसी भाँति माल और यात्री सेवा प्रदान करने वाली मोटरों को भी अधिकार देना चाहिए। इस सम्बन्ध में आवश्यक कानून बनाकर शीघ्र बहुमुखी कर के स्थान पर एक स्थानीय कर की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(१०) नियमन विधि—मोटर-वाहन कानून, १९३९ द्वारा मोटर व्यवसाय का नियमन किया गया है। प्रारम्भ में इस कानून में कुछ ऐसे नियम थे जिनका मन्तव्य मोटर व्यवसाय के विकास करने के स्थान पर प्रतिबन्ध लगाना समझा जाता था। यद्यपि सन् १९५६ के संशोधनों के उपरान्त ये रुकावटें हट गई हैं, तो भी कुछ धारायें ऐसी हैं जो सन्देहात्मक भाव उत्पन्न करती हैं। अनुज्ञापत्र देने की कार्यविधि अत्यन्त लम्बी और दोषपूर्ण है। अतएव इसमें सुधार की आवश्यकता है।

(११) प्रशासनीय सगठन—राज्यो का वर्तमान प्रशासनीय-सगठन मोटर-व्यवसाय की विकासोमुख प्रवृत्ति के लिए अनुकूल नही है। इसमे महत्वपूर्ण परिवर्तनो की आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य मे एक अलग परिवहन मत्रालय होना चाहिए, जिसके दो कक्ष हो—एक सडको से सम्बन्धित और दूसरा सडक-परिवहन से सम्बन्धित। दोनो कक्षो के समन्वय के लिए एक सचिव हो। परिवहन आयुक्त (Transport Commissioner) के अधीन तीन परिवहन उपायुक्त हो, जो अलग-अलग कार्यों को सभाले। राज्य परिवहन अधिकारिया (State Transport Authorities) का सभापति कोई अनुभवी व्यक्ति होना चाहिए। प्रादेशिक परिवहन अधिकारी (Regional Transport Authority) की सदस्य-सख्या निश्चय करने म जनता की सुविधा मुख्य विचार होना चाहिए तथा जहाँ इन अधिकारिया का आकार बडा हो वहाँ प्रत्येक जिले म उसका एक दफ्तर अथवा शाखा होनी चाहिए। प्रत्येक राज्य म दावा न्यायाधिकरण (Claims Tribunal) और एक परिवहन सलाहकार समिति (Transport Advisory Committee) होनी चाहिए।

इन सुधारो के अतिरिक्त मोटरा के मूल्य मे कमी करके, उनका सचालन व्यय घटाकर, मरम्मत और अनुरक्षण सम्बन्धी सुविधाये बढाकर, मोटर व्यवसाय के सगठन म सुधार करके तथा रेला के प्रति पक्षपातपूर्ण सरकारी नीति म परिवर्तन करके भी मोटर व्यवसाय की उन्नति और विकास सम्भव है।

सडक वाहन कर व्यवस्था

किसी देश का सरकार सडको के निर्माण और अनुरक्षण सम्बन्धी व्यय की विविध प्रकार के करा द्वारा प्राप्त करती है। भारतवर्ष म तीन प्रकार के कर सडक-वाहनो पर लगाये जाते हैं. (क) केन्द्रीय कर, (ख) राज्या के कर, (ग) स्थानीय कर।

(क) केन्द्रीय कर—भारत सरकार मोटर गाडिया, उनके कलपुर्जों तथा सह-साधनो (Accessories) पर आयात कर लगाती है। इसी भाति पैट्रोल पर भी आयात-कर लगाया जाता है। दूसरा भारत सरकार द्वारा लगाया हुआ कर, उत्पादन कर (Excise Duty) है। यह भी मोटर गाडिया, उनके उपकरणों एव पैट्रोल के उत्पादन पर लगाया जाता है। हाल मे डीजल तेल (Diesel oil) पर भी उत्पादन कर लगाया जाने लगा है। सन् १९५० मे मोटर वाहन कर जाँच समिति (Motor Vehicle Taxation Enquiry Committee) ने अनुमान लगाया था कि केन्द्रीय सरकार के उक्त सब करो का भार हल्की मोटर गाडी पर ७१६ रु०, मँझली मोटर गाडी पर १,२९२ रु०, १४,५०० पौंड भार क्षमता वाली लारी पर ३,६९६ रु० तथा ३० यात्री बिठाने वाली बस पर ५,०८३ रु० थे।

(ख) राज्य सरकारों के कर—राज्यो म मोटर पर लगाया जाने वाला मुख्य कर वाहन-कर (Vehicle Tax) है। कोई भी गाडी बिना लाइसेंस नही

चलाई जा सकती है। लाइसेंस लेते समय फीस देनी पडती है। मोटर वाहन कर जांच समिति के अनुसार यह कर हल्की मोटर गाडी पर ७५ रु०; मंझली गाडी पर १५० रु०, लारी पर ८१० रु० और बस पर २२८० रु० था। दूसरा कर बिक्री कर है जो मोटर गाडियो, उनके कलपुर्जों, सहायक साधना तथा मोटरो मे प्रयोग होने वाले पैट्रोल पर लगाया जाता है। १९५० मे उक्त मोटर वाहन जांच समिति ने इस कर को हल्की मोटर गाडी पर ४५ रु०, मझला पर ७४ रु०; लारी पर २५७ रु०; और बस पर ३०८ रु० आंका था। इन दो करो के अलावा और भी कई प्रकार के कर राज्यो की सरकारे लगाती हैं जिनमे से निम्नांकित विशेष उल्लेखनीय हैं: (१) राज्य मे मोटर गाडी के प्रवेश का कर, (२) माल और यात्रियों को सड़क से ले जाने का कर अथवा उपकर (Cess), (३) कर की भाँति एक प्रकार की आज्ञा फीस (Permit Fees) भी बस गाडियो और मोटर ठेलो पर कुछ राज्यो मे ली जाती है।

(ग) **स्थानीय संस्थाओ के कर**—केन्द्रीय और राज्य की सरकारों के अतिरिक्त, नगरपालिकाएँ अथवा नगर महापालिकाएँ भी कई प्रकार के कर मोटर गाडियों से लेते है जिनमे से कुछ विशेष उल्लेखनीय निम्न है: (१) अड्डा कर (Stand Fees), (२) बाहर से माल लाने वाले ठेलो पर माल का कर, (३) पहिया कर (Wheel Tax), (४) चुंगी (Toll Tax)। ऐसे ही और भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कर भिन्न-भिन्न स्थानीय सस्थाओ द्वारा लिए जाते हैं।

मोटर गाडियो के अतिरिक्त नगरपालिकाएँ और नगर महापालिकाएँ तथा जिला-बोर्ड सड़क पर चलने वाली अन्य गाडियो पर भी कर लगाते है। नगरो मे चलने वाली बैलगाडियो, हाथ के ठेलो, साईकिलो, रिक्शाओ, इक्को-ताँगो इत्यादि पर भी कर लेती है।

इन विविध करो का मोटर गाडियो के सचालन और विकास पर असहनीय भार बढ जाता है। इस कर-व्यवस्था मे कई दोष है: (क) इसका सबसे बड़ा दोष अमित कर-भार है, (ख) दूसरा इसका बडा दोष इन करो की विविधता और विषमता है, (ग) इनका तीसरा बडा दोष करो की उत्तरोत्तर वृद्धि है।

(क) **असह्य कर-भार**—यह अनुमान लगाया गया है कि भारत मे मोटरो पर सब देशो से अधिक कर-भार लाद दिया है। भारत मे इस समय एक मोटर गाडी पर प्रतिवर्ष २,०७० रु० करो के रूप मे पडते है। इसके विपरीत इटली मे १५०० रु०, ब्रिटेन मे १३०० रु०, पच्छिमी जर्मनी मे १२०० रु०, आस्ट्रिया मे ६५० रु० तथा फ्रास मे केवल ८०० रु० वार्षिक कर लिया जाता है। भारतीय मोटर गाडियों पर सारे कर मिलाकर उनके वार्षिक सचालन व्यय के २० प्रतिशत के बराबर हो जाते है। कुछ राज्यो मे यह प्रतिशत ३० प्रतिशत तक है। इस भाँति मोटर गाड़ियों का संचालन अत्यन्त खर्चीला हो जाता है और उनके किराये-भाड़े अन्य

प्रतियोगी परिवहन के साधनो की अपेक्षा ऊँचे हो जाते हैं। रेल-भाडे की दर प्रति टन प्रतिमील ६ नये पैसे पडती है, मोटर गाडियों पर रेलों को उक्त दर से अधिक कर के रूप मे ले लिये जाते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि ५ टन क्षमता के एक मोटर ठेले पर कुल भार (आयात-कर छोडकर) ७.४४ नये पैसे प्रति टन मील पैट्रोल से चलने वाली गाडी पर पडता है। ऐसी स्थिति म मोटर गाडियो को रेलो के साथ समान स्थिति से प्रतियोगिता करने का अवसर नही मिल पाता। यह सरकारी नीति अत्यन्त पक्षपातपूर्ण है।

(ख) विविधता—यह ऊपर बताया जा चुका है कि मोटरो पर विविध अधिकारियो द्वारा कर लगाये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार, राज्यो की सरकारें और स्थानीय सस्थाये सभी अपने-अपने कर लगाती हैं और मोटर गाडियो को अधिक से अधिक चूसने का यत्न करती हैं। केन्द्रीय सरकार के करो के सम्बन्ध म एक स्थायी नीति दिखाई देती है। राज्यो म एसा नही है और न स्थानीय सस्थाओ मे। विचित्र नामो से एव विभिन्न दरो से कर लिए जाते हैं। इन करो के वसूल करने वाले अनेक अधिकारी होते हैं जो मोटर चालको को बडा कष्ट देते हैं और उनके मार्ग मे रुकावटें डालते हैं। १४,५०० पौण्ड भार क्षमता के एक मोटर ठेले पर वाहन पर दिल्ली में २०० रु०, बिहार म ३७५ रु०, आसाम मे ४५० रु०, पश्चिमी बगाल म ४५६ रु०, मध्य प्रदेश म ६५० रु०, बम्बई म ८०० रु०, उडीसा म १०८० रु०, उत्तर प्रदेश १२०३ रु०, राजस्थान मे १५०० रु०, और केरल, मैसूर तथा मद्रास में १४४० रु० है। इसी भाँति ३० यात्री बिठाने वाली एक बस गाडी पर पजाब मे २१६ रु० और मद्रास और केरल म ३६०० रु० तक घटता-बढता रहता है। स्थानीय सस्थाओ के करो का न कोई ठिकाना है और न कोई सीमा। अनेक नगरपालिकाये नगर से मोटरो के निकलते समय रुपया जमा करा लेती हैं जिसके लिए कभी-कभी उन्हे बडी दर तक रोक लिया जाता है और उस जमा किये हुये रुपये को वापिस देने म बडी देर की जाती है। झासी से निकलने वाली लारियो से कभी-कभी २५०० रु० जमा कराया जाती है। बगलौर मे सध्या के ७ बजे उपरान्त चु गी के दरवाजे बन्द कर दिये जाते हैं और इतवार के दिन केवल कुछ ही घण्टे के लिए खोले जाते हैं। लखनऊ और दिल्ली की नगरपालिकाएँ जो रुपया इस भाति निकलने के लिए जमा कराती हैं उसे वापिस नही करती। इस बात की आवश्यकता है कि इन करो की नीति म कोई एकीकरण हो।[1] चु गी, पहिया-कर एव यात्रियो और माल पर लिए जाने वाले करो का अन्त कर देने का सुझाव दिया गया है।

(ग) कर-वृद्धि—कर भार की विविधता के अतिरिक्त उसम उत्तरोत्तर होती हुई वृद्धि और भी गम्भीर समस्या है। हाल के वर्षों म सभी वस्तुओ के मूल्य तेजी से

---

१. भारत सरकार इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर रही है और शीघ्र इस सम्बन्ध मे निर्णय होने की सम्भावना है।

बढ़ते गये हैं और मोटरों का संचालन व्यय यों ही अत्यन्त बढ़ गया है। साथ-साथ करों में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है जो कि उनके लिये बड़ी दुखदायी है। १९४४-४५ में प्रति गाड़ी कर ६११ रु० था; १९४९-५० में यह १,११५ रु० और १९५४-५५ में १,६०६ रु० हो गया। इस समय बढ़कर यह २,०७० रु० हो गया है। इस वृद्धि की कोई सीमा होनी चाहिये।

यदि देश की योजनाओं को सफल बनाना वाछनीय है तो मोटर परिवहन का विकास अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि रेलें सभी बढ़ते हुए यातायात को ले जाने में असमर्थ रही हैं। यह बात आज सभी स्वीकार करते हैं कि सड़क परिवहन को करों से छुटकारा मिलना चाहिए। अधिकृत रूप से इस प्रश्न पर विचार किया गया है और इस बात का आग्रह किया गया है कि सड़क परिवहन को इस कर-भार से मुक्ति मिलनी चाहिए। मोटर वाहन कर जाँच समिति १९५०, कराधान जाँच आयोग १९५३ (Taxation Enquiry Commission), योजना आयोग का अध्ययन समुदाय १९५५ (Study Group), सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति १९५९ इत्यादि ने एक स्वर से मोटर गाड़ियों के करों में कमी करने और उसमें समन्वय लाने का विचार व्यक्त किया है। यह हर्ष का विषय है कि भारत सरकार और राज्य की सरकारों ने इस नीति को स्वीकार कर लिया है, किन्तु खेद है कि अभी तक इस ओर कोई सक्रिय और सफल यत्न नहीं किया जा सका। शीघ्र इस सम्बन्ध में किसी केन्द्रीय कानून और केन्द्रीय व्यवस्था की आवश्यकता है।

भारत में रेल निर्माण का युग सड़क परिवहन की अवनति का युग कहा जा सकता है। सारा धन और ध्यान रेलों की ओर इस भाँति केन्द्रीभूत हो गया कि सड़कों और सड़क परिवहन को सर्वथा भुला दिया गया। ऐसा विश्वास हो गया कि सम्भवत: रेलें ही एक मात्र आन्तरिक परिवहन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसी स्थिति में सड़कों की दुर्दशा और सड़क परिवहन का ह्रास स्वाभाविक था। पद-दलित धूल भी सिर पर पहुंच जाती। प्रथम युद्ध के उपरान्त अन्तिम स्वास भरते हुए सड़क परिवहन ने अपना सिर उठाया। रेलें जो कि अब तक लगभग एकाधिकार प्राप्त कर चुकी थीं उन्हें यह सहन न था। रेलों ने सड़क परिवहन के विरुद्ध भारी बवण्डर खड़ा कर दिया और १९३९ का मोटर वाहन कानून बना जिसके द्वारा सड़क परिवहन का नियमन और नियंत्रण किया गया। रेलों को इतने पर भी सन्तोष न हुआ और इस बात के यत्न किये गए कि सड़क परिवहन का पूरा अधिकार उन्हीं को मिल जाय। परतन्त्र भारत में यही देश की परिवहन नीति बनी रही।

स्वतन्त्र भारत में इस नीति के दुष्परिणाम हमारे सामने आये। देश के बहुमुखी आर्थिक विकास की अनेक योजनाएँ बनाई गईं। उत्पादन तीव्र गति से बढ़ने लगा। केवल उत्पादन बढ़ने से विकास नहीं होता। उस बढ़ते हुए उत्पादन को संचारित करते रहना और यथास्थान पहुँचाना विकास के लिए और भी अधिक आवश्यक है। प्रथम पंचवर्षीय योजना का आविर्भाव हुआ और हमारी वे परिवहन

सम्बन्धीकठिनाइयाँ जो कभी-कभी मुख ऊपर उठाती थी और बहुधा डुबकी लगाये रहती थी, अब उठकर खडी हो गई और चिल्लाकर हमारे कान के पर्दे फाडने लगी। लोगो को विश्वास न हुआ और अधिकृत स्पष्टीकरण की आवश्यकता हुई। दिसम्बर १९५३ मे परिवहन आयोजन सम्बन्धी अध्ययन समुदाय (Study Group on Transport Planning) को नियुक्ति की गई। सन् १९५५ म इस समुदाय ने अपना प्रतिवेदन सरकार, रेलो और जनता के सामने रखते हुए कहा कि यह विश्वास निर्मूल है कि रेले ही देश की परिवहन व्यवस्था का मूलाधार हैं। रेले देश की परिवहन सम्बन्धी माँग की पूर्ति करने मे सर्वथा असफल रही है और व्यवसायी को महान कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उद्योगपतियो को पर्याप्त सख्या म रेल डिब्बे नही मिलते जिससे उनका उत्पादन नियमित रूप से नही हो सकता और कभी-कभी कच्चे माल अथवा कोयला के अभाव म और कभी बने हुए माल के सचित हो जाने के कारण कारखाना बन्द कर देना पडता है। उद्योगो से जो आँकडे समुदाय को प्राप्त हुए उनसे ज्ञात हुआ कि बडी रेलो पर ३ या ४ दिन और मझली रेलो पर ८ से १० दिन तक की डिब्बो की मासिक माँग पूर्ति नही हो पाती थी। सामान्यत दो दिन की माँग के बराबर डिब्बे भरा माल महीने के प्रतिदिन रुका पडा रहता था। यह अनुमान लगाया गया कि बडी रेलो के डिब्बो की कमी ११% और मझली रेलो के डिब्बो की कमी २४% थी और दोनो को एक साथ लेकर १०%। व्यस्त काल (busy season) मे जो कि ७ महीने का समझा जाता है, ऊपर बतायी हुई डिब्बो की कमी दुगुनी हो जाती थी। १९५३-५४ मे ४५,७२५, बडी रेल के डिब्बे और ६३,९५५ मँझली रेल के डिब्बे उद्योगपतियों को कम मिले और इतना माल रुका पडा रहा। अहमदाबाद के कागज के कारखानो को प्रति दिन अपनी माँग के ५०% डिब्बे ही मिल पाते थे। बम्बई के रबड उद्योग को अपनी माँग का ८६·४ के बराबर डिब्बे नही मिलते थे। १९५३-५४ मे सूती वस्त्र उद्योग को ३६% डिब्बो की कमी प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति म उद्योग अल्प अथवा दीर्घ काल के लिए बन्द होने लगे। उन्हे भारी नुकसान होने लगा और उपभोक्ता माल होते हुए भी उसके लिए तडपने लगे।

यह स्पष्ट हो गया था कि रेले देश की परिवहन सम्बन्धी माँग पूर्ति करने मे सर्वथा असमर्थ थी। अतएव यदि प्रथम पचवर्षीय योजना को सफल बनाना वाञ्छनीय था तो परिवहन के अन्य साधनो को विकसित करने की आवश्यकता थी और इन साधनो मे केवल सडक परिवहन ऐसा था जो परिवहन सम्बन्धी माँग की कमी की पूर्ति कर सकता था। फिर क्या था सबकी निगाहे उसी की ओर जाने लगी। भारत सरकार ने इस सम्बन्ध म कई सम्मेलन किये जिनमे इस बात को मुक्त कठ से स्वीकार किया कि योजना की सफलता सडक परिवहन के विकास पर निर्भर है।

द्वितीय योजना म हमारी अर्थ-व्यवस्था और हमारे उत्पादन की गति और भी प्रबल हुई। हमारी कठिनाइयाँ भी बढनी स्वाभाविक थी। यह बात और भी स्पष्ट हो गई कि रेलो के साथ सडक परिवहन के विकास की ओर भी विशेष ध्यान

देने की आवश्यकता है और विविध यत्नो के द्वारा उसके पुनरुत्थान के यत्न किए जाने लगे।

सड़क परिवहन के विकास के मार्ग मे आने वाली अनेक बाधाओ का पता लगाया गया। इन्हे हल करने के जो यत्न समय-समय पर किये गये है उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जाता है।

(१) सड़कें और पुल—सड़क परिवहन के विकास मे सबसे बड़ी बाधा अपर्याप्त सड़के पाई गई। अनेक सड़के ऐसी थी जिन पर पुल न होने के कारण उनका पूर्ण उपयोग सम्भव नही था। प्रथम योजना के प्रारम्भ से अब तक ४६,००० मील पक्की सड़के और १०३,००० मील कच्ची सड़के देश म बन चुकी हैं और ७३ बड़े-बड़े पुल बनाये गये हैं। हाल मे सड़को के विकास की एक २० वर्षीय विशाल योजना बनाई गई है, जिसके द्वारा सन् १९८०-८१ तक सड़क पथ अब से द्विगुणित (६,५७,००० मील) हो जायगा।

(२) मोटर गाडियाँ—सड़क परिवहन के विकास मे दूसरी बड़ी बाधा मोटर गाडियो की कमी पाई गई। एक तो देश मे सड़को की कमी और उन पर गाड़ियो का अभाव और भी अधिक बाधा उपस्थित कर रहा था। प्रथम योजना के प्रारम्भ होने के समय से मोटर गाडियो की सख्या २,९५,००० से बढ़कर अब ४,९९,००० हो गई है अर्थात् ७० प्रतिशत वृद्धि हुई है। देश मे मोटर गाडियो का उत्पादन बढ़ाने के भी यत्न किए जा रहे है। इस समय लगभग ५७,००० गाड़ियाँ प्रतिवर्ष बनकर निकलती है। तृतीय योजना के अन्त तक उत्पादन-क्षमता १,००,००० मोटरे प्रतिवर्ष करने का विचार है।

(३) कर—भारतीय मोटर गाडियो पर विश्व भर मे सब देशो से ऊँचे कर लगे हुए है। यह कर सचालन-व्यय के सामान्यत: २० प्रतिशत और कभी-कभी ३० प्रतिशत तक होते है। यह बात स्वीकार कर ली गई है कि मोटरो के कर मे कमी होनी चाहिए और यह भी मान लिया गया है कि मद्रास मे जितना कर लिया जाता है उसके ७५% से अधिक किसी राज्य म मोटरो से अधिक कर नही लिया जाना चाहिए। यह सीमा बाँधने के लिए केन्द्रीय सरकार शीघ्र ही कानून बनाने जा रही है। यह कदम मोटर वाहन कर जाँच समिति के सुझावो के उपरान्त उठाया गया है। इस समिति ने सन् १९५० मे अपने सुझाव भारत सरकार के सामने रखे थे।

(४) भार-क्षमता—मोटर व्यवसाय को लाभदायक बनाने मे एक बाधा मोटर कानून के अन्तर्गत लगाई गई, भार-क्षमता सीमा थी। सन् १९५६ मे मोटर वाहन कानून मे सशोधन करके भार-क्षमता १४,५०० पौंड से बढाकर १८,००० पौंड कर दी गई है। इस बात के यत्न हो रहे हैं कि इसे और भी अधिक बढ़ाकर २७,००० पौंड तक कर देना चाहिए। इससे मोटरो के सञ्चालन-व्यय मे कमी होगी और वे सस्ते भाड़े लेने मे सफल हो सकेगे।

(५) अनुयान मोटर ठेले (Truck Trailer)—यह कहा जाता है कि देश मे मोटर गाडियो का उत्पादन विदेशी विनिमय के अभाव म वाछनीय मात्रा मे नही किया जा सकता। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि वर्तमान गाडियो का पूरा उपयोग हो। इसी विचार से प्रेरित होकर इस बात के यत्न किये जा रहे हैं कि अनुयानो और अर्द्ध-अनुयानो का अधिकाधिक प्रयोग हो। ये अनुयान मोटर ठेले से दूना भार ३० प्रतिशत कम व्यय पर ले जाने मे समर्थ होते हैं। सडकों की टूट-फूट भी इनसे कम होती है और दुर्बल पुलो को पार करने म भी कोई भय की आशका नही होती।

(६) प्रतिस्पर्धी इकाइयां (Viable Units)—भारतीय मोटर परिवहन के मार्ग म एक बाधा छोटी इकाइयो की है। अतएव यह सुझाव दिया गया है कि मोटर सचालको की बडी-बडी इकाइयां बनाई जायें जो उपभोक्ताओ को अच्छी और सस्ती सेवा दे सकें।

(७) साख सुविधाएँ (Credit Facilities)—मोटर मालिको के लिए साख सुविधायें बढाने के निमित्त १९५७ मे राज्यकीय बैंक के कानून मे आवश्यक सशोधन करके मोटर मालिको के लिए किराया खरीद (Hire-Purchase) व्यवस्था द्वारा सुविधायें दी गई हैं। इस बात के यत्न किये जा रहे हैं कि रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंका को यह आदेश दे कि वे भी मोटर मालिकों को ऋण देने की उचित व्यवस्था करें।

(८) राष्ट्रीयकरण—राष्ट्रीयकरण का भय मोटर परिवहन के विकास मे सबसे बडी बाधा बताई जाती है। इस भय को हटाने के सरकार ने पूरे यत्न किये है और मोटर ठेलो का राष्ट्रीयकरण तृतीय योजना के अन्त तक स्थगित करने की घोषणा कर दी गई है। योजना आयोग की ओर से राज्यो की सरकारो को यह भी आदेश दिया गया है कि वे यात्री सेवाओ के राष्ट्रीयकरण की कोई योजनायें बिना योजना आयोग की अनुमति के हाथ मे न ले।

(९) मोटर वाहन कानून—सन् १९३९ के मोटर वाहन कानून मे कुछ ऐसे नियम बताये जाते थे जो मोटरो के मार्ग मे बाधक थे। १९५६ मे उसका सशोधन करके उक्त बाधाओ को हटाने का और मोटरो के विकास का मार्ग खोलने का यत्न किया गया है। राज्यो के मोटर वाहन सम्बन्धी कानूनो म भी समता लाने का केन्द्रीय सरकार आग्रह कर रही है।

(१०) प्रशासन-व्यवस्था—मोटर परिवहन की प्रशासन-व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण बताई जाती थी। इसका ठीक-ठीक ज्ञान करने के लिए भारत सरकार ने मई १९५८ मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति (Road Transport Reorganisation Committee) श्री मसानी के सभापतित्व मे नियुक्त की थी। इस समिति ने मार्च १९५९ मे अपना प्रतिवेदन भारत सरकार को दिया। इसम समिति ने मोटर वाहनो के मार्ग की अनेक बाधाओ की ओर सकेत करते हुए उनके हटाने के बहुमूल्य सुझाव दिये। समिति ने सडक परिवहन के प्रशासन से सम्बन्धित केन्द्रीय और राज्यो की

वर्तमान व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करने के सुझाव दिये हैं। इन सुझावों को अभी कार्यान्वित नहीं किया गया।

(११) **अन्तर्राज्य परिवहन आयोग (Inter-state Transport Commission)**—मोटर परिवहन के मार्ग की एक बड़ी बाधा भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न विरोधी नियम हैं। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में मोटरें जाने की बहुधा आज्ञा नहीं दी जाती और विचित्र नियम उन पर लागू किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में समन्वय स्थापित करने के विचार से १९५८ में अन्तर्राज्य परिवहन आयोग की स्थापना की गई थी जो कि राज्यों के बीच समन्वय लाने का यत्न करता है।

(१२) **समन्वय-व्यवस्था**—भारत सरकार ने परिवहन के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय लाने के विचार से १९५८ में ३ उच्चस्तरीय संस्थायें स्थापित की थीं जो : (क) परिवहन विकास परिषद् (Transport Development Council), (ख) सड़क एवं अन्तर्देशीय जल परिवहन सलाहकार समिति (Road and Inland Water Transport Advisory Committee) और (ग) केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति (Central Transport Co-ordination Committee) हैं।

(१३) **राष्ट्रीय परिवहन नीति**—सभी परिवहन के साधनों को उचित स्थान देने के विचार से भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि शीघ्र राष्ट्रीय परिवहन नीति की घोषणा होनी चाहिए। इस विचारधारा से प्रेरित होकर मई १९५९ में श्री नियोगी के सभापतित्व में परिवहन नीति समिति (Transport Policy Committee) नियुक्त की गई थी। यह समिति शीघ्र अपने सुझाव भारत सरकार को दे करके सभी साधनों के विकास का मार्ग प्रशस्त करने में सफल हो सकेगी ऐसी आशा की जाती है। यह समिति खोज-बीन का कार्य कर चुकी है और अपना प्रारम्भिक एवं अन्तरिम प्रतिवेदन भी प्रकाशित कर चुकी है। समिति का विचार भारत की वर्तमान परिस्थितियों में सरकारी नियमों के द्वारा ही परिवहन समन्वय लाना श्रेयस्कर है।

अध्याय २४

केन्द्रीय सड़क संगठन

(Central Roads Organisation)

परिवहन एव सचार मत्रालय

परिवहन मत्रालय का निर्माण जुलाई १६४२ मे हुआ था। इस समय सवादवहन विभाग (Department of Communication) के दो भाग कर दिए गए। एक का नाम डाक व वायु विभाग (Department of Posts and Air) और दूसरे का युद्ध परिवहन विभाग (Department of War Transport) रखा गया। इस द्वितीय विभाग का ही नाम बदल कर कालान्तर मे परिवहन मत्रालय पडा। बडे बन्दरगाह, रेल पूर्वाधिकार, सडक एव जल परिवहन का उपयोग, पैट्रोल राशनिंग (Petrol Rationing) व उत्पादक गैस (Producer Gas) इत्यादि विषयो के लिए युद्ध परिवहन विभाग का उत्तरदायित्व समझा गया। केन्द्रीय सडक निधि (Central Road Fund) उसकी परिधि के बाहर थी। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल मे परिवहन सम्बन्धी माग की पूर्ति व सूत्रीकरण था। रेल, सडक, अन्तर्देशीय जलमार्ग तथा समुद्रतटीय पोतचालन के उपयोग के सम्बन्ध मे पूर्वाधिकारो का निश्चय करना भी इसी का अधिकार था। बडे बन्दरगाहो के प्रशासन (Administration) तथा विकास के लिए भी यही विभाग उत्तरदायी था। जुलाई १६४४ मे उद्धोपरान्तकालीन सडक नियोजन जिसमे केन्द्रीय सडक निधि भी सम्मिलित थी तथा 'मोटरवाहन कानून' (Motor Vehicles Act) का प्रशासन आदि विषय भी डाक व वायु विभाग से हट कर युद्ध परिवहन के अधिकार म आ गए। अप्रैल १६५० मे 'रेल पूर्वाधिकार' विषय रेल मत्रालय के पास चला गया और वाणिज्य मत्रालय से समुद्र-नौवहन व नौपरिवहन (Maritime Shipping and Navigation) तथा दीपस्तम्भ (Light Houses) व लघुजलयान (Light Ships) इत्यादि विषय परिवहन मत्रालय के पास आ गए।

परिवहन विभाग

सामान्यत परिवहन मत्रालय के परिवहन विभाग के आजकल निम्नाकित मुख्य कर्त्तव्य है परिवहन के साधनो (रेलो समेत) का समन्वय, सडक परिवहन, छोटे और बडे बन्दरगाह, जहाज परिवहन एव जहाज-निर्माण-घाट, दीपस्तम्भ (Light Houses) तथा छोटे जहाज (Light Ships), अन्तर्देशीय जलपरिवहन, पर्यटन (Tourism), सडक विकास जिसमे राष्ट्रीय राजपथ भी सम्मिलित है, केन्द्रीय सडक

निधि तथा परिवहन सम्बन्धी अन्य काम एव उनका सूत्रीकरण इत्यादि। प्रशासन सुविधा के विचार से परिवहन विभाग के दो कक्ष (Wings) हैं। परिवहन कक्ष (Transport Wing) सड़को एव पर्यटन को छोड़ कर परिवहन सम्बन्धी अन्य सभी विषयों के लिए उत्तरदायी है। दूसरा कक्ष सड़क कक्ष (Road Wing) है जो सड़को के विकास जिनमे राष्ट्रीय राजपथ भी सम्मिलित है, सब राज्य-क्षेत्र (Union territories) की सड़कों, तथा केन्द्रीय सड़क निधि के लिए उत्तरदायी है। पर्यटन के विकास तथा भारत के पर्यटन कार्यालयों के प्रबन्ध-प्रशासन के लिए एक अलग पर्यटन विभाग खोल दिया गया है। मन्त्रालय का सचिव इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी है तथा परामर्शदाता इञ्जीनियर (Consulting Engineer) सड़क कक्ष का।

सड़क सगठन (Roads Organisation)

परामर्शदाता इञ्जीनियर के नीचे केन्द्रीय सड़क सगठन का सचिवालय और उसके व्यावसायिक विभाग (Technical Branches) है। सचिवालय के आठ उप-विभाग (Sections) और व्यावसायिक विभाग की पाँच शाखायें (Branches) हैं। इन विभागो मे विविध विषयो के विशेषज्ञ अधिकारी कार्य करते हैं जिनमे योजना अधिकारी, परामर्शदाता इञ्जीनियर (Engineer Consultants) हैं। सचिवालय के आठ उपविभाग (Sections) और व्यावसायिक विभाग की पाँच शाखाये (Branches) है। इन विभागो मे विविध विषयो के विशेषज्ञ अधिकारी कार्य करते है जिनमे योजना अधिकारी, परामर्शदाता इञ्जीनियर (Engineer Consultants), पुल, प्रमापण, सड़क सम्बन्धी मशीनो इत्यादि के विशेषज्ञ, आवश्यक छोटे अधिकारी, प्रारूपकार (Draughtsmen) इत्यादि मुख्य है। योजना अधिकारियो का कर्त्तव्य विभिन्न राज्यों के लोक कर्म विभागो (Public Works Departments) को सहायता प्रदान करना और केन्द्रीय सरकार को राष्ट्रीय राजमार्गो की योजना बनाने तथा बड़े-बड़े पुलो के स्थान नियुक्त करने और उनके रूपांकण (Designing) मे परामर्श देना है। ये उच्च अधिकारी विभिन्न प्रकार के प्रमाप (Standard) और रूपाकणों (Designs) के विकास मे भी सहायक होते तथा नई योजनाओ के सम्बन्ध मे व्यावसायिक परामर्श प्रदान करते हैं। परामर्शदाता इञ्जीनियरो का कार्य योजना बनाने और विकास कार्यों मे राज्य के लोक कर्म विभागो एवं केन्द्र के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है।

सड़क संगठन का मुख्य काम राष्ट्रीय राजमार्गो से सम्बन्धित वार्षिक कार्यक्रम बनाना तथा उस कार्यक्रम का संशोधन करना है। दीर्घकालीन योजनाओ मे आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक काट-छाट करना भी इसी का कर्त्तव्य है।

राष्ट्रीय राजमार्गों से सम्बन्धित उक्त कार्यों के अतिरिक्त, सड़क संगठन अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओ को हल करता है जो सड़को के विकास, राज्य की सरकारे को अपने क्षेत्रों मे सड़को के विकास के लिए अनुदान देने, सड़को से सम्बन्धित अनुसंधान कार्य करने उनसे सम्बन्धित आंकड़े इकट्ठे करने, मशीनें प्राप्त करने तथा सड़को के इञ्जीनियरो के विदेशो मे प्रशिक्षण इत्यादि विषयो से सम्बन्धित है।

सड़क गवेषणा (Road Research)

भारत एक विशाल राष्ट्र है। ऐसे विशाल राष्ट्र म विभिन्नता होना स्वाभाविक है। यहां की भूमि म इस विभिन्नता का राज्य है। आसाम व बगाल म षट्ऋतु उपयोगी सडके बनाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु पूर्वी पजाब, मद्रास व उत्तरप्रदेश आदि राज्यो म सब ऋतुओं म काम आने वाली एव सब प्रकार के यातायात के योग्य सडके बनाना सरल है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिला, बिहार व उडीसा म बाढ से सडको को भारी क्षति पहुँचती है। **गङ्गा के मैदान मे सडक-विकास मे सबसे बडी बाधा सडक बनाने की सस्ती धातु की है।** बम्बई तट नदियो द्वारा अनेक खाडियो और खड्डो म बाट दिया गया है। मध्य प्रदेश और दक्षिण की काली मिट्टी म गुणो के साथ अनेक दोष भी हैं। हिमालय पर्वत साल के कई महीनो म बर्फ से ढका रहता है जिससे उस क्षेत्र से होकर सडके बनाना दूभर और भयानक है। यद्यपि इस प्रादेशिक विभिन्नता म अनेक गुण हैं, किन्तु सडक निर्माताओ के लिए यह कठिन समस्याये उपस्थित कर देती है। प्रत्येक क्षेत्र म ऐसी सडके बनें जो वहां की जलवायु, प्राकृतिक बनावट तथा भूमि के स्वरूप के अनुसार हो।

दूसरी समस्या जो सडक निर्माताओ के सम्मुख उपस्थित होती है वह मिश्रित यातायात की है। मोटर के आने से पूर्व सडक निर्माण व सुधार एक सरल काम था, किन्तु यान्त्रिक वाहन के सडक पर आने के उपरान्त नई-नई यातायात सम्बन्धी समस्याये उत्पन्न होने लगी और परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार नई-नई विचारधारायें उठ खडी हुई। केन्द्रीय सडक निधि के निर्माण के उपरान्त कुछ अनुसधान कार्य हुआ है। **सेतु सहिता (Bridge Code) का निर्माण** सबसे महत्वपूर्ण कार्य है जो इस क्षेत्र म हुआ। दूसरा महत्वपूर्ण अनुसधान कार्य **ग्रामीण सडकों के लिये ककड के धरातल का विकास और धीमी व तेज चाल वाली गाडियों को अलग मार्ग से चलने की अनेक विधियां हैं।** नगरो के निकट पहुँचने पर अनेक स्थानो पर बैलगाडियो के चलने के लिये अलग सडके बना दी गई हैं। शहरो के निकट की सडको के लिए योजनाएँ बनाते समय इस सिद्धान्त का अब सर्वदा ध्यान रखा जाता है, क्योकि यात्री जनता की सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा सुविधा के विचार से यह सिद्धान्त अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। भूमि की बनावट के सम्बन्ध मे किए गए अनुसधान कार्यो से सडके बनाने म बहुत कुछ मितव्ययता होने की सम्भावना है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व सडको के सम्बन्ध म बहुत कुछ वैज्ञानिक खोज की जा चुकी थी, किन्तु उस खोज के प्रयोगात्मक मूल्य का पूरा पता नहीं चल पाया था। इस कार्य को प्रयोगो द्वारा पूर्ण करना आवश्यक है।

इन्ही सब कार्यों को सम्पन्न करने के लिए ६ सितम्बर १९५० को दिल्ली के निकट ओखला नामक स्थान पर वैज्ञानिक व औद्योगिक गवेषणा परिषद के तत्वावधान म केन्द्रीय सडक गवेषणाशाला (Central Road Research Institute) की नीव पडी। १६ जुलाई १९५२ को इसका अपना भवन बन कर तैयार हो गया और यह सुचारु रूप से कार्य करने लगी। इसकी अपनी प्रयोगशाला और साज-सामान तथा प्रयोगात्मक यन्त्र हैं। इस प्रयोगशाला का उद्घाटन करते समय प्रधान मन्त्री प०

जवाहरलाल नेहरू ने यह आशा प्रकट की थी कि इस प्रयोगशाला को ग्रामीण क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। हम बड़े नगरों का मिलाने वाली बढ़िया और आधुनिकतम सड़कों पर विशेष जोर देने की आवश्यकता नहीं। शहरों में तो सड़कें यों ही बन जायेंगी, क्योंकि मोटरों में चलने वाले शहरी लोग हू-हल्ला मचा कर सब सुविधायें शीघ्र करा लेते हैं, किन्तु गाँव की मूक जनता इस प्रकार का हू-हल्ला मचाना नहीं जानती। अतएव उनकी कोई सुनवाई नहीं होती। उन्होंने कहा था कि इस प्रयोगशाला को ऐसी सड़कों की खोज करनी चाहिए जो बहुत कीमती और बढ़िया तो न हों किन्तु ग्रामीण जनता के उपयोग के लिए अच्छी और सस्ती हों। उनका सुधार कालान्तर में किया जा सकता है।

लखनऊ और मद्रास में प्रादेशिक प्रयोगशालायें भी स्थापित की गई हैं जो केन्द्रीय सड़क गवेषणाशाला के कार्य में हाथ बटाती है। कई राज्यों ने सड़क अनुसंधान कार्य की जाँच के लिए प्रयोग केन्द्र स्थापित किए हैं।

अनुसंधान कार्यों का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जो भी खोज कार्य किया जाए उसका प्रयोग करके देखा जाय और अन्त में उसका उपयोग किया जाय। केन्द्रीय सड़क संगठन का मुख्य कर्त्तव्य इन विभिन्न प्रयोगशालाओं व केन्द्रों के कार्यों में सूत्रीकरण करना है।

भारतीय सड़क कांग्रेस ने भी महत्वपूर्ण खोज कार्य किए हैं। पुलों के रूपांकण, सड़कों की चौड़ाइयाँ, धरातल, आँकड़े तथा आर्थिक भूमापन इत्यादि उल्लेखनीय विषय हैं जिन पर कांग्रेस ने कार्य किया है। एक दूसरी सस्था भारतीय सड़क व परिवहन विकास संस्था (Indian Roads and Transport Development Association) है जो सड़कों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य करती है।

सड़क बनाने की मशीनें व सामान

सड़क विकास योजनाओं के कार्यान्वित करने में सड़क कूटने के इंजनों (Road Rollers) की कमी सबसे बड़ी बाधा है। सड़कों के विकास की योजनायें बनाते समय १९५० में यह अनुमान लगाया गया था कि आगामी चार-वर्ष में देश के लिये लगभग २,३०० सड़क कूटने के इंजनों की आवश्यकता होगी। फलतः १,५०० इंजिनों के बनाने के लिए देशी निर्माताओं को आदेश दिये गये थे और शेष के लिए अमेरिका और ब्रिटेन से मँगाने का प्रबन्ध किया गया था। देश में इंजन बनाने के व्यवसाय को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने विदेश से शक्ति द्वारा संचालित इंजन मँगाने वाले व्यापारियों को सीमित लैसेंस देते रहने का निश्चय किया। जितने इंजनों की आवश्यकता थी उतने एक साथ उपलब्ध न होने के कारण भारत सरकार को प्रपुंज प्राप्ति योजना (Bulk Procurement Scheme) बनानी पड़ी जिसके अनुसार उन्होंने इंजन मोल लेकर विभिन्न राज्यों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार बाँटने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस योजना के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने यह भी उत्तरदायित्व ग्रहण किया कि जितने इंजन बनाने के आदेश निर्माताओं को

दिये गये हैं, यदि उतने इंजन नही बिक पाने, तो वे भारत सरकार को लेने और वेचने पड़ेगे। १६५१-५२ के अन्त मे लगभग ७५ इंजन नही बिक रहे थे। वे सब भारत सरकार को लेने और विभिन्न राज्यो को बाँटने पडे जिनके उत्तरदायित्व से सरकार १६५२-५३ मे छुटकारा पा सकी।

४७५ तेल से चलने वाले इंजनो (Diesel Road Rollers) के निर्माण के लिए सर्वश्री जैसप एण्ड कम्पनी, कलकत्ता (Messrs. Jessop & Co., Calcutta) को आदेश दिया गया था। उन्होने १६५२-५३ तक सारे इजन बना कर अपने आदेश की पूर्ति करदी थी। ६५० भाप चालित इंजनो (Steam Road Rollers) के लिए सर्वश्री टाटा लोकोमोटिव एण्ड इंजिनियरिंग कं० लि० (Messrs Tata Locomotive and Engineering Co Ltd.) को आदेश दिया गया था जिन्होने उसे १६५३-५४ तक पूर्ण कर दिया।

देश मे भाप व तेल से चलने वाले दोनो प्रकार के सडक कूटने के इंजन बनाने का व्यवसाय सुचारु रूप से चालित है और प्रतिवर्ष देश की माँग पूरी करन के लिए इजन बनन लगे हैं।

भारतीय सडक काग्रेस द्वारा स्थापित सडक निर्माण मशीन तथा यन्त्रीकरण उप-समिति के आदेशानुसार भारत मे पत्थर के सडक कूटने के इजन बनाने के कारखाने भी खुल गए हैं।

सडक संगठन राज्यो को इजन प्रदान करने के साथ-साथ उनके लोककर्म विभागो को ठीक प्रकार के इजनो व मशीनो के प्रयोग, उनकी मरम्मत तथा संचालन इत्यादि विषयो पर आवश्यक परामर्श भी प्रदान करता है। राज्यो को आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराने मे भी सहायक होता है। लोहे का बटवारा भी इन्ही के द्वारा किया जाता है।

प्रशिक्षण सुविधाये (Training of Personnel)

भारत मे योग्य और प्रशिक्षित व्यक्तियो की भारी कमी है। सड़को के क्षेत्र मे भी इस प्रकार के इंजीनियरो की कमी स्वाभाविक है, अतएव भारत सरकार ने दूसरे देशो के अनुभव तथा अनुसधान से लाभ उठाने का बीडा उठाया है। वे विभिन्न देशो मे सुविधानुसार अपने लोगो को सडक निर्माण तथा प्रशासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते हैं। कोलम्बो योजना, चतुर्मुखी सहायता योजना (Point 4 Aid programme) तथा संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक विकास छात्रवृत्ति (United Nations Economic Development Scholarships) के अन्तर्गत भारत से कनाडा व संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे भारतीय इंजीनियर प्रशिक्षण के लिए गत वर्षों मे जा चुके हैं।

केन्द्रीय सडक संगठन द्वारा छोटे इंजीनियरो को सडको व पुलो के रूपाकरण (Designs) से सम्बन्धित प्रशिक्षण देने का भी प्रबन्ध किया गया है जहाँ विभिन्न राज्यो द्वारा भेजे हुए इंजीनियर प्रशिक्षण प्राप्त करते है।

इस भाँति केन्द्रीय सडक संगठन सडक-निर्माण व विकास मे विभिन्न प्रकार की सहायता व सहयोग प्रदान करता है।

अध्याय २५

मानव एवं पशु परिवहन

(Human & Animal Transport)

बीसवीं शताब्दी में यांत्रिक परिवहन का आश्चर्यजनक विकास हुआ है और इसकी प्रगति अब भी जारी है। तो भी मानव और पशु परिवहन का सर्वथा लोप नहीं हो गया। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे सभ्य और समुन्नत देशों में भी स्थानीय परिवहन में मानव और पशु परिवहन का बोलबाला है। घरों में माल रखने-उठाने का काम सभी देशों में घरेलू नौकरों से लिया जाता है; स्टेशनों पर कुलियों का प्रयोग भी विश्वविख्यात है; विविध वाहनों में माल उतारने-चढ़ाने की क्रिया भी बहुधा मानव-शक्ति द्वारा ही सम्पन्न की जाती है। बैलगाड़ी, इक्का, ताँगा अथवा अन्य पशु वाहन भी सार्वभौमिक उपयोग के हैं।

मानव परिवहन

आधुनिक युग में यान्त्रिक वाहनों का प्रयोग अधिक लोकप्रिय है और मानव शक्ति का प्रयोग अनैतिक और असामाजिक समझा जाता है। परिवहन के क्षेत्र में मानव-शक्ति से काम लेना किसी देश अथवा जाति के पिछड़ेपन की निशानी मानी जाती है। इस सम्बन्ध में कोई दो मत नहीं हो सकते। तो भी मानव-शक्ति का सर्वथा परित्याग वर्तमान परिस्थितियों में असम्भव है। इसके कई कारण हैं :—

(१) **भौगोलिक परिस्थितियाँ**—अनेक क्षेत्र ऐसे है जहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ मानव परिवहन अथवा मानव वाहन के लिए बाध्य करती हैं। पहाड़ी ढालों पर, सघन वनों में, तंग गलियों में एवं अविकसित क्षेत्रों में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य साधन काम नहीं देते। पहाड़ी ढालों पर बहुधा चढ़ाई अथवा उतराई इतनी अधिक होती है कि वहाँ मोटर, पशुवाहन अथवा पशु भी सुगमता से काम नहीं देते और उनका संचालन व्यय भी आवश्यकता से अधिक हो जाता है। वहाँ कुली सहज, शीघ्र और सस्ती परिवहन सेवा प्रदान करने में समर्थ है। सघन वनों में किसी प्रकार की सड़क का बनना और उसका सुरक्षित रखना असम्भव है। बिना आधुनिक सड़क के मोटर और सामान्य सड़क के पशु वाहन का प्रवेश सम्भव नहीं। ऐसे क्षेत्रों में मानव-शक्ति ही काम देती है।

(२) बुरी सडकें—जहां सडकें नही हैं अथवा ऐसी सडकें हैं जो यान्त्रिक अथवा पशु वाहन के चलने के अनुपयुक्त हैं, वहाँ मानव अथवा मानव वाहन से ही काम लिया जाता है। भारतीय किसान एवं अन्य गरीब जनता अपने दैनिक जीवन मे बहुधा निजी शक्ति का ही प्रयोग करते हैं। खेत से खलियान, खलियान से घर और घर से खेत तक भारतीय किसान बहुधा ढुलाई का काम स्वयं ही करता है। ऊँची-नीची भूमि पर रेतीले और दलदली क्षेत्रो मे एवं घुमावदार गलियो मे कोई भी यान्त्रिक अथवा पशु वाहन सफल नही हो सकता। खादरवासी बहुधा निजी शक्ति का उपयोग करते पाये जाते हैं।

(३) कम यातायात—कभी-कभी एक स्थान पर इतना कम यातायात उपलब्ध होता है कि मनुष्य के अतिरिक्त किसी वाहन का लाभदायक प्रयोग नही किया जा सकता। कृषि व्यवसाय ऐसे ही क्षेत्रो मे गिना जाता है।

(४) स्थानीय यातायात—बहुधा स्थानीय परिवहन मे दूरी इतनी कम होती है कि किसी यान्त्रिक अथवा पशु वाहन का प्रयोग लगभग असम्भव-सा ही होता है। रेल स्टेशनों पर कुलियो का प्रयोग, रेल अथवा मोटर गाडियो मे माल का उतारना-चढाना, कार्यालयों और कारखानों म वस्तुओं का इधर-उधर अथवा यथास्थान रखना, खाद्यान बाजारो मे पल्लेदारी इत्यादि ऐसे ही स्थानीय परिवहन के उदाहरण हैं।

(५) देश की गरीबी—भारत मे अनेक जातियाँ और अनेक लोग इतने गरीब हैं कि वे किसी वाहन का किराया-भाडा सहन करने मे असमर्थ हैं। ऐसे लोग या तो स्वय अपना माल ढोते हैं अथवा सस्ते नौकरो और कुलियो से ढुलवाते हैं। देश की गरीबी के कारण यहाँ की बढती हुई बेकारी भी अनेक लोगो को कुली, पल्लेदारी अथवा रिक्षा का व्यवसाय करने को विवश करती है। युद्धोत्तर काल मे भारतीय नगरो मे रिक्षा चलाने वालो की बढ़ती हुई सख्या इसका जीता-जागता प्रमाण थी।

(६) छोटी इकाई—परिवहन की छोटी से छोटी इकाई मानव अथवा मानव द्वारा चलाए जाने वाले वाहन (ठेल, रिक्षा, बैंहगी) ही हैं जो अन्य सभी वाहनों से सस्ते पडते हैं। कारण यह है कि उन्हें अत्यन्त कम और अनियमित यातायात द्वारा भी लाभदायक बनाया जा सकता है। उनकी चाल विशेष महत्व की नही समझी जाती। गरीब लोगो के लिए समय का उतना महत्व नही जितना पैसे का।

यात्री यातायात के लिए मानव-शक्ति का उपयोग अत्यन्त सीमित है। पहाडी क्षेत्रो मे उन लोगों को मनुष्य ले जाता है जो स्वय चलने मे असमर्थ हैं। इसके लिए बहुधा डाँडी अथवा डोलियो का प्रयोग किया जाता है। रिक्षा ऐसी गाडी है जिसे बहुधा मनुष्य खीचता है। कुछ रिक्षाओं को मनुष्य पैदल चलकर खीचता है; किन्तु अब इनका प्रचार बहुधा कम हो गया है, क्योंकि अनेक लोग ऐसी सवारी मे बैठना अमानुषिक समझते हैं। साइकिल रिक्षा का हाल मे बहुत प्रचार बढ गया है। केवल उत्तर प्रदेश मे इस प्रकार की २५००० से अधिक रिक्षायें चलती हैं। इसके स्थान पर

भी यात्रिक रिक्शा लाने का विचार किया जा रहा है और दिल्ली जैसे बड़े शहरों में कुछ यात्रिक रिक्शायें चलने भी लगी हैं। रिक्शा का दिनों-दिन बढ़ता हुआ प्रयोग आधुनिक सभ्यता से मेल नही खाता। अतएव १९५५ से भारत सरकार ने धीरे-धीरे रिक्शा चलाने का काम सर्वथा बन्द करने की नीति अपनाई और इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को आदेश भी दिया। मैसूर राज्य ने इस काम को निषेध घोषित करके बन्द कर दिया, किन्तु अन्य राज्य-सरकारों ने इसका केवल नियमन उचित समझा। हाल में भारत सरकार की उक्त नीति का भारी विरोध हुआ है। रिक्शा चालकों को इस विरोध में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक निर्णय से समर्थन प्राप्त हुआ है जिसमें यह कहा गया था कि नगरपालिकाओं के अन्तर्गत रिक्शाओं की संख्या सीमित करना भारतीय संविधान की धारा १९ (१) (ज) के विपरीत है। न्यायालय ने यह भी कहा था कि रिक्शा चलाने के लिए नए चालकों को आज्ञा न देना संविधान की धारा १४ के विपरीत पड़ता है। इस भांति रिक्शा का अन्त करने के मार्ग में कानून बाधक है।

मानव-शक्ति का उपयोग माल-यातायात के लिये अधिक होता है। बड़े शहरों में अनेक लोग बोझ ढोने का काम करते अथवा ठेला चलाते हैं।

पशु-परिवहन

भारत में पशु-परिवहन का अब भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। बैल यहाँ का लोकप्रिय पशु है और बैलगाड़ी भारतीय गाँवों का एक मात्र परिवहन का साधन है। गधा, घोड़ा, खच्चर, ऊँट, हाथी इत्यादि अन्य पशुओं से भी काम लिया जाता है। याक, रेंडियर, कुत्ता इत्यादि पशुओं का अपने देश में उपयोग नही होता जैसा कि पिछले पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है। विभिन्न पशुओं का प्रयोग भौगोलिक परिस्थितियों तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है। उदाहरणतः राजस्थान के रेगिस्तान में ऊँट काम आता है, तो हिमालय के क्षेत्रों में खच्चर व टट्टू उपयोगी हैं। इस देश के गरीब लोग जैसे धोबी, कुम्हार बहुधा गधे से काम लेते हैं। तराई के जंगलों में हाथी पाला जा सकता है। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि इस यान्त्रिक युग में भी पशु परिवहन का इस देश में इतना प्रचार क्यों है? ध्यान-पूर्वक देखा जाए तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। प्रत्येक देश और प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में ऐसी विरोधी बातें पाई जाती हैं। आजकल भी हम महत्काय व्यवसाय के साथ-साथ कुटीर उद्योगों को चलते देखते हैं। आधुनिक यंत्रों के होते हुए भी प्राचीनतम कला-कौशल विद्यमान है। इसी भाँति रेल, मोटर, जहाज के युग में भी बैलगाड़ी, इक्का, ताँगे इत्यादि पशु-वाहनों का प्रचार है।

पशु-परिवहन के लाभ—पशु-परिवहन में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण यान्त्रिक परिवहन इसे हटा नही सका।

जो बात मानव परिवहन के लिए कही गई है, वही पशु परिवहन के लिए भी सत्य है। जिन परिस्थितियों में मानव परिवहन यान्त्रिक परिवहन से उत्तम समझा

जाता है, उन्ही परिस्थितियो मे पशु-परिवहन भी। पशु-परिवहन संभवत: मानव परिवहन से भी अधिक उपयोगी और उचित समझा जाता है, क्योकि पशु मनुष्य से अधिक शक्तिशाली होता है। उसे थकावट कम और देर में होती है; वह अधिक भार ले जाने मे समर्थ है तथा मनुष्य को अपेक्षा उसकी चाल भी अधिक होती है। यही कारण है कि मानव परिवहन और यान्त्रिक परिवहन दोनो ही की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र मे पशुओं अथवा पशु वाहनो का प्रयोग होता है। जिन परिस्थितियों मे पशु अथवा पशु-वाहन मानव एव यान्त्रिक परिवहन से उत्तम समझे जाते हैं, इसका विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) भौगोलिक स्थिति—कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां भूमि की बनावट, जलवायु, अथवा अन्य भौगोलिक कारणो से पशु के अतिरिक्त और किसी साधन का परिवहन के लिए उपयोग सभव नही है। पहाडी ढालो, बर्फीले स्थानो, रेगिस्तानो, सघन वनों अथवा उष्ण व नम प्रदेशो मे पशु ही परिवहन के एक मात्र साधन हैं। पहाडी क्षेत्रो मे ऊँची-नीची भूमि, उतार-चढाव और नदी नालो की अधिकता के कारण रेलें अथवा सडकें बनना अति दूभर और खर्चीला काम है। गढवाल, अलमोडा, शिमला इत्यादि बिखरे बसे क्षेत्रो के गांव-गांव को न सडक द्वारा जोडा जा सकता है और न रेल द्वारा। वहाँ तो टट्टू, खच्चर अथवा याक ही काम देता है। टुड्रा के बर्फीले क्षेत्रो मे कुत्ता ही मुख्य परिवहन पशु है। ऊँट रेगिस्तान का जहाज माना जाता है। असम के सघन वनो एवं हिमालय की तराई मे हाथियो से काम लिया जाता है। नेपाल, भूटान, शिकम और तिब्बत के साथ भारत का सारा व्यापार पशुओं द्वारा ही होता है।

(२) सडको के अभाव मे अथवा बुरी सडकों पर—जिन क्षेत्रो में आधुनिक सडके नही हैं अथवा बुरी सडकें हैं, वहाँ पशु अथवा पशु वाहन ही काम देते हैं। भारत का एक विस्तृत क्षेत्र इसी प्रकार का है। हमारे अनेक गांव ऐसे हैं जिनसे पक्की सडके कोसो दूर हैं। वहाँ केवल साधारण पगडंडियाँ अथवा डगर इत्यादि हैं। इन क्षेत्रो मे एक मात्र परिवहन का सफल साधन बैलगाडी है। यह गाडी, रेत, पानी, दलदल, ऊँची-नीची भूमि और नदी-नालो को पार करती हुई बेखटके चली जाती है। इन क्षेत्रो मे घोडागाडी भी काम नही देती। हाँ, टट्टू की पीठ पर माल ले जाया जा सकता है, किन्तु उसकी वहन-क्षमता बैलगाडी की अपेक्षा बहुत कम होती है। टट्टू केवल चार-पाच मन बोझ ले जा सकता है, बैलगाडी पच्चीस-तीस मन। इन क्षेत्रो मे मोटर का प्रवेश ही नहीं बल्कि उसका लाभदायक उपयोग भी असंभव है।

(३) अल्प यातायात—जहाँ यातायात अत्यन्त कम मात्रा मे उपलब्ध है वहाँ रेल अथवा मोटर की सफलता संभव नही है। कृषि क्षेत्र अथवा कुटीर उद्योग ऐसे ही स्थल हैं जहाँ एक स्थान पर रेल की तो कौन कहे मोटर गाडी भरने भर के लिए यातायात उपलब्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे पशु-वाहनो से ही काम लिया जाता है।

भारतीय किसान के लिए बैलगाड़ी बहुमुखी सेवा प्रदान करती है। वह सैंकड़ों पंच-वर्षीय योजनाओं के उपरान्त भी निजी मोटर रखने में असमर्थ रहेगा। कारण यह है कि उसके खेत छोटे हैं और उपज अत्यन्त न्यून। राजस्थान मे बिखरी आबादी के कारण ऐसी ही स्थिति है।

(४) अल्पदूरी का यातायात—रेल सत्तर-पिचहत्तर मील से अधिक और मोटर बीस-पच्चीस मील से अधिक दूरी के लिए सस्ती समझी जाती हैं, यद्यपि स्थानीय परिवहन मे भी मोटरगाडी का प्रयोग होता है। तो भी यह याद रखना चाहिए कि स्थानीय परिवहन मे भी मोटरगाडी की सफलता के लिए अधिक यातायात की आवश्य-कता है और दूरी भी मील-दो मील से कम न हो। मील-दो मील की दूरी के लिए बैलगाडी, घोडागाडी अथवा अन्य पशु-वाहन ही लाभकर होते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में पक्की सडको पर भी दस-पाँच मील का अन्तर बहुधा पशु-वाहनो द्वारा पार किया जाता है। इक्के-ताँगे मोटरो के साथ ऐसे क्षेत्रो मे खूब प्रतियोगिता करते हैं। नगर बस (City bus) का उन लोगो के लिए कोई उपयोग नही जो असबाब लेकर रेल-यात्रा के लिए स्टेशन जाते-आते हैं। वहाँ तो उन्हे इक्के अथवा ताँगे की ही आवश्यकता होती है। इसी भाँति नगर के मुहल्ले-मुहल्ले के बीच भी इक्के-ताँगे ही नियमित और गहन सेवा प्रदान करते है। मील-आधे मील की दूरी के परिवहन के लिए बहुधा बैल ठेला अथवा ठेल का ही प्रयोग अधिक किया जाता है।

(५) गरीबी—देश की गरीबी बहुधा अनेक लोगो को पशुओ अथवा पशु वाहनो के प्रयोग के लिए विवश करती है। भारतीय धोबी, कुम्हार, ग्रामीण बनिया, गरीब किसान अपनी गरीबी के कारण पशुओ अथवा पशु-वाहनो से ही ढुलाई का काम लेते है। पशुओ के लिए चारा बिना मूल्य जगल से मिल जाता है। अतएव इन पशुओं के भरण-पोषण का व्यय नही के बराबर होता है। किसान बैल खेती के लिए रखता है और उसी को परिवहन के लिए भी उपयोग कर लेता है। नगरों में इक्के-ताँगे वस्तुत: लोगो की जीविकोपार्जन के साधन हैं और उन लोगो की गरीबी उन्हे इस बात के लिए विवश करती है।

(६) छोटी इकाई—पशु अथवा पशु-वाहन मोटर अथवा रेल की अपेक्षा छोटी इकाई होने के कारण भी भारत सरकार जैसे गाँवो के देश और गरीब जनता के लिए सस्ते साधन हैं। पशुओ अथवा पशु-वाहनो का पूँजीगत और संचालन व्यय दोनो ही अत्यन्त कम होते हैं। अतएव यान्त्रिक वाहनो की अपेक्षा उनकी सेवा सस्ती होती है।

मोटर की अपेक्षा घोडागाडी अथवा बैलगाडी मे बहुत कम खर्च करना पडता है। एक मोटर का मूल्य हजारो मे होता है तो पशु-वाहन का मूल्य सैंकड़ो मे। पोषण-व्यय भी मोटर की अपेक्षा पशु-परिवहन का बहुत कम होता है। बैल जो कि भारत का एक लोकप्रिय परिवहन पशु है, बहुधा खेती के लिए पाला जाता है। वह

दुहरी सेवा प्रदान करता है। उससे लिए चारा खेतो से प्राप्त होता है ; अत: उसके खिलाने-पिलाने का खर्च नही के बराबर समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रथम उद्देश्य खेती है। घोडे, खच्चर, गधे घास खाकर रहते हैं, ऊँट हर प्रकार के पेडो की पत्ती खाकर रह सकता है। इन्ही कारणो से पशु परिवहन अधिक सस्ता साधन समझा जाता है। इस साधन का उपयोग कोई भी भारतीय कर सकता है, किन्तु मोटर का उपयोग भारत के उच्च वर्ग के लोग ही कर सकते हैं। अपने सस्तेपन के कारण ही बैलगाडी हमारे ग्राम्य-परिवहन का प्रमुख साधन है जबकि नगर परिवहन मे यात्रिक वाहनो की बहुलता है।

पशु-परिवहन का प्रारम्भिक पूँजीगत व्यय ही कम नही होता, उसे मोटरो की भाँति भारी कर भी नही देना पडता। पूँजीगत व्यय कम होने के कारण माल के चढाने-उतारने मे देर भी हो तो उससे उतनी हानि नही होती जितनी मोटर मालिक को हो सकती है। प्रत्येक मोटर गाडी के साथ उसका इन्जन सबद्ध होता है, उसे गाडी से अलग नही किया जा सकता। पशु-परिवहन मे एक ही पशु से कई गाडियाँ चलाई जा सकती है। एक गाडी माल लाद कर चल देती है, दूसरी माल भरने लगती है ; तीसरी माल खाली करने लगती है। जिस माल के चढाने-उतारने मे देर लगती है उसमे इस प्रकार बहुत कुछ मितव्ययता सम्भव है।

(७) लोच—पशु-परिवहन का एक गुण उसकी सेवा की भारी लोच (Flexibility) है। जहां से माल लादा जाना है और जहां पर माल उतारा जाना है उन स्थानो तक पशुओ को सीधा बिना कठिनाई और किसी प्रकार की सडक के ले जाया जा सकता है। चाहे ऊँची नीची भूमि हो व पहाडी ढाल हो, चाहे गहरे खड्ड और खाइयाँ हो, चाहे घने जगल हो अथवा अन्य प्रकार की बाधाये हो, पशुओ को ले जाने मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती।

पशु व यांत्रिक परिवहन

निम्न परिस्थितियो मे बहुधा पशु-परिवहन यात्रिक परिवहन से उत्तम व सस्ता समझा जाता है : जहाँ दूरी थोडी हो, जहाँ गलियाँ अत्यन्त तंग हो; जहाँ मार्ग मे भीड-भाड अधिक हो, जहाँ माल के गाडी मे चढाने व उतारने मे अधिक समय लगता हो , जहाँ यातायात यात्रिक वाहनो के लिए अपर्याप्त हो, तथा जहाँ सडके खराब हो। भारतीय गाँवो मे जहाँ यातायात कम मात्रा मे मिलता है तथा बडे-बडे शहरो मे एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले को माल व सवारी लाने-लेजाने के लिए पशु परिवहन का प्राधान्य है। बन्दरगाह के क्षेत्र मे पशु-परिवहन खूब काम देता है, क्योकि भीड-भाड अधिक होती है, दूरी थोडी होती है और माल लादने व उतारने मे अधिक समय लगता है। रेलवे स्टेशनो को आने-जाने वाला माल बहुधा पशुओ अथवा पशु-वाहनो द्वारा ही ढोया जाता है।

पशु-परिवहन की हानियाँ

उक्त अच्छाइयों के साथ-साथ, पशु परिवहन की कुछ हानियाँ भी हैं। पशु एक प्राणी है; मशीन एक निर्जीव वस्तु है। अतएव पशु के बीमार होने का भय बना रहता है। बीमारी से पशु के सहसा मर जाने पर उसके मालिक को भारी हानि उठानी पड़ती है। बड़े-बड़े शहरों में घोड़े, खच्चर अथवा अन्य पशु रखना अस्वास्थ्य-वर्द्धक है। शहरों में पशु रखना बहुधा बीमारी फैलाने का साधन बन जाता है। यान्त्रिक परिवहन के लिए चिकनी सड़कों की आवश्यकता होती है जो पशुओं के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं होती। ऐसी सड़कों पर पशुओं के फिसलने की सम्भावना अधिक होती है और बहुधा फिसलने की दुर्घटनायें होती देखी जाती हैं। ऐसी दुर्घटनाओं के घटने में यात्रियों के जान-माल पर ही संकट नहीं आता, गाड़ीवान को भी भारी क्षति उठानी पड़ती है। उसके पशु का पैर टूट जाता है अथवा पशु कभी-कभी मर भी जाता है और उसकी गाड़ी चकनाचूर हो जाती है। पशु की माल लेजाने की क्षमता (Capacity) भी अपेक्षाकृत कम होती है। बैलगाड़ी में साधारणतः पच्चीस-तीस मन माल भरा जा सकता है जबकि मोटर ठेले में ढाई-तीन सौ मन। ताँगा केवल चार सवारी बिठा सकता है; मोटर लारी चालीस। यदि अधिक माल ढोना है तो जहाँ केवल एक मोटर ठेला काम दे सकता है वहाँ कई पशु-वाहन रखने से काम चल सकेगा। पशुओं की चाल भी कम होती है। बैल अथवा घोड़ा दिन भर में पच्चीस-तीस मील चलने पर बुरी तरह थक जाता है; किन्तु मोटर गाड़ी दिन भर में डेढ़-दो सौ मील चल कर भी नहीं थकती। अतएव पशु परिवहन द्वारा माल को लाने-ले जाने में समय अधिक लगता है। जिस माल को मोटर दिन के दिन में पहुँचा सकती है, उसके पशु वाहन से पहुँचाने में कई दिन अथवा हफ्ते लग सकते है। बड़े शहरों में पशु-गाड़ियाँ बहुधा गलियों व सड़कों पर भीड़-भाड़ बढ़ाने के लिए उत्तरदायी समझी जाती है। आँधी, वर्षा, जाड़े व गर्मी का यान्त्रिक परिवहन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना पशु-परिवहन पर।

इन सीमाओं के होते हुए भी पशु-परिवहन भारत का एक प्रमुख साधन है। राष्ट्रीय योजना समिति के अनुसार पशु-परिवहन की सेवाओं का वार्षिक सकल मूल्य १,००० करोड़ रुपए के लगभग होता है। इसमें से पशुओं के भरण-पोषण का व्यय निकाल दें तो पशुओं के स्वामियों को लगभग १०० करोड़ रुपए की बचत प्रति वर्ष होती है। इस प्रकार यह भारतीय जनता के निर्वाह के महत्वपूर्ण साधनों में से एक साधन है। नगर-उपनगर क्षेत्र में अश्व परिवहन और ग्रामीण क्षेत्र में बैलगाड़ी का बोलबाला है। अनेक क्षेत्रों में अश्व आज भी मोटर से टक्कर लेने और प्रतिस्पर्द्धा करने में समर्थ है। निम्नांकित परिस्थितियों में अश्व-परिवहन मोटर से उत्तम एवं सस्ता समझा जाता है :—

(१) **कम पूँजीगत व्यय**—अश्व यातायात के लिए मोटर यातायात की अपेक्षा बहुत कम पूँजीगत व्यय की आवश्यकता होती है। मोटर गाड़ी का मूल्य तीस-

पैंतीस हजार रुपए से कम नही होता, इक्के-ताँगे का मूल्य चार-पांच सौ और घोडे का भी इतना ही, अर्थात् कुल पूँजीगत व्यय हजार या आठ सौ से अधिक नही होता। इस कारण अश्व परिवहन सामान्य स्थिति के लोगो के लिए भी सहज सुलभ है, किन्तु मोटर गाडी धनी व्यक्ति ही ले सकते हैं। भारत मे पूँजी के अभाव के कारण बहुधा मोटर चालक ऋण लेकर गाडी खरीदते हैं।

(२) कम संचालन व्यय—मोटर की अपेक्षा अश्व वाहन का संचालन-व्यय भी बहुत कम होता है। घोडे के भरण-पोषण और इक्के-ताँगे की घिसावट का व्यय मिलकर भी मोटर के पैट्रोल के खर्च से कम ही पडता है। अश्व वाहन को मोटर की भाँति भारी लाइसेन्स फीस और कर नही देने पडते।

(३) निकटवर्ती यात्रा—स्थानीय अथवा निकटवर्ती यात्रा मे मोटर की अपेक्षा अश्व वाहन अधिक सुविधाजनक और सस्ता होता है। यही कारण है कि बडे नगरो मे जहाँ हजारो बस और ठेले दौडते है, एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले तक आने-जाने के लिए अश्व वाहनो का ही अधिक चलन है। नगरो मे रेल-यात्रा का अनुपूरक भी अश्व वाहन ही है। असबाब लेकर स्टेशन जाने वाले यात्री को बस नही बिठाती। उसे तो एकमात्र इक्के-ताँगे पर ही निर्भर रहना पडता है।

(४) गहन सेवा—इक्के-ताँगे से आवश्यकता पडने पर मोटर की अपेक्षा अधिक गहन सेवा प्रदान की जा सकती है। जहाँ वे दस चक्कर करते हो भीड भाड होने पर बीस चक्कर कर सकते हैं। मोटर मे ऐसी व्यवस्था इस कारण सम्भव नही कि उसे नौकर पर निर्भर रहना पडता है जबकि इक्के-ताँगे वाला उसका स्वामी ही बहुधा चालक होता है।

(५) तंग गलियो एवं भीड़ वाले क्षेत्रो मे—तंग गलियो मे और भारी भीड से अश्व वाहन को निकलने और अपनी चाल बनाए रखने मे विशेष कठिनाई नही होती। मोटर गाडी के लिए यह सभव नही। उसकी चाल न आने से उसका संचालन-व्यय बढ जाता है।

(६) माल उतारने-चढाने मे अधिक समय लगता हो—माल के उतारने-चढाने मे अधिक समय लगता हो तो मोटर गाडी का सचालन व्यय बढ जाएगा। अश्व वाहन के सचालन व्यय पर इसका कोई प्रभाव नही पडता। एक अश्व भरी हुई गाडी को लेकर चलता किया जा सकता है, दूसरी गाडी मे उसी समय माल भरते रह सकते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था मोटर गाडी मे संभव नही, क्योकि उसका इंजन गाडी से अलग नही किया जा सकता।

(७) बुरी सडको पर—जहाँ सडके टूटी-फूटी, कच्ची व रेतीली हो वहाँ अश्व वाहन ही काम देता है, मोटर नही।

सामान्यत: यह कह सकते हैं कि अश्व वाहन का क्षेत्र दो-तीन अथवा अधिक से अधिक पाँच माल की यात्रा तक सीमित है। बड़े नगरो मे उसकी सेवा मोहल्ले-

मोहल्ले से यात्री परिवहन के लिए और ग्रामीण क्षेत्र में कच्ची सड़को पर दस-बारह मील तक के लिए विशेष उपयोगी है। रेल स्टेशन जाने वालो के लिए अश्व वाहन ही एक मात्र साधन है।

हाथरस, अलीगढ, चन्दौसी, फीरोजाबाद, शिकोहाबाद, भरतपुर, इत्यादि मध्यम श्रेणी के भारतीय नगरो में नगर-उपनगर क्षेत्र में इक्के-तांगे का ही बोलबाला है। ये क्षेत्र मोटर की सेवा से अभी वर्षो वंचित रहेगे।

देश में लगभग एक करोड़ बैलगाडियाँ हैं। प्रत्येक गाड़ी के लिए दो बैलो की आवश्यकता होती है। कुछ गाडियो मे तीन बैल भी जोते जाते हैं। दो बैल प्रति गाडी के हिसाब से देश मे परिवहन पशुओ की सख्या लगभग २,३०,६७,००० होती है जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट हैं :—

बैल	१,९३,००,०००
घोडे	१७,००,०००
गधे	१५,००,०००
ऊँट	५,५०,०००
खच्चर	१७,०००

जीवन की अन्य आवश्यकताओ मे परिवहन का महत्व कम नही है। तो भी भारत के इस साधन की उन्नति व विकास के लिए विशेष ध्यान नही दिया गया। प्रतिवर्ष करोडो रुपए रेल, वायु, जल तथा यान्त्रिक सड़क परिवहन के निमित्त सरकार व्यय करती है, किन्तु पशु-परिवहन के सुधार के लिए कुछ भी अभी तक नही किया गया। यह आश्चर्य की बात है। जहाँ दूध देने वाले पशुओ के स्वास्थ्य व नस्ल सुधार की योजनायें बनाई जाती हैं वहाँ परिवहन पशुओं के स्वास्थ्य व वंश सुधार के प्रयत्न भी होने चाहिए। ऐसा सोचना भारी भूल है कि केवल यान्त्रिक साधनो के विकास मात्र से हमारा काम चल सकता है और इस साधन की उपेक्षा की जा सकती है। वस्तुत: सत्य बात यह है कि यान्त्रिक परिवहन की उन्नति और विकास के साथ-साथ उसे पोषित करने के लिए हमे अधिकाधिक विकसित पशु-परिवहन की आवश्यकता है। इस तथ्य को समझे बिना हमारी अर्थ-व्यवस्था का सर्वाङ्गपूर्ण विकास सम्भव नही।

अध्याय २६
ग्राम परिवहन
(Rural Transport)

ग्राम परिवहन का स्वरूप

भारत गाँवो का देश है। यहाँ की ८२.५ प्रतिशत जनता गावो मे बसती है। देश के ५½ लाख गाँव ही तीन हजार शहरो को खाद्यान्न प्रदान करते है तथा उद्योग-धन्धो को कच्चा माल देते हैं। गाँव की उपज का कुछ भाग हम विदेश भी भेजते हैं।

विदेश अथवा औद्योगिक केन्द्रो को जाने वाली ग्रामीण उपज सीधी गाँवो से नही जाती। यह सर्वप्रथम निकटवर्ती मण्डी अथवा नगर को जाती है। वहाँ से अन्य नगरो अथवा विदेशो को भेजी जाती है।

ग्राम-परिवहन की दो विशेषतायें मुख्य हैं। पहली विशेषता उसकी सीमित मात्रा है। थोडी दूरी उसकी दूसरी विशेषता है। जिन मण्डियो को ग्राम्य उपज भेजी जाती है वे साधारणत: दस-पन्द्रह मील के अन्तर पर स्थित होती हैं। कभी-कभी इससे भी कम अन्तर होता है। अधिक से अधिक हुआ तो बीस-पच्चीस मील।

भारतीय किसान को बची हुई उपज के निकटवर्ती मण्डी, नगर अथवा पेठ (Market) तक ले जाने के अतिरिक्त, खेत से खलियान, खलियान से घर ले जाने के लिए भी परिवहन के साधनो की आवश्यकता पडती है। उसे दैनिक उपभोग की वस्तुयें जैसे कपडा, लोहा, पीतल, सोना, चाँदी, चीनी गुड, तेल, दवाइयाँ इत्यादि पदार्थ लाने के लिए भी परिवहन की आवश्यकता है। मुकद्दमो अथवा दूसरे सरकारी कामो से किसान को परगना, तहसील अथवा जिला केन्द्रो तक जाना-आना पडता है। ब्याह-बरात, मेले-दशहरे, प्रदर्शिनी-पेठ अथवा उत्सव के अवसर पर भी वह निकटवर्ती गाँवो अथवा नगरो को जाता-आता रहता है। फिर एक गाँव का दूसरे गाँव से भी सम्पर्क बना ही रहता है चाहे वह सामाजिक हो, धार्मिक हो अथवा आर्थिक। एक गाँव के विद्यार्थियो को दूसरे गाँव के स्कूल जाना पडता है क्योंकि प्रत्येक गाव मे स्कूल नही हैं।

ग्राम परिवहन के साधन

एक नगर से दूसरे नगर अथवा विदश जाने वाला माल अधिक मात्रा मे और अधिक दूरी तक जाता है। ऐसे यातायात के लिए रेल सुगम व सस्ता साधन है।

किन्तु गाँवों की उपज थोडी मात्रा में और थोड़ी दूर तक जाती है; ग्रामीण यात्री भी बहुधा थोडी दूर की ही यात्रा करते हैं। इस प्रकार के यातायात के लिए सडक ही सर्वोत्तम एवं सस्ता साधन है। जो गाव नदी, नहर अथवा अन्य जलमार्ग पर स्थित होते हैं, वे जल-परिवहन का भी उपयोग करते है। असम, बंगाल, बिहार, मद्रास, केरल, उत्तर प्रदेश व काश्मीर के गाँवो में इस साधन का उपयोग होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जो स्थान रेल द्वारा सम्बन्धित हैं उनके बीच भी थोड़ी दूरी के लिए सडक को अच्छा समझा जाता है, क्योंकि रेल से माल ले जाने में बड़ा झंझट करना पड़ता है। पहले उसे स्टेशन तक ले जाइए, घण्टों में उसकी बिल्टी कराइए; अन्तिम स्टेशन से फिर उसे निर्दिष्ट स्थान तक ले जाइए। इन सब काम में खर्च पड़ता है और समय लगता है। सडक परिवहन म ये सब क्रियायें नहीं करनी पड़ती। तीस मील तक की दूरी के लिए सामान्यत सडक परिवहन रेल की अपेक्षा सस्ता भी समझा जाता है।[1] अतएव ग्रामीण क्षेत्रो में सडक परिवहन ही लोकप्रिय साधन है। कुछ क्षेत्रो में जल परिवहन का उपयोग भी सीमित मात्रा में होता है। रेल अथवा वायु परिवहन भारतीय गाँवो की पहुँच के बाहर है।

ग्राम वाहन

मोटर ग्रामीण जनता के लिए विशेष उपयोगी नहीं। बहुधा ग्रामीण सडकें कच्ची होती है। जो वर्षा ऋतु में जलमग्न हो जाती है और ग्रीष्म में रेत से ढक जाती है। जिन पर मोटर चलना असम्भव व दुष्कर कार्य है। हाँ, मोटर का उपयोग सीमित क्षेत्रों में सवारियों के लिए अथवा शहरो से कुछ भारी वस्तुयें लाने के लिए वहाँ अवश्य किया जाता है जहाँ पक्की सडकें होती हैं।

ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण से बैलगाडी ही सर्वोतम साधन है। देश में बैलगाडियो की संख्या एक करोड से अधिक है जबकि मोटरो की कुल संख्या केवल ५ लाख है। इन आँकड़ो से बैलगाडी की महत्ता समझने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

बैलगाडी के अनेक स्वरूप और अनेक ढाचे देश के विभिन्न भागो में प्रचलित हैं। इनकी भार-क्षमता (Carrying Capacity) ८ से ४० मन तक होती है जो बैलो की नसल व शक्ति, उनकी सख्या, एव सड़क की दशा के ऊपर निर्भर है। बहुधा गाडियाँ दो पहिए की होती है; किन्तु कभी-कभी पक्की सड़को पर चार पहिए वाले ठेलो का भी उपयोग किया जाता है। सामान्यत: दो ही बैल एक गाडी में जुतते हैं, किन्तु कभी-कभी तीन-चार बैल भी जोते जाते है। बैलगाडी के अन्तर्गत रथ, रब्बा, बहली, मभौली इत्यादि सवारियाँ भी सम्मिलित है जो यात्रा के लिए विशेषत: विवाह व उत्सवो में चलती हे। पक्की सडकों पर गुड़, फल, तरकारियाँ इत्यादि के लिए ऊँट-

---

1. Report on the Marketing of Linseed in India, 1938, p. 166.

गाडी का भी प्रयोग होता है जिसकी सामान्य भार-क्षमता २५ मन होती है। मोटर के आने से इनका प्रचार अब कम होता जा रहा है।

लद्दू-पशु (Pack animals) गधा, टट्टू, ऊँट, खच्चर व बैल इत्यादि का ग्राम-परिवहन मे महत्वपूर्ण स्थान है। गधा, खच्चर व बैल बहुधा दो से चार मन, टट्टू एक से तीन मन और ऊँट तीन से सात मन तक बोझ ले जा सकता है। वर्षा ऋतु मे पानी व कीचड से सडके गाडियाँ चलाने के योग्य नही रहती। उस समय इन पशुओ से काम लिया जाता है। घी जैसी हल्की व कीमती वस्तुओ को ग्रामीण उत्पादक व व्यापारी दो से दस मील तक थोडी दूरी के लिये सिर पर रखकर अथवा कुलियो द्वारा भी ले जाते है। गावो से निकटवर्ती नगर अथवा बाजारो का दूध बहुधा साईकिल द्वारा ले जाया जाता है।

इक्का, तागा इत्यादि घोडा गाडिया गावो और शहरो के बीच पक्की सडको पर बहुधा सवारियो के लिए प्रयुक्त होती है। मोटर का प्रचार बढने से यद्यपि घोडे-गाडियो का प्रचार कम होता जा रहा है तो भी इनका महत्व सर्वथा लुप्त नही हुआ। इधर सडको पर सरकारी बसो के चलने क उपरान्त उन्हे और भी अधिक अवसर प्राप्त हुआ है, क्योकि व्यक्तिगत मोटर मालिक सडक के किनारे किसी भी स्थान से सवारी बिठा लेते थे और किसी भी स्थान पर उतार देते थे, किन्तु सरकारी मोटरे केवल पूर्व निश्चित ठिकानो पर ही सवारी उतारते-चढाते हैं। इक्के-तागे वालो को बस ठहरन के ठिकानो के बीच सवारियाँ मिल जाती है।

बैलगाड़ी की महत्ता

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैलगाडी ही ग्रामीण जनता का लोकप्रिय साधन है। खेत व खलियान से लेकर निकटवर्ती मण्डी अथवा पेठ तक गाडी द्वारा ही बहुधा माल आता-जाता है। प्रत्येक किसान को खेती के काम के लिए एक या दो जोडी बैल अवश्य रखने पडते हैं। इन बैलो को चारा-दाना खेत की उपज से मिल जाता है। जैसा कि भारतीय किसान के विषय मे प्रसिद्ध है वैसा ही उसके बैलो के काम के सम्बन्ध मे भी ठीक है अर्थात् उसे वर्ष के बारह महीने व महीने के तीसो दिन काम नही मिलता। अतएव छूट के समय मे बैलो का उपयोग परिवहन के लिए किया जाता है। बैलगाडी मे कई गुण ऐसे है जिनके कारण मोटर उसे सडक से हटाने मे सफल नही हो सकी और न निकट भविष्य मे इसकी सम्भावना ही है।

(अ) सस्ती सेवा—गाडी द्वारा ढुलाई ग्रामवासियो को अत्यन्त सस्ती पडती है, क्योकि गाडीवान को बैलो के खिलाने पिलाने का व्यय कुछ भी नही करना पडता और न उनकी लागत ही परिवहन के निमित्त देनी पडती है। बैल किसान खेती के लिए रखता है। जब खेती के काम से अवकाश मिलता है तब उन्हे गाडी मे जोत लेता है। यदि वह गाडी मे बैलो को न जोते तो भी उसे उनके भरण-पोषण का सब खर्च करना ही पडेगा। बैलो का लागत एव भरण-पोषण व्यय कृषि पर पडता है।

दाना-चारा उसे मोल नही लेना पडता; वह उसे खेत से उपलब्ध हो जाता है। गाड़ीवान स्वयं ही गाडी का चलाने वाला होता है; उसे चालक (Driver) रखना नहीं पड़ता। गाड़ी की टूट-फूट का खर्च भी बहुत मामूली होता है। अतएव बैलगाड़ी भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग समझी जाती है। इससे बढ़कर दूसरा सस्ता साधन नही हो सकता।

(आ) स्थानीय निर्माण व मरम्मत—गाडियों का निर्माण व मरम्मत बहुधा गांव के बढई ही करते हैं। इसका ढांचा व इसके अंग-प्रत्यंग इतने सीधे-साधे होते हैं जिन्हे कोई भी सामान्य योग्यता का बढई बना सकता है। इसके निर्माण व मरम्मत के लिए किसी विशेष ज्ञान अथवा प्रशिक्षण की आवश्यकता नही होती। स्थानीय लकड़ी से लगभग सारा ढांचा खडा किया जाता है; केवल थोडी सी कीलें और लोहे की पत्तियाँ अवश्य लगती हैं। कुछ रस्सी लगती है जो किसान स्वयं घर के सन से बट लेता है। बढई को प्रत्येक किसान छमाही फसलाना देकर रखता है; अतएव गाडी बनाने अथवा उसकी मरम्मत के लिए मजदूरी नही देनी पडती।

कोई-कोई स्थान गाडियों के बनाने से लिए विशेष प्रसिद्ध भी हैं जहाँ पर अच्छी गाडियाँ बनती हैं जो दूर-दूर तक बिकती हैं। उत्तर-प्रदेश मे चंदौसी गाड़ियों का प्रसिद्ध केन्द्र है। यहाँ के बढई इस काम के विशेषज्ञ समझे जाते है। इस प्रकार बनी हुई गाड़ी मोल लेने में भी बहुत थोडा मूल्य देना पड़ता है। सौ डेढ सौ रुपए मे अच्छी गाडी मिल जाती है।

(इ) अपार सेवा—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, देश भर मे एक करोड़ से ऊपर बैलगाडियाँ है जो लगभग दस-बारह करोड़ टन माल प्रति वर्ष ढोती हैं। सवारियों के आँकडे उपलब्ध नही है, किन्तु यह संख्या भी बहुत बडी होगी। गाड़ियों मे लगभग २०० करोड रुपए की पूंजी लगी हुई है जबकि मोटरों मे लगी हुई पूंजी केवल ७५ करोड रुपए के लगभग है। बैलगाड़ी से लगभग एक करोड़ मनुष्यों को और इससे दूने पशुओं को काम मिलता है जबकि भारतीय रेले केवल ११½ लाख व्यक्तियों को काम देती है। कुछ विद्वानो का कथन है कि बैलगाडियाँ देश की रेलो से कम सेवा नही करती, किन्तु साथ ही हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इनकी रेलो से किसी प्रकार की प्रतियोगिता नही होती। दोनो का कार्य-क्षेत्र सर्वथा अलग है। वस्तुतः सत्य बात यह है कि बैलगाडियाँ रेलो की पूरक है जो देश के आन्तरिक भागो से यातायात लाकर रेलो को देती है और उनका पोषण करती हैं।

(ई) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का अभिन्न अंग—बैलगाडी के बेडौल आकार व भद्दे डील-डौल को देख कर अनेक लोग इसके प्रति अच्छी धारणा नही रखते। उनका कहना है कि गाडी का प्रयोग हमारी असभ्यावस्था का सूचक है। वे लोग इस बात को भूल जाते हैं कि गाँव की दलदलो, रेतीलो, ऊँची-नीची कच्ची सडको पर चिकनी-चुपडी आकृति वाली कोई सुन्दर गाड़ी कुछ महीने से अधिक नहीं चल सकती। ऐसी

सडको पर चलने के लिए भारतीय बैलगाडी एक अपूर्व आविष्कार है। सदियो से वह सफलतापूर्वक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की सेवा कर रही है और जब तक गावो मे अच्छी पक्की सडके न बने तब तक बैलगाडी को अपने गौरवपूर्ण स्थान से कोई पद-च्युत नही कर सकता।

बैलगाड़ी की सीमायें

इन गुणो के साथ-साथ बैलगाडी मे कुछ दोष भी हैं। गाडियाँ अच्छी सडको को मोटरो के अयोग्य बना देती हैं और सडक बनाने व मरम्मत करने वालो के लिए एक कठिन समस्या उठ खडी हुई है।

सबसे बडा दोष गाडा के पहिये मे है। गाडी का पहिया लकडी का होता है। लकडी रगड से शीघ्र घिस जाती है। इसकी रक्षा के हेतु उस पर लोहे की हाल (Iron Tyre) चढा देते है। हाल की चौडाई पहिये की चौडाई से कम होती है। यह हाल पहिये का जीवन-काल अवश्य बढा देती है किन्तु सडको को भारी हानि पहुँचाती है।

दूसरा दोष गाडी के बैलो का है। गाडी मे जुतने वाले बैलो का यह स्वभाव होता है कि वे अपने सामने की लीक (Track) को देख कर चलते हैं। एक बार कोई लीक बन गई तो एक के बाद अनेक गाडियाँ उसी लीक से चलती है। एक ही लीक पर पहिये के लगातार चलते रहने से सडक के उस भाग मे गहरी लीके और खड्ड बन जाते है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि मोटरो की अपेक्षा बैलगाडियाँ सडको की दूनी टूट-फूट प्रति वर्ष करती हैं और यह उस दशा मे जबकि सारी गाडियाँ बारहो महीने पक्की सडको पर नही चलती। यदि वर्ष भर गाडियाँ पक्की सडको पर चलती होती तो मोटर से दस गुनी हानि सडको को पहुँचाती।[1]

सुधार के सुझाव

(क) रबड के पहिए—बैलगाडी के इस विध्वसात्मक स्वरूप परिवर्तन के लिये अनेक सुझाव उपस्थित किये जाते है। एक सुझाव मोटर के से हवादार पहियो (Pneumatic tyres) का प्रयोग है, किन्तु यह सुझाव व्यावहारिक नही है। कगाल किसान के लिये रबड के पहियो का मूल्य बहुत अधिक होगा जिसे वह सहन नही कर सकता। गावो की कच्ची सडको पर ऐसे पहिये चल भी नही सकते। काँटे-खोबरो और गड्ढे-खड्डो मे वे शीघ्र टूट-फूट जायेगे। बैलगाडियो को साल के कई महीने खुले मे खडा रखना पडता है। रबड के पहिये इस प्रकार हवा, वर्षा, धूल व धूप से तुरन्त गल-सड कर बेकार हो जायेगे। अतएव रबड के पहियो वाली गाडिया ग्रामीण क्षेत्रो मे सर्वथा असफल रहेगी। इस सुझाव के द्वारा हम एक उलझन मे पड जाते है, क्योकि जब तक वर्तमान बैलगाडियो का सुधार न हो तब तक सडको का सुधार सम्भव नही

---

1. Journal of Indian Roads Congress, Vol XV—2, Nov. 1950, p. p. 266 68

और जब तक वर्तमान ग्रामीण सड़कों का सुधार न हो तब तक हम बैलगाडी मे कोई आधुनिक ढंग का सुधार करने मे असमर्थ है। सरकारी पशुशाला, हिसार और केन्द्रीय औद्योगिक कार्यकेन्द्र मैसूर मे रबड़ के पहियो के प्रयोग किए गये हैं जिन्हे सन्तोषजनक सफलता नही मिली।[1]

(ख) लीकदार सड़कें (**Concrete Trackway**)—भारतीय सडक कांग्रेस ने ग्रामीण सडको के लिए दो फीट चौडे गिट्टी-चूने अथवा गिट्टी सीमेंट के मार्ग बनाये। ये मार्ग स्थानीय गाडियो की चौडाई का ध्यान रख कर बनाये गये थे। सामान्य परिस्थितियो मे ६ इंच मोटा पत्थर पर्याप्त समझा गया। ऐसी सडक पर बैल लीक को स्वभावत: पकड लेता है और सडक का शेष भाग अछूता बच जाता है, किन्तु ये सड़के भारी वर्षा वाले क्षेत्रो और काली मिट्टी के प्रदेशो मे सफल नही हो सकी। अतएव इन प्रदेशो की समस्या इन सडको से हल नही हो सकी।

(ग) श्री बी० बी० बाघ ने गाड़ी के स्वरूप को ज्यो का त्यो रखते हुए उसके पहिए के सुधार के लिए कुछ सुझाव दिए हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) वर्तमान पहिए के बदलने की कोई आवश्यकता नही, क्योंकि यह सुदृढ होता है, अनन्त काल से यह सफलतापूर्वक चलता रहा है, स्थानीय लकडी से गाँवो मे ही बनाया जा सकता है, और पहिया उद्योग अनेक ग्रामीण लोगो को काम देता है।

(२) २ इंच चौडी हाल के स्थान पर ३॥ इंच चौडी पुली पर $3\frac{1}{2} \times \frac{3}{8}$ इंच चौडी हाल होनी चाहिए और पहिए का घेरा बैल की ऊँचाई को ध्यान मे रखकर रखना चाहिए। इस प्रकार के पहिए वाली गाड़ी से सडको की टूट-फूट मे ३५ प्रतिशत की कमी हो सकेगी।

(३) इस प्रकार के परिवर्तन के लिए गाडी बनाने की लकड़ी अथवा उसकी निर्माण-कला मे कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नही पड़ती और न गाडी के मूल्य मे ही कोई वृद्धि होती है।

(४) वर्तमान दो टुकडे वाली धुरियो के स्थान पर ताँगे के समान लोहे की ढली हुई एक ही धुरी प्रयोग की जानी चाहिए।

---

१. इन प्रयोगो पर विचार करने के उपरान्त श्री जे० सी० कुमारप्पा इन्हे सर्वथा अव्यावहारिक बताते हैं और लिखते है :—
"In Short pneumatic tyres are harder on the bullocks, Shift a larger proportion of the burden for road repairs than is proper on the villager and are beyond his financial capacity. This course will displace village artisans, and to buy such equipment is bad Financial policy for us to follow. This suggestion, therefore, is unsound on all counts." (A. B. Patrika dated 26. 2. 1956.)

यांत्रिक परिवहन का प्रचार

यद्यपि आज भी भारतीय गांवो मे परिवहन का महत्वपूर्ण साधन बैलगाडी है और अनेक सुधारो द्वारा उसे अधिकाधिक लोकप्रिय एव लाभदायक बनाना आवश्यक है। भारतीय सडक कांग्रेस व केन्द्रीय सडक गवेषणाशाला इस ओर प्रयत्नशील हैं और खोज कार्य हो रहा है। किन्तु साथ ही हमे गांवो मे यांत्रिक परिवहन के प्रचार के लिए भी कुछ उठा न रखना चाहिए। आधुनिक सभ्यता के प्रसार और प्रचार का बहुत कुछ श्रेय परिवहन के साधनो का है। यांत्रिक परिवहन के प्रसार द्वारा ही आज की नागरिक सभ्यता विश्व के कोने-कोने मे फैल चुकी है। फिर भारतीय गांवो को क्यो उसकी परिधि के बाहर रखा जाय ? हमारी नागरिक जनता आधुनिक सभ्यता से पूर्णत: प्रभावित हो चुकी है। केवल भारतीय गांव उसका रसास्वादन नही कर सके। गांव देश की आत्मा हैं। उन्हे ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से वंचित रखना राष्ट्र को ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखने के समान है। अतएव ज्ञान क्षेत्र मे यांत्रिक परिवहन के प्रसार द्वारा आधुनिक सभ्यता के प्रसार को आवश्यकता है। आधुनिक सभ्यता से हमारा तात्पर्य उसके सुखद, स्वस्थ एवं प्रगतिशील विचारो से है न कि उसके अस्वस्थ प्रभाव से।

बारहमासी सडकें—भारतीय गांवो मे यांत्रिक परिवहन के प्रसार मे दो बाधायें उपस्थित होती है। पहली बाधा है, गाँव की कच्ची सडको का स्वरूप जिस पर यांत्रिक परिवहन की सफलता सन्देहात्मक है। इस कठिनाई को दूर करने का एकमात्र मार्ग गाँवो मे पक्की सडको का बनाना है। यह काम वर्ष दो वर्ष का नही, इसमे पचासो वर्ष लग सकते हैं। अतएव इस समय हम केवल इतना करें कि बारहमासी (All Weather) सडकें बना दे। ऐसी सडके ग्रामीण जनता के सहयोग और श्रमदान से शीघ्र बनाई जा सकती हैं। सामुदायिक योजनाओ के अन्तर्गत इस ओर कुछ कार्य हो रहा है। उसे और भी अधिक प्रगतिशील बनाया जा सकता है। ऐसी सडकें बैलगाडियो के लिए ही लाभदायक नही होगी, उन पर मोटरें भी चल सकेगी।

लघु-वाहन—दूसरी बाधा यातायात की कमी है। भारत के गाँव छोटे-छोटे हैं। एक गाँव की औसत जनसंख्या ५०० के लगभग होती है। कोई-कोई गांव ऐसे है जिनमे दो-ढाई सौ मनुष्य ही रहते है। कृषि उत्पादन भी छोटी मात्रा मे होता है। अतएव एक मोटर ठेला अथवा एक मोटर बस (Bus) को पूर्णत: भरने के लिए एक ही व्यक्ति व व्यापारी को अथवा एक ही स्थान पर पर्याप्त माल व सवारियाँ उपलब्ध नही होती। ऐसी स्थिति मे किसी साधारण मोटर गाडी का ग्राम्य-क्षेत्र मे सफलतापूर्वक संचालन कठिन है। अतएव आज हमे छोटे आकार की शक्तिशाली इंजन वाली गाडियो की आवश्यकता है। ये गाडियां ऐसी हो जिनमे तेल का खर्च कम से कम हो ताकि उनका संचालन व्यय अधिक न बढने पावे क्योंकि गरीब ग्रामीणो को सस्ते साधन की परम आवश्यकता है। साथ ही ये गाड़ियां ऐसी हो जो ऊँचे-नीचे, नदी-नाले, पानी-कीचड इत्यादि बाधाओ को आसानी से पार कर सके। कुछ पाश्चात्य देशो

मे एक व्यक्ति द्वारा संचालित (One man-buses) मोटरें प्रचलित हैं। ऐसी ही गाडियों की भारतवर्ष को भी आवश्यकता है।

डाक-गाड़ियाँ—शीघ्रगामी परिवहन के अभाव मे ग्रामीण जनता विश्व की घटनाओ से सर्वथा अनभिज्ञ रहती है। बहुधा गाँवो मे सप्ताह मे एक या दो बार डाक पहुँचती है। हमारे गाँवो मे सूचना के साधनो का भारी अभाव है। ग्रामीण जनता को अपनी कूप-मण्डूक स्थिति से निकालने के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ यान्त्रिक परिवहन द्वारा सूचना साधनो की सुविधायें प्रदान की जायें अर्थात् प्रत्येक गाँव मे डाक के दैनिक वितरण का प्रबन्ध किया जाए। स्काटलैंड के बिरले बसे हुए ग्राम्य क्षेत्रो मे डाक वितरण की समस्या छोटी मोटरों के प्रयोग से हल की जा चुकी है। इस काम के लिए स्थानीय मोटर मालिको को ठेका दे दिया जाता है। जहाँ यातायात अधिक होता है वहाँ गाडियाँ किराये पर ले ली जाती हैं और उन्हें डाक वितरण के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। कभी-कभी डाक विभाग अपनी निजी मोटरें भी रखता है। ये गाडियां मुख्यालयो से छोटे डाक घरो को डाक उसी भाँति ले जाती हैं जैसे हमारे बडे शहरो मे। दूरवर्ती गाँवो मे घर-घर डाक वितरण का काम भी उनसे लिया जाता है। इसी प्रकार की डाक गाडियाँ भारतीय गाँवो मे भी चलनी चाहिएँ ताकि ग्रामीण क्षेत्रो मे डाक का वितरण प्रतिदिन नियमित रूप से होने लगे। इस साधन से पत्र-पत्रिकायें, सरकारी प्रचार विभाग के मुख पत्र एवं अन्य सूचनायें गाँवो मे प्रतिदिन पहुँचती रहेगी और ग्रामीण जनता देश और विश्व की दैनिक घटनाओ के सम्पर्क मे रह सकेगी। अनेक रूढियों को हटाने मे इसका ग्राम्य जनता पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ेगा।

रेल-डाक विभाग का सम्मिलन—स्विट्जरलैंड मे डाक व रेलो का एक ही विभाग है। डाक का कार्य रेलो से सीधा सम्बन्धित है। यह कार्य या तो डाक विभाग द्वारा सञ्चालित होता है या ठेके पर दे दिया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे बहुधा ठेके की प्रथा प्रचलित है। डाक वितरण के लिये विशेष प्रकार की गाडियो का उपयोग किया जाता है। ये गाडियाँ डाक के साथ-साथ सवारियाँ भी ले जाती हैं। जहाँ केवल डाक कार्य गाडियो को लाभप्रद नही बना सकता, वहाँ सवारियाँ बिठाकर उन्हें उपयोगी बनाया जाता है। इन गाडियो के पिछले भाग मे डाक और सवारियो के सामान के लिए स्थान होता है और अगले भाग मे सवारियो के बैठने के लिए। कुछ गाडियाँ छः या आठ सवारी बिठाती है, कुछ १७ से २५ तक। यातायात के घनत्व के अनुसार यह संख्या घटती-बढती रहती है। डाक विभाग का रेल विभाग से सम्बन्ध होने से डाक विभाग मे हानि होने पर भी सम्पूर्ण विभाग की आर्थिक स्थिति नहीं बिगडने पाती। भारतीय रेलें और डाक विभाग दोनों ही केन्द्रीय सरकार के अधिकार मे हैं। अतएव स्विट्जरलैंड की डाक पद्धति के प्रयोग देश मे करके देखे जा सकते हैं। यदि यह प्रथा भारतीय गाँवो मे सफल हो सके, तो देश की एक बड़ी समस्या हल हो सकेगी।

नियमित मोटर ठेला सेवा—भारतीय किसान को सबसे अधिक हानि और कठिनाई अपनी उपज की बिक्री मे होती है। सुगम व शीघ्रगामी परिवहन के अभाव मे वह बैलगाडी अथवा पशुओ का प्रयोग करता है। इनकी चाल धीमी होती है। निकटवर्ती नगर अथवा मण्डियाँ बीस-पच्चीस मील दूर पडती हैं जहा तक आने-जाने मे उसे दो तीन दिन लग जाते है। इससे उसका काम भी हर्ज होता है और खर्च भी अधिक पडता है। खलियान को उठाने से पूर्व वह माल बेचने बाजार जा भी नही सकता। अतएव उसे फसल के प्रारम्भिक दिनो का अच्छा मूल्य नही मिल पाता। इस प्रकार उसे भारी हानि उठानी पडती है। ग्रामीण क्षेत्र मे यदि मोटरे चलने लगे तो किसान अपनी उपज को शीघ्र नगर अथवा मण्डी जा कर बेच दिया करे और उनका बहुमूल्य समय बच जाये तथा उन्हे अपनी उपज का अच्छा मूल्य भी मिलने लगे। इङ्गलैंड, स्काटलैंड और अन्य पाश्चात्य देशो मे इस प्रकार की सेवाये किसानो को उपलब्ध हैं। क्या हम यह सुविधायें नही प्रदान कर सकते ? यदि भारतीय मोटर मालिक गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उन्हे पता चलेगा कि ग्रामीण क्षेत्र मे इस प्रकार की सेवाओ की बडी आवश्यकता है और उसका भविष्य उज्ज्वल है। इस समय अनेक ग्रामीण क्षेत्रो मे कच्ची सडको पर केवल सवारियो के लिए मोटर गाडियाँ चलती हैं। गाँवो और उनकी निकटवर्ती मण्डियो के बीच मोटर ठेले की सेवा की हमे परम आवश्यकता है। जहाँ दैनिक सेवा लाभदायक न हो वहाँ साप्ताहिक अथवा अर्द्ध सा ताहिक सेवा चालू की जा सकती है। एक दिन गाडी एक मार्ग पर जाए, दूसरे दिन दूसरी सडक पर और तीसरे दिन तीसरे क्षेत्र मे। एक ही गाडी शहर से गाँव तक, गाँव मे मण्डी तक अथवा स्टेशन से गाँव तक चलाई जा सकती है। जो गाडी एक ऋतु मे अनाज ढोती है, उससे दूसरी ऋतु मे फल व तरकारियाँ ढुलवाई जा सकती है। इस भाँति गाडी को पूरे सप्ताह भर काम मिल सकता है। ऐसी गाडियो को वापसी यातायात मिलने मे कोई कठिनाई नही होगी, क्योकि जो किसान अथवा ग्रामीण व्यापारी अपना माल मण्डी को ले जाते हैं, वे वापसी मे शहर से अपनी आवश्यकता की अनेक वस्तुये जैसे—कपडा, गुड, चीनी, बर्तन, औजार इत्यादि अपने साथ ले जाते हैं।

मिश्रित गाडियाँ—जिन क्षेत्रो मे माल यातायात पर्याप्त न हो वहाँ मिश्रित गाडियो का प्रयोग किया जा सकता है जिनमे माल के साथ कुछ सवारियाँ भी बिठाई जा सकती हैं। मेले, प्रदर्शिनियाँ, उत्सव तथा अन्य विशेष अवसरो पर इस सेवा की वृद्धि की जा सकती है। विवाह-बरात, त्योहार व धार्मिक पर्वो के अवसर के लिए विशेष सेवाओ का भी प्रबन्ध होना चाहिए जो आवश्यकतानुसार लोगो को भाडे पर मिल सकें और जिन्हे किसी भी मार्ग पर ले जाया जा सके।

इस भाँति यान्त्रिक परिवहन के ग्राम प्रचार से भारतीय गाँवो मे डाक सम्बन्धी सुविधायें व मनोरञ्जन के आधुनिक साधन ही उपलब्ध न होने लगेगे, कृषको को कृषि

उपज की बिक्री मे अपार लाभ होगा। गाँवों का गाँवों से, निकटवर्ती मण्डियो व नगरो से सम्पर्क बढ़ेगा, शिक्षा का प्रसार होगा; स्वास्थ्य सुधरेगा; रोग भय दूर होंगे, रूढ़ियों का अन्त होगा; नागरिक भाव जागृत होगा, तथा भारतीय गाँवों में नूतनता और आधुनिक सभ्यता का प्रवेश होगा।

ग्रामीण जागरण के इस काम मे सरकार, जनता व व्यापारी वर्ग सभी के सहयोग की आवश्यकता है। सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाते हुए भी सरकार को इस प्रकार की ग्रामीण सेवाओ के लिए मोटर-मालिकों को लैसंस देने चाहिए। मोटर मालिको को इस क्षेत्र की सेवा करने के लिए अधिकाधिक संख्या मे उत्साहपूर्वक आगे आना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि ग्रामीण जनता इन सेवाओं को सफल बनाने मे अपना पूरा सहयोग देगी क्योकि उनके गुण शीघ्र उन लोगो पर प्रगट हो जायेंगे। इस योजना के कार्यान्वित होने पर हमारी सामुदायिक और ग्रामोत्थान की अन्य योजनाओ तथा पंचवर्षीय योजना का कार्य अत्यन्त सुलभ हो जायगा और कुछ ही काल में हमारे गाँव सुख की साँस लेने लगेंगे। वे सभ्यता की दौड़ में किसी से पीछे न रहेंगे। अतएव इस पुण्य कार्य को हमें शीघ्रता से उत्साहपूर्वक उठाना चाहिए।

२७.

नगर परिवहन

(City Transport)

नगर-परिवहन का स्वरूप

भारतवर्ष गांवो का देश है। शहरो की संख्या यहाँ कम है। तो भी कुछ शहर इतने बड़े हैं कि वहाँ की जनसख्या के लिए उपयुक्त साधन व सुविधायें उपलब्ध करना एक समस्या है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास व दिल्ली की जनसख्या क्रमश: ५५·५,४१·५,१७·३ व २३ ५ लाख हैं। इन नगरो की बसावट मीलो तक फैली है, किन्तु कार्यालय व कारखाने नगर के किसी स्थान विशेष मे ही केन्द्रीभूत हैं। लोगो को प्रति दिन मीलो दूर चल कर कार्यालयो व कारखानो मे काम करने आना पडता है और सध्या समय घर लौटना पडता है। बम्बई नगर के कार्यालयो व कारखानो मे काम करने वाले व्यक्ति प्रति दिन दादर (६ मील), कुर्ला (१० मील), थाना (२१ मील) और कलियान (३४ मील) तक से आते हैं। जीवन-निर्वाह कार्यों के अतिरिक्त इस बडी जनसंख्या को सामाजिक, धार्मिक, शिक्षात्मक तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए भी प्रतिदिन नगर म इधर-उधर आना-जाना पडता है। दुकानो, भण्डारो व मण्डियो से अन्न-वस्त्र इत्यादि लेने घूमना पडता है। कुछ लोग मनोरंजन व सैर-सपाटे के लिए भी निकलते है। सिनेमा देखना आधुनिक नागरिक जीवन का आवश्यक अग बन गया है। नगर यात्रा यद्यपि दूरी के विचार से छोटी होती है, किन्तु परिवहन की मांग इतनी अधिक होती है कि अनेक गाडियो के लगातार दिन भर चले बिना काम नही चलता। ८½ से १०½ बजे प्रात काल और ४½ से ५½ बजे शाम के कुछ घण्टे ऐसे होते है जब नगर की सडको पर इतनी भीड-भाड दिखाई देती है कि उन्हे पार करना साहस का काम होता है। इन घण्टो मे दफ्तर, दुकान, कारखाने, कचहरी, स्कूल व कॉलेज जाने-आने वाले सभी लोग घर से निकल पड़ते हैं। मोटरो, ठेलो, रिक्शो, साइकिलो, इक्के-तांगो व पैदल लोगो का सडको पर जमघट हो जाता है।

इस स्थिति का पार पाना सरल काम नही, नगर में नित प्रति यातायात सम्बन्धी अनेक समस्यायें उपस्थित होती हैं। अतएव पर्याप्त परिवहन-सुविधायें सुलभ

करना सफल नागरिक जीवन का द्योतक है। बिना परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं के नागरिक जीवन में सरसता व आकर्षण का लेशमात्र भी नहीं रह जाएगा और नगर की गलियाँ सूनी दिखाई देने लगेंगी।

नगर-परिवहन का महत्व

नगर के यात्री-यातायात की समस्या जितनी जटिल है उतनी ही वह महत्वपूर्ण भी है। इसका महत्व आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनात्मक व अन्य अनेक दृष्टियों से है। घनी बस्तियों की सामाजिक कुरीतियों से सभी लोग परिचित हैं। नगर में अपर्याप्त परिवहन सुविधाओं का तात्पर्य है, लोगों का नगर के केन्द्रीय स्थानों में जमघट। इस जमघट का अर्थ है उनके स्वास्थ्य, सुख व समृद्धि पर कुठाराघात। पर्याप्त परिवहन सुविधायें उपलब्ध हैं तो नगर की बस्तियाँ उतनी घनी नहीं होंगी, लोग पाश्ववर्ती भागों में बस सकेंगे जहाँ उन्हें शुद्ध जलवायु व स्वस्थ वातावरण उपलब्ध होगा। फलत: उनका स्वास्थ्य अच्छा होगा और उनका जीवन सुखमय बीतेगा। इस समस्या का आर्थिक महत्व परिवहन सेवा का सस्तापन है। शहर में छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, मजदूर-मालिक सभी प्रकार के लोग बसते हैं। प्रतिदिन उन्हें थोड़ा-बहुत किराया-भाड़ा देना पड़ता है। अतएव, यदि सस्ते मूल्य पर सेवा उपलब्ध न हो तो उनकी आय का एक बड़ा भाग किराये-भाड़े में निकल जाएगा जो दुखदायी है। सस्तेपन के साथ-साथ नगर की सेवायें पूर्णत: कार्यकुशल (efficient) भी हों, क्योंकि नगरवासियों के लिए समय का मूल्य अधिक होता है। वे निश्चित समय पर कार्यालय, कारखाने, कचहरी व कॉलेज पहुँचना चाहते हैं। नगर के प्रबन्ध के लिए बहुधा नगर-पालिकायें अथवा नगर महापालिकाएँ (Corporations) उत्तरदायी होती हैं। नगर में सड़कें बनवाने, उन्हें सुरक्षित व साफ सुथरा रखने का सारा उत्तरदायित्व इन्हीं स्थानीय अधिकारियों पर होता है। यातायात का नियन्त्रण तथा भीड़-भाड़ का निवारण आदि कार्य भी इन्हीं के सुपुर्द होते हैं। कभी-कभी ये स्थानीय परिवहन सेवाओं के संचालन का भार भी अपने ऊपर ले लेती हैं। अतएव यह समस्या प्रशासनात्मक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नगर में भीड़-भाड़ व सड़क दुर्घटनायें अधिक होंगी तो नगर-पालिका की भारी बदनामी होगी।

यातायात के दृष्टिकोण से भी नगर परिवहन की समस्या उल्लेखनीय है। चाल का नगर में विशेष महत्व होता है। भीड़-भाड़ में भी जो गाड़ियाँ अच्छी चाल से चल सकती हैं, लोग उनकी ओर अधिक आकर्षित होते हैं। चाल के साथ-साथ दिन के विभिन्न घण्टों में आवश्यकतानुसार सेवा का प्रसार होना चाहिए। ऐसा करने में किराया-भाड़ा अधिक न होना चाहिए। दुर्घटनायें कम से कम होनी चाहियें। ऐसी ही अनेक यातायात सम्बन्धी समस्यायें नित प्रति सुलझानी पड़ती हैं।

परिवहन का प्रभाव

सस्ता और सुलभ परिवहन ही सच्चे नागरिक जीवन का द्योतक है। नगर की बस्तियों में ग्रामीण बस्तियों की सी सजातीयता (homogeneity) नहीं होती। एक

कार्यालय व कारखाने मे काम करने वाले लोग अलग-अलग मुहल्लो मे रहते हैं। एक ही स्थान के निवासी दूर-दूर कार्यालयो व कारखानो मे काम करते हैं। एक ही वश व परिवार के लोग भी इसी भाँति नगर के विभिन्न भागो मे काम करते तथा बसते हैं। यदि शहर मे परिवहन के सुलभ साधन न हो तो उनका सामाजिक जीवन शून्य-वत हो जाय। परिवहन ही उनकी मैत्री को स्थायी रखता है। इसी के द्वारा उनका निकट सम्पर्क बना रहता है।

शीघ्रगामी परिवहन लोगो के अवकाश काल (leisure time) मे वृद्धि करता है। जिन लोगो को काम करने के लिए शहरो मे दो-तीन मील दूर जाना पडता है (वस्तुत: बहुधा लोगो को इससे भी अधिक दूर जाना पडता है) उन्हे यदि पैदल जाना पडे तो उनका बहुत सा समय मार्ग म बीत जाए, फलत. उन्हे मनोरजन, स्वास्थ्य सुधार अथवा खेल-कूद के लिए कोई समय नही रह जाता और यदि उन्हे कुछ ही मिनट मे पहुँचाने वाली ट्रामगाडियाँ, बसे अथवा साइकिले उपलब्ध हैं तो उनका बहुत सा समय बच जाता है।

सस्ते व शीघ्रगामी नगर-परिवहन का सबसे बडा वरदान जनसख्या तथा उद्योग-धन्धो का विकेन्द्रीकरण है। नगर मे श्रमजीवियो के आवागमन की सुविधाये करना एक महत्वपूर्ण समस्या है। यदि कोई नगर सुलभ साधन सम्पन्न है तो श्रमजीवी कार्यालया कारखानो व दुकानो से दूर नगर के पार्श्ववर्ती भागो म जा बसेगे और वहा से प्रतिदिन सुविधापूर्वक प्रात-साय आ-जा सकेगे। यदि शीघ्रगामी और सस्ते साधनो का नगर म अभाव है तो उन्हे घने बसे हुए क्षेत्रो मे हा केन्द्रीभूत होना पडेगा और अनेक सामाजिक कुरीतिया का शिकार बनना पडेगा। इसी प्रकार उद्योग-धन्धो का विकेन्द्रीकरण भी परिवहन की सुविधाओ द्वारा ही सभव है।

परिवहन की सुविधाओ द्वारा नगर की स्वास्थ्य सम्बन्धी व मकान सम्बन्धी अनेक समस्याये सहज हल हो जाती हैं। आज हमारे अनेक नगरो की जनसख्या इतनी तेजी से बढती जा रही है कि वहाँ को मकानो की समस्या हमारे राष्ट्र की एक मुख्य समस्या बन गई है। दिल्ली नगर की जनसख्या पिछले दशाब्द मे बडी तीव्रता से बढी है। कानपुर की श्रमजीवी बस्तियो को नरक-कुण्डो की सज्ञा मिल चुकी है। यदि नगर मे आवागमन के साधनो को भली-भाँति नियोजित किया जा सके और वे गरीब नगरवासियो को हैसियत से परे न हो, तो लोगो का स्वास्थ्य ठीक रहेगा और जीवन आनन्दमय हो सकेगा।

परिवहन की सुविधाओ से नगर के दूर-दूर भागो मे रहने वाले लोग केन्द्रीय बाजारो व दूकानो तक सहज पहुँच सकते हैं। इससे प्रतियोगिता की वृद्धि होती है और वस्तुओ के फुटकर मूल्य मे समता स्थापित होती है।

नगर के केन्द्रीय भागो मे किराया तेज होता है और ज्यो-ज्यो दूर चलते जाते हैं, उसमे कमी होती जाती है। परिवहन की सुविधाओ के अनुसार लोगो को नगर के बाहरी भागो मे बसने का अवसर मिलता है और उनके मकान किराए का दायित्व

कम हो जाता है। वैतनिक लोगों की मासिक आय का सबसे बड़ा भाग किराये में ही चला जाता है।

इस भाँति रास्ते व सुगम परिवहन के साधन नागरिक जीवन के लिए वरदान है। नागरिक जीवन को सुन्दर, स्वस्थ, एवं सफल बनाने में परिवहन का बड़ा हाथ है।

नगर-परिवहन के साधन

नगर निवासियों की परिवहन सम्बन्धी आवश्यकतायें अनेक हैं। उनका जीवन-स्तर भी विभिन्न श्रेणियों का होता है। विभिन्न लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी एक ही साधन, एक ही वाहन, अथवा एक ही संस्था (agency) द्वारा सम्भव नहीं। उनकी पूर्ति के लिए हमें कई साधनों, कई प्रकार के वाहनों एवं कई वाहकों (carriers) की आवश्यकता होती है जिनमें परस्पर पूर्ण सहयोग हो। उनमें परस्पर प्रतियोगिता हो सकती है, किन्तु शत्रुता नहीं। उनकी प्रतियोगिता स्वास्थ्य और कार्यकौशल की सूचक होनी चाहिए। रेलें (बिजली अथवा भाप से चलने वाली), ट्राम, मोटर (लारी अथवा व्यक्तिगत कार), मोटर साईकल, इक्का, तांगा इत्यादि सभी के सम्मिलन और सहयोग से नगर परिवहन की समस्या हल हो सकती है। इनमें से प्रत्येक के अपने-अपने गुण-दोष हैं और प्रत्येक का आर्थिक महत्व एवं क्षेत्र होता है। इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय नहीं। परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार हमें विभिन्न साधनों का उपयोग करना पड़ता है। सामान्यत: किसी साधन अथवा वाहन का प्रयोग करने से पूर्व यातायात के स्वरूप, उसके घनत्व (density), यात्रा की दूरी एवं दिन के घण्टों में यातायात के वितरण इत्यादि का ध्यान रखना पड़ता है।

ग्राम्य क्षेत्रों के विपरीत नगरों में यांत्रिक परिवहन प्रधान है। इसका मुख्य कारण नगर की अच्छी पक्की सड़कें है। यांत्रिक परिवहन की प्रधानता होते हुए भी, नगरों से पशु परिवहन का लोप नहीं हुआ। नगर की तंग गलियों की भीड़ में से होकर इक्का-ताँगा सरलता से निकल जाता है। ऐसी गलियों में मोटर गाड़ियाँ या तो जा ही नहीं सकती और यदि चला भी जाये तो उनकी चाल अत्यन्त धीमी रखनी पड़ती है अथवा कभी-कभी भीड़ में उन्हें बार-बार रुकना भी पड़ता है। फलत: उनका सचालन सर्वथा अलाभकर हो जाता है। सामान्यत: एक मील अथवा उससे कम दूरी के लिए इक्के-ताँगे का उपयोग लाभकर है। इक्का तीन और ताँगा चार सवारियों से भर जाता है जबकि मोटर लारी के लिए कम से कम २५-३० सवारियाँ चाहियें। (व्यक्तिगत मोटर और टैक्सी लौकिक प्रयोग के बाहर है, उनका उपयोग कुछ धनी लोग ही कर सकते है)। स्टेशनों को जाने वाले यात्रियों के लिए इक्का व ताँगा ही विशेष उपयोगी है। उनमें यात्री अपना सामान भी रख लेते हैं जबकि नगर की बसें सामान नहीं रखतीं।

जहाँ यातायात का घनत्व अधिक और लगातार होता है वहाँ ट्रामगाडी बस की अपेक्षा अधिक सफल समझी जाती हैं। किन्तु ट्राम बहुत दूर के यातायान के लिए उतनी उपयोगी नही जितनी रेल। दो मील से अधिक दूर के क्षेत्रो से आने वाले यातायान के लिए रेले सस्ती समझी जाती हैं। बम्बई उपनगर का सारा यातायात बिजली से चलाने वाली रेलो से होता है जबकि नगर के आन्तरिक भाग म ट्रामगाडियाँ अति लोकप्रिय है। इस भाति एक ओर रेल और दूसरी ओर पशु परिवहन का हम नगरो मे प्रयोग देखते है, किन्तु वस्तुतः मोटरगाडिया ही वहा अधिक प्रचलित हैं।

बिजली की रेलें—हमारे देश म उप-नगरीय क्षेत्र की यात्रा चालीस-पचास मील लम्बी हो सकती है। ऐसे यातायात के लिए सबसे सस्ता और विश्वसनीय साधन केवल बिजली की रेले है। एसी दूरवर्ती यात्रा मे उनकी चाल का भी महत्व है। बहुधा प्रात काल नौ और ग्यारह बजे के बीच मे बडी सख्या मे लोग नगर की ओर आते है और सध्या समय ४ से ६ बजे तक वापिस जाते है। ये अपार भीड के घण्टे होते है। एसे यातायात के ले जाने मे बिजली की रेले ही सामर्थ्यवान है, जिनमे बैठने के स्थान के अतिरिक्त आवश्यकता हो तो खडे होने का भी बहुत स्थान होता है। बिजली की रेलो की अधिक चाल के कारण इतनी लम्बी सारी यात्रा कुछ मिनटो मे ही पूरी की जा सकती है। ये गाडियाँ ठीक समय से भी लोगो को काम के स्थान पर पहुँचा देती है। बिजली की गाडियो का भाप की गाडियो की अपेक्षा घनत्व भी अधिक होता है क्योकि खडे होने के उपरान्त बिजली का इञ्जन बटन दबाते ही तुरन्त चाल पकड लेता है। धुएँ से छुटकारा मिल जाने के कारण नगर की स्वच्छता और लोगो का स्वास्थ्य भी इससे प्रभावित नही होता।

बिजली की रेलो की इन्ही विशेषताओ के कारण बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के उपनगरीय क्षेत्र म बिजली की रेलो का चलन है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त तक केवल २४० मील रेल-पथ पर बम्बई और मद्रास मे ऐसी रेले चलती थी। द्वितीय योजना-काल मे यातायात की वृद्धि के कारण कलकत्ता मे भी बिजली की रेले चालू की गई। द्वितीय योजना के अन्त तक इनका क्षेत्र ५०० मील से बढाया गया। उक्त बडे नगरो के अतिरिक्त कुछ और छोटे नगरो मे भी जनसख्या एव यातायात इतना बढ गया है कि तृतीय योजना काल मे विवलन-इर्नाक्विलम, कानपुर-लखनऊ, मुगलसराय-कानपुर और दिल्ली-अमृतसर के बीच भी बिजली की रेलें चलाने का विचार किया जा रहा है।

ट्रामगाडी—ट्रामगाडी रेल से बहुत कुछ मिलती जुलती है। रेल की भाँति इसके सफल सचालन के लिए सघन और नियमित यातायात की आवश्यकता है। भीड के घण्टो के सघन यातायात के लिए ट्राम से बढकर और कोई वीथि परिवहन (Street Transport) उत्तम नही। मोटर बस इस यातायात के लिए असफल सिद्ध हुई है। जहाँ दूरी अधिक होती है और यातायात भारी होता है वहाँ ट्राम की अपेक्षा

रेल उपयोगी सिद्ध होती है। थोड़ी दूर के लिए ट्राम रेल से अच्छी समझी जाती है। बम्बई उपनगर (Suburb) मे इसी कारण बिजली की रेलें अधिक चलती है, किन्तु नगर के आन्तरिक भाग मे ट्राम ही अधिक लोकप्रिय है। भीड़काल (Rush hour) के यातायात के लिए ट्राम इसलिए भी मोटर से अच्छी समझी जाती है कि उसमे अधिक सवारियाँ बैठ सकती है। एक ट्राम मे ८० सवारियाँ बैठ सकती है और १२ खड़ी हो सकती है अर्थात् ९२ सवारियाँ आ जाती है, जब कि आधुनिक मोटर बस मे सामान्यतः ६० तक सवारियाँ बिठाई जा सकती है। कुछ बसे ७०-८० तक बिठाने की भी क्षमता रखती है। ट्रामगाड़ी का जीवन काल मोटर बस की अपेक्षा अधिक होता है। मोटर बस मे इञ्जन के घड़ी और धुयें के कारण टूट-फूट और अवक्षयण (Depreciation) अधिक होता है। ट्राम मे मोटर की अपेक्षा गतिवर्धन (Acceleration) की क्षमता अधिक होती है। ट्राम के दरवाजे चौड़े होते है अतः उसमे उतरने-चढ़ने की क्रिया भी शीघ्र हो जाती है, मोटर म चढने-उतरने मे देर लगती है। विकल ऋतु का मोटर की अपेक्षा ट्राम पर कम प्रभाव पड़ता है। वर्षा, कुहरे व आँधी मे भी ट्राम बराबर चली जाती है, क्योंकि उसका अपना निश्चित मार्ग होता है, किन्तु मोटर के ऐसी ऋतु मे पथभ्रष्ट होने की सभावना रहती है। सुरक्षा (Safety) की दृष्टि से भी ट्राम अच्छी समझी जाती है, मोटर की अपेक्षा उस पर दुर्घटनायें कम होती है। ट्रामगाड़ियाँ बिजली का प्रयोग करती है। अतएव जहाँ ट्रामगाड़ियाँ चलती है उन नगरो के निवासियों को बिजली सस्ती मिल जाती है। बैठने वाले को ट्राम मे मोटर की अपेक्षा अधिक आराम मिलता है।

ट्रामगाड़ी का सबसे बड़ा दोष उसमे लोच (Flexibility) की कमी है। वे रेल की भाँति सर्वथा अपने मार्ग से सम्बद्ध होती है, जबकि मोटर सर्वत्र जाने को स्वतन्त्र होती है। उन्हे मार्ग भर मे तारो का जाल भी बिछाना पड़ता है। यह सड़क के सौन्दर्य को ही नही बिगाड़ देता, कभी-कभी बाधा भी उपस्थित करता है। भारत मे मुहर्रम के अवसर पर ताजियो का निकलना कठिन हो जाता है। ट्रामगाड़ियो को भारी स्थानीय कर देने पड़ते है और कभी-कभी सड़को की मरम्मत का खर्च भी भुगतना पड़ता है। मोटरें इन करो अथवा व्ययो से मुक्त होती है।

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली व मद्रास आदि इने-गिने बड़े नगरो को छोड़कर ट्रामगाड़ियाँ भारत मे अधिक लोकप्रिय नही। इसका सबसे बड़ा कारण इनके प्रारम्भिक व्यय की अधिकता है। अधिक मात्रा मे बिजली उपलब्ध करना इसका दूसरा कारण है। अनेक भारतीय नगरो की सड़कें भी कम चौड़ी हैं जहाँ ट्राम का संचालन सुविधाजनक नही। नये नगरो मे बसावट बिखरी रखी जाती है; पुराने नगरों का सा जमघट नही होता। अतएव भारत के आधुनिक नगरो और बस्तियों मे मोटर बस का अधिक प्रचार है और ट्रामगाड़ी की महत्ता कम होती जा रही है। नई मोटरगाड़ियो मे ऐसे अनेक सुधार भी हो गये है जिनसे लोग उनकी ओर अधिक आकर्षित होते हैं। उनके रूपाकार (Design), उनकी अधिक यात्री बिठाने की क्षमता एवं बैठाने वालो

की अधिक आराम आदि—उनमे सुधार किये गये हैं और कुछ और भी किये जा रहे हैं।

मोटर बस—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भारतीय नगरो (और ग्रामीण क्षेत्रो) मे मोटर बस का प्रचार बढ रहा है। लगभग सभी बडे नगरो मे मोटर बसे चलती दिखाई देती है। रेल, ट्राम, अथवा नगर के अन्य परिवहन साधनो की अपेक्षा मोटर बस कई बातो म अधिक लाभदायक है। ट्रामगाडी की अपेक्षा इसकी सेवा सस्ती, लोचदार (Flexible) एव स्वतन्त्र होती है। इसी भाँति इक्के-ताँगे की अपेक्षा यह चाल म व यात्री बिठाने की क्षमता मे अच्छी समझी जाती है तथा सस्ती सेवा भी प्रदान करती है। ट्रामगाडी का प्रारम्भिक व्यय इतना अधिक होता है कि भारत मे उसका प्रचार नही हो सका। मोटर बस ट्राम व रेल की भाँति अपने मार्ग से सम्बद्ध नही होती और न उसे मार्ग के निर्माण व सुधार के लिए कुछ व्यय ही करना पडता है। मार्ग अवरुद्ध होने पर मोटर इधर-उधर बचकर भीड को चीर कर निकल सकती है किन्तु ट्राम के लिए इस प्रकार बचना सम्भव नही। आमने-सामने आने वाली मोटरे एक दूसरे से बचकर सरलता से निकल जाती हैं। ट्राम के लिए यह सम्भव नही। सवारी उतारने-चढाने के लिए मोटर बसे सडक के एक ओर खडी हो सकती है, किन्तु ट्रामगाडियो के लिए यह भी सम्भव नही।

मोटर बस का एक बडा गुण सचालन व्यय की अपेक्षा स्थायी व्यय की मात्रा की कमी है। अतएव मोटर बस थोडे यातायात क द्वारा ही फल-फूल सकती है, जबकि ट्राम के लिए भारी यातायात चाहिए। यही कारण है कि दिल्ली मे ट्रामगाडियो के स्थान पर बसे चलाने का निश्चय किया गया है।

बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास आदि बडे नगरो और लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, बरेली आदि जैसे बीच के नगरो मे भी अब मोटर बस चलती है। कही-कही पर इनका सचालन नगरपालिकाये स्वय करती है। कही-कही पर नगरमहापालिकाओ (Corporations) को यह अधिकार दे दिया गया है। इनके सगठन मे बहुत कुछ सुधार हो चुका है और ये जनता की अच्छी सेवा कर रही है।

अनेक मध्यम श्रेणी के नगरो जैसे अहमदाबाद, हैदराबाद, बडौदा, नागपुर, भोपाल, जबलपुर, जयपुर, इलाहाबाद, बनारस, आगरा, मेरठ, चण्डीगढ, पटना इत्यादि के उपनगरीय क्षेत्र के लिए भी बस अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इन नगरो का उपनगरीय क्षेत्र पाच सात मील से अधिक दूर तक नही होता। इतनी दूरी की यात्रा को नगर-बसे लगभग आधे घण्टे मे पूरा कर सकती हैं। यातायात की माँग के अनुसार गाडियो का समय समायोजित किया जा सकता है। बैठने के स्थान के अतिरिक्त खडे होने के लिय भी स्थान होता है जिसे आवश्यकतानुसार काम मे लिया जा सकता है। रेल की भाँति खिडकी से टिकट लेने की आवश्यकता नही होती। रेल से अधिक सख्या मे गाडी के रुकने और यात्री चढाने-उतारने के स्थान होत हैं। अतएव उपनगरीय क्षेत्र म इसका प्रचार बढता जा रहा है।

मोटर टैक्सी—अनेक बड़े नगरों में मोटर टैक्सी का भी चलन है। इसका प्रयोग लम्बी व्यक्तिगत यात्राओं के लिए धनी लोग करते हैं। बहुधा बड़े-बड़े होटल मालिक टैक्सी रखते हैं जो बाहरी यात्रियों को नगर अथवा उपनगर में घूमने के लिए प्रति मील किराए के हिसाब से मिल जाती है। मोटर बसों से बहुधा ये छोटी होती हैं। पर्यटन करने वालों के लिए ये अति उपयोगी होती हैं। बहुधा किराए की दरें स्थानीय संस्थाएँ नियमित कर देती हैं। यद्यपि इनका प्रयोग सीमित है, किन्तु जिनका समय मूल्यवान होता है, उनके लिये अत्यन्त लाभदायक हैं। ये चार यात्रियों को बिठाती हैं।

मोटर रिक्षा—मोटर साईकिल और रिक्षा के सम्मिलन से मोटर रिक्षा बनाई गई है। इसका प्रयोग कुछ बड़े नगरों में हाल में ही होने लगा है। यद्यपि इनमें बैठने वाले को आराम अधिक नहीं मिलता, क्योंकि इनमें हाल अधिक लगती है, तो भी कभी-कभी ये यात्री का समय बचाने में लाभदायक सिद्ध होती हैं। इनमें चार सवारियाँ बैठती हैं। इनका किराया मोटर टैक्सी से कम और रिक्षा से कुछ अधिक होता है।

साईकिल रिक्षा—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व कलकत्ता में सर्वप्रथम मनुष्य द्वारा चलाई जाने वाली रिक्षा सड़कों पर दिखाई दी। अन्य नगरों में भी इसका पदार्पण हुआ। नगर में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये यह गाड़ी बड़ी सुविधाजनक थी, क्योंकि इसमें केवल एक या दो सवारियाँ ही बैठती थीं। इसकी चाल धीमी होती थी, क्योंकि मनुष्य इसको चलाता था जो कभी-कभी सड़क खुली होने पर थोड़ा दौड़ने लगता था, अन्यथा धीरे-धीरे चलता था। इस कारण इसका किराया सस्ता होता था। किन्तु अनेक लोग इस गाड़ी में बैठना अमानुषिक व असामाजिक समझते थे। उसकी चाल भी मनुष्य की साधारण चाल से अधिक नहीं होती थी। अतएव तीन पहिये की एक नई साईकिल रिक्षा सड़क पर आई। इसे भी मनुष्य चलाता है किन्तु वह मनुष्य गद्दी पर बैठ कर पैर से चलाता है। प्राचीन रिक्षा की भाँति पैदल नहीं चलाता। यह नई रिक्षा युद्धोपरान्त काल में सभी नगरों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गई है। इसकी लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। इसका किराया इक्के-ताँगे की अपेक्षा बहुत कम होता है; दो सवारियाँ बिठाकर ही यह गाड़ी भर जाती है जबकि इक्के को तीन और ताँगे को चार सवारियाँ चाहियें। नगर में एक-डेढ़ मील जाने का किराया सामान्यत: छः आने होता है जबकि ताँगा उतनी दूर के लिए बारह आने से कम नहीं लेता। सेवा की लोच (flexibility) के विचार से भी यह इक्के-ताँगे से बढ़कर है, क्योंकि साईकिल की भाँति सब जगह जा सकती है। इसकी चाल भी बहुधा अधिक होती है। रिक्षा का आरम्भिक व्यय भी कम होता है। पाँच-छः सौ रुपए में साईकिल रिक्षा मिल जाती है। बढ़ती हुई बेकारी के कारण इसका नगरों में खूब प्रचार बढ़ रहा है। अनेक व्यापार-संस्थायें ऐसी स्थापित हो गई हैं जो दस-बीस साईकिल रिक्षा ले लेती हैं और उन्हें किराये पर रिक्षा चलाने वालों को देती रहती हैं। इस प्रकार उन्हें

नियमित मासिक आय मिलती रहती है और रिक्षा चलाने वालो को निर्वाह साधन मिल जाता है।

किन्तु रिक्षा चलाने का काम अच्छा नही समझा जाता। स्वास्थ्य विशेषज्ञो का विचार है कि रिक्षा चलाने वाले के स्वास्थ्य को भारी धक्का पहुँचता है और उन्हे एक प्रकार का रोग हो जाता है। अतएव यह कहा जाता है कि रिक्षाओ पर कानूनी प्रतिबन्ध होना आवश्यक है। इस समय इस व्यवसाय पर कोई सरकारी प्रतिबन्ध नही है। आज-कल बच्चे-बूढे, हृष्ट पुष्ट व कमजोर सभी रिक्षा चलाते है। रिक्षा चलाने वाले के लिए अवस्था का प्रतिबन्ध अवश्य होना चाहिए, ऐसा सुझाव बहुधा रखा जाता है। अवयस्क और अति वृद्ध लोगो को इस काम को करने की आज्ञा नही होनी चाहिए। नगरपालिकाये लैसंस देते समय इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगा सकती हैं। काम के घण्टो तथा सवारियो की सख्या के विषय म भी नियम बनने चाहिएँ। रिक्षा से माल ढोने की स्वतन्त्रता भी नही दी जानी चाहिए।

रिक्षा से सम्बन्धित भारत सरकार की नीति एव उसके प्रतिबन्ध के मार्ग की बाधाओ का विवरण पृष्ठ ३६६ पर दिया जा चुका है।

बाईसकिल—निम्न और मध्यम श्रेणी के नगरवासियो के लिए आजकल बाईसकिल रखना अनिवार्य सा हो गया है। नगर मे एक स्थान से दूसरे स्थान को अकेले जाने वाले के लिए यह अत्यन्त सुविधाजनक गाडी है। इसका प्रयोग दस-पन्द्रह मील तक की यात्रा के लिए भी किया जाता है। नगर के निकटवर्ती गाँवो मे बसने वाले लोगो और विशेषत. दूध बेचन वालो के लिए यह अति उपयोगी है। दो मन तक दूध लेकर वे शहरो म प्रात -साय बेच जाते है। साईकिल के द्वारा भारतीय श्रम की गतिशीलता बढ गई है। अनेक लोग दस पन्द्रह मील चलकर नगर मे काम करने साईकिल से प्रतिदिन आते-जाते है। अनेक विद्यार्थी भी इसी प्रकार इसका उपयोग करते ह। दफ्तर के बाबुओ के लिए तो यह वरदान है। यह सडक पर चलने वाली सभी गाडियो से अधिक लोचदार व सस्ती होती है। इसकी चाल भी इक्के-तागे की अपेक्षा अधिक होती है। खाली रहते हुए इस पर कोई व्यय नही करना पडता। इसी कारण यह गाडी दिन प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही है। भारत मे साईकिल निर्माण के कई कारखाने खुल चुके है। इस उद्योग को सरक्षण भी मिल चुका है।

घोडा गाडी—सभी नगरो मे इक्के, तागे, टमटम स्थानीय परिवहन का लोकप्रिय साधन ह। छोटी इकाई होने के कारण इनकी सेवा बडी लाभदायक और सस्ती होती है। इनका सबसे बडा लाभ इनकी लोच (Flexibility) है। जिन तग एव भीडयुक्त गलियो मे मोटर का प्रवेश सम्भव नही वहाँ भी इक्के-तांगे की पहुँच सरल है। टूटी-फूटी सडको पर भी ये गाडिया अपनी चाल से चल सकती है। असबाब के साथ स्टेशन आने-जाने वाले सामान्य यात्री के लिए यही एकमात्र साधन है। नगर मोटर बस ऐसे यात्रियो को नही बिठाती। अति प्राचीन काल से प्रयोग

मे आने के कारण भारतीय जनता इनकी अभ्यस्त हो गई है। इन गाड़ियों का स्थानीय निर्माण होता है और अनुरक्षण व्यय भी अति न्यून होता है। भाड़े की दरें सस्ती होती है। बहुधा एक चौराहे से दूसरे तक किराये बँधे हुए होते है। नगर-मोटर बस और साईकल-रिक्शा के आ जाने से इक्के-तांगे की सेवा बहुत कुछ सीमित हो गई है। इसका मोटर की तुलना मे सबसे बड़ा दोष सीमित क्षमता और सीमित चाल है। ये गाडियां सड़कों को गन्दी भी करती रहती है और घोड़ा का नगरो मे रहना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। कभी-कभी ग्रस्तबल बीमारी फैलाने के कारण होते है। चिकनी सडकों पर घोडा के फिसलने और दुर्घटनाओं के घटित होने के भी अवसर आते रहते है।

माल यातायात

बड़े नगरो मे माल की ढुलाई के मुख्य साधन मोटर ठेले, बैलगाडी, तथा हाथ के ठेले है।

मोटर ठेला—मोटर ठेले का प्रयोग अधिक मात्रा (२०० और ३०० मन) और दूरवर्ती ढुलाई (१ मील से १० मील) के लिए किया जाता है। बहुधा बड़े व्यापारी-व्यावसायी ही इनका प्रयोग करते है। खाद्यान्न, फल-तरकारियाँ, ईंट-चूना, कलई, पत्थर, खाद, मिट्टी, राख, रेत इत्यादि वस्तुएं नगर के बाहरी क्षेत्रों अथवा स्टेशनों से लाने-ले-जाने के लिए इनसे काम लिया जाता है। भवन-निर्माण सामग्री के लिए इनकी सेवा अन्य सभी साधनो से सस्ती होती है।

बैलगाड़ी—अति प्राचीन काल से इसका प्रयोग नगरो मे होता रहा है। इसकी क्षमता ४० या ५० मन होती है। नगरो मे गाँव से किसानो का माल बहुधा बैल-गाडियाँ ही लाती हैं। स्थानीय ढुलाई मे मध्यम परिमाण के माल को मध्यम दूरी के एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले को ले जाने के लिए ये गाडियाँ बड़ी लोकप्रिय है। कम मात्रा मे ढोये जाने वाली भवन-निर्माण सामग्री (ईंट, चूना, पत्थर, लोहा, सीमेण्ट, रेत, कोयले की राख), खाद, खाद्यान्न, फल-तरकारियाँ इत्यादि वस्तुओ के लिए इनकी सेवा सस्ती समझी जाती है।

हाथ के ठेले—इन ठेलो का महत्व घरेलू ढुलाई मे विशेष है। दुकान से दुकान तक, गोदाम से दुकान तक, दुकान से घर तक थोड़ी मात्रा मे (दो चार मन) माल ले जाने के लिए इनका प्रयोग होता है। माल की मात्रा के अनुसार एक दो या अधिक आदमी इसे ढकेल कर चलाते है। लोहा, सीमेण्ट, अन्न, दाल इत्यादि वस्तुएं इधर-उधर ले जाते हुए ठेले बहुधा दिखाई देते है। नगर-निवासियो के मकान बदलने मे इनका विशेष प्रयोग किया जाता है।

यातायात के जमघट (Congestion) की समस्या

गत वर्षो मे हमारे नगरो की जनसंख्या बड़ी तीव्रगति से बढ़ी है और बहुधा अव्यवस्थित और अनियोजित रूप मे। लोगो मे घूमने और यात्रा करने की आदत

भी बढ रही हैं, किन्तु उसी अनुपात से न सडको की वृद्धि हुई है और न चौडी सडके ही बनाई गई है। फलस्वरूप नगरो मे यातायात के जमघट की समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है। नगर की नई बस्तियो के लिए नियोजित कार्यक्रम बनाए जा रहे है; सडके भी चौडी की जा रही है। तो भी पुरानी बस्तियो मे यह समस्या उपस्थित है। यातायात के जमघट से गाडियो की चाल बहुत धीमी हो जाती है (कहीं-कहीं पर तो ५ मील से भी कम करनी पडती है) और बहुधा दुर्घटनायें भी होती रहती है। विभिन्न गाडियाँ जनता की उतनी सेवा नही कर पाती जितनी वे करने मे समर्थ हैं। यह यात्री और वाहक दोनो ही के लिए हानिकारक है। इससे सभी का समय व्यर्थ जाता है। अतएव इस समस्या का हल परम आवश्यक समझा जाता है।

जमघट के कारण—भीड-घडी (Rush hour) यातायात के जमघट का सबसे बडा और मुख्य कारण है। प्रातःकाल दस बजे के लगभग दुकाने, दफ्तर, कारखाने, कचहरियाँ व शिक्षा सस्थाये सभी एक साथ खुलते हैं। इनमे काम करने वाले लोग ९ या ९½ बजे अपने-अपने घर से चलते हैं। इसी भाँति सभी सस्थायें सन्ध्या के चार बजे के लगभग बन्द होती हैं जब कि सभी कार्यकर्त्ता घर लौटते हैं। अतएव प्रातःकाल ९½ बजे से १०½ बजे तक और सायकाल ४ बजे से ५ तक सडको पर भारी भीड एकत्रित हो जाती है। मोटरो, इक्को-ताँगो, रिक्शाम्रो, साईकिलो और पैदल लोगो का जमघट हो जाता है और विशेषतः चौराहो और घुमावो पर।

कुछ मन्दगति से कुछ तीव्रगति से चलने वाली अनेक प्रकार की गाडियों की सख्या वृद्धि और उनकी एव उनके स्वामियो की पारस्परिक प्रतियोगिता नगर की भीड-भाड का दूसरा कारण है।

कभी-कभी मरम्मत के लिए समानान्तर सड़कें बन्द कर देने से भी यातायात का जमघट हो जाता है। नगरपालिकाओ को सडको की मरम्मत का काम नियोजित रूप मे करना चाहिये।

अनेक नगरो से सीधा (Through) जाने वाला यातायात नगर के आन्तरिक भागो से होकर आता-जाता है। इससे नगर की केन्द्रीय सडको पर भारी भीड हो जाती है।

गाडियो के माल उतारने-चढाने के लिए सडको अथवा गलियो मे खडे होने से भी बहुधा यातायात का जमघट हो जाता है। तग गलियो मे माल उतारने-चढाने के लिए दिन के विशेष घण्टो मे ही गाडियो को खडे होने की आज्ञा होनी चाहिए। अच्छा हो कि बडी दुकानो और गोदामो के दर्वाजे पीछे की ओर हो।

सडक सम्बन्धी नियमो का अभाव और उनकी अनभिज्ञता भी भीड-भाड के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। अनेक ड्राइवर और पुलिस कर्मचारी नियमो से अनभिज्ञ होते हैं और यातायात का पथ-प्रदर्शन ठीक से नही कर पाते।

इसके अतिरिक्त नगरों की जनसंख्या वृद्धि, यात्रा में अधिकाधिक रुचि, मोटर और साईकिल की लोकप्रियता; लोगों की पार्श्ववर्ती भागों में बसने की इच्छा और परिवहन पर निर्भरता; अवकाश काल और छुट्टियों की वृद्धि इत्यादि अनेक कारण और भी हैं जो नगरों के जमघट के लिए उत्तरदायी हैं।

स्थानीय अधिकारियों की चेतना और लोगों के सहयोग द्वारा ही इस समस्या का हल सम्भव है। सडकों की नियोजित मरम्मत और मोड़ों को पीछे को हटा होने के सम्बन्ध में ऊपर सुझाव दिए जा चुके हैं। ड्राइवरों अथवा यात्रियों के हेतु सड़कों पर यथास्थान आवश्यक चिन्ह पर्याप्त संख्या में लगा देने चाहियें। इन चिन्हों के लगाने में यातायात की दिशा और भय की घन्टी दोनों ही बातों का ध्यान रखना चाहिये। नई सडकें इस प्रकार नियोजित की जानी चाहियें कि ड्राइवर के लिए गाडी का पथ-प्रदर्शन आवश्यक न हो, वरन् सडक ही स्वयं गाडी का पथ-प्रदर्शन कर सके। नई दिल्ली जैसे अनेक नगरों में मोटरों, साइकिलों और पैदल यात्रियों के लिए उन स्थानों पर जहाँ भीड अधिक रहती है (जैसे सचिवालय जाने वाली सडकें) अलग-अलग मार्ग बना दिए गए हैं। इससे समस्या बहुत कुछ सुलझ गई है, किन्तु चौराहों पर तब भी भीड इकट्ठी हो जाती है। इसका निवारण गोल चौराहे बना कर किया जाता है। आर-पार जाने वाले सीधे यातायात के लिए अलग सडकें होनी चाहियें। इस सम्बन्ध में यह सुझाव उपस्थित किया जाता है कि नगर की प्राचीन सडकों को धीमी चाल वाली गाडियों और मिश्रित तथा स्थानीय यातायात के निमित्त छोड़ देना चाहिये और आर-पार जाने वाली गाडियों के लिए नगर के बाहरी भागों से होकर नई सडकें बनानी चाहियें। सम्भव हो सके तो भीड के घण्टों में एक सडक से एक दिशा में ही जाने की आज्ञा होनी चाहिए जैसा कि बडे नगरों में बहुधा किया जाता है। इक्के-तांगों अथवा बैलगाडियों को भीड के घण्टों में मुख्य सडकों पर जाने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। भारतीय नगरों में यातायात के नियन्त्रण का काम पुलिस के सुपुर्द होता है। इस समस्या को हल करने के लिए जनता को पुलिस के साथ पूर्ण सहयोग देना चाहिए और यातायात नियमों का पूर्णतः पालन करना चाहिए।

दुर्घटनायें

नगर में यातायात का जमघट हो जाने का अवश्यम्भावी परिणाम दुर्घटनायें होती हैं। रेल और जल परिवहन के विपरीत सडक पथ सभी के लिए स्वतन्त्रता पूर्वक खुला रहता है। सडकें सार्वजनिक उपयोग के मार्ग हैं। इस कारण भी सडक परिवहन दुर्घटनाओं की दृष्टि से सबसे अधिक बदनाम है। सडकों पर और विशेषतः नगरों में घटने वाली दुर्घटनाओं के मुख्य-मुख्य कारण नीचे दिए हैं :—

(१) यातायात के नियमों का अधूरा ज्ञान और ड्राइवरों का अपर्याप्त प्रशिक्षण—यह दुःख की बात है कि हमारे देश में यातायात के नियम केवल सरकारी

दफ्तरो के रजिस्टरो तक ही सीमित हैं। जनता, मोटर मालिक और मोटर ड्राइवरो को उनका पूर्ण ज्ञान नही कराया जाता। जो लोग नियमो का कुछ ज्ञान भी रखते हैं, वे बहुधा उनकी उपेक्षा करते हैं। वस्तुत: आज के यातायात प्रधान युग मे यातायात के नियमो की शिक्षा लोगो को बचपन से ही मिलनी चाहिये और पाठ्य-पुस्तको मे इन नियमो को उचित स्थान मिलना चाहिये। कुछ भारतीय नगरो मे स्कूल जाने वाले बच्चो को यातायात सम्बन्धी नियम सिखाए जाने लगे हैं। अन्यत्र भी इसका प्रचार होना चाहिए।

(२) अधिक चाल—मोटर हाँकने वालो को प्रचलित नियमो को जानने के साथ-साथ अधिक चाल से चलाने के दुष्परिणामो को भी जानना चाहिए। गाडी सदैव उनके काबू मे रहनी चाहिए और उन्हे सडक पर चलने वाली दूसरी गाडियो अथवा पैदल यात्रियो का सदैव ध्यान रखना चाहिए। ड्राइवरो को यह पूर्णत: जानना चाहिये कि किस चाल से चलती हुई गाडी को रोकने के लिए कितना अन्तर चाहिए। उदाहरणत: ३० मील प्रति घण्टे की चाल से चलती हुई गाडी को रोकने के लिये १०४ फीट का अन्तर आवश्यक है। इसी भाति ५० मील चाल से चलने वाली गाडी को आवश्यकता पडने पर २३९ फीट पर जाकर खडा किया जा सकता है।

(३) गाडी के यान्त्रिक दोष—दिल्ली राज्य के परिवहन नियत्रक सरदार राजेन्द्रसिंह के अनुसार दिल्ली मे ६० प्रतिशत दुर्घटनाये गाडी मे दोष होने के कारण घटती है। गाडी के ब्रेक (Brakes) ठीक न होने, उसमे रोशनी का पूरा प्रबन्ध न होने अथवा गाडी के अन्य दोषो से दुर्घटनाये घटती है। अतएव ड्राइवरो को इस ओर पूरी सावधानी रखनी चाहिए। थोडा विकार होते ही उसे ठीक करा लेना चाहिये। दोषपूर्ण गाडी को सडक पर कदापि न ले जाना चाहिए। रात के समय सडको पर परिवहन-प्रकाश का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि गाडियो का एक स्थान पर जमघट न होने पाए वरन् वे यथास्थान रुक जाये।

(४) बुरी सडकें—कम चौडी, भयानक घुमावो वाली सडके अथवा ऐसी सडके जिनके चौराहे भयानक हो दुर्घटनाओ के लिए उत्तरदायी है। जिन सडको पर रोशनी का प्रबन्ध नही होता उन पर बहुधा दुर्घटनाये होती देखी गई है। कभी-कभी तेज रोशनी के कारण चकाचौंध हो जाने से भी दुर्घटनाये हो जाती है। ड्राइवरो को इसका ध्यान रखना चाहिए।

(५) अधिक काम—बहुधा मोटर ड्राइवरो को हर समय गाडी पर रहना पडता है। उन्हे आराम करने का कम अवसर मिल पाता है। अनेक दुर्घटनाये थके हुए ड्राइवरो की झपकी लगने से हो जाती हैं। मोटर मालिको को इस ओर ध्यान देना चाहिये और ड्राइवरो के काम के घटे बाँध देने चाहिये।

(६) पैदल लोगो की उपेक्षित चाल—सडक पर विभिन्न चाल वाली विभिन्न गाडियो का एक साथ चलना भी दुर्घटनाओ का एक महत्त्वपूर्ण क।

२८.

सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Road Transport)

प्रथम विश्वयुद्ध और रूस की क्रान्ति के उपरान्त प्रत्येक देश मे राष्ट्रीयकरण की एक लहर सी उठती दिखाई देने लगी। सभी राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण औद्योगिक समस्याओ का हल राष्ट्रीयकरण मे समझने लगे। अनेक देश स्थानीय परिस्थितियो का अध्ययन किए बिना और पश्चात् परिणामो को सोचे बिना ही राष्ट्रीयकरण के क्रीडागण मे उतर पडे। आधारभूत उद्योगो का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए यह आज सभी देश मानते है, किन्तु बहुत से ऐसे भी देश हैं जो दूसरो की देखा-देखी राष्ट्रीयकरण के असफल प्रयत्न करना चाहते हैं। हमारा भारत देश भी ऐसे ही अनभिज्ञ राष्ट्रो मे से एक है। जो कुछ अन्यत्र हुआ है या हो सकता है वह हमे भी करना ही चाहिए चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में

मोटर परिवहन के क्षेत्र मे राष्ट्रीयकरण से होने वाले लाभो मे से मुख्य लाभ निम्नांकित है —

(१) **सुविधाजनक सेवा**—राष्ट्रीयकरण के समर्थको का विचार है कि सरकारी मोटरे यात्रियो की अच्छी सेवा कर सकती है और उन्हे अधिक सुविधाये दे सकती हैं क्योंकि सरकार का मुख्य उद्देश्य समाजसेवा होता है। इसके विरुद्ध व्यक्तिगत मोटर मालिको का उद्देश्य केवल लाभ कमाना होता है, जिसके कारण वे न जनता को सुविधाये ही प्रदान कर सकते है और न सच्ची सेवा ही कर सकते हैं। इन लोगो को यात्रियो के समय, सुविधा एवं आराम का कोई ध्यान नही रहता। समय की पाबन्दी बहुत कम करते हैं, सवारियाँ ठसाठस भरते है, किराया मनमाना लेते हैं; इनकी मोटरो की सीटे कभी-कभी बडी कष्टदायक होती हैं। इन सब बातो का सरकारी मोटरो मे निवारण हो जाता है। यह सब ठीक है, किन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रतियोगिता के कारण व्यक्तिगत मोटर स्वामी इस बात के प्रयत्न मे रहता है कि वह अच्छी से अच्छी सेवा करे और अधिक से अधिक सुविधाये प्रदान

करे। सरकारी कर्मचारियों की न्यूनतम सेवा तो अवश्य करनी पड़ती है किन्तु एकाधिकार के कारण उन्हें सुविधायें प्रदान करने की बात सोचने का उसी समय अवसर मिलता है जबकि जनता में कोई तीव्र विरोध-भाव, कड़ी आलोचना अथवा भारी असतोष होता है। इस कार्य में भी प्रगति बड़ी मन्द होती है; क्योंकि सरकार के सम्मुख अन्य अनेक समस्यायें उपस्थित होती हैं जिन्हें कि प्रधानता देनी पड़ती है। सरकारी कर्मचारी अपनी सुविधानुसार काम भले ही ढकेलते रहें किन्तु वास्तविक सेवा करना उनके बस की बात नहीं है; उनमें सेवा-भाव कम पाया जाता है, विशेषतः हमारे देश में। जितने कुशल व्यक्तिगत मोटरों के मालिक हो सकते हैं, सरकारी कर्मचारी कदापि नहीं हो सकते।

(२) **सस्तापन**—राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का दूसरा तर्क यह है कि सरकारी मोटरें सस्ती सेवा प्रदान कर सकती हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता। यह ठीक है किन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जहाँ व्यक्तिगत मोटर मालिक का दो आदमियों से काम चल सकता है वहाँ सरकारी काम में चार-पाँच आदमी रखने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त निरीक्षण, नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण के लिए भी कर्मचारी रखने पड़ते हैं। उन्हें एक न्यूनतम औपचारिक ढाँचा रखना पड़ता है। जिस के कारण किराया अधिक हो जाता है। यह हम अपने देश के सरकारी मोटर विभागों में प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

(३) **किराये-भाड़े की एक-रूपता**—सरकारी सेवा में किसी निश्चित दर से किराया-भाड़ा लिया जाता है किन्तु व्यक्तिगत सेवा में इसके विपरीत होता है। मोटर मालिकों का किराया-भाड़ा विभिन्न सवारियों अथवा व्यापारियों के लिए ही भिन्न-भिन्न नहीं होता, वरन् समयानुसार भी बदलता रहता है। ये लोग बहुधा अवसरवादी होते हैं और अवसर पाकर ग्राहकों को बुरी तरह ठगते हैं। जितने मोटर मालिक होंगे उतनी ही प्रकार की किराए-भाड़े की दरें होंगी।

(४) **कर्मचारियों की सहूलियतें**—वैयक्तिक कार्यों में कर्मचारियों से अधिक काम लिया जाता है और कम वेतन दिया जाता है। उनकी नौकरी का दार-मदार भी मालिक की प्रसन्नता के ऊपर रहता है। इस प्रकार का शोषण सरकारी कामों में नहीं पाया जाता। मोटर मालिक दिन में १२ घण्टे से भी अधिक काम कराते हैं और उनकी सुख-सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखते। सरकारी काम में कर्मचारियों के काम के घण्टे बँधे हुए होते हैं और उनकी सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अवकाश और आराम भी दिया जाता है।

(५) **पिछड़े हुए मार्गों का विकास**—निजी मोटर वालों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है, अतएव वे ऐसे ही मार्गों को अपनाते हैं जहाँ उन्हें अधिक से अधिक लाभ मिलता हो। अनेक छोटे-छोटे पिछड़े क्षेत्रों के मार्ग बिना किसी साधन के पड़े रह जाते हैं। इन क्षेत्रों को विकसित होने का कोई अवसर नहीं मिलता।

मोटर-परिवहन का राष्ट्रीयकरण होने पर प्रत्येक मार्ग को उचित सेवा प्रदान की जाती है। किसी मार्ग की अवहेलना नही की जाती। फल यह होता है कि सभी क्षेत्रो को उन्नत होने के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

(६) राष्ट्र-रक्षा—राष्ट्रीयकरण से बडा भारी लाभ राष्ट्रीय संकटकाल मे होता है। यदि मोटरो पर सरकारी अधिकार है तो उन्हे आपत्तिकाल मे तुरन्त देश-रक्षा एव समाज-सेवा के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु यदि इस उद्योग के स्वामी साधारण व्यक्ति हैं तो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उनकी मोटरे इस काम के लिए अधिक उपयुक्त नही होतीं।

(७) सडको का सुधार—सडके राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। उनका निर्माण, मरम्मत और सुधार सरकारी उत्तरदायित्व है। अतएव उन पर चलने वाली गाडियो पर भी सरकारी प्रभुत्व होना आवश्यक है ताकि जब-जब और जहाँ-जहाँ सडको के बनाने, उनके सुधार अथवा मरम्मत की जरूरत समझी जाए, सब काम सुचारु रूप से आवश्यकतानुसार होता रहे और उन पर चलने वाली मोटरे सुविधापूर्वक चल सके। ऐसी स्थिति मे उनकी मरम्मत, घिसावट, नवीनकरण का व्यय कम होगा। यदि मोटरे व्यक्तिगत स्वामित्व मे रहेगी तो इन कार्यो मे सामंजस्य एव समन्वय सम्भव नही। फल यह होता है कि सडको के शोचनीय दशा में रहने से, उनकी मरम्मत आदि का खर्च बढ जाता है जो अन्त मे यात्रियो के ही सिर पडता है।

(८) उपयुक्त साधन—वैयक्तिक परिवहन का एक बडा दोष यह है कि मोटर मालिको के वित्तीय साधन सीमित होते है जिसके कारण वे मोटरो का, उनके कल-पुर्जो तथा कर्मचारियो का सकट-काल के लिये उपयुक्त सचित कोष नहीं रख सकते। परिणाम यह होता है कि जब कभी उनकी गाडी बिगड जाती है अथवा कोई कर्मचारी बीमार पड जाता है तो गाडी बन्द कर देनी पडती है। इस भाति यात्री जनता सकट मे पड जाती है। उनके पास कोई साधन नही रहता। दुर्भाग्य से यदि गाडी बीच मार्ग मे खराब हो जाती है तो सवारियो अथवा माल की कितनी मिट्टी पलीत होती है यह बडी आसानी से समझा जा सकता है। ये सब कठिनाइयाँ सरकारी व्यवसाय मे नही पाई जाती। सरकारी साधन ऐसे समय के लिए गाडियो और कर्मचारियो का संचित कोष रखने के लिए पर्याप्त होते हैं। किन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे समय मे मोटर मालिक अथवा कर्मचारी अपनी जान लडा देता है, किन्तु सरकारी गाडियो के कर्मचारियो को नियमो के विरुद्ध कुछ भी करने का अधिकार नही। अतः वे इस डर से कि कही और अधिक खराबी न आ जाए बहुधा मार्ग मे बिगडी हुई गाडी को ठीक करने का कोई उचित प्रयत्न नही करते। फल यह होता है कि थोडी-सी खराबी आने पर भी सवारियो अथवा माल को घण्टो सडक के किनारे (बहुधा ऐसे स्थानो पर जहाँ खाने-पीने इत्यादि की कोई सुविधा नहीं होती) दूसरी मोटर के आने की प्रतीक्षा देखनी पडती है। वैयक्तिक स्वामी ऐसे समय मे पारस्परिक सहानुभूति का

परिचय देकर शीघ्र से शीघ्र सवारियो अथवा माल को दूसरी गाडी से यथास्थान पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु सरकारी कर्मचारियो मे सहानुभूति लेश-मात्र नही होती उनके हाथ-पैर नियमो से सम्बद्ध रहते हैं।

राष्ट्रीयकरण के विरोध में

राष्ट्रीयकरण के विरोधी एवं वैयक्तिक सेवा के समर्थक बहुधा निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं :—

(१) **लचक**—मोटर का सबसे बडा गुण जो परिवहन के अन्य साधनों में नहीं पाया जाता, उसकी, लचक (Flexibility) है। लचक का अर्थ यह है कि रेल, नहर अथवा समुद्र की भाँति मोटर किसी मार्ग विशेष से बँधी नही रहती। हर स्थान पर वह लादी जा सकती है और हर स्थान पर माल उतारने के लिये ले जाई जा सकती है। इसी भाँति वह चाहे जहाँ सवारियो को बिठा सकती है और चाहे जहाँ उतार सकती है। इसके समय का कार्यक्रम भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। मोटर के इस गुण का सबसे अधिक उपयोग वैयक्तिक स्वामित्व मे ही सम्भव है। सरकारी स्वामित्व मे नही। सरकारी मोटरे पहले से निर्दिष्ट स्थानो पर ही नियमानुसार माल अथवा सवारी ले सकती और उतार सकती हैं। अत: सरकारी सेवा मे लचक का सर्वथा लोप हो जाता है।

(२) **मितव्ययता और क्षय निवारण**—वैयक्तिक नियन्त्रण मे लाभ का लालच मितव्ययता और क्षय निवारण की बड़ी प्रेरणा प्रदान करता है, जो कि सरकारी काम मे सर्वथा शून्य होती है ; वैयक्तिक अधिकार मे लाभ-हानि की चिन्ता इतनी वेगवती होती है कि छोटी से छोटी वस्तुओ का सदुपयोग किया जाता है; वहाँ दुरुपयोग के लिए तनिक भी गुंजाइश नही। किन्तु सरकारी कामकाज मे सदुपयोग के लिए कोई प्रेरणा नही होती।

(३) **विकास की क्षमता**—व्यक्तिगत नियन्त्रण मे प्रतियोगिता का अंकुश सदैव सिर पर सवार रहता है और कभी सुख की नीद सोने एवं आलस मे पड़ने का अवसर नही आने देता। किन्तु सरकारी नियन्त्रण मे एकाकी अधिकार का नाश सदैव गहरी नीद सोने को बाध्य करता है। अतएव जो विकास, उन्नति, कार्यपटुता वैयक्तिक नियन्त्रण मे सम्भव है सरकारी स्वामित्व मे वह कदापि सम्भव नही। सरकारी कार्य अत्यन्त मन्द गति से चलते है।

(४) **व्यावसायिक दृष्टिकोण**—किसी भी व्यवसाय अथवा वाणिज्य की उन्नति एवं सफलता उसके सचालक के व्यावसायिक दृष्टिकोण पर निर्भर है। यदि कोई व्यवसाय, व्यावसायिक सिद्धान्तो के अनुसार नही संचालित किया जाता तो वह कभी सफल नही हो सकता। यह दृष्टिकोण केवल वैयक्तिक स्वामित्व मे ही सम्भव है; सरकारी नियन्त्रण मे नही।

(५) कुछ लोगो का ऐसा भी विश्वास है कि सरकारी सेवा मे कर्मचारियो के साथ उतने अच्छे सम्बन्ध नही रहते जितने अच्छे वैयक्तिक प्रबन्ध मे होते हैं जहाँ पर

स्वामी और सेवक का सीधा सम्पर्क रहता है। सरकारी कार्यों मे स्वामी और सेवक का सीधा सम्पर्क सम्भव नही। अतएव पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नही रहते। ऐसी स्थिति मे हड़ताल के अवसर अधिक आते हैं। सरकारी कार्य मे कर्मचारियो की सख्या अधिक होने के कारण उनकी संगठन-शक्ति भी बढ जाती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमे ब्रिटिश सरकारी मोटरो से मिलता है जहाँ पर मजदूर संस्थाओ की शक्ति अत्यन्त बढ गई हैं।

(६) सरकारी स्वामित्व को कुछ लोग इस कारण भी असामयिक समझते हैं कि इस समय सरकार को अनेक राष्ट्र-निर्माण योजनाओ के लिए अपार धन और पूँजी की आवश्यकता है; आज सबसे आवश्यक समस्या अन्न और वस्त्र की है। अत: सरकार का मोटर के काम मे रुपया लगाना अनावश्यक ही नही असामयिक और अनुचित प्रतीत होता है। जो पूँजी लगानी आवश्यक है वह तो इस नवीन उद्योग मे सरकार को लगानी ही पडेगी इसके अतिरिक्त मोटर मालिको को प्रतिकर (Compensation) भी देना पडेगा। इस सब के लिए बहुत-सा धन चाहिये। अत: इन कामो को व्यक्तिगत स्वामित्व मे ही देना चाहिये ताकि उत्पादन बढ सके। सरकारी वित्त व्यवस्था पर बोझ डालना ठीक नही।

इस भाँति राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष मे अनेक बातें कही जा सकती है। यह निश्चय करना कठिन है कि कौन सा पलडा भारी है, कौन-सा हलका। एक बडी विचित्र लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी देश मे परिवहन का राष्ट्रीयकरण अथवा विराष्ट्रीयकरण केवल उसके गुणो के आधार पर नही हुआ; कुछ विशेष परिस्थितियो का हाथ ही उसमे अधिक रहा है। ब्रिटेन मे मजदूर दल की सरकार आने पर सडक परिवहन का अन्य कई उद्योगो के साथ राष्ट्रीयकरण हुआ, किन्तु अनुदारदलीय सरकार ने फिर से उसका विराष्ट्रीयकरण कर दिया। अब हम अपने देश की उन परिस्थितियो का अध्ययन करेंगे जो हम मोटर परिवहन के राष्ट्रीयकरण की ओर खीच ले गई।

राष्ट्रीयकरण की प्रेरक परिस्थितियाँ

प्रथम महायुद्ध से पूर्व सभी देशो मे सडक की सवारियाँ इतनी पिछडी हुई और अनुन्नत दशा मे थी कि उनकी ओर किसी का ध्यान ही नही गया। किन्तु इस युद्ध मे मोटर का महत्व बढ गया और अनेक मोटरें अनेक देशो मे युद्धोपरान्त युद्ध-क्षेत्र से बाहर आकर जन-साधारण की सेवा करने लगी। इस प्रकार मोटर परिवहन को अपना कौशल दिखाने का अवसर मिला। उसका विकास हुआ और कुछ ही काल मे वह रेलो के लिए एक शक्तिशाली प्रतियोगी और महान् समस्या बन गई। यद्यपि हमारे देश मे उतनी तीव्र गति से उसका विकास न हो सका जैसा अन्य देशो मे हुआ, किन्तु तो भी सन् १९२६-२७ मे रैल बोर्ड ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे मोटरो की प्रतियोगिता की शिकायत की और इस नवीन साधन की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया। साथ ही साथ मन्दी के कारण मोटर मालिको मे परस्पर इतनी

विनाशकारी प्रतियोगिता चल पड़ी कि उनका अपना जीवन भी संकट मे था। परस्पर एक दूसरे को हड़प कर अपना पेट भरना चाहते थे। अतएव यह आवाज चारों ओर से उठने लगी कि असंगठित मोटर परिवहन का संगठन शीघ्र होना चाहिए। सन् १९२८ मे जयकर समिति और सन् १९३३ मे मिचेल-किर्कनैस समिति ने इस ओर प्रयत्न किए। मिचेल-किर्कनैस समिति ने यह अनुभव किया कि मोटरो की प्रतियोगिता के कारण रेलो को लगभग दो करोड रुपए की वार्षिक हानि उठानी पड रही है। सन् १९३५ मे इस हानि की मात्रा बढ कर लगभग ३ करोड रुपये और सन् १९३७ मे ४½ करोड रुपये (३¾ करोड सवारियो से और ¾ करोड माल से) हो गई। अतः यह आवश्यकता हुई कि रेलो को इस हानि से छुटकारा मिले और रेल और मोटर की इस प्रतियोगिता को समाप्त करके दोनो का समन्वय (Coordination) किया जाय। सन् १९३३ से सन् १९४६ तक इस समस्या के हल की एक ही विचारधारा रही जो कि मिचेल-किर्कनैस समिति ने सुझाई थी। यह हल था रेलो के तत्वावधान मे सडको का संगठन। यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि रेलें ही मोटरो का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले तो पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो जायगा और रेल एवं मोटर दोनो को लाभ होगा। युद्ध का परिणाम सदैव कड़ुआ होता है और समझौता सुखदाई।

सरकार को यह नीति मान्य न थी। अतएव रेलें इस संघर्ष के बचाव के उपाय करती रही। इससे एक बडा लाभ यह हुआ कि रेल और मोटर दोनो सचेत रहे जिससे उनकी दोनो की ही कार्य-पटुता बढी जिसका लाभ यात्री जनता को मिला। युद्धकाल मे तो स्थिति इतनी बदल गई कि रेल और मोटर दोनो मिल कर भी देश की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकी और दोनो के ही परिवर्द्धन की आवश्यकता हुई।

इस कार्य मे केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारो और मोटर मालिक तीनों पक्षो की रुचि थी। केन्द्रीय सरकार की रुचि इसलिए थी कि वह रेलो की मालिक थी और रेलो से होने वाली हानि उसकी अपनी हानि थी। प्रान्तीय सरकारो की रुचि सडको मे थी जिनके निर्माण और मरम्मत मे उनका धन व्यय होता था और मोटर मालिक इस समस्या के हल के लिए इसलिए लालायित थे कि वह उनके जीवन-निर्वाह का साधन था। किन्तु १९४७ तक कोई विशेष प्रगति इस समस्या के हल की ओर नही हो पाई।

त्रिदलीय योजना—इस समस्या को हल करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने रेल बोर्ड की सहायता से एक त्रिदलीय योजना बनाई जिसमे भारतीय रेलें, प्रान्तीय सरकारें और मोटरो के मालिक मिलकर सम्मिलित दायित्व मे संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी बनायें। इस योजना के अनुसार सभी प्रान्तो मे उक्त कम्पनियाँ मोटरें चलाने का भार अपने ऊपर लें। इन कम्पनियो की पूँजी मे ३०-३३ प्रतिशत भाग रेलो का ३०-३५ प्रतिशत राज्य की सरकारो का और शेष व्यक्तिगत मोटर मालिको का

रखने का विचार हुआ। पूँजी के अनुपात से ही लाभ का बटवारा होना निश्चय हुआ। मोटर मालिको के असहयोग के कारण यह योजना सफल न हो सकी। उन्हे डर था कि कम्पनी के प्रबन्ध और सचालन मे उनकी कोई आवाज न रहेगी क्योकि प्रान्तीय सरकारे और रेले मिलकर काम करेगी जो कि आधी से अधिक पूँजी की मालिक समझी जायेगी और उसी हिसाब से उनमे लाभ का बटवारा होगा। दूसरे, उन्हे मोटरो का जो प्रतिकर दिया जाना निश्चय हुआ था वह अत्यन्त कम था।

वर्तमान स्थिति—इस भाँति सन् १९४७ तक यह कार्य अधूरा ही पडा रहा, किन्तु प्रान्तो मे काग्रेस के पुनः सत्तारूढ होने पर इस विषय मे विशेष चर्चा सुनाई देने लगी। प्रान्तीय सरकारो ने फिर एक बार मोटर मालिको को साथ लेकर कपनियाँ बनाने के प्रयत्न किए, किन्तु पूर्वोक्त कारणो से वे सब निष्फल सिद्ध हुए। अन्त मे उन्हे मोटरे अपने ही हाथ मे लेनी पडी। इस ओर उत्तर प्रदेश ने नेतागारी की और मई सन् १९४७ म सरकारी मोटरे चलना प्रारम्भ हो गई। उत्तर-प्रदेश को देखा-देखी अन्य राज्यो ने भी ऐसा ही किया।

कुछ राज्यो मे इससे पूर्व ही सरकारी मोटरे चालू थी। मध्य-भारत म सन् १९१९ से, हैदराबाद मे सन् १९३२ से, त्रावनकोर-कोचीन मे सन् १९३८ से, कच्छ मे सन् १९४२ से और मध्य प्रदेश मे सन् १९४५ से सीमित-क्षेत्र मे सरकारी सेवाएँ चालू थी। अन्य राज्यो ने इनका समारम्भ इस प्रकार किया :—

१९४७—उत्तर-प्रदेश और मद्रास।

१९४८—असम, बिहार, बम्बई, उडीसा, पजाब, प० बगाल, मैसूर, बिलासपुर, दिल्ली और सौराष्ट्र।

१९४९—हिमाचल प्रदेश।

१९६०—राजस्थान।

इस भाँति अब त्रिपुरा को छोडकर अन्य सभी राज्यो और केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो म यात्री यातायात का आंशिक राष्ट्रीयकरण हो गया है। हिमाचल प्रदेश मे माल और यात्री दोनो प्रकार के यातायात का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो गया है। महाराष्ट्र और उत्तर-प्रदेश म यात्री यातायात का एक बडा भाग सरकार के अधिकार मे है। अन्य राज्यो मे यात्री यातायात का एक छोटा भाग ही सरकार के हाथ मे है। इस समय यात्री यातायात का लगभग ३०% राष्ट्रीय सडक सेवाएँ हैं और शेष ७०% व्यक्तिगत मोटर मालिको के अधिकार मे है।[1] माल यातायात का लगभग सारा का सारा काम व्यक्तिगत मोटर मालिको के अधीन है, केवल हिमाचल प्रदेश और मणीपुर मे इसका राष्ट्रीयकरण हुआ है।

---

1. Preliminary Report of the Committee on Transport Policy and Coordination, 1961, p. 51.

आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और प्राचीन पंजाब राज्य संघ इन सेवाओं का संचालन सड़क परिवहन निगम कानून १९५० के अन्तर्गत बनाए गए निगमों के द्वारा करते है। मैसूर, विहार और पंजाब भी ऐसे निगम बनाने का यत्न कर रहे हैं। शेष राज्यों में इन सेवाओं का प्रबन्ध और संचालन एक सरकारी विभाग के हाथ में है।

सरकारी यात्री सेवायें चलने से इन सेवाओं के स्तर मे सुधार हुआ है। इससे पूर्व व्यक्तिगत मोटर मालिकों द्वारा गाड़िया अपनी सुविधा देखकर समय-कुसमय चलाई जाती थी। यात्रियों की आवश्यकता का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता था। जब तक गाड़ी पूरी नहीं भर जाती थी तब तक उसे नहीं छोड़ा जाता था। अब सरकारी मोटरें समय से पूर्व-निश्चित समय समय-सारणी के अनुसार चलने लगी है। यात्री को यात्रा के पूर्ण होने के समय का पूरा ज्ञान होता है। पहले मोटर मालिक आवश्यकता से अधिक सवारियाँ भरा करते थे। सरकारी मोटरों में ऐसा नहीं होता। गाड़ी की सवारी बिठाने की क्षमता के अनुसार ही यात्री बिठाये जाते है। पहले मोटर मालिक किराये मे समयानुसार मनमानी घटा-बढ़ी किया करते थे। सरकारी मोटरें ऐसा नहीं करती। किराया पूर्व-निश्चित दर के अनुसार लिया जाता है और छपे हुये टिकट यात्रियों को दिये जाते है। यात्रा करने वाला यह पूर्णत: जानता है कि उसे किसी यात्रा मे कितना पैसा खर्च करना होगा। सरकारी मोटरों की सीटें अच्छी है; उनका रूप-रंग और ढाँचा चमक-दमक युक्त है। यात्री को उनमें बैठने में आराम भी मिलता है। बस के अड्डों पर विश्राम-गृह, शौचालय, जलपान-गृह बना दिये गये है तथा अन्य सुविधाये भी की गई है। सरकारी और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की सेवायें एक साथ उपलब्ध होने के कारण सेवा का स्तर भी ऊँचा हो गया है। सरकारी मोटरों की देखा-देखी व्यक्तिगत मोटर मालिक भी अच्छी मोटरें रखने लगे हैं; उन्हे समयानुसार चलाने लगे है; यात्री बिठाने से सम्बन्धित सरकारी नियमों का पालन करने लगे है और कहीं-कहीं छपे हुए टिकट भी रखने लगे है।

इन लाभों के होते हुए भी सरकारी सेवायें जनता की संतोषजनक सेवा करने में असमर्थ रही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, माल यातायात का एकाधिकार अभी तक व्यक्तिगत मोटर मालिकों के हाथ मे है और यात्री यातायात का भी लगभग ७०% भाग उन्हीं के अधिकार में है। इस भाँति सरकारी सेवाएँ देश की माँग की केवल ३०% यात्री यातायात की पूर्ति करती है। वस्तुत: आवश्यकता इस बात की है कि राज्य की सरकारें सारे यात्री यातायात को और ५०% माल यातायात को अपने हाथ मे ले लें। ऐसा करने से पूर्व उन्हे जनता की सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है अर्थात् इन सेवाओं का प्रसार वाणिज्य सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए।

सरकारी सेवाओं के संचालन मे यात्री की माँग और सुविधा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अतएव अनेक अवसरों पर उसे भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मेलों, प्रदर्शनियों, उत्सवों, सायें इत्यादि अवसरों पर भीड़-भाड़ अधिक हो

जाती है और टिकट बडी कठिनाई से मिलता है, क्योंकि आवश्यकतानुसार मोटरो की संख्या तथा सेवा बारम्बारता नही बढाई जाती। मोटरो के अड्डे भी दूर-दूर बनाये गये हे और उनके यात्री बिठाने और उतारने के स्थान भी कम है। यात्री को कई-कई मील चलकर मोटर मिलती हैं। इससे सडक परिवहन के सर्वोत्तम गुण लोच का बहुत कुछ लोप हो गया है।

सरकारी मोटरे चलाने का उद्देश्य रेलो और सडको के बीच मे सामंजस्य स्थापित करना था। व्यवहार मे ऐसे कोई सक्रिय प्रयत्न नही किये गये। न तो मोटरो के अड्डे ही रेल के स्टेशनो के निकट बनाये गये हैं और न मोटर सेवाओ की समय-सारणी बनाने मे रेलो की समय-सारणी का ध्यान रखा जाता है। दोनो सेवाओ के लिए सम्मिलित टिकट भी सर्वत्र नही दिये जाते। देश अथवा जनता की आवश्यकताओ पर विचार करने के लिये रेल और मोटर अधिकारियो के सम्मिलित सम्मेलन भी नही होते।

राज्य की सरकारो ने यह सोचा था कि उन्हे इन सेवाओ के चलाने से अपार लाभ होगा और उनकी आय मे वृद्धि होगी। इस ओर भी सन्तोषजनक सफलता नही मिली। कुछ राज्यो को अथवा कुछ क्षेत्रो मे इन सेवाओ के चलाने से हानि हो रही है। सरकारी मोटरे जनता की सस्ती सेवा करने मे भी सफल नही हुई। किराये की दरे बढा दी गई है। अनुमान लगाया गया है कि सरकारी मोटरो का किराया रेल के किराये से तीन-चार पाई प्रति मील अधिक है और कही-कही व्यक्तिगत मोटर मालिको की दरो से भी ऊँची दरे हो गई हैं। किराये की दरो मे सभी प्रान्तो मे एक-रूपता भी स्थापित नही हो पाई है। राज्य की सरकारे उन क्षेत्रो मे जहाँ उन्होने सेवाये प्रारम्भ की है, उन सेवाओ को किसी न किसी भाँति चला अवश्य रही है, किन्तु सडक परिवहन के विकास मे वे सर्वथा असमर्थ रही हैं। वस्तुत: उसका विकास रुक गया है।

राज्य की सरकारो की इस विफलता के कारण ही मोटर-वाहन कर जाँच-समिति (Motor Vehicles Taxation Enquiry Committee) ने सन् १९५० मे ही यह सुझाव दिया था कि राज्य की सरकारो को सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध म आतुर नही होना चाहिए। सन् १९५४ मे योजना आयोग ने राज्यो की सरकारो को यह स्पष्ट आदेश दिया था कि सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण का कार्य योजना की परिधि के बाहर है। अतएव राज्यो की सरकारो को इसमे हाथ नही डालना चाहिये। राज्यो की सरकारो ने योजना आयोग के इस आदेश की उपेक्षा की। विवश होकर योजना आयोग को सन् १९५६ मे एक दूसरा आदेश देना पडा। इसके अनुसार राज्यो की सरकारो को यात्री यातायात सम्बन्धी सेवाओ के राष्ट्रीयकरण से पूर्व योजना आयोग की मजूरी आवश्यक बताई गई। माल ढोने वाली मोटरो के सम्बन्ध म द्वितीय योजना-काल मे राष्ट्रीयकरण पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस नीति को तृतीय योजना मे सम्मिलित कर दिया गया। कालान्तर मे भारत

सरकार ने इस प्रश्न पर राज्यों की सरकारों की अनुमति ली और इस सम्बन्ध में कई सम्मेलन किये। अन्त में यह निश्चय किया गया कि माल यातायात सम्बन्धी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण तृतीय योजना के अन्त तक स्थगित रहना चाहिये। साथ ही साथ राज्यों की सरकारों को केन्द्र की सरकार ने यह आदेश दिया है कि मोटर संचालकों को ऐसी सेवाओं के लिये लम्बी अवधि के आज्ञा-पत्र (Permit) देने चाहियें एवं उन्हें प्रतिस्पर्द्धी लाभप्रद इकाइयाँ (viable units) बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यही भारत सरकार की माल-सेवाओं सम्बन्धी नीति है। हाल में यह सुझाव दिया जाने लगा है कि माल सेवाओं के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक स्थगित कर देना चाहिये।

राज्यों की सरकारों द्वारा संचालित यात्री सड़क सेवाओं के प्रबन्ध का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में अब तक की विचारधारा और उसके सापेक्षक महत्व पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

अन्य परिवहन सेवाओं की भांति सड़क सेवाएँ भी लोकोपयोगी सेवाएँ हैं। ऐसी सेवाओं के लिए विभागीय प्रबन्ध (Departmental management) सर्वथा अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता, तो भी कई ऐसे कारण हैं जिन्हें ध्यान में रखकर इन सेवाओं का प्रत्यक्ष सरकारी प्रबन्ध उत्तम नहीं माना जाता। प्रत्यक्ष सरकारी प्रबन्ध के मुख्य दोष निम्नांकित बताए जाते हैं :—

(१) विभागीय प्रबन्ध के अन्तर्गत कोई भी प्रस्ताव नीचे से ऊपर तक जाता है। इसमें बड़ी देर होती है। मोटर सेवा ऐसा व्यवसाय है जिसमें तुरन्त निर्णय लेने होते हैं, अन्यथा कभी-कभी भारी हानि की सम्भावना होती है। सरकारी कार्यों में सर्वोच्च अधिकारी की ही अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं, कभी कभी अन्य विभागों की अनुमति भी लेनी पड़ती है। यह काम देरी से होना स्वाभाविक है।

(२) बहुधा सरकार का मुख्य ध्येय शान्ति स्थापित करना और समुचित शासन व्यवस्था करना है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर सारे सरकारी नियम और कानून बनाये जाते हैं जो बहुधा कड़े और लोचहीन होते हैं। मोटर व्यवसाय के संचालन में ये नियम और कानून बाधा उपस्थित करते हैं।

(३) किसी भी निर्णय में देर होने के कारण किसी दीर्घकालीन नीति का पालन कठिन होता है। नीति-निर्माण में व्यावसायिक सुविधा के स्थान पर राजनीतिक प्रभाव अधिक रहता है।

(४) सरकारी कर्मचारी व्यावसायिक ज्ञान की कमी के कारण बहुधा उच्च-स्तरीय सेवा प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं।

(५) अयोग्य सरकारी कर्मचारियों को निकालना कठिन होता है और बहुधा उन्हीं से काम चलाना पड़ता है। इससे सेवा का स्तर गिर जाता है।

(६) सरकार असफलता सम्बन्धी जोखिम नहीं उठा सकती क्योंकि इसका प्रान्त के आर्थिक विकास पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है।

(७) सरकारी सेवायें धीमी, अकुशल एवं अदक्ष मानी जाती है।

इसके विपरीत स्वतन्त्र निगम द्वारा सड़क सेवाओं के प्रबन्ध और संचालन के निम्नांकित लाभ बताए जाते हैं —

(१) निगम एक स्वतन्त्र संस्था होती है जो शीघ्र निर्णय ले सकती है। उसे किसी बाहरी अधिकारी की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं।

(२) निगम अपने नियम बनाने में स्वतन्त्र होती है। ये नियम ऐसे बनाए जाते हैं जो सेवा संचालन के लिए अनुकूल और उपयुक्त हो तथा जिनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा सकें। ये लोचदार होते हैं।

(३) निगम जैसी स्वायत्त संस्थाओं की साख कभी-कभी सरकार से भी अधिक होती है और स्वतन्त्रतापूर्वक तत्परता के साथ वे देश-विदेश में ऋण ले सकती है।

(४) इनकी नीति में राजनीतिक प्रभाव नहीं होता वरन् वे सर्वथा व्यावसायिक कौशल और व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर होती है।

(५) सरकार के सामने अनेक समस्यायें उपस्थित होती है किन्तु निगम अपना सारा समय, धन और ध्यान अपनी निजी समस्याओं की ओर ही लगाती है।

(६) निगम का कार्य-संचालन व्यावसायिक सिद्धान्तों पर निर्भर होता है। अतएव वह सरकार की अपेक्षा उच्च स्तरीय सेवा प्रदान करने में समर्थ हो सकती है।

(७) कर्मचारी निगम के नौकर समझे जाते हैं। उनकी नियुक्ति, पदोन्नति और पद से हटाया जाना सब बातें निगम के हाथ में होती है। ये लोग सरकारी कर्मचारियों से अधिक कुशल और दक्ष होते हैं।

(८) निगम विविध प्रयोगों द्वारा कार्य-संचालन के उत्तम नमूने और आदर्श उपस्थित कर सकती हैं।

निगम द्वारा प्रबन्ध की इन अच्छाइयों के कारण ही भारत सरकार ने राज्य-सरकारों को सड़क परिवहन निगम कानून बना कर सन् १९५० में ही ऐसा अधिकार दे दिया था। मोटर वाहन कर जाँच समिति ने भी १९५० में यही विचार व्यक्त किया था कि राष्ट्रीय सड़क सेवाओं का प्रबन्ध सरकारी विभाग द्वारा नहीं वरन् निगम द्वारा उत्तम हो सकता है। योजना आयोग ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। ब्रिटेन में सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण की सफलता स्वायत्त निगम द्वारा प्रबन्ध के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकी। उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९४९ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति बिठायी थी जिसने पूर्णत निगम व्यवस्था द्वारा सरकारी मोटरों का प्रबन्ध करने के पक्ष में स्पष्ट कहा था। योजना आयोग ने राज्यों की सरकारों को यह आदेश दिया है कि राष्ट्रीय सड़क सेवाओं की सफलता निगम प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है। अतएव उन्होंने यह आशा की है कि सभी राज्यों की सरकारें प्रबन्ध की इसी व्यवस्था को अपनाएँ। योजना युग में योजना आयोग की अनुमति मानना सभी के लिए लाभदायक है।

२६.

मोटर परिवहन का नियमन

(Regulation of Motor Transport)

भारतीय मोटर वाहन कानून १९१४

भारत मे प्रथम मोटर गाड़ी सन् १८९८ मे आई। १९१३ तक मोटरें देश भर मे फैल गई जब कि ३,०८६ गाड़ियाँ आयात की गई। अतएव बंगाल (१९०३), बम्बई (१९०४), मद्रास (१९०७), पंजाब (१९०७), तथा उत्तर प्रदेश (१९११) मे इनके नियमन के लिए कानून बनाए गए। यद्यपि इन सब के मूल सिद्धान्तो मे कोई अन्तर नही था, तो भी व्यावहारिक दृष्टि से उनमे परस्पर भारी भेद भाव और अन्तर था। अतएव मोटर वाहनों के नियमो मे एकरूपता लाने के विचार से सन् १९१४ का मोटर वाहन कानून बनाया गया। इस केन्द्रीय कानून मे कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का समावेश किया गया, किन्तु गौण विषयो एवं सहायक सिद्धान्तो को प्रान्तो द्वारा बनाए जाने वाले स्थानीय नियमो के लिए छोड़ दिया गया।

मोटर वाहन कानून १९३९

प्रथम युद्ध मे मोटरो ने अच्छा काम करके दिखाया और सैनिक सेवा प्रदान की और उनकी सख्या भी बहुत बढ़ गई। युद्ध समाप्त होने पर सैनिक मोटरें सस्ते मूल्य पर देश भर मे बिकने लगी। १९२०-२१ तक विभाजित भारत के क्षेत्र मे ३७,००० मोटर गाड़ियाँ चलने लगी थी। इसी समय अनेक लोग जो युद्ध के वर्षो मे सैनिक कार्यो के लिए मोटरे चलाते थे उन्हे सेना से निकाल दिया गया। इन लोगों ने मोटरों को मोल ले लिया और नागरिक जनता की सेवा के लिए उनका उपयोग करने लगे। देश की सड़को पर अनेक मोटरे दौड़ने लगी। एक ही मार्ग पर अनेक मोटर मालिक सेवा करने के लिए प्रस्तुत हो गए; परस्पर भारी प्रतियोगिता होने लगी; भाड़ा-युद्ध छिड़ गए, सेवा-स्तर गिरने लगा और सभी को कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि देश के मोटर व्यवसाय का अव्यवस्थित विकास हो रहा था। १९१४ का भारतीय मोटर वाहन कानून इस युद्धोत्तरकालीन विकसित व्यवसाय की आवश्यकता पूर्ति एवं उसके

नियन्त्रण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त पाया गया। देश को एक अखिल भारतीय कानून की आवश्यकता थी जो इस विकसित व्यवसाय का नियमन कर सके। इन्ही परिस्थितियो मे सन् १९३९ का मोटर वाहन कानून बना।

उद्देश्य—अन्य परिस्थितियाँ और इस कानून के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित थे :—

(१) पारस्परिक प्रतियोगिता एव भाडा-कटौती की रोक थाम—उस समय सन् १९१४ के मोटर वाहन कानून और अन्य नियमो मे मोटर चालको की परस्पर प्रतियोगिता और भाडा कम करने की प्रवृत्ति को रोकने की कोई व्यवस्था न थी। मोटर चालक इस सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्र थे। मोटरे सस्ती मिल रही थी जिन्हे अनेक लोग सहज ले लेते थे और उन्हे निकटवर्ती सडक पर जिस पर पहले से अनेक गाडियाँ चलती होती थी, चलाना प्रारम्भ कर देते थे। न तो वे उत्तम सेवा ही कर पाते थे और न मरम्मत और नवकरण का व्यय ही। किसी न किसी तरह वे अपना जीवन निर्वाह करते रहते थे। जब तक गाडी काम देती रहती थी तो कोई विशेष बाधा नही उपस्थित होती थी। गाडी के बेकाम होते ही उन्हे अपने निर्वाह के भी लाले पड जाते थे। इस पारस्परिक प्रतियोगिता और भाडो मे कटौती की प्रवृत्ति को रोकना मोटर वाहन नियमन का प्रथम उद्देश्य था।

(२) रेलों का बचाव—युद्धोत्तर काल मे सडक परिवहन के विकास का विकृत प्रभाव रेलो पर पडने लगा। रेलो से यातायात मोटरो की ओर जाने लगा और रेलो के पास उसका अभाव हो गया। अवसाद काल के प्रारम्भ होते ही रेलो को घाटा होने लगा। घाटे के कारणो पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि मोटरो की प्रतियोगिता ही इसका मुख्य कारण है। सन् १९३३ मे मिकेल किर्कनेस समिति (Mitchell-Kirkness Committee) ने बताया कि मोटरो की प्रतिस्पर्द्धा से रेलो को २ करोड रुपये वार्षिक की हानि हो रही है। सन् १९३५ मे रेल बोर्ड ने इस हानि को ३ करोड़ रुपये आका और उसे रेलो की सकल आय का ३ प्रतिशत बताया। सन् १९३६ मे वेजवुड समिति ने इस हानि को ४॥ करोड रुपये वार्षिक अनुमानित किया। रेलो ने इस बढती हुई हानि के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि इसका मुख्य कारण मोटर परिवहन का अनियमन और अनियन्त्रण है। रेलो को एक कानून के अन्तर्गत अपना काम करना पडता है किन्तु मोटर सचालक सर्वथा स्वतन्त्र हैं और मनमानी करते हैं। अतएव मोटर परिवहन के लिए भी कानून बनाने का रेलो ने आग्रह किया।

(३) मोटर परिवहन का निजी विकास—उस समय मोटर परिवहन सर्वथा अव्यवस्थित स्थिति मे था। नियमो के अभाव मे उसका सगठन और सचालन अत्यन्त दुर्बल थे। गाडियो की स्थिति शोचनीय थी। बसो को खचाखच भरा जाता था और लारियो मे अधिक बोझ लादा जाता था। गाडियो की मरम्मत की उचित व्यवस्था न थी। उनके मार्ग मे खराब होने के अवसर आते रहते थे। ऐसी स्थिति मे उनका व्यवस्थित विकास सभव नही था। यदि उनकी सेवा चालू रखनी वाछनीय थी और

(२) मोटर गाडियो का पंजीयन (Registration)—सडक पर चलने वाली मोटर गाडियो का पजीयन अनिवार्य कर दिया गया।

(३) गाडियो का नियत्रण—रेल और सडक परिवहन के बीच समन्वय लाने के विचार से मोटर गाडियो का नियत्रण राज्यो की सरकारो ने अपने अधिकार मे ले लिया। किसी भी मोटर मालिक को उस समय तक अपनी गाडी किसी सार्वजनिक स्थान पर ले जाने की अनुमति नही थी जब तक उसने प्रान्तीय अथवा प्रादेशिक अधिकारी से उसकी आज्ञा न ले ली हो।

(४) यातायात नियत्रण—गाडियो की चाल और उनकी भार-क्षमता निर्धारित करने का भी अधिकार राज्य की सरकार ने अपने हाथ म ले लिया और चालको को यह आज्ञा दी कि वे चाल और भार सम्बन्धी सीमाओ का उल्लघन न करे।

(५) मोटर गाडियो का बीमा—मोटर गाडियो का बीमा भी अनिवार्य कर दिया गया। कोई गाडी उस समय तक किसी सार्वजनिक स्थान मे नही ले जाई जा सकती थी जब तक कि उसका बीमा न करा लिया गया हो।

मोटर वाहन (संशोधन) कानून, १९५६—१९३९ के कानून के बनने के उपरान्त शीघ्र ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड गया। अतएव सामान्य परिस्थितियो मे इसका प्रयोग न हो सका और न इसके नियमो का ठीक-ठीक प्रभाव ही जाना जा सका, तो भी यह कानून मोटरे चलाने व सडको की सुरक्षा के अच्छे आदर्श उपस्थित करने तथा मोटर गाडियो के छोटे-छोटे मालिको की प्रतियोगिता का निवारण करके उनके बीच समन्वय लाने म सफल हो सका। इस कानून क व्यवहार म लाने पर इसम कुछ दोष पाए गए। अतएव युद्ध के समाप्त होने पर उसके सशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। सशोधन के द्वारा रेल और सडक परिवहन के बीच समुचित समन्वय की बात पर भी जोर दिया गया। अतएव १९४९ म एक सशोधन विधेयक केन्द्रीय विधान-सभा म लाया गया, किन्तु वैधानिक परिवर्तनो के कारण इसे कानून का रूप न दिया जा सका। देश के स्वतन्त्र होने और प्रथम पचवर्षीय योजना की प्रगति के उपरान्त हमारी अर्थ-व्यवस्था म क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और सडक परिवहन के विशेष विकास की आवश्यकता हुई। अतएव १९५६ म इस कानून को सर्वथा नया रूप दे दिया गया। अपने वर्तमान रूप मे इस कानून मे १२ के अध्याय और १३४ धाराएँ हैं जो ड्राइवरो, कण्डक्टरो, गाडियो, यातायात इत्यादि के नियत्रण-नियमन की व्यवस्था करते हैं।

(१) परिभाषाएँ—प्रथम अध्याय मे कानून मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो का पारिभाषिक अर्थ दिया गया है। कण्डक्टर, ड्राइवर, भारी मोटर गाडी, हल्की मोटर गाडी, मँझली मोटर गाडी, मोटर कार, मोटर कैब, मोटर साईकिल, ऑमनीबस, जनवाहन (Public Carrier), निजवाहन (Private Carrier), परिवहन गाडी

(७) मोटरगाडियो का निर्माण और अनुरक्षण—धारा ६९ के अन्तर्गत प्रत्येक गाडी इस भाँति बनी होनी चाहिए और उसका अनुरक्षण (Maintenance) ऐसा होना चाहिए कि उस पर हर समय ड्राइवर का पूरा अधिकार बना रहे। इस सम्बन्ध मे राज्य की सरकार को गाडियो के निर्माण, उनकी सजावट एव अनुरक्षण सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। राज्य की सरकार गाडियो की ऊँचाई, चौडाई, लम्बाई, भार-क्षमता, यात्री बैठने की आसन-व्यवस्था, टायरो का आकार-प्रकार, चाल, परीक्षा और देख-भाल इत्यादि से सम्बन्धित नियम बना सकती है।

(८) यातायात नियन्त्रण—मोटरो से यात्रा करने वाले यात्रियो और मोटरो से जाने वाले माल की सुरक्षा के विचार से यातायात का नियन्त्रण आवश्यक है। अतएव दुर्घटनाओ की सम्भावना कम करने के विचार से छठे अध्याय मे मोटरो की चाल व उनकी भार-क्षमता की सीमाएँ बाँधने का राज्य की सरकार को पूरा अधिकार दिया गया है। चाल सम्बन्धी नियमो को लागू करने के लिए उन्हे सडको अथवा उनके निकट आवश्यक चिह्न लगाने का भी अधिकार प्राप्त है। भार-क्षमता के सम्बन्ध मे गाडी का भार लेने का अधिकार भी सरकार को मिला है। गाडियो के रुकने, चाल कम करके चलने और अन्य स्थानो को चिह्नित करने का भी विधान है।

(९) अस्थायी वाहन—अस्थायी रूप मे भारत आने वाली अथवा भारत से जाने वाली गाडियो के लिए लाइसेन्स देने एव अन्य प्रकार की सुविधायें उपलब्ध करने और भारतीय सडको का प्रयोग करने के निमित्त अनुमति देने अथवा नियम बनाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है।

(१०) मोटर गाडियों का जोखिम बीमा—कानून के आठवे अध्याय मे दुर्घटनाओ से होने वाली जान अथवा माल की हानि के लिए मोटर गाडियो का अनिवार्य बीमा कराना आवश्यक बताया गया है। बहुधा भारतीय सडको पर दुर्घटनाएँ होती रहती है और अनेक लोगो की जाने भी चली जाती है, किन्तु इसकी हानि पूर्ति करना जनता के लिए लगभग असम्भव था। अतएव मोटर मालिको को अपनी गाडी का बीमा कराना आवश्यक कर दिया गया है ताकि वे हानिपूर्ति के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था कर सके।

(११) दण्ड विभाजन—कानून के अन्तर्गत किए गए विधानो का उल्लंघन करने के विरुद्ध आवश्यक दण्ड का भी विधान किया गया है। गाडी का लाइसेन्स न लेने, उसे अधिक चाल से चलाने, अधिक भार भरने अथवा सवारी बिठाने, दुर्बल गाडी के चलाने, शराब पीकर गाडी चलाने अथवा अन्य किसी नियम को तोडने के सम्बन्ध मे कारावास अथवा अर्थ दण्ड का विधान किया गया है।

मुख्यत: कानून का मन्तव्य व्यवस्थित, सुरक्षित एव समुचित सेवा की उचित व्यवस्था करने का है ताकि जनता को कोई कठिनाई न हो और मोटर व्यवसाय का भी विकास हो सके।

सन् १९३९ मे मोटर कानून बनने के समय बहुधा मोटर मालिकों की ऐसी धारणा थी कि उसका उद्देश्य मोटर व्यवसाय मे सरकारी एकाधिकार स्थापित करने का है। वस्तुतः यह उनकी धारणा ठीक नहीं थी। यह गत बीस वर्ष के अनुभव से सिद्ध हो चुका है। मूल कानून मे मोटर व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण की कोई व्यवस्था नही थी। वस्तुतः इस कानून के उद्देश्य अव्यवस्थित मोटर व्यवसाय को व्यवस्थित करना, उसे परस्पर प्रतियोगिता से बचाना, रेल-मोटर समन्वय, उपभोक्ताओं की सुरक्षा, मोटर उद्योग का विकास इत्यादि थे। यदि कानून द्वारा व्यवसाय को व्यवस्थित न किया गया होता तो मोटरो, मोटर मालिको और सडकों की दुर्दशा हो गई होती और जनता उनको आवश्यक सेवा से वंचित रह गई होती।

सन् १९४७ के उपरान्त के वर्षों मे बदली हुई परिस्थितियों मे सड़क सेवाओं का आंशिक राष्ट्रीयकरण अवश्य हो गया, किन्तु यह मोटर वाहन कानून के अन्तर्गत नही वरन् इस सम्बन्ध के विशेष कानूनो के अन्तर्गत हुआ था। सन् १९५६ के संशोधित कानून मे इसके लिए आवश्यक व्यवस्था अनिवार्य हो थी। इस संशोधन से पूर्व राज्य की सरकारें अव्यवस्थित ढंग से राष्ट्रीयकरण करने पर उतारु हो जाती थीं; मोटर मालिको के अनुमति-पत्र बिना उन्हे आवश्यक सूचना एवं अवसर दिए ही रद्द कर दिए जाते थे; विस्थापित मोटर मालिको को उचित हानि-पूर्ति भी नही दी जाती थी। इस सम्बन्ध मे अब अध्याय ४ 'अ' मे आवश्यक विधान करके राज्य की सरकारों को व्यवस्थित कार्यक्रम प्रकाशित करने, जिन मार्गों पर सरकारी सेवा चलाने का प्रस्ताव हो उन पर चलने वाली मोटर गाडियो के मालिकों को समुचित सूचना देने, उन्हें हानिपूर्ति देने, उनके अनुमति-पत्रो की अवधि न समाप्त हुई हो तो अन्य किसी मार्ग पर मोटर चलाने की आज्ञा देने की व्यवस्था की गई है। यह दोनो पक्षो की कठिनाइयो का बचाव करने के विचार से किया गया है। इसका उद्देश्य सडक व्यवसाय मे कोई एकाधिकार स्थापित करना नही है। अब भी मोटर व्यवसाय के यात्री यातायात का तीन चौथाई और माल यातायात का शत प्रतिशत व्यक्तिगत मोटर मालिको के अधिकार मे है।

मुख्य परिवर्तन

१९५६ के संशोधनो के अन्तर्गत मोटर कानून मे निम्न मुख्य परिवर्तन किए गए :—

(१) मोटर गाडियो का वर्गीकरण उनके निर्माण के ढंग के अनुसार किया गया। पहले यह वर्गीकरण उनके प्रयोग के अनुसार था।

(२) पहले यात्री ले जाने वाली बसो के परिचालक (Conductor) के लिए कोई लायसेंस नही लेना पड़ता था। अब लायसेंस आवश्यक हो गया है।

(३) दुर्घटना होने पर हानिपूर्ति न्यायालयो द्वारा निश्चित की जाती थी जिससे बड़ी देर होती थी। अब इसके लिए न्यायाधिकरण नियुक्त कर दिए गए हैं।

(४) मोटर गाडियो के सम्बन्ध मे किए जाने वाले अपराधो के लिए कडे दड की व्यवस्था की गई है।

(५) मोटरो के सम्बन्ध मे दिए गए आज्ञा-पत्रो, उनकी अवधि और मोटर सञ्चालन से अनेक प्रकार की रुकावटें हटा ली गई हैं और मोटर-चालको को प्रतिस्पर्द्धी इकाइयाँ (Viable units) बनाने का प्रोत्साहन दिया गया है।

(६) दो या अधिक राज्यो के बीच दूरवर्ती माल यातायात के विकास, समन्वय और नियमन के निमित्त एक अन्तर्राज्य परिवहन आयोग (Inter-state Transport Commission) स्थापित किया गया है।

(७) सडक सेवाओ के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित कानून मे समता लाने का यत्न किया गया है।

(८) नए कानून मे किसी गाडी का बिना पजीयन के अस्थायी रूप मे भी (केवल पजीयन के लिए) कही जाना निषेध ठहराया गया है। अतएव अस्थाई पजीयन के लिए व्यवस्था की गई है। दूतावासो की मोटरो के लिए विशेष व्यवस्था की गई है।

पजीयन के निमित्त गाडी की वास्तविक उपस्थिति अब अनिवार्य कर दी गई है, पहले यह वैकल्पिक थी। पहले गाडी की बिक्री के समय विक्रेता को सूचना देना अनिवार्य नही था। अब क्रेता और विक्रेता दोनो के लिए हस्तातरण की सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया है।

(६) केवल उन्ही सरकारी मोटरो का पजीयन कराना आवश्यक नही है जो व्यापार-व्यवसाय से सम्बन्धित नही है।

किसी मार्ग के राष्ट्रीयकरण करते समय राज्य की सरकार को यह अधिकार है कि राज्य परिवहन अधिकारी को यह आदेश दे कि वह विस्थापित मोटर के अन्य किसी मार्ग पर चलाने की व्यवस्था करे।

राज्य अथवा प्रादेशिक परिवहन अधिकारी अब वही अनुभवी व्यक्ति हो सकता है जो न्यायाधीश रह चुका हो।

मोटर चलाने का आज्ञापत्र (Permit) देते समय अब सहकारी समितियो को दूसरो से पूर्वाधिकार दिया जाता है। आज्ञा-पत्र देते समय निम्नाकित शर्तें लगाई जा सकती हैं गाडी का मार्ग अथवा क्षेत्र सीमित करना, उच्चतम भार-सीमा बाँधना, उल्लिखित वस्तुओ के ले जाने की अनुमति न देना, वस्तुओ की भाडा-दरें निर्धारित कर देना, गाडी के रखने का मकान, अनुरक्षण अथवा मरम्मत की व्यवस्था निश्चित करना, समयानुसार आँकडे और सूचना देना इत्यादि।

(१०) स्वतन्त्र क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या कर दी गई है। स्वतन्त्र क्षेत्र मे कोई

भी गाडी जिसने लोक-वाहन की आज्ञा ली है कोई भी माल स्वतन्त्रतापूर्वक ले जा सकती है।

(११) जो सरकारी मोटरें व्यापार-व्यवसाय का कार्य नही करती उन्हे बीमा-मुक्त किया जा सकता है।

कार्य कौशल बढ़ाने के सुझाव

सन् १९५६ मे मोटर वाहन कानून मे जो सशोधन किये गये वे मोटर व्यवसाय को उन्नति और विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन संशोधनो के करते समय अधिक दूरदर्शिता से काम नही लिया गया और देश की बदलती हुई परिस्थितियो एवं बढती हुई आवश्यकताओ पर विशेष ध्यान नही दिया गया। इस बात की आवश्यक्ता है कि मोटर व्यवसाय का देश मे समुचित विकास हो और रेलो की सीमित कार्यक्षमता और व्यवस्था के कारण उत्पादन वृद्धि मे कोई बाधा उपस्थित न हो। अतएव नीचे उन बातो की ओर संकेत किया जाता है जिनके मोटर वाहन कानून के अन्तर्गत ले आने से मोटर व्यवसाय देश की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की समुचित सेवा कर सकेगा।

(१) संशोधित कानून के अन्तर्गत नियम—सन् १९५६ के संशोधनो के समय यह आशा की गई थी कि परिवर्तित परिस्थितियो मे संशोधित कानून के अनुसार राज्यो की सरकारे संशोधित नियमो के अनुसार कार्य करने लगेगी, क्योकि पुराने नियम अब सर्वथा अनुपयुक्त और अव्यावहारिक हो गये है। अभी तक राज्यों की सरकारे पुराने नियमों से ही काम चला रही है, उन्होने नये नियम नही बनाए। तुरन्त इन नियमो के सशोधनो की आवश्यकता है। यदि ऐसा नही किया जाता तो नये सशोधनो से हमें वह लाभ नही होगा जो कि वस्तुत: हो सकता है।

(२) वाहन भार-सीमा—गत वर्षो मे देश की सडको मे सुधार हुआ है और दिनो-दिन होता जारहा है। नये पुल बनाये जारहे है और पुराने पुलो को शक्तिशाली किया गया है। इस प्रवृत्ति के साथ मोटरो के किराये-भाडे कम होने की सम्भावना है, किन्तु यह सम्भावना और भी अधिक बढाई जा सकती है। सशोधित कानून मे प्रत्येक मोटर गाडी की भार सीमा १४,५०० पौड से बढाकर १८,००० पौड कर दी गई है। आधुनिक सडको और अच्छे पुलो के बन जाने के कारण इस बात की आवश्यकता है कि उक्त भार सीमा बढा कर २७,००० पौड करदी जाय। ऐसा करने मे कोई भय नही क्योकि कुछ राज्यो मे ऐसी सीमाएँ अब भी लागू है। अनुयान ठेलो के प्रयोग से भार-सीमा बढाने मे किसी भय की आशंका नही।

(३) संशोधित कानून में बेमेल शब्द—नये कानून मे कुछ ऐसे शब्द छोड़ दिये गये हैं जो पुराने कानून मे थे किन्तु जो संशोधित कानून से मेल नही खाते। इस कानून मे रेल सडक समन्वय के लिए विशेष शासन-तन्त्र स्थापित किया गया है और विशेष व्यवस्था की गई है। तो भी 'रेल-सड़क समन्वय' शब्द समूह अनेक स्थानो पर

कानून मे प्रयुक्त किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सारे कानून का एकमात्र मन्तव्य सडको से रेलो का बचाव करना है। वर्तमान परिस्थितियो मे मोटर गाडियाँ रेलो की शत्रु नही वरन् सहयोगी और सहायक है अतएव जहाँ-जहाँ इस शब्द समूह का प्रयोग हुआ है वहाँ से उसे हटा देना चाहिए।

वर्तमान मोटर वाहन कानून मे सडक परिवहन पर दूरी सम्बन्धी कोई रुकावटें नही लगाई गई। जहाँ भी लाभदायक यातायात उपलब्ध हो सके वही पर मोटरें सेवा प्रदान कर सकती है। १९३९ के कानून मे ७५ मील और १९४५ की सिद्धान्त संहिता मे १५० मील की दूरी की जो सीमा थी वह अब नही रही। तो भी कहीं-कहीं "दूरवर्ती माल यातायात पर प्रतिबन्ध अथवा निषेध" इत्यादि शब्द समूह कानून मे प्रयोग किया गया है। यह सर्वथा असंगत प्रयोग है और उसे निकाल देना चाहिए।

(४) आज्ञा-पत्र व्यवस्था (Permits)—आज्ञा-पत्र देने मे बडी देरी की जाती है। कभी-कभी वर्षों लग जाते हैं। आज्ञा-पत्र देने की कार्य-विधि को सरल करने की आवश्यकता है। साथ ही लम्बी अवधि के आज्ञा-पत्र बिना किसी संदेह के दिये जाने चाहिए। यह सभी जानते हैं कि यात्री यातायात का राष्ट्रीयकरण योजना आयोग और केंद्रीय सरकार की अनुमति के बिना नही हो सकता तथा यह भी कि माल यातायात का राष्ट्रीयकरण तृतीय योजना के अन्त तक सर्वथा असम्भव है। अतएव ३ अथवा ५ वर्ष की अवधि के आज्ञा-पत्र दे देने चाहिए ताकि मोटर मालिक अपने व्यवसाय की उन्नति मे रुचि ले सके।

आज्ञा-पत्र देने मे देरी होने से भ्रष्टाचार फैलता है। अनेक लोग झंझट से बचने के लिए इस काम को दूसरो पर छोड देते हैं और हजारो रुपए इसके लिए उन्हे देने पडते है। कानून म प्रार्थना-पत्र देने की तारीख से आज्ञा-पत्र देने की तारीख तक एक महीने की सीमा बाँध देनी चाहिए।

(५) निजीवाहन आज्ञा-पत्र (Private Carrier Permits)—जैसे पर्यटक सेवा प्रदान करने वाली गाडियो के लिये आज्ञा-पत्र का क्षेत्र व्यापक होता है वैसे ही निजी वाहन के आज्ञा-पत्र का क्षेत्र विस्तृत होना चाहिये। उसमे राज्य विशेष अथवा क्षेत्र विशेष की सीमा का बन्धन नही होना चाहिये। उपयुक्त कर देने के उपरान्त निजी वाहनो को देश भर मे आने-जाने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये।

(६) पर्यटन वाहन—धारा ६३ (६) के अन्तर्गत पर्यटन टैक्सियो को स्वतन्त्रतापूर्वक आज्ञा-पत्र देने की व्यवस्था करनी चाहिये ताकि पर्यटन यातायात को प्रोत्साहन मिल सके।

(७) ग्रामीण परिवहन—धारा ४३ (३) (1) के अन्तर्गत हल्की मोटर गाडी से तात्पर्य ६,००,००० पौंड भार वाली गाडी से है। भारत के ग्रामीण क्षेत्र मे इतनी छोटी गाडियो से सर्वत्र काम नही चलता। इस बात की आवश्यकता है कि उस क्षेत्र मे सस्ते से सस्ते भाडो पर मोटर सेवा प्रदान की जाय। इस सम्बन्ध मे यह सुझाव

दिया गया है कि हल्की गाड़ी से तात्पर्य ऐसी गाडी से होना चाहिए जिसका भार ८,००,००० पौंड तक हो। ऐसी गाडियाँ देश में बनती भी हैं।

(८) **सहकारी समितियाँ**—यद्यपि नये कानून मे चालकों की सहकारी समितियो को आज्ञा-पत्र देने की व्यवस्था की गई है तो भी इस बात की आवश्यकता है कि ऐसी समितियो को आज्ञापत्र देते समय व्यक्तिगत चालकों की अपेक्षा पूर्वाधिकार दिया जाना चाहिये।

(६) **राष्ट्रीयकरण**—मोटर व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में नये कानून मे उचित व्यवस्था की गई है, तो भी एक बडी भारी कमी रह गई है। यह कमी राष्ट्रीयकरण के समय विस्थापित मोटर मालिकों की गाड़ियाँ तथा अन्य सम्पत्ति के सरकार द्वारा लेने की व्यवस्था का अभाव है। विस्थापित मोटर मालिको की सारी स्थायी सम्पत्ति के अनिवार्य रूप मे लेने और उन्हे उचित बदला देने की कोई व्यवस्था अवश्य कर देनी चाहिए।

३०.

जल परिवहन
(Water Transport)

जल परिवहन अति प्राचीनतम परिवहन के साधनो मे से एक साधन है। इसमे सन्देह नही कि मनुष्य ने सर्वप्रथम सडक के अपरिष्कृत रूप का प्रयोग किया, किन्तु सडक के परिष्कृत स्वरूप के पूर्व ही वह जलमार्गो का प्रयोग करने लगा था। ज्यो ही उसे 'लकडी के पानी पर तैरने के सिद्धान्त का ज्ञान हुआ वह जल यात्रा करने लगा और जल मार्ग से माल ले जाने लगा।

लाभ

जल परिवहन का सबसे बडा लाभ उसका सस्तापन है, वह रेल व सडक परिवहन की अपेक्षा सस्ती सेवा प्रदान करता है। इसके दो प्रमुख कारण है। एक यह कि किसी दिए हुए भार को पहियो पर खीचने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता पडती है उसी भार को पानी पर खीचने के लिए उससे कही कम शक्ति की आवश्यकता पडती है। पानी से ऊपर जिस पुर को दो बैल कठिनाई से खीच पाते हैं, उसी पुर को एक आदमी हाथ के साधारण झटके से पानी के भीतर से सहज मे ऊपर खीच लेता है। यह साधारण अनुभव की बात है। किन्तु कम शक्ति के प्रयोग का लाभ तभी प्राप्त होता है जबकि चाल धीमी हो, क्योकि ज्यो-ज्यो जलयान की चाल बढाई जाती है त्यो-त्यो अधिकाधिक शक्ति का उपयोग करना पडता है जिससे सचालन व्यय बढ जाता है। कभी-कभी जल मार्ग द्वारा दो स्थानो के बीच का अन्तर अधिक हो जाने से भी इस लाभ की अशत प्रतिक्रिया हो जाती है, क्योकि रेल और सडक की अपेक्षा नदी का मार्ग टेढा होता है। जल परिवहन के सस्तेपन का दूसरा कारण यह है कि जहाँ रेल और सडक को मार्ग बनाने और उसे सुव्यवस्थित स्थिति मे रखने के लिए अपार धन व्यय करना पडता है जल परिवहन मे कुछ भी व्यय नही करना पडता क्योकि मार्ग बहुधा प्रकृति प्रदत्त होते हैं। यदि जलमार्ग प्राकृतिक हो, जैसे नदी अथवा समुद्र तो उसके निर्माण के लिए कुछ भी पूँजी लगाने की आवश्यकता नही पडती। और उसे सुव्यवस्थित रखने के लिए भी बहुत कम अथवा कुछ भी

व्यय नही करना पड़ता। इसके विपरीत यदि मार्ग कृत्रिम अर्थात् नहर हो तो उसके निर्माण और सुधार का भार सरकार के ऊपर होता है ; मार्ग के प्रयोग करने वालो को कुछ भी खर्च नही करना पडता। जल-मार्गों के अव्यवस्थित होने पर उनके पुन-निर्माण अथवा पुनरुद्धार का व्यय अन्य साधनो की अपेक्षा कम होता है। वाहन-व्यय भी रेल की अपेक्षा बहुत कम होता है। इस प्रकार जल परिवहन सस्ती वस्तुओ के लिए एक सस्ता साधन उपस्थित करता है। यही कारण है कि विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक बड़ा भाग जलमार्ग से होता है।

जल परिवहन का एक बडा लाभ यह है कि पहाड़ी ढाल पर, सघन वनो मे और वर्फीले स्थानो म यही एक मात्र परिवहन का साधन होता है। ऐसे स्थानो पर न तो सड़कें और न रेले ही बनाई जा सकती हैं। हिमालय पर्वत के वनो से इमारती लकड़ी नदियो द्वारा ही मैदान मे लाई जाती है। उत्तरी साइबेरिया के सारे अमूल्य वन मनुष्य के किसी काम नही आते यदि वहाँ पर नदियाँ न हुई होती। यह प्रदेश साल के कई महीने वर्फ से ढका रहता है जिससे यहाँ सड़को अथवा रेलो का निर्माण सम्भव अथवा लाभदायक नही। किन्तु ग्रीष्म के आते ही वर्फ पिघल कर नदियाँ बहने लगती हैं। इनमे लकडी काट काटकर वहा दी जाती है। इस भाँति साइबेरिया के बहुमूल्य वनो के उपयोग का श्रेय जल परिवहन को ही है। लकडी, पत्थर, घास, [illegible]स, कोयला इत्यादि सस्ती किन्तु बड़े आकार की वस्तुओ के लिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय [illegible]यापार के लिए जल परिवहन विशेष उपयोगी है।

[illegible]ीमाएँ

जल परिवहन की एक बडी कमी उसकी धीमी चाल है। जल वाहनो की [illegible]ाल साधारणत: दस-पन्द्रह मील प्रति घण्टे से अधिक नही होती, जबकि मोटर गाड़ियो की चाल पच्चीस-तीस मील और रेलगाडियो की पचास-साठ मील प्रति-घण्टा होती है।[1] नदियाँ बहुधा टेढ़ी-मेढ़ी बहती हैं और नहरो मे बाँधो से निकलने मे समय लगता है। दूसरी कमी परिवहन का सामयिक स्वरूप है। ठंडे देशो मे जल मार्ग वर्फ से ढक जाने से आवागमन के सर्वथा अयोग्य हो जाते है; वर्षा ऋतु मे बाढ आ जाने से भी उनका प्रयोग सम्भव नही, गर्मी मे उनके सूख जाने का भी भय रहता है। स्थल मार्ग की अपेक्षा जल मार्ग अधिक भयानक होते है और जान माल की भारी जोखिम बनी रहती है। फलत: माल का बीमा जल-परिवहन का एक आवश्यक व्यय समझा जाता है। नदियो मे बाढ़ आने और समुद्रो मे भयानक आँधियो के प्रकोप से नाव और जहाज बहुधा डूब जाते है और भय उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार भी नही किया जा सकता। चौथी कमी जल परिवहन का सीमित विस्तार है। जल मार्ग इस देश के विस्तृत क्षेत्र के कुछ भाग तक ही प्रत्यक्षत: पहुँचते है। अतएव जो उत्पादक

१. तेज चलने वाली रेलगाड़ियो की चाल १०० मील प्रति घण्टा से भी अधिक होती है।

और उपभोक्ता क्षेत्र नदी और नहरों के मार्ग से दूर हैं उनके लिए जल-मार्ग परिवहन की सेवा प्रदान नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में जल मार्गों का उपयोग करने के लिए रेल अथवा सड़क परिवहन की सहायता अपेक्षित है। माल और सवारियों को रेल अथवा सड़क द्वारा जल मार्ग तक पहुँचना पड़ता है। ऐसा करने में जलमार्ग का सस्तापन सर्वथा समाप्त हो जाने की सम्भावना रहती है। यदि उद्योग-धन्धे जल मार्गों पर स्थित नहीं हैं (और ऐसी स्थिति बहुधा देखने में आती है) तो वे जल मार्गों का उपयोग करने में असमर्थ हैं। सड़क और रेल की सेवायें उद्योग धन्धों के द्वार तक ले जाई जा सकती है जो कि जल-मार्ग के लिये सर्वदा सम्भव नहीं है।

इन बाधाओं के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी में एक कृत्रिम बाधा का भी जल-मार्गों को सामना करना पड़ा। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के रेल-निर्माण काल के प्रारम्भिक युग में रेलों ने उन नहरों पर अपना अधिकार कर लिया था जो उनमें प्रतियोगिता करती थीं। तदुपरान्त उन्होंने या तो नहरों की सेवा का सर्वथा परित्याग कर दिया या उनको सुव्यवस्थित अवस्था में रखना ठीक न समझा। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि नहरों पर उन्होंने चुंगी की दरें इतनी बढ़ा दीं कि उनका उपयोग कम हो चला। लगभग सभी देशों में रेलों की किराये-भाड़े की दर की नीति ऐसी रही है जिससे जल-मार्गों के स्वाभाविक विकास में भारी बाधा पड़ी। कहीं-कहीं रेल कम्पनियों ने नहर कम्पनियों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने उनके साथ कार्य करने तथा मिल कर किराया-भाड़ा नियत करने और वसूल करने के प्रस्तावों की सर्वथा उपेक्षा की। जल-कम्पनियाँ वस्तुतः रेल और सड़क से माल लेती थीं। अतएव उनके असहयोग के कारण उनकी उन्नति रुक गई।

सड़क और जल परिवहन

जैसे सड़क के निर्माण और सुरक्षा का भार देश की सरकार अथवा जनता पर होता है और माल ढोने वाले को कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता, ठीक इसी भाँति जल परिवहन की स्थिति है। इसका मार्ग प्राकृतिक अथवा सरकारी होता है और उसके सुरक्षित रखने का दायित्व भी सरकारी होता है, या माल भेजने वालों पर होता है, माल ढोने वाले को कोई व्यय नहीं करना पड़ता। केवल उसे वाहन (Vehicle) के लिए व्यय करना पड़ता है। संचालन व्यय बहुधा कार्य के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है अर्थात् यातायात (Traffic) की वृद्धि के साथ वह बढ़ता है और उसके कम होने पर कम हो जाता है। इस भाँति हम देखते हैं कि पूँजीगत और संचालन व्यय की दृष्टि से सड़क और जल परिवहन एक समान है। किन्तु इन दोनों की सेवाओं के स्वरूप में भारी अन्तर है। पहला अन्तर यह है कि भौगोलिक दृष्टि से जल-परिवहन का विस्तार सड़क परिवहन की अपेक्षा बहुत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि जल परिवहन का उपयोग बड़े आकार वाली इनी-गिनी कुछ ही वस्तुओं के लिए होता है। तीसरा अन्तर यह है कि जल-वाहन बहुधा मोटरों की अपेक्षा बड़े होते हैं और वे

अधिक माल ले जाने की क्षमता रखते हैं। साधारण मोटर गाड़ी तीन-चार टन माल लाद सकती है किन्तु एक साधारण जलयान लगभग छः सात हजार टन माल ले जा सकता है।

जल और रेल परिवहन

(१) रेलो की अपेक्षा जल-परिवहन के लिए बहुत कम पूँजी की आवश्यकता पडती है। (२) रेल की अपेक्षा जल परिवहन का संगठन (Organization) भी छोटा होता है। यदि बड़ी-बड़ी संस्थायें भी इस काम को करें तो भी उनकी सेवा की इकाई छोटी ही होती है। रेल-परिवहन मे रिक्त स्थान रहना एक साधारण घटना है क्योंकि उसका तंत्र बडा होता है और वर्तमान तंत्र की क्षमता बढाने के लिये बड़ी इकाइयो द्वारा ही वृद्धि की जाती है। जल-परिवहन के लिए यह बात लागू नही होती। इसमे तो आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ी की जा सकती है। (३) अतः उसकी माल भरने की क्षमता माँग के अनुसार समायोजित की जा सकती है जो कि रेल के लिए एक असम्भव कार्य है। हाँ, यह ठीक है कि जलयान मे भी कुछ रिक्त स्थान हो सकता है किन्तु यह उतना महत्वपूर्ण नही जितना रेल मे होता है। (४) रिक्त स्थान के अधिक महत्वपूर्ण न होने के कारण जल-परिवहन के संचालन व्यय बहुधा परिवर्तनशील होते है। वे रेल की भाँति स्थिर नही रहते। जल-परिवहन व्यय बहुधा ईंधन (कोयला, तेल इत्यादि), अन्य आवश्यक सामग्री, वेतन और मजदूरी, मूल्य ह्रास आदि मदो मे होते है जो कि सभी अस्थिर होते हैं। सीमा-व्यय (Terminal expenses) उतने अस्थिर नही होते जितने अन्य उपर्युक्त व्यय, किन्तु ये कुल व्यय का एक छोटा अंश होते हैं। इसी प्रकार वाहन मे लगी हुई पूँजी पर ब्याज स्थिर व्यय होता है किन्तु रेलो के तत्सम्बन्धी व्यय अथवा कार्य को देखते हुए बहुत कम होते हैं। (५) रेल के विपरीत जल-परिवहन मे एकाधिकार का सर्वथा लोप हो जाता है। जल-मार्ग सभी के लिए खुले होते हैं और थोड़ी पूँजी द्वारा सेवा कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है। फलतः प्रतियोगिता का बाहुल्य होता है और संयोजन (Combination) के प्रयत्न भी बहुधा असफल सिद्ध होते हैं। इस क्षेत्र मे नित नए प्रतियोगी आते रहते हैं, कभी-कभी बड़ी-बडी माल भेजने वाली संस्थायें भी अपनी निज की सेवा प्रारम्भ कर देती है। (६) जल-परिवहन मे अधिकतर व्यय अस्थिर होते है और एकाधिकार का अभाव होता है। अतएव विभेदात्मक नीति इतनी भयानक नही होती जितनी रेल मे और न प्रतियोगिता ही उतनी हानिकर सिद्ध होती है। विभेदात्मक-नीति के लिए इसमे उतना प्रलोभन नही होता जितना रेल मे। किराये-भाडे की दर घटाने में और विशेषतः लागत व्यय से कम करने मे भारी द्विविधायें उपस्थित होती है, क्योंकि इसमे लाभ की अपेक्षा बहुधा हानि ही अधिक होती है। हानि होती देख कर सेवा बन्द कर दी जाती है अथवा दूसरे क्षेत्र मे ले जाई जा सकती है। लौकिक दृष्टि से सेवा का सहसा अन्त कर देना उतना आपत्तिजनक नही होता जितना रेल के लिए होता है।

जल परिवहन के भेद

जल परिवहन के क्षेत्र-विस्तार से दो भाग किए जा सकते है : (१) अन्तर्देशीय जलमार्ग (Inland Waterways) तथा (२) समुद्री जल-मार्ग (Sea Transport)। अन्तर्देशीय जलमार्गो मे नदी, नहर, तथा झीले सम्मिलित हैं। सामुद्रिक जलमार्ग भी दो प्रकार के होते हैं; समुद्र तटीय (Coastal Transport) तथा समुद्र के बीच से जाने वाले जलमार्ग (Ocean Transport)। किसी भी देश की सीमा के तीन मील तक समुद्रतट माना जाता है और उस क्षेत्र मे उस देश के जलयानो का ही अधिकार समझा जाता है।

इतिहास

यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि अति प्राचीन काल मे भी हमारा देश-सुदूर देशो मे जल-मार्गों द्वारा सम्बन्धित था और हमारे यहाँ के नौकारोही पश्चिम मे यूनान और मकदूनिया तक तथा पूर्व मे जावा तक पहुंचा करते थे। हमारे यहाँ के नौका-निर्माण-कौशल को सारा संसार ईर्ष्या की दृष्टि से देखता था। भोज नरपति द्वारा सम्पादित "युक्ति कल्पतरु" नामक संस्कृत ग्रन्थ से इस उद्योग की प्राचीनता की झलक हमे मिलती है। उक्त ग्रन्थ मे समुद्री और नदियो की यात्रा के लिए जलयान बनाने की कला का विस्तृत विवरण मिलता है। विभिन्न प्रकार के जलयानो के वर्गीकरण,[1] आकार, अनुपात और निर्माण-सामग्री इत्यादि के विषय में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इस ग्रन्थ मे जिस विशिष्ट निर्माण-पद्धति का वर्णन है, वह आधुनिकतम पद्धति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

इसमे सन्देह नही कि प्राचीन भारत मे समुद्र-यात्रा का विकास होने से पूर्व आन्तरिक जल-परिवहन का विकास हो चुका था। इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ के भास्कर्य के अन्तर्गत जो सबसे प्राचीन प्रमाण मिलता है, वह एक डोंगी की मूर्ति है जो साँची स्तूप के पूर्वी द्वार पर बनी है। यह डोंगी एक नदी पर तैर रही है। स्तूप के पश्चिमी द्वार पर एक राजकीय नौका की मूर्ति है जिसके ऊपर एक मण्डप और एक खाली सिंहासन है। ये मूर्तियाँ ईसा से दो शताब्दी पूर्व की है। अजन्ता की गुफाओ

---

१. जलयानो के दो वर्ग बताए गए हैं : (१) सामान्य और (२) विशेष। नदियो मे चलने वाली नावे सामान्य श्रेणी मे और समुद्र मे चलने वाली विशेष वर्ग मे आती है। आकार (लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई) के विचार से सामान्य के अन्तर्गत दस और विशेष के अन्तर्गत पन्द्रह प्रकार के जलयानो का वर्णन है। सामान्य : (१) क्षुद्र, (२) मध्यम, (३) भीम, (४) चपल, (५) पटल, (६) भय, (७) दीर्घ, (८) पत्रपुट, (९) गर्भर, (१०) मन्थर। विशेष : (क) दीर्घ—(१) दीर्घिका, (२) तरणि, (३) लोल, (४) गत्वरा, (५) गामिनी, (६) तरि, (७) जङ्घाला, (८) प्लाविनी, (९) धारिणी, (१०) वेगिनी। (ख) उन्नत—(१) ऊर्ध्व, (२) अनूदर्ध्वा, (३) स्वर्णमुखी, (४) गर्भिणी, (५) मन्थर।

उस पर शुल्क कम लिया जाय या माफ कर दिया जाए। जलीय मार्ग से होने वाले व्यापार सम्बन्धी किसी अधिकारी की असावधानी या अनुपस्थिति आदि के कारण या नाव की मरम्मत न होने की दशा मे यदि नाव डूब जाय, या उसका माल गिर जाय तो नावाध्यक्ष अपने पास से उसकी क्षति पूर्ति करे। नियम से अधिक बोझा लादने या असमय, बिना आज्ञा या नियम विरुद्ध व्यापारी माल ले जाने की दशा में, आचार्य भिन्न-भिन्न दण्ड का आदेश करता है।

भारतीय जल-परिवहन के सम्बन्ध म प्रामाणिक उल्लेख यूनानी यात्री मैगस्थनीज के यात्रा-वर्णन म भी मिलते ह। मैगस्थनीज ने आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत की यात्रा की थी। उसके साथ तथा उसके उपरान्त आने वाले यात्री ऐरियन के वर्णनो से ज्ञात होता है कि गगा और उसकी सत्रह सहायक नदियो तथा सिन्धु और तेरह सहायक नदियो मे नौकाओ द्वारा आना-जाना हुआ करता था। मैगस्थनीज ने यह भी लिखा है कि भारत म लगभग ५८ ऐसी नदियाँ थी जो जल-परिवहन के योग्य थी। अजंता की चित्रकला से स्पष्ट होता है कि सातवी शताब्दी मे भारतीय वणिक्पोत सौराष्ट्र, गुजरात व पूर्वीतट से सुमात्रा, जावा, फिलिप्पाइन, तथा पैसिफिक महासागर मे स्थित अन्य द्वीपो मे जाया करते थे। चौदहवी शताब्दी ईसवी मे नदियो, नहरो और अन्य जलमार्गों द्वारा जल-परिवहन यथेष्ट रूप से एक लाभदायक व्यापार समझा जाता था। उस काल के जलमार्गों, नहरो और नदियो का तथा उन क्षेत्रो का प्रामाणिक वर्णन, जहाँ उनके द्वारा पहुँचा जा सकता था, बडे विशद रूप म रैनेल की पुस्तक "हिन्दुस्तान अथवा मुगल साम्राज्य का मान-चित्र' मे मिलता है। ये सभी जल-मार्ग स्वभावत. सिन्धु और गगा तथा इनकी बडी-बडी सहायक नदियो से निकलते थे क्योकि सिन्धु और गगा नदिया उत्तरी भारत की जीवन-दाता नदियो के समान हैं।

रैनेल ने एक स्थान पर लिखा है कि सिन्धु और उसकी सहायक नदिया मे जल परिवहन की निर्बाध सुविधा है। उसमे सिन्धी की राजधानी तत्ता से लेकर मुलतान और लाहौर तक २०० टन के जहाज आ-जा सकते है। औरगजेब के समय मे इन स्थानो के बीच बहुत अधिक व्यापार जल-मार्गों द्वारा होता था। परन्तु अब व्यापार बहुत कम रह गया है क्योकि सिन्ध मे शासक ठीक नही है और शेख लोगो की मनोवृत्ति विरोधी तथा लूटमार की है। ये शेख मुलतान और लाहौर के आस पास के प्रदेशो के शासक है।

गगा और ब्रह्मपुत्र के विषय म वह लिखता है कि गगा और ब्रह्मपुत्र नदियाँ अपनी अनेक शाखाओ और सहायक नदिया के साथ बगाल म विभिन्न दिशाओ मे इस प्रकार फैली हुई है जिससे अधिक-से-अधिक आन्तरिक जल-परिवहन सुगमता से हो सकता है। ये प्राकृतिक नहरे बडे अच्छे ढग से अनेक दिशाओ म फैली हुई हैं और ऐसे प्रदेश पर उनका प्रसार है जो लगभग सपूर्णत. मैदान है। इससे बर्दवान और वीरभूमि इत्यादि के समीप के स्थानो को छोडकर उक्त प्रदेश का प्रत्येक भाग पानी की

कमी के दिनो मे भी किसी न किसी जल-मार्ग से २५ मील मे अधिक दूर नहीं है और अधिकांशतः यह दूरी उक्त अनुमान से एक तिहाई तक ही है।

३०° अक्षांश पर स्थित हरिद्वार से गंगा नदी पर्वतों से निकलती है और उसकी धारा मन्दगति से सुन्दर मैदानी प्रदेश से होकर बहती है और वह जल-परिवहन के सर्वथा योग्य है। वहां से समुद्र तक वह लगभग १३५० मील की दूरी पार करती है। उसके तट के स्थान समृद्धि से परिपूर्ण हैं। वह आस-पास की जगहों को समृद्धिवान बनाती है और तट के प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए परिवहन का सुगम साधन भी है।

सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से रेनेल का एक और कथन भी ध्यान देने योग्य है। वह लिखता है कि गंगा द्वारा विभिन्न सैनिक चौकियों तक पहुँचना सुगम है और इसलिए देश के लिए यह नदी सैनिक परिवहन-मार्ग का काम देती है।

सन् १७६२ में तैयार किये गए रेनेल के मानचित्र द्वारा यह पता चलता है कि चौदहवीं शताब्दी मे विभिन्न व्यस्त जल-मार्गों द्वारा गंगा के मैदान को कितना लाभ पहुँचा था।

रेनेल के अनुसार उस काल के शासकों ने न केवल विभिन्न दिशाओं मे जल-मार्गों का विकास किया था, प्रत्युत उन्होंने यह विकास बड़े विशाल स्तर पर और बड़े नियोजित ढंग से करने का स्वप्न देखा था। रेनेल लिखता है कि मुझे यह ज्ञात नहीं हो सका कि फीरोज ने जो महान और विशाल योजना बनाई थी, उसको वह पूरी कर सका था या नहीं। यदि वह पूरी हुई होती, तो अपने ढंग की एक सबसे बड़ी योजना होती। तब हमने गंगा और सिन्धु जैसी महान नदियों को शिल्प के द्वारा जुड़ा हुआ देखा होता। ये नदियाँ दक्षिण एशिया के एक विशाल भू-भाग पर बहती हैं, एक दूसरे से १,५०० मील की दूरी पर समुद्र में गिरती है और मानो एक-दूसरे को बाहुपाश में बाँधने के लिए अपनी बाहे एक-दूसरे की ओर बढ़ाती है। साथ ही इनमे एक तीसरी बाँह भी प्राकृतिक ढंग से मिलती है जो उत्तर में है। इस प्रकार चीन की सीमा से लेकर फारस की सीमा तक एक अटूट आन्तरिक जल-मार्ग का निर्माण हो जाता है।

डाक्टर राधा कुमुद मुकर्जी द्वारा लिखित भारतीय पोतचालन के इतिहास (History of Indian Shipping) से भारतीय जल परिवहन के क्रमबद्ध इतिहास का प्रामाणिक एवं विस्तृत विवरण मिलता है। इस पुस्तक मे ईसा से ३००० वर्ष पूर्व से लेकर मुगल काल तक के भारतीय जल परिवहन के विकास क्रम का पूर्ण उल्लेख किया गया है।

३१.

आन्तरिक जल परिवहन
(Inland Water Transport)

पूर्वाभास

पिछले पृष्ठो मे भारतीय जल परिवहन के इतिहास का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इससे ज्ञात होता है कि अनन्त काल से जल परिवहन भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग रहा है। बड़े आकार की वस्तुओ का परिवहन सडक की अपेक्षा जल-मार्ग से सरल एवं सस्ता होता है। अतएव जहाँ उपज की प्रचुरता होती थी और दूरवर्ती स्थानो तक बडे आकार की वस्तुओ का व्यापार होता था, वहाँ जल परिवहन को ही प्रधानता दी जाती थी। भारतीय नदियाँ हजारो मील तक मैदानो से वर्ष भर बहती हैं, अतएव इनका उपयोग प्राय: ऐतिहासिक काल से किया जाता रहा है। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व भी भारतीय आन्तरिक जल परिवहन उन्नत अवस्था मे था। किन्तु रेल-निर्माण युग के आरम्भ होने के साथ लगभग १८५५ मे इसका ह्रास प्रारम्भ हो गया। उस समय तक ब्रह्मपुत्र नदी मे डिब्रूगढ तक, गगा मे पटना से ७०० मील ऊपर गढमुक्तेश्वर तक, और जमुना मे आगरा तक बड़े-बडे धुआँकश (Steamers) चला करते थे। कानपुर नगर मे नावो और धुआँकशो की इतनी भीड लगी रहती थी कि वह एक बन्दरगाह सा प्रतीत होता था। आज से लगभग तीस-पैतीस वर्ष पूर्व तक घाघरा मे गंगा के सगम से २०० मील पर स्थित अयोध्या नगर तक नियमित सेवा उपलब्ध थी। अनेक नहरे भी जल परिवहन की सुविधाये प्रदान करती थी। सक्खर बाँध बनने से पूर्व तक सिन्ध अपने डेल्टा से लगभग एक हजार मील तक उपयोगी जलमार्ग बनाती थी।

भारत मे सर्वप्रथम सन् १८२३ मे भाप से चलने वाली नौकाओ का प्रयोग आरम्भ हुआ और १८५० के लगभग भारत तथा पाकिस्तान मे ५,००० मील से भी अधिक क्षेत्र मे इस प्रकार की यात्राओ का प्रसार हो चुका था। किन्तु भाप की सहायता से होने वाला यातायात कुल जल-यातायात का एक बहुत छोटा अश था। अधि-

काश यात्री देशी नावों में ही यात्रा करते थे। ये नावें दिल्ली तथा नेपाल की सीमा से आसाम तक चला करती थी। सन् १८७६-७७ मे जब कि जल-परिवहन उन्नत अवस्था मे था, (आरम्भ मे रेलो के निर्माण के कारण जल-परिवहन मे कुछ वृद्धि हुई क्योंकि रेलो के लिए आवश्यक सामग्री इत्यादि पहुँचाने का काम नावा द्वारा हुआ), कलकत्ते मे पंजीकृत (Registered) नावों की संख्या १,७८,६२७, हुगली मे १,२४, ३५७ और पटना मे ६१,५७१ थी।

ह्रास

सन् १८६० तक ईस्ट इण्डियन रेल की मुख्य शाखा के निर्माण का प्रभाव प्रकट होने लगा। ज्यो-ज्यो अनेक दिशाओ मे रेलो का जाल फैलने लगा और जल-मार्गो के समानातर रेल की पटरियाँ बिछने लगी, त्यो-त्यो धुआँकश और नावों की महत्ता घटने लगी। रेल-निर्माण कार्य मे सरकार ने सारी शक्ति और सारे साधन लगाने मे कुछ उठा नही रखा और जल-मार्गों की सर्वथा। उपेक्षा की जल-यानो की व्यवस्था सुसगठित भी न थी। अतएव रेल यात्रा नाव-यात्रा से कही अधिक सुविधा-जनक और सुरक्षित भी थी। जल-परिवहन अभी तक यंत्रीकरण (Mechanization) की आरम्भिक अवस्था मे था और वह उतना सुरक्षित, सुविधाजनक एवं वेगवान न था जितना रेले। रेल के तीव्र वेग का व्यापारी वर्ग पर आकर्षक प्रभाव पडा। वे लोग यह भूल गये कि एक टन माल को एक मील तक ले जाने मे रेलें नावो से कही अधिक मंहगी पडती है। साथ ही नहर-निर्माण कार्य भी होने लगा। इन नहरो के बनाने का मुख्य उद्देश्य सिचाई था। इन नहरो के द्वारा अनेक नदियो मे पानी का अभाव होने लगा और वे जलयानों के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होने लगी। इन विषम परिस्थितियों की ज्वाला को प्रज्वलित करने के लिए जल-परिवहन सम्बन्धी किसी सूत्रीकरण करने वाले केन्द्रीय अधिकारी का अभाव था। अन्तर्देशीय जल-परिवहन सदैव से प्रान्तीय विषय समझा जाता रहा और केन्द्रीय सरकार की कोई रुचि इसमे नही रही। वस्तुत: किसी नदी का भली-भाति उपयोग करने के लिए यह अति आव-श्यक है कि उसके सारे प्रदेश को, उद्गम से मुहाने तक, एक इकाई समझा जाए और राजनीतिक इकाइयो के अनुसार उसके टुकडे न किए जाये। नदी की धारा का अधिकतम आर्थिक उपयोग करने के लिए उसका बहुउद्देशीय प्रयोग भी आवश्यक है। सिचाई के अतिरिक्त बिजली पैदा करने और परिवहन के लिए भी उसकी धारा का प्रयोग किया जाना श्रेयस्कर है। रेल युग मे अनेक बडे-बडे उद्योग स्थापित होने लगे जिनमे पूँजी का विनियोग जल-परिवहन की अपेक्षा अच्छा समझा जाने लगा। इससे लोगो का ध्यान इस ओर से हट गया। इन सब कठिनाइयो के कारण आन्तरिक जल-परिवहन के वैभव का सूर्य ढलने लगा। १९०५ मे एक जाँच से पता चला कि गंगा और उसकी सहायक नदियो मे चलने वाली व्यापारिक नावो की संख्या घट कर १,५०० रह गई थी। अनेक नदियाँ व नहरे परिवहन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो गईं।

वर्तमान स्थिति

भारत मे अन्तर्देशीय जल मार्गों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। हमारी नदियो और नहरो की लम्बाई लगभग २५,००० मील है। इस विस्तृत जलमार्ग के एक-चौथाई का ही इस समय नौ-परिवहन के लिए उपयोग किया जाता है। इस समय नौ-परिवहन असम, आन्ध्र, उत्तर-प्रदेश, उडीसा, बिहार, प० बगाल, मद्रास और केरल राज्यो अर्थात् मुख्यत गगा-ब्रह्मापुत्र और उनकी सहायक नदियो तक ही सीमित है। कलकत्ता से पूर्वी-पाकिस्तान के जल मार्गों से होकर गगा नदी मे पटना तक लगभग ६२० मील की दूरी म बडे बडे धुआँ कश (Steamers) चलते हैं। छोटे-छोटे धुआकश १०० मील आगे गगा म बक्सर तक और घाघरा मे बरहज तक चलते हैं। पूर्व मे कलकत्ता से १,१७५ मील पर असम की पूर्वी सीमा के निकट स्थित डिब्रुगढ तक धुआकश ब्रह्मपुत्र मे पहुँचते है। बीच मे कुछ सहायक नदियो मे भी उनका आना-जाना है।

ऐसे जल मार्गो की लम्बाई जहाँ धुआकश और देशी नावे प्रत्येक ऋतु मे आ-जा सकती हैं, ५,५०० मील है जिसमे से १,५५७ मील नदी मार्ग मे धुआँकश और ३,९८७ मील मे केवल बडी नावे चलती हैं, और भी बहुत से ऐसे जल-मार्ग हैं जहाँ छोटी छोटी देशी नावे आ जा सकती हैं। गगा और ब्रह्मपुत्र मे धुआँकशो का यातायात ६२ करोड ५० लाख टन मील प्रति वर्ष है।[1]

देश के कुछ भागो मे नहरो का परिवहन के लिए उपयोग किया जाता है। मद्रास राज्य मे गोदावरी की नहरे, दुम्मागुदन नहरे, कृष्णा की नहरे बकिंघम नहर, कुर्नूल कडापा नहर, केरल की नहरे, गगा की नहरे, उडीसा की नहरे, पश्चिमी तट की नहरे व वेदारनियम, नहरे परिवहन के लिए उपयोगी है। विगत विश्व-युद्ध मे विशेष रूप से बकिंघम नहर द्वारा बहुत बडे परिमाण मे सामग्री को ले जाया गया जिससे रेलो को अन्य आवश्यक सामग्री ले जाने की छूट मिल गई। मलाबार के आन्तरिक जल मार्ग जिनसे उस क्षेत्र मे नहरे निकाली गई हैं, प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से बडे आकर्षक है और व्यावसायिक परिवहन के लिए अत्यधिक उपयोगी है। उडीसा मे लगभग २०० मील लम्बी परिवहन योग्य नहरे हैं। पश्चिमी बगाल मे डेल्टा की नदियो को छोडकर, कलकत्ता के निकटवर्ती प्रदेश मे भी कुछ नहरे हैं। १६४६ मे एकत्रित किए गए आकडो से विदित हुआ है कि कलकत्ता से बाहर जाने वाले और कलकत्ता म आने वाले माल का बारहवा भाग नावो द्वारा आता-जाता है।

कुछ विद्वानो के अनुसार विभिन्न भागो मे परिवहन के योग्य आतरिक जल मार्गो की कुल लम्बाई ५,१४४ मील बताई जाती है, जैसा कि नीचे के विवरण से प्रतीत होता है[2] —

---

१. केन्द्रीय जल तथा बिजली आयोग—भारत मे जल-यातायात, १६५२, पृष्ठ १४।
२ Indian year Book 1958-59, p 321.

उत्तर प्रदेश	७४५ मील
बिहार	७१५ ,,
पश्चिमी बंगाल	७७७ ,,
असम	६२० ,,
उड़ीसा	२८७ ,,
मद्रास एवं आंध्र	१,७०० ,,
कुल	५,१४४ मील

इन आंकड़ों में बड़े-बड़े धुआंकशों और बड़ी-बड़ी नावों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले मुख्य-मुख्य जल-मार्ग ही सम्मिलित है; इसमें ज्वार भाटे के प्रभाव से बनने वाले समुद्रतटीय कटान सम्मिलित नहीं है, क्योंकि ये आन्तरिक जल-मार्गों से आकर नहीं मिलते। इसमें से लगभग १७६२ मील में धुआंकाश चल सकते है जैसा कि निम्न विवरण से प्रतीत होता है[1] :—

गंगा नदी—पटना से लालगोला (सीमा)	३१५ मील	
पटना से बक्सर (सहायक सेवा)	१०० ,,	४१५ मील
घाघरा नदी—गंगा के संगम से बरहज	....	६७ ,,
हुगली नदी—कलकत्ता से सुन्दरवन (सीमा)	...	१५० ,,
ब्रह्मपुत्र नदी—दिबरूगढ से ढुबरी (सीमा)	४०० मील	
सहायक नदियों में सहायक सेवायें	३७५ ,,	
सुरमा घाटी में सहायक सेवायें	८५ ,,	८६० ,,
भागीरथी नदी—कलकत्ता से गंगा नदी तक (केवल वर्षा ऋतु में)		१८० ,,
ब्रह्मपुत्र नदी—दिबरूगढ से सदिया तक (केवल वर्षा ऋतु में)		६० ,,
कुल		१,७६२ मील

अन्तर्देशीय जलमार्गों द्वारा ले जाए जाने वाले यातायात के अधिकृत आंकड़े उपलब्ध नहीं है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों से आने-जाने वाले माल के गैर सरकारी कुछ आंकड़े संकलित किए गए हैं जिनके अनुसार १९५१ में ११·६७ लाख टन माल का आवागमन हुआ। १९५७ में यह घट कर केवल १०.५२ लाख टन रह गया। अपनी वर्तमान पतितावस्था में भी उत्तरी भारत के लिए आन्तरिक जलमार्ग अत्यन्त उपयोगी है। असम की ९३% चाय और ६०% जूट इन्हीं जलमार्गों से कलकत्ता आती है। जितनी चाय उत्तरी भारत के सब प्रान्तों से कलकत्ता पहुँचती है उसका ७०% जलमार्ग से आती है और इन क्षेत्रों से कलकत्ता आने वाली जूट का २०% भी जलमार्ग से आता है।

---

1. Indian Year Book 1958-59, p. 321

नहरो द्वारा जाने वाले यातायात के पूर्ण वार्षिक आँकडे उपलब्ध नही हैं, किन्तु कुछ आँकडे निम्नाकित हैं :—

उत्तर प्रदेश २४,४४१ टन (१६४५-४६), बिहार ६६,७६५ टन (१६३८-३६), पश्चिमी बगाल १२,७८,८७० टन (१६३८-३६), उडीसा १,८५,६४७ टन (१६४८-४६); मद्रास १४,६३,७५१ टन (१६४७-४८)।

भविष्य

रेल-युग के आविर्भाव के साथ-साथ भारत मे ही नही अन्य अनेक देशो मे भी आन्तरिक जल-परिवहन का ह्रास आरम्भ हो गया। रेल-निर्माण का ऐसा भूत सवार हुआ कि जल-मार्गो की उपयोगिता को लोग सर्वथा भूल गए और रेल-निर्माण के लिए ही सारा ज्ञान, सारे साधन, एव सारी शक्ति लगा दी गई। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त लोगो को अपनी इस भूल का ज्ञान हुआ और लगभग सभी पाश्चात्य देशो मे आन्तरिक जल-परिवहन के प्रति रुचि जाग्रत हुई। इस रुचि के जाग्रत होने का एक बडा कारण यह था कि देश के प्राकृतिक साधनो के सरक्षण द्वारा उनके अमित उपयोग के कार्यक्रम का एक अग जल-मार्गो का उपयोग समझा गया। दूसरे, प्रथम महायुद्ध के उपरान्त रेल-भाडो मे इतनी वृद्धि हुई कि सस्ते परिवहन के साधनो की आवश्यकता प्रतीत हुई। लोगो को यह विश्वास था कि जलमार्ग रेलो के प्रतियोगी साधन के रूप मे रेल-भाडो को किसी उचित सीमा तक कम रखने मे सहायता प्रदान करेंगे। उनका विचार था कि दूसरे प्रतियोगी साधनो के अभाव मे ही रेल-भाडा इतना ऊँचा हो गया था। रेलो म उस समय इतनी भीड-भाड चलने लगी थी कि लोग यह सोचने लगे कि जलमार्गो का पुनरुद्धार उस भीड-भाड और परिवहन के प्रभाव को कम करने का एक शक्तिशाली साधन सिद्ध हो सकेगा। इस नीति से लाभ उठाने वाले विशेष हितो और वर्गो ने जलमार्गो की अनेक योजनाये उत्साहपूर्वक उठाई। जर्मन एक ऐसा राष्ट्र था जिसने रेल युग के प्रारम्भिक वर्षो मे ही जलमार्गों की महत्ता को समझ लिया था। सन् १८७५ और सन् १६०० के बीच, जबकि वहाँ रेलो के विकास के प्रति वैसा ही उत्साह था जैसा भारत मे, जर्मन सरकार ने ६६ करोड रुपए की लागत की नदी-विकास तथा कृत्रिम जलमार्गो के निर्माण की योजना कार्यान्वित की। राइन नदी को, जिसमे स्ट्रासबर्ग तक छिछले जल म चलने वाले छोटे धुम्रांकश (Steamer) ही आ-जा सकते थे, ऐसी धारा मे परिणत किया गया *जिससे कोलोन तक ६ फुट गहरे जल मे चलने वाले धुम्रांकश ले जाये जा सकें और* स्ट्रासबर्ग तक ६०० टन के या उससे अधिक वडे धुम्रांकश चल सकते थे। इसी अवधि मे यातायात की वृद्धि की समस्या हल करने के लिए जर्मनी के आन्तरिक जल-परिवहन के साधनो को तिगुना कर दिया गया। सन् १८७० मे १,२५,००,००० टन कोयले के परिवहन की तुलना मे सन् १६०० मे ६,६०,००,००० टन कोयले का परिवहन हुआ। जर्मनी की इस दूरदर्शितापूर्ण नीति का परिणाम यह हुआ कि जो

परिवहन सम्बन्धी अभाव अन्य यूरोपीय जातियों को प्रथम युद्ध काल में अथवा उसके उपरान्त प्रतीत हुआ वह जर्मनी को नही प्रतीत हुआ। जर्मनी की इस नीति ने लोगों की इस धारणा को भ्रांतिपूर्ण सिद्ध कर दिया कि जल-परिवहन और रेलें एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी साधन है। अतएव जर्मनी के प्रयत्नो से दूसरे यूरोपीय राष्ट्रों ने भी सबक सीखा और फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, रूस इत्यादि देशों ने युद्धोपरान्त काल में अपने आन्तरिक जल-मार्गों का यथेष्ट विकास किया। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में भी जल-परिवहन का आश्चर्यजनक पुनरुद्धार हुआ। अब भी उसके ऊपर वहाँ प्रति वर्ष लगभग १३ करोड डालर व्यय किया जाता है।

भारतवर्ष ने द्वितीय विश्व-युद्ध तक भी अपनी इस भूल को नही समझा और उसके दुष्परिणाम हमे युद्ध और युद्धोपरान्त काल मे भुगतने पडे। परिवहन सम्बन्धी अभाव अपनी चरम सीमा को पहुँच गया और आज तक भी रेलें और सडकें मिल कर इस अभाव को दूर करने मे असमर्थ रही हैं। १६४६ मे सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर गया। आन्तरिक जल परिवहन सम्मेलन द्वारा नियुक्त की गई परिवहन जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन (Report) मे जलमार्गों के उपयोग का सुझाव रखा और इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार के उत्तरदायित्व की ओर संकेत किया। उसी समय से भारत सरकार और राज्य की सरकारें अपने सम्मिलित प्रयत्नो द्वारा परिवहन के इस उपेक्षित साधन को पुनर्जीवित करने के लिए पूर्णत: प्रयत्नशील हैं।

अन्य देशो की भाँति हमारे देश ने भी अब जल-परिवहन के महत्व को समझ लिया है। केवल रेलो से देश की परिवहन सम्बन्धी समस्या का पूर्ण हल होना संभव नही है। वस्त्र, खाद्यान्न, कोयला, मिट्टी का तेल तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने की समस्या का हल होना शेष है। कच्चे माल की लगातार एवं समय से प्राप्ति न होने के कारण उद्योग प्राय: ठप्प हो जाते है और उत्पादन कम हो जाता है। देश मे अनेक औद्योगिक योजनाये कार्यान्वित हो रही है, जो हमारी परिवहन समस्या को और भी जटिल एवं कठिन बना रही हैं। बहुत-सा सस्ता कच्चा माल परिवहन के लिए सस्ते भाडे की अपेक्षा करता है; यह रेल अथवा सडक द्वारा लिया जाने वाला उच्च भाडा सहन करने की सामर्थ्य नही रखता। अत: यह देश के विभिन्न भागो में आवश्यकतानुसार नही भेजा जा सकता। ऐसे सस्ते माल के परिवहन का एक मात्र सस्ता साधन आन्तरिक जल-मार्ग हैं। इस तथ्य की सत्यता देश की सरकार पर पूर्णत: प्रकट हो गई है।

देश की विकासोन्मुख नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लिए हमारे आन्तरिक जलमार्गों के अनेक लाभ हो सकते हैं :

(१) उत्तरी-पूर्वी भारत में प्रतिवर्ष बाढ आती रहती है और कभी-कभी कई महीने तक रेल और सडक पथ से यातायात बन्द हो जाता है। ऐसे अवसरो पर जल-मार्गों का उपयोग एक महान् राष्ट्रीय सेवा समझी जाएगी। सभी प्रकार का माल कम अथवा अधिक मात्रा मे ऐसे संकट के समय नदियो द्वारा ढोया जा सकता है।

(२) कलकत्ता से असम को मशीनें, भारी नल अथवा अन्य भारी उपकरण लम्बी यात्रा मे जलमार्ग से सस्ते भाडे पर ले जाए जा सकते है। इसी भाँति असम की मुख्य उपज चाय और जूट सस्ते भाडे पर कलकत्ता को लाई जा सकती है। इसमे कोई सन्देह नही कि लम्बी यात्रा के लिए एक साथ अधिक परिमाण मे जाने वाले माल के लिए जल परिवहन रेल और सड़क दोनो से सस्ता पडता है। भारत की जल परिवहन कम्पनियाँ कलकत्ता से दिवरूगढ (११५०) मील और कलकत्ता से पटना (६२० मील) तक बेडो (Flotilla) द्वारा माल ले जाती है और प्रत्येक बेडे मे १½ बडी रेलगाडियो (B. G) के बराबर और ४ मझली रेलगाडियो के बराबर माल लादा जा सकता है। इन कम्पनियो की ढुलाई एक आने से १½ आना प्रतिटन मील पडती है जबकि मोटर ठेले की ढुलाई ३ से ६ आना प्रति टन मील और रेल की १⅔ आना से ३⅓ आना प्रति टन मील है।

(३) यद्यपि नावो एव धुआँकशो की चाल प्रति मील मोटर और रेल दोनो से कम होता है, किन्तु एक साथ अधिक परिमाण मे जाने वाले माल के नदी से भेजने मे समय की भी बचत होती है, क्योकि बहुत सा माल एक साथ बिना मार्ग मे रुके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। हाल मे ही एक धुआँकश ने ८०० टन माल भर कर कलकत्ता से गोहाटी तक ८४० मील की यात्रा ८ दिन मे पूरी की जो सभवत. सडक और रेल से सभव नही। असम से कलकत्ता तक चाय की पेटियाँ जलमार्ग से ७ दिन मे पहुच जाती हैं, जब कि रेल से उन्हे १५ से २० दिन तक लगते हैं।

(४) रेले और सडके वर्तमान यातायात वृद्धि के अनुरूप नही बढाई जा सकती क्योकि उनके लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता है उतनी पूँजी उपलब्ध नहीं है। द्वितीय योजना म रेलो ने १५०० करोड रुपये मागे थे, किन्तु केवल ६०० क० रु० ही उन्हे दिए गए। जलमार्ग प्राकृतिक है जिनके परिवहन योग्य बनाने के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम पूँजी की आवश्यकता पडती है। द्वितीय योजना के सम्बन्ध मे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपनी बम्बई की बैठक मे स्वीकार किए गए एक प्रस्ताव[1] द्वारा इस तथ्य की ओर पूर्णत सकेत किया था। इस प्रस्ताव की सत्यता स्वीकार करके भारत सरकार ने १६ फरवरी १९५७ को एक विशेषज्ञ समिति की भी स्थापना की थी जिसने जल परिवहन के महत्व पर पूर्णत. विचार किया है।

(५) युद्ध के समय अथवा अन्य राष्ट्रीय सकट के दिनो मे जल परिवहन के लिए उतना भय नही जितना रेल और सडक के लिए। पुल तोड कर रेल और सड़क

---

1. "The programme of development envisaged in the Second Five-Year Plan will cast a heavy burden on all Transport Services more especially on the railways It is necessary, therefore, to explore and utilize all possible methods of transport, such as Waterways and road, to reduce this burded on the Railways"
(Report of the Inland uater Transport Committee, 1959, p. 23)

परिवहन को अव्यवस्थित बनाने में शत्रु को कोई देर नहीं लगती, किन्तु आन्तरिक जल परिवहन को इस भाँति हानि नहीं पहुँचाई जा सकती। अतएव आन्तरिक जल परिवहन का विकास राष्ट्र रक्षा के विचार से भारत के लिए अति वांछनीय है विशेषतः पाकिस्तान की नित प्रति की युद्ध सम्बन्धी धमकियों के कारण।

(६) गत एक शताब्दी से आन्तरिक जल परिवहन की उपेक्षा की गई है; केवल रेल निर्माण पर जोर दिया गया है। आज के नियोजन युग में यह नीति असामयिक है। आज तो सभी परिवहन के साधनों को समान समझना चाहिए और उनके एकसूत्रीय विकास के प्रयत्न करने चाहियें।

अपने देश की प्रकृति ने आन्तरिक जल-परिवहन के इतने साधन प्रदान किए हैं जिनका हम साधारणतः अनुमान भी नहीं लगा सकते। हमारी नदियाँ शाश्वत प्रवाहिनी हैं। वे वालगा, विश्चुला, डेन्यूब अथवा डॉन की भाँति साल के कई महीने बर्फ से आच्छादित नहीं रहतीं। अतएव हमें बर्फ व कुहरा हटाने एवं मिट्टी निकालने के मूल्यवान यन्त्रों की आवश्यकता नहीं। हमारी नदियाँ समतल भूमि से होकर बहती हैं, अतएव हमें उतने जलावरोधों (locks) की भी आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी अन्य देशों को। उत्तरी भारत में गंगा एवं उसकी अनेक सहायक नदियाँ जैसे यमुना, गोमती, गडक, घाघरा, कोसी, सोन इत्यादि मिलकर एक विस्तृत जलमार्ग बनाती हैं। मेघना, ब्रह्मपुत्र, एवं बंगाल, बिहार, उडीसा व असम की अन्य छोटी-छोटी नदियाँ भी इसी भाँति उपयोगी हैं। दक्षिणी भारत में महानदी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती व साबरमती इत्यादि की उपेक्षा की जाती रही है। उनकी ओर थोड़ा ध्यान दिया जाए तो देश का महान उपकार हो सकता है।

सुधार के यत्न

पिछले दो विश्व-व्यापी युद्धों में अन्तर्देशीय जलमार्गों के उपेक्षित किए जाने की हमारी नीति के दुष्परिणाम हमारे सामने आए, जिन्होंने हमारी आँखें खोल दी और हमारी सरकार को इनके विकास के लिए बाध्य किया। अतएव देश के स्वतंत्र होने के समय से ही हमारी रुचि इस ओर जाग्रत हुई। सन् १९४६ से जल-मार्गों के विकास एवं उनके अधिक उपयोगी बनाने के अनेक यत्न किए गए हैं।

(१) **अन्तर्देशीय जल परिवहन सम्मेलन**—द्वितीय युद्ध-काल और उसके उपरान्त के वर्षों में परिवहन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों एवं रुकावटों को दूर करने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने के निमित्त भारत सरकार ने सन् १९४६ में एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने इस सम्बन्ध में एक यातायात सर्वेक्षण समिति (Traffic Survey Committee) नियुक्त की, जिसने आन्तरिक जलमार्गों की उन्नति के निम्न सुझाव दिए :—

(क) कलकत्ता बन्दरगाह पर आयात किए हुए खाद्यान्न का जो भाग बिहार और उत्तर-प्रदेश के लिए नियत किया जाए उसका २५% जल-मार्ग से ले जाना चाहिए;

(ख) कोयले और खनिज तेल के यातायात का एक ग्रश रेलो से लेकर जल-मार्गों के लिए नियत कर देना चाहिए ;

(ग) जल-मार्गों के क्षेत्र मे उद्योगो की स्थापना होनी चाहिए ताकि उन्हें पर्याप्त यातायात उपलब्ध हो सके ।

(२) संवैधानिक पद—भारत के नए संविधान मे राष्ट्रीय जलमार्गो को संघ सूची मे सम्मिलित करके उनके विकास का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर डाल दिया गया । फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय जल एव बिजली ग्रायोग (C. W. P. C.) की स्थापना करनी पडी । ग्रायोग का मुख्य कर्तव्य यातायात का सर्वेक्षण कराना, नए ग्रान्तरिक जल-मार्गो को परिवहन के लिए खोलना, वर्तमान जल-मार्गो का सुधार ग्रौर विस्तार तथा केन्द्रीय एव राज्य-सरकारो की योजनाग्रो मे समन्वय लाना, इत्यादि है ।

(३) विदेशी विशेषज्ञो को ग्रामंत्रित करना—भारत सरकार का एक महत्व-पूर्ण कार्य नौ-परिवहन विशेषज्ञ श्री ग्रॉटो पॉपर (Otto Popper) को निमन्त्रण देना था । एशिया ग्रौर सुदूर पूर्व के लिए नियुक्त मित्रराष्ट्रीय ग्रर्थ-समिति (Economic Commission for Asia and the Far East) की ग्रोर से ग्रान्तरिक जल-मार्गो के विकास के सम्बन्ध मे भारत सरकार को सलाह देने के लिए श्री पॉपर को १६५० मे यहां भेजा गया । उन्होने भारत सरकार को निम्न सुझाव दिए :—

(क) उन सभी देशी नावो को सहकारी इकाइयो मे संगठित कर दिया जाय जो दस टन ग्रथवा उससे ग्रधिक माल ले जाने की क्षमता रखती हैं ;

(ख) उन्हे नदियो मे चलने के निमित्त कोई प्रमाण-पत्र (Certificate) लेना चाहिए ;

(ग) नावो को उथले पानी से ले जाने के योग्य ग्रावश्यक साधन उपस्थित किए जाये ।

उन्होने इस बात पर जोर दिया कि यदि भारत मे जल-मार्ग सुव्यवस्थित रूप मे विकसित किए जाँए ग्रौर उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय तो सिंचाई के लिए उपयोगी होने के ग्रतिरिक्त वे रेलो के समान ही परिवहन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते है ग्रौर माल की ढुलाई का व्यय २ पैसा प्रति टन मील तक उतर सकता है जबकि रेलो द्वारा यह दो ग्राना तक होता है । कालान्तर मे देशी नावो के स्थान पर ग्राधुनिक ढग की नावो का प्रयोग करने से ग्रौर भी ग्रधिक सुधार हो सकता है ।

भारत सरकार ने श्री पॉपर के सुझावो को स्वीकार कर लिया ग्रौर उन्हें कार्यान्वित किया । ग्रप्रैल १६५१ से भारत सरकार ने भारतीय नदियो मे चलने वाली सभी नावो पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से १६१७ के ग्रन्तर्देशीय धुग्रॉं-कश कानून (Inland Steam Vessels Act) मे समुचित सशोधन किए । ग्रब सभी

धुम्रांकशो का पंजीकरण (Registration) अनिवार्य कर दिया गया है। धुम्रांकशों की कोटि मे न आने वाली नावो का भी पजीकरण आवश्यक हो गया है। इस विषय में राज्य की सरकारो को कानून बनाने की आज्ञा दे दी गई है जिसका पालन हो रहा है।

भारत की अनेक नदियाँ जो प्राचीन काल मे नौपरिवहन योग्य थी अब बहुत उथली और नौपरिवहन के लिए सर्वथा अयोग्य हो गई हैं। उन्हे नौपरिवहन योग्य बनाने के दो साधन है। एक यह कि प्रत्येक ऐसी नदी को मिट्टी निकाल कर गहरी करते रहे; दूसरा यह कि ऐसी नावे बनाई जाये जो उथले जल मे चल सकें। प्रथम युक्ति ऐसी है जिसके लिए अनेक मूल्यवान यन्त्रो की आवश्यकता है जिनके लिए बहुत सा धन चाहिए। फिर उन यन्त्रो को चालू रखने के लिए प्रतिवर्ष बहुत सा धन और चाहिए अर्थात् भारत जैसे देश के लिए अभी इनका उपयोग वाछनीय नही। अतएव दूसरी युक्ति का प्रयोग करने का निश्चय किया गया है। इस युक्ति के व्यावहारिक मूल्य को एशिया व सुदूरपूर्व के लिए नियुक्त आर्थिक आयोग (ECAFE) ने भी स्वीकार किया तथा यह सुझाव दिया कि उथले जल में विशेष प्रकार की नावो के चलाने के प्रयोग करके देखे जाये। यदि ये प्रयोग सफल हो तो उसी प्रकार की योजनायें सारे देश की उथली नदियो के लिये बनाई जाये। भारत सरकार ने इस सुझाव को मान लिया और सयुक्त राष्ट्रीय औद्योगिक सहायता प्रशासन (United Nations Technical Assistance Administration) से ऐसे आतरिक जल-परिवहन विशेषज्ञ की सेवा उपलब्ध करने की प्रार्थना की जो इस प्रकार की योजना बना सके। फलतः अक्टूबर १९५२ मे संयुक्त राष्ट्रीय औद्योगिक सहायक प्रशासन (UNTAA) की ओर से नीदरलैंड के श्री जे० जे० सूरी को भारत भेजा गया। उन्होंने केन्द्रीय जल एव बिजली आयोग तथा उत्तरी भारत के कुछ राज्यो की सहायता लेकर गगा और घाघरा मे कुछ प्रयोग किए और अन्त मे यह मत व्यक्त किया कि घाघरा नदी के उथले जल मे कुछ विशेष नावे चल सकती है। तदुपरान्त गगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड ने श्री सूरी की योजनाओ पर विचार करके इस प्रकार की तीन योजनायें बनाई : एक गगा-घाघरा के लिये, दूसरी ब्रह्मपुत्र की सहायक नदियो के लिए और तीसरी ब्रह्मपुत्र के लिए। इन योजनाओ पर कार्य हो रहा है और पर्याप्त सफलता मिली है।

(४) **गंगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड**—असम, प० बंगाल, बिहार एवं उत्तर-प्रदेश की सरकारो द्वारा जलमार्गों की उन्नति सम्बन्धी योजनाओ मे एक-सूत्रीकरण लाने और उन्हे सफल बनाने के विचार से सन् १९५२ मे गंगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड म केन्द्रीय सरकार और उपर्युक्त चारो राज्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। यह बोर्ड उत्तरी भारत के जलमार्गों को उपयोगी बनाने के अनेक यत्न करता है। इसने इन नदियो एवं उनकी सहायक नदियो के उथले पानी मे चलने वाली नावों के तीन प्रयोग किए है; नदियो की गहराई बनाए

रखने के यत्न किये है तथा जनवरी सन् १९५८ से पटना-छपरा मार्ग पर नौ-परिवहन सेवा भी प्रारम्भ की है।

(५) बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाएँ—प्रथम और द्वितीय योजना मे भारत सरकार ने कई बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाएँ चालू की है। ये दीर्घकालीन योजनाएँ है और कई पचवर्षीय योजनाओ के उपरान्त पूर्ण हो सकेगी। इनका उद्देश्य सिंचाई सुविधाएँ बढाना, बिजली उत्पन्न करना, बाढ़-निरोध के यत्न करना एव नौ-परिवहन सुविधाएँ बढाना है। जिन योजनाओ मे नौ-परिवहन सुविधाओ का समावेश है उनमे मुख्य निम्नांकित हैं :—

(क) दामोदर घाटी योजना—इस योजना के अन्तर्गत रानीगज की कोयले की खानो से दुर्गापुर होकर एक नहर कलकत्ता बन्दरगाह तक बनाई जारही है, जो कोयले की खानो मे कलकत्ता तक जलमार्ग बनायेगी।

(ख) हीराकुंड योजना—इस योजना के अन्तर्गत महानदी को मुहाने से ३०० मील ऊपर तक नौ-परिवहन योग्य बनाया जायेगा।

(ग) ककरपार योजना—इस योजना के अन्तर्गत सूरत के निकट समुद्र से ककरपार बाँध तक और ५० मील ऊपर तक नौ-परिवहन मार्ग प्रस्तुत किया जायगा।

(घ) गंगा बाँध योजना—इस योजना के अन्तर्गत गगा के बाँध से भागीरथी नदी तट पर स्थित झाँगीपुर नगर तक एक नौ-परिवहन योग्य नहर बनाई जारही है। इसके बन जाने से कलकत्ता से बिहार और उत्तर-प्रदेश तक सीधा जल-मार्ग बन जायेगा और वर्तमान मार्ग ५०० मील से छोटा हो जायेगा।

(ङ) कोसी योजना—इस योजना के पूर्ण होने पर कोसी और गडक को मिला कर नैपाल की सीमा से गगा तक एक अनवरत जल-मार्ग बन जायेगा।

(च) रिहन्द योजना—इस योजना के अन्तर्गत रिहन्द और सोन नदियो को मिलाकर गगा के उद्गम तक १५० मील नौ-परिवहन योग्य मार्ग बनाया जाएगा।

(छ) घाघरा—घाघरा नदी को गगा के उद्गम से बहरामघाट नक नौ-परिवहन योग्य बनाने का विचार है।

अन्य नदी घाटी योजनाओ मे से नौ-परिवहन उद्देश्य का समावेश कोयना, कृष्णा, चम्बल, भाखरा-नगल इत्यादि योजनाओ मे है।

(६) **बृहत् योजना (Master Plan)**—केन्द्रीय जल तथा बिजली आयोग (Central Water and Power Commission) ने १९५६ मे आतरिक जल-मार्गों के विकास के लिए एक दीर्घकालीन योजना (Master Plan) बनाई थी। इस योजना के अनुसार :—

(१) पश्चिमो तट से पूर्वी तट तक अविरल (Continuous) मार्ग बनाने के

उद्देश्य से गंगा को नर्वदा-ताप्ती से मिलाने के निमित्त आयोग ने निम्न चार योजनाएँ बनाई है :

(क) नर्वदा को सोन की सहायक जोहिला द्वारा सोन से (जो गंगा की सहायक है) मिलाना।

(ख) हीरन और कटनी द्वारा (जो क्रमशः नर्मदा और सोन की सहायक हैं) नर्मदा को सोन से जोड़ना।

(ग) करम नदी द्वारा (जो नर्मदा की सहायक है) नर्मदा को चम्बल से (जो यमुना की सहायक है) जोड़ना।

(घ) केन और हीरन द्वारा (जो क्रमशः यमुना और केन की सहायक है) नर्मदा को यमुना से जोड़ना।

(२) इसी भाँति पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक जलमार्ग बनाने के लिए नर्मदा को गोदावरी से जोड़ा जाएगा ताकि बम्बई, मध्य प्रदेश और आन्ध्र का पृष्ठ-देश जलमार्ग द्वारा मिल जाय।

(३) पूर्वी और पश्चिमी तटो के बीच एक दूसरा जलमार्ग बनाने के विचार से आयोग ने वारधा (जो गोदावरी की सहायक है) द्वारा ताप्ती को गोदावरी से मिलाने का भी सुझाव दिया है।

(४) चौथी योजना द्वारा उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से मिलाने का विचार है अर्थात् कलकत्ता बन्दरगाह से कटक और मद्रास होकर कोचीन तक एक जलमार्ग बन जायगा। इसके लिये सोन और रिहन्द (जो गंगा और सोन की सहायक हैं) तथा हसदो (जो महानदी की सहायक है) नदियो द्वारा गगा को महानदी से जोड़ा जायगा।

(७) आन्तरिक जलपरिवहन समिति—इस योजना पर विचार करने और आन्तरिक जलमार्गों से सम्बन्धित अन्य कार्यक्रम को उठाने के लिये भारत सरकार ने श्री बी० के० गोखले के सभापतित्व मे १६ फर्वरी १९५७ को एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की। इसने जलमार्गों के विकास के अनेक सुझाव दिए। जलमार्गों का वैज्ञानिक वर्गीकरण, प्रशिक्षण सुविधाएँ बढाना, देशी नावो का शीघ्र संगठन करना, नदियो पर उतराई व्यवस्था करना, अन्तर्देशीय बन्दरगाहो का सुधार, उथली नदियो मे चलने योग्य नावो का निर्माण, ५०० करोड रु०से पूँजी व्यवस्था इत्यादि सुझाव मुख्य थे। समिति ने बिजली एवं जल आयोग द्वारा बनाई गई वृहद योजना को ३० वर्ष उपरान्त कार्यान्वित करने का विचार व्यक्त किया।

(८) पंचवर्षीय योजनाएँ—यद्यपि भारत सरकार ने अन्तर्देशीय जलमार्गों के महत्व को स्वीकार कर लिया था, किन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना मे कोई विशेष कार्य-क्रम इस सम्बन्ध मे नही उठाया गया। तो भी विशेषज्ञो की सहायता लेकर विकास

योजनायें बनाने, उनके निमित्त सर्वेक्षण कार्य करने एवं प्रयोगो द्वारा उनकी व्यावहारिकता जाँचने का यत्न किया गया और २६ लाख रुपए इस निमित्त व्यय किये। द्वितीय योजना मे कुछ कार्यक्रम जलमार्गों के विकास का उठाया गया और उसके निमित्त ३ करोड रुपए नियत किए। सन् १६५८ मे योजना कुछ कठिनाइयो मे फँस गई। अतएव यह धन-राशि घटाकर १·४२ करोड रुपए कर दी गई। इस धन-राशि द्वारा नौ-परिवहन योग्य जलमार्गो का सुधार, सर्वेक्षण कार्य, नदी तट के घाटो एवं बन्दरगाहो का सुधार इत्यादि कार्य किये गये। इनमे लगभग ७५ लाख रुपया व्यय हुआ। तृतीय योजना के लिये आन्तरिक जल परिवहन समिति ने ५० करोड की व्यवस्था का सुझाव दिया था। परिवहन मत्रालय ने ४० करोड़ की योजनायें बनाकर योजना आयोग के पास भेजी थी, किन्तु योजना-आयोग ने केवल ६ करोड रुपए की की स्वीकृति दी है। इसके अतिरिक्त राज्य-सरकारो ने १ ५ करोड रुपए अपने साधनो से लगाने का निश्चय किया है। इस भाँति ७-५ करोड रुपए जल-मार्गों पर व्यय किए जायेगे।

केन्द्र और राज्य-सरकारो के सहयोग एवं उक्त प्रयत्नो के द्वारा यह आशा की जाती है कि अन्तर्देशीय जल परिवहन शीघ्र अपने प्राचीन वैभव को प्राप्त करने मे सफल हो सकेगा।

३२.

पोतचालन

(**Shipping**)

पोतचालन का महत्व

पोतचालन परिवहन के प्राचीनतम साधनो मे से एक है और आज भी इसका स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लगभग तीन-चौथाई का परिवहन पोतो द्वारा होता है जिसमे वह सब कच्चे पदार्थ भी सम्मिलित हैं जो आधुनिक उद्योग-धन्धो एवं आधुनिक सभ्यता के आधारभूत प्रतीक समझे जाते है। जलयान की अनुपस्थिति मे विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आधुनिक सभ्यता की हम कल्पना भी नही कर सकते।

महत्काय व्यवसाय और विशेषीकरण आधुनिक सभ्यता के आधारभूत स्तम्भ है। इन दोनो का प्रतिपालन विस्तृत बाजार पर निर्भर है और विस्तृत बाजार का जनक जलयान है। जलयान समुद्रपार के देशो के साथ सम्पर्क स्थापित करके सभ्यता और संस्कृति के प्रसार का साधन बन गया है।

जलयान और व्यापार का ही परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध नही; औद्योगिक विकास भी पोतचालन से सम्बद्ध है। बिना उद्योग-धन्धो के व्यापार का अस्तित्व नही। अतएव किसी भी देश के पोतचालन के विकास के साथ वहाँ का औद्योगिक विकास सम्बद्ध होता है। औद्योगिक विकास का अवश्यम्भावी परिणाम पोतचालन का विकास है, क्योकि देश के उपयोग से बची हुई उपज विदेश भेजनी पडती है।

स्वयं पोतचालन एक मूलभूत उद्योग है जो अनेक उद्योगो को जन्म देता है। जहाज-निर्माण, रंग-रोगन (Paints), लोहा ढलाई, लोहा व इस्पात उद्योग तथा इंजन, लंगर, जजीरे, रस्सियाँ, घडियाँ, निमेषमान (Chronometer), पथ-प्रदर्शक दन्तिचक्र (Steering gear) और अन्य इसी प्रकार के अनेक यन्त्रो व वस्तुओ के बनाने के कार्यालयो को जन्म देता है जो बहुधा जहाज बनाने, उसे सुसज्जित करने अथवा उसके पोषण (maintenance) के लिए आवश्यक होते है।

इगलैंड, फ्रास, हालैंड इत्यादि देशो के औपनिवेशिक साम्राज्यो का उद्भव और विकास केवल जलयान द्वारा ही हुआ है। जलयानो ने ही ब्रिटेन जैसे छोटे-छोटे देशो को ससार के महान् व्यापारिक राष्ट्रो मे परिवर्तित कर दिया है जिसके द्वारा वे अपनी सघन औद्योगिक जनसख्या का पालन-पोषण करने मे समर्थ हो सके हैं। युद्ध-कालीन जहाजी बल ने विश्व के इतिहास मे भारी परिवर्तन कर दिखाए हैं। पिछले विश्वव्यापी भीषण युद्धो मे जहाज का स्थान स्थल सेना, नौ सेना और वायुबल से कम नही रहा।

इन्ही बातो को ध्यान म रखकर प्रत्येक देश अपने यहाँ के पोतचालन व्यवसाय पर निकट दृष्टि रखता है, उसे प्रोत्साहन प्रदान करता है और सरक्षण एव आर्थिक सहायता देता है, और कोई-कोई देश उसके प्रबन्ध और प्रशासन मे भी प्रत्यक्ष भाग लेता है। इन कारणो के अतिरिक्त देश की सरकार के लिए इस उद्योग के प्रति रुचि जागरण का एक कारण यह भी है कि पोतचालन स्वय एक बडा व्यापार है।

पोतचालन का विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक अमरिकन विद्वान् लिखते है कि "विश्व की विभिन्न जातियो मे परस्पर आधारभूत वस्तुओ क विनिमय की भावना अन्तर्राष्ट्रीय पोतचालन का जन्म देती हैं। यात्रियो के आवागमन मे भारी कमी होने पर भी कोई राष्ट्र भयानक परिणामो से बच सकता है, वायुयान, रेडियो व समुद्री तार द्वारा विदेशी डाक व्यवस्था के छिन्न भिन्न होने पर भी जीवित रह सकता, तथा बने हुए माल के सीमान्त व्यापार के बन्द होने पर भी हानि से बच सकता है, किन्तु आधारभूत वस्तुओ के परस्पर आदान-प्रदान के बन्द होने स विश्व के राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था सकटकालीन स्थिति को पहुँच जायगी और जातियो की उन्नति का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध हो जाएगा।" वे इसे सहन नही कर सकते।

आगे यही महानुभाव लिखते हैं कि "सागर-तल पर जलयानो के बिना चले एशिया निवासी अपने दीपको मे अमेरिकन तेल नही जला सकते, न दूरवर्ती देश अमेरिका के गेहूँ का ही उपयोग कर सकते हैं, न यूरोपवासी अपने यहाँ की भूमि मे उतनी गहनता के साथ खेती कर सकते हैं, न अमेरिकावासी इतना सस्ता तथा इतनी अधिक मात्रा म उच्चकोटि का लोहा व इस्पात उत्पन्न कर सकते है, और न ब्रिटेन-निवासियो को न्यूजीलैंड और अर्जनटाइना का ताजा माँस प्राप्त हो सकता है। यह जहाज के द्वारा ही सम्भव है जो कि मूलभूत वस्तुओ को अमित मात्रा मे सस्ते-भाडे पर ले जाता है और इस भाँति माल, मशीन एव मनुष्यो को किसी उद्योग प्रधान स्थान पर केन्द्रीभूत कर देता है। इसी भाँति यह प्रशीतन-पोत (Refrigerator ship) की कृपा के द्वारा ही सम्भव है कि एक क्षेत्र द्वारा उत्पन्न खाद्य पदार्थ विश्व के दैनिक भोज्य पदार्थ का काम देते हैं।"

व्यापार म सतुलन (Balance of Payments) स्थापित करने के दृष्टिकोण से भी पोतचालन का महत्व कम नही है, क्योंकि जहाजी भाडे को बहुधा अदृश्य निर्यात (Invisible exports) की सज्ञा दी जाती है।

अनेक देश जहाजी शक्ति बढाने मे अपनी मान वृद्धि और राष्ट्रीय गौरव समझते है। बीसवी शताब्दी मे राष्ट्रीय पोतचालन का राष्ट्र रक्षा सम्बन्धी महत्व भी बहुत बढ गया है। अनेक देशो ने इस बात को खुल्लमखुल्ला स्वीकार किया है कि उन्होने अपने पोतचालन की उन्नति अन्य बातो के साथ-साथ युद्ध काल के लिए भी की है। इस भाँति आज प्रत्येक सामुद्रिक देश (Maritime country) अपने पोतचालन उद्योग को एक महान् राष्ट्रीय सम्पदा, अपनी राष्ट्रीय नीति का एक शक्तिशाली यंत्र, अपने व्यापार-व्यवसाय वृद्धि का आवश्यक अंग, तथा राष्ट्रीय संकट काल के लिए प्रतिरक्षा (Defence) का द्वितीय बल (Second Line) समझता है।

पोतचालन और राष्ट्रीय नीति

भारत एक महान सामुद्रिक शक्ति है। ३,५०० मील लम्बा हमारा समुद्र तट है। प्राचीन काल मे हमारे इस विस्तृत समुद्र तट पर ऐसे अनेक बन्दरगाह थे जो अब उपेक्षित अवस्था मे है और जहाज ठहरने के सर्वथा अयोग्य हो गए हैं। आज से पाँचसौ वर्ष पूर्व के विजयनगर राज्य मे, जो उस समय सारे दक्षिण भारत में फैला हुआ था, लगभग ८४ मुख्य बन्दरगाह थे जिनका अब नाम भी नही रहा। अब देश मे केवल छः मुख्य बन्दरगाह है जिनसे कि देश के सामुद्रिक व्यापार का एक बड़ा भाग आता जाता है। यह स्थिति देश की नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल नही।

भारत का सामुद्रिक व्यापार भी विशाल एवं विस्तृत है; लगभग ४०० लाख टन माल और दो लाख यात्रियो का प्रतिवर्ष यहाँ आवागमन होता है। हमारे सामुद्रिक व्यापार का वार्षिक मूल्य लगभग १,६०० करोड रुपए है जो विश्व के व्यापार का लगभग १½ प्रतिशत है, किन्तु भारतीय जहाजी बेडा विश्व के जहाजी बेडे का लगभग आधे प्रतिशत के बराबर है। यह स्थिति स्वतन्त्र भारत की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के साथ मेल नही खाती। ब्रिटेन का विदेशी व्यापार विश्व के व्यापार का लगभग १० प्रतिशत है, किन्तु वहाँ का जहाजी बेड़ा विश्व के जहाजी बेड़े के १६ प्रतिशत से भी अधिक है। इसी भाँति सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लगभग १७ प्रतिशत है, किन्तु उसकी जहाजी शक्ति लगभग ३० प्रतिशत है। जापान, जर्मनी और इटली ने भी जिनके जहाजी बेडे द्वितीय विश्व-युद्ध मे लगभग शून्यवत हो गए थे, इस क्षेत्र मे अच्छी उन्नति कर ली है। केवल भारत ही ऐसा राष्ट्र है जो इस सम्बन्ध मे अभी अपने आत्म-गौरव को नही प्राप्त कर सका।

१९४६-४७ मे पोतचालन पुनर्निर्माण नीति निर्धारक समिति (Reconstruction Policy sub-committee on Shipping) ने भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लगभग ५० प्रतिशत भाग भारतीय जहाजो मे ले जाने का लक्ष्य बनाया था। इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए ५ से ७ वर्ष का समय रखा गया था। यह सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के उपरान्त भी हम अपने जहाजों मे अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केवल १० प्रतिशत से भी कम ले जाने मे समर्थ हो सके हैं। ब्रिटेन (४९%), संयुक्त-राष्ट्र

(८ ५%), जापान (७·१%) व नार्वे (५ ७%) इत्यादि देश अभी तक हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक बडे भाग को ले जाते है। इस भाँति अपने उक्त लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अभी हमे लम्बा रास्ता तै करना है। फिर इस आर्थिक परावलम्बन के दुष्परिणाम भयानक निकलते हैं। अपार धनराशि (लगभग १५० करोड रुपए) हमे प्रतिवर्ष विदेशी जहाजी कम्पनियो को जहाजी भाडे के रूप मे देनी पडती है जो हमारे प्रतिकूल व्यापार सतुलन को बढाने मे वही काम करती है जो अग्नि मे आहुति। प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) ने अनुमान लगाया है कि १९५१ और १९५२ मे क्रमश: ४७·२४ लाख टन और ३८·५४ लाख टन खाद्यान्न भारत ने विदेशो से मँगाए। इनका एक बडा भाग विदेशी जहाजो मे आया, भारतीय जहाजो मे केवल ३ ८८ लाख टन और ३·२८ लाख टन खाद्यान्न क्रमश लाए गय। १९५१ मे इस माल के मँगाने म हमे ४० १२ करोड रुपए और १९५२ म ३७·८८ करोड रुपए देने पडे जिसमे से केवल १·६५ और १ ५९ करोड रुपए भारतीय कम्पनियो के हाथ लगे और शेष ३८ ४७ और ३६·२९ करोड रुपए क्रमश विदेशी कम्पनियो को गए। इस अस्वस्थ्य प्रवाह को शीघ्र बन्द करने के लिए हमे अपने जहाजी बेडे का विस्तार करना है।

भारत की भौगोलिक स्थिति भी उसके जहाजी बेडे को समुन्नत बनाने की ओर सकेत करती है। हिन्द महासागर मे भारत की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे भारत की केन्द्रीय स्थिति है। पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम जाने वाले सभी जहाज भारत के निकटवर्ती समुद्रो से होकर जाते हैं। भारत की यह स्थिति व्यापारिक दृष्टि से ही नही, सैनिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत' हमे अपने जहाजी बेडे की वृद्धि की ओर ही ध्यान नही देना, अपनी नौसेना (Navy) के बल को भी बढाना है।

इस समय हमारी व्यापारिक स्थिति अनुकूल नही, सन् १९५९-६० मे हमारा व्यापारिक शेष (Balance of Payment) १८१ करोड रुपए से हमारे प्रतिकूल था। अपने कुल आयात निर्यात पर हमे प्रतिवर्ष लगभग १५० से २२५ करोड रुपए जहाजी भाडे के रूप मे देने पडते हैं। देश की जहाजी स्थिति के सुधार से इसका एक बडा भाग देश मे रह सकता है और देश को आवश्यक विदेशी विनिमय (Foreign exchange) प्राप्त हो सकता है।

भारत ने विदेशी शासन से छुटकारा पाने के उपरान्त आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पैर बढाया है। औद्योगीकरण की अनेक योजनाये बनाई जा चुकी हैं और प्रति दिन नई-नई योजनायें बन रही हैं। यह क्रम वर्ष दो वर्ष नही बीसियो वर्ष तक जारी रहेगा। यद्यपि हमारा प्रमुख ध्येय देश की सदियों की अभावग्रस्त जनता को आवश्यक उपभोग सामग्री उपलब्ध करना है, किन्तु हमें कुछ उपज व माल विदेश भी भेजना आवश्यक है, क्योंकि बिना निर्यात के आयात सम्भव नही और अपनी औद्योगिक योजनाओं की सफलता के लिए हमे अभी कुछ काल तक विदेशो पर निर्भर रहना है। इस उद्देश्य

प्राप्ति के निमित्त हमे अपनी वस्तुओं की खपत के लिए नए-नए बाजार खोजने आवश्यक हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नए बाजारों की खोज राष्ट्रीय पोतचालन उद्योग की उन्नति के बिना सम्भव नहीं अर्थात् पोतचालन नए बाजारों के लिए मार्ग खोलने में भारी सहायता पहुँचाता है। इस तथ्य को राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) ने अपने १९४९-५० के प्रतिवेदन में स्वीकार किया था और पोतचालन के विकास को आधारभूत उद्योगों के समान ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है।[1]

पोतचालन की विशेषताएं

कई बातों में पोतचालन अन्य परिवहन के साधनों से विचित्र है। इसके संगठन और संचालन के मूलाधार बहुधा अलिखित कानून और नियम हैं। कुछ ऐसी व्यावहारिक प्रथायें पड गई हैं जो सर्वमान्य हैं और जिनका पालन सार्वभौमिक हित में आवश्यक है। इन्हीं प्रथाओं (Conventions) से विश्व भर के उद्योग का संगठन और संचालन होता है। परिवहन के इतिहास में पोतचालन अपूर्व स्वतन्त्रता का रसास्वादन करता रहा है। विश्व के जितने उद्योग हैं उन सब में व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग पोतचालन है। इसकी प्राचीन परम्परायें इतनी सजीव एवं शक्तिशाली हैं कि अपने क्षेत्र में वे अनुपम और अद्वितीय हैं।

संभवतः इन प्राचीन प्रथाओं की शक्ति सम्पन्नता का ही परिणाम है कि पोतचालन के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि विहित नियम की आवश्यकता नहीं समझी जाती। समुद्रों और बन्दरगाहों का प्रयोग सार्वभौमिक माना जाता है; इनका द्वार सभी देशों एवं सभी जातियों के जहाजों के लिए सदैव खुला रहता है। इसमें कोई भेदभाव नहीं किया जाता और न कोई बाधा डाली जाती है। इसी कारण इस क्षेत्र में ऐसे व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की आवश्यकता नहीं जिनकी वायुयान, रेल, नदी अथवा रेडियो के क्षेत्रों में आवश्यकता होती है।

---

1. The Fiscal Commission considers shipping as one of the conditions necessary for bringing about the desired changes in Indian's pattern of export trade and states, "Historically the search for new markets has been accompanied by the growth of national shipping, the latter is a substantial aid to the opening up of new markets." The Commission further observes, "The relationship between them, (*i. e.* shipping on the one hand and export and import trade on the other), is indeed, reciprocal, each helps and fosters the other. Shipping engaged in foreign trade constitutes an invisible item of export which, [illegible] to establish equilibrium in a country's balance of paymen[illegible] Also, a merchant marine provides a much needed second line of defence in an emergency. For all these reasons the development of shipping is no less important and urgent than that of basic industries," (*Report, 1949-50, p. 147 and 245*).

अ तर्राष्ट्रीय विषयो मे अनेक वर्षो तक पोतचालन एक आत्मशासित व्यवसाय रहा है। किसी भी देश मे न सरकारी जहाज थे और न उनके सचालन पर कोई सरकारी नियत्रण था। इस उद्योग से सम्बन्धित न कोई अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक (Technical) नियम थे और न कोई श्रम सम्बन्धी विधिवत कानून। केवल प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त इस प्राचीन व्यवस्था मे कुछ परिवर्तन प्रारम्भ हुए और विभिन्न देशो की सरकारो मे इस उद्योग के प्रति रुचि वृद्धि हुई। इस उद्योग को विधिवद् नियमबद्ध करने और सार्वजनिक रक्षा के विचार से अनेक सरकारो ने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओ का सगठित सकलन किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी नियम बनाए। कुछ राष्ट्रो ने जहाजी कम्पनियो मे आर्थिक अधिकार भी प्राप्त कर लिये और कुछ राष्ट्र सारे जहाजो बेडे के स्वय स्वामी बन गए तथा उनके संचालन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक नियमों का १६०६ मे ही आविर्भाव हो चुका था, किन्तु इनका वस्तुत: विकासक्रम १६१२ की प्रबल दुर्घटना (Titanic disaster) के उपरान्त ही प्रारम्भ हुआ। जहाज-निर्माण और पोतसचालन म उस सरकारी हस्तक्षेप के कई कारण थे। सबसे बडा कारण पोतचालन का आधुनिक युद्ध के लिए महत्व है। दूसरा कारण प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त प्रत्येक देश म आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना का जागरण था और अन्तिम कारण १६२६-३० के आर्थिक अवसाद का पोतचालन पर असह्य दुष्प्रभाव था। इस आर्थिक मन्दी से पोतचालन को भारी धक्का पहुँचा और बिना सरकारी सहायता के उसका जीवन सकटापन्न हो गया। अतएव देश की सरकारो को उसकी रक्षा के लिए आगे आना पडा।

पोतचालन ने अपनी स्वच्छन्द स्वतन्त्रता का दुरुपयोग भी किया है और उसे स्वेच्छाचारिता का स्वरूप दे दिया है। अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा जहाजी कम्पनियो ने पारस्परिक प्रतियोगिता को उस चरम सीमा को पहुँचा दिया जो परिवहन के अन्य किसी क्षेत्र मे दुर्लभ है। पोतचालन के इतिहास मे भाप क प्रयोग के उपरान्त भाडा-प्रतिस्पर्द्धा का एक धमासान युद्ध छिड गया और जहाजी कम्पनियाँ एक दूसरे का गला घोटने पर उतारू हो गई। अनेक बार सम्मेलनो (Conferences) और सयुक्त सनिधियो (Pools) द्वारा शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के प्रयत्न किए गए, किन्तु कुछ ही काल मे फिर से प्रतिस्पर्द्धा का युद्ध छिड गया और अन्त मे इस प्रथा के युद्ध ने इस क्षेत्र मे विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया। सन् १६३६ मे यह प्रथा एक प्रकार से स्थायी बन गई। जहाजी कम्पनियो की इस नोक-झोक का विस्तृत विवरण आगे के पृष्ठो मे किया जाएगा। हाँ, यह कहने मे कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि प्रतिस्पर्द्धा, स्वतन्त्रता और स्वशासन पोतचालन के जन्मसिद्ध अधिकार है जिन्हे कोई सरकार अथवा अन्य पार्थिव शक्ति इस उद्योग से नहीं छीन सकती।

पोतचालन के आर्थिक सिद्धान्त

स्थायी पथ—पोतचालन का स्थायी पथ रेल एवं सडक से भिन्न है, समुद्र-पथ

प्राकृतिक होता है जबकि रेल और सड़क पथ कृत्रिम होते हैं। रेल-पथ की भाँति समुद्र पर किसी संस्था अथवा देश विशेष का अधिकार नही होता; वह सभी के लिए सदैव खुला रहता है। प्राकृतिक देन होने के नाते यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समुद्र मे किसी नियत मार्ग से जलयान नही चलते होगे; किन्तु ऐसा नही है। बहकने, डूबने तथा अन्य संकटों से बचने की दृष्टि से समुद्रो मे मार्ग निर्धारित कर लिये गए हैं और उन्ही मार्गों से जहाजो का आवागमन होता है। तो भी इन मार्गों पर किसी कम्पनी अथवा जाति का एकाधिकार अथवा प्रभुत्व नही होता। पनामा, स्वेज, कोरिंथ, कील इत्यादि कुछ कृत्रिम मार्गों पर कुछ जातियो का प्रभुत्व है और वे प्रयोक्ताओं पर कर लगाते हैं, किन्तु उनके प्रयोग के लिए भी सभी के लिए समान नियम बरते जाते हैं; किसी के प्रति कोई पक्षपात नही दिखाया जाता। हाँ, सामान्यत: किसी देश के समुद्र तट से तीन मील की दूरी तक उस देश का आधिपत्य समझा जाता है और उस क्षेत्र मे वह देश तदनुसार प्रतिबन्ध लगा सकता है। केवल आस्ट्रेलिया, पीरू, चिली व ईक्वेडोर ऐसे देश हैं जो अपने समुद्र तट से २०० मील तक अपना प्रभुत्व बतलाते है। इनकी देखा-देखी अन्य देशो मे इस प्रकार के झगड़े उठने लगे हैं।

सामुद्रिक मार्ग चिन्हित होते हैं; जहाँ-तहाँ दीप-स्तम्भ स्थापित किए जाते हैं; और कोयला, अन्न, पानी इत्यादि की सुविधायें की जाती हैं; तो भी इस मार्ग पर रेल की भाँति कोई पटरी अथवा सड़क की भाँति कंकड़ पत्थर बिछाने की आवश्यक्ता नही होती। फलत: इसके निर्माण और पोषण (Maintenance) में रेल अथवा सड़क पथों की अपेक्षा बहुत कम व्यय होता है। इसके नियम भी रेल व सड़क के नियमो से सर्वथा भिन्न होते हैं।

सीमान्त सुविधायें—रेल की भाँति पोत ठहरने व माल उतारने-चढ़ाने के लिए पोतचालन मे न तो स्टेशनो अथवा सीमान्त-सुविधाओ का होना अनिवार्य ही है और न सड़क की भाँति उनके अभाव मे ही काम चल सकता है, तो भी इनके निर्माण व पोषण का भार रेल की भाँति पोत कम्पनी पर नही पड़ता, वरन् पोत अधिकारियों पर पड़ता है जिसके बदले में वे जहाजो से कुछ कर अवश्य लेते हैं।

पोत (Ships)—रेल व सड़क की भाँति विभिन्न उद्देश्य के लिए विभिन्न प्रकार के जहाजो की आवश्यक्ता होती है, किन्तु सड़क की भाँति पोतचालन की प्रत्येक इकाई स्वयं स्वतन्त्र एवं शक्ति सम्पन्न इकाई होती है; रेल की भाँति एक इन्जन के पीछे अनेक डिब्बो का लगाव नही होता। रेल का इन्जन एक समय मे उतने ही डिब्बे ले जाता है जितने की आवश्यक्ता होती है; किन्तु पोतचालन मे माँग के घटने-बढ़ने के साथ-साथ इस प्रकार के परिवर्तन सम्भव नही क्योंकि जहाज एक स्वतन्त्र एवं अविभाजित इकाई होता है। जहाज चाहे पूरा भरा हो, अधूरा भरा हो अथवा पूर्णत: खाली हो, उसे अपनी यात्रा पूरी करनी ही होती है।

व्यय—सरकारी कोषाध्यक्ष की भाँति पोताध्यक्ष को आय से पूर्व व्यय पर ध्यान देना पड़ता है। अमित धन व्यय करके उसे न्यूनतम सेवा के लिए अपने को

सन्नद्ध रखना पडता है। सरकारी अधिकारी व्यय के अनुरूप आय मे घटा-बढी करने मे स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु पोताध्यक्ष को यह स्वतन्त्रता प्राप्त नही। उसे अपनी सेवा के लिए माँग उत्पन्न करनी व बढानी पडती है। पोताध्यक्ष को अपने ग्राहको को ही सन्तुष्ट नही करना पडता, वरन् भागीदारो (Shareholders) की भी रुचि वृद्धि करनी पडती है। इस भाँति पोताध्यक्ष की स्थिति कठिन ही नही अन्धकारपूर्ण होती है, उसे अँधेरे म टटोलना पडता है।

सयुक्त व्यय—रेल उद्योग की भाँति पोतचालन मे भी सयुक्त-व्यय का सिद्धान्त आशिक रूप म लागू होता है, पूर्ण रूप ने नही। पोतचालन मे लागू होने से पूर्व इसके आदर्श स्वरूप मे दो सशोधन आवश्यक समझे जाते हैं। प्रथम सशोधन सेवा की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार करना पडता है और दूसरा माल के सवेष्टन के अनुसार।

जिन उद्योगो मे सयुक्त व्यय का सिद्धान्त अपने मूल रूप मे लागू होता है, उनमें विकल्प (Option) के लिए कोई गु जाइश नही होती। मुख्य वस्तु के उत्पादन के साथ साथ गौण वस्तु का भी उत्पादन अवश्यम्भावी होता है, एक वस्तु के उत्पादन मे घटा-बढी करने के साथ ही अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे भी आनुपातिक घटा-बढी स्वत. हो जाती है। यह उत्पादक की इच्छा पर निर्भर नही है। पोतचालन म यह बात नही। पोताध्यक्ष कुछ सीमा तक अपनी सेवा का इच्छानुसार स्वरूप परिवर्तन कर सकता है। चाहे वह यात्री यातायात (Traffic) की वृद्धि करे और चाहे माल यातायात की। माल के क्षेत्र मे भी वह चाहे तो केवल रुई यातायात (यदि वह पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो) ले जाए, चाहे चावल, चाहे कोयला अथवा अन्य माल। इसी भाँति यात्री यातायात के क्षेत्र मे चाहे वह निम्न श्रेणी (Deck) के यात्रियो को सेवा प्रदान करे, चाहे उच्च श्रेणी (Cabin) के यात्रियो को। किन्तु पोताध्यक्ष को इन बातो मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नही, उसकी स्वतन्त्रता विभिन्न प्रकार के यातायात की माग से सीमाबद्ध होती है। यदि किसी एक ही प्रकार के यातायात (माल अथवा यात्रियो) से उसका पूरा जहाज नही भरा जा सकता तो उसे दूसरे प्रकार के यातायात की अपेक्षा करनी पडती है और सेवा के लागत-व्यय को उन सभी यातायात की इकाइयो पर किसी वैज्ञानिक ढङ्ग से नही आनुमानिक दर से बाँटना पडता है। इस भाँति सयुक्त व्यय का सिद्धान्त आशिक रूप मे आ उपस्थित होता है। एक ही प्रकार के यातायात से जहाज पूर्ण भरे जाने के उदाहरण थोडे ही हो सकते हैं।

इस आनुमानिक विभाजन के लिए पोताध्यक्ष को प्रत्येक प्रकार के यातायात की माँग का सहारा लेना पडता है। जिस यातायात की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है उससे अपेक्षाकृत अधिक भाडा लिया जा सकता है और जिसकी सीमान्त

उपयोगिता कम होती है उसने कम । मलाबार तट से जाने वाले मसालों की नारियल की जटाओं की अपेक्षा रंगून में सीमान्त उपयोगिता अधिक है। अतएव मसालों का भाड़ा भी जटाओं की अपेक्षा अधिक लिया जाता है। इसी भांति कलकत्ते से जाने वाले कोयले की सीमान्त उपयोगिता जापान की अपेक्षा कोरिया में अधिक है। अतः उसी के अनुरूप दोनों स्थानों के जहाजी भाड़े में भी अन्तर है।

एक ही उद्गम से उदय होने वाली दो या अधिक वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता भिन्न होने के कारण उनका मूल्य भिन्न होता है तथा उन्हें बिक्री के योग्य बनाने के लिए उन पर कुछ अलग व्यय भी करने पड़ते हैं। इस प्रकार संयुक्त व्यय का सिद्धांत अंशतः संशोधित हो जाता है। ऐसे ही एक संशोधन की ओर संवेष्टन भिन्न होने के कारण जहाजी भाड़ों के भिन्न होने की क्रिया संकेत करती है।

विशाल संगठन (Large Scale Organisation)—स्वभावतः पोतचालन एक विशाल संघठन है। अतएव अनेक आधुनिक उद्योगों की भाँति सामान्य परिस्थितियों में उसमें उत्पादन वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) का लागू होना स्वाभाविक है। एक सीमा को लाँघ कर इस उद्योग में एक ऐसी स्थिति आती है जबकि यातायात की मात्रा में वृद्धि होने से संचालन-व्यय में उसी अनुपात से वृद्धि नहीं होती, वरन् कुछ कम होती है। इस सीमा पर पहुँचकर यातायात का प्रत्येक नया टन संचालन व्यय में अपेक्षाकृत कम वृद्धि करता है अर्थात् यातायात की वृद्धि के अनुपात से संचालन-व्यय में वृद्धि नहीं होती। श्री साराभाई नेमचन्द हाजी ने रंगून व बम्बई के बीच चावल के व्यापार का उदाहरण लेकर इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण आँकड़े उपस्थित किये हैं। उनके कथनानुसार इस व्यापार के लिए ७,४०० टन Dead weight का जलयान जिसकी चावल ले जाने की क्षमता लगभग ६७०० टन होती है (शेष ७०० टन का स्थान कोयला, तेल, पानी व अन्य सामग्री से घिर जाता है) उपयुक्त समझा जाता है। माल लादने, ले जाने, उसे उतारने एवं जहाज को रंगून लौटने का कुल व्यय ८०,००० रुपये तथा जहाजी भाड़ा १६ रुपए प्रति टन मान कर यह अनुमान लगाया है कि ६००० टन माल (Cargo) कुल व्यय लगातार उचित लाभ देने के लिए पर्याप्त समझा जाता है तथा इस निम्नतम सीमा से अधिक जितना भी माल मिल सकेगा वह ढुलाई व्यय को प्रति टन पीछे कम करने में सहायक होगा और विशेषतः उन व्ययों को जो स्थायी रहते हैं अर्थात् देख-रेख (मजदूरी, सामग्री (Stores), खाद्य पदार्थ, मरम्मत इत्यादि) बीमा, प्रबन्ध-व्यय, कोयला, बन्दरगाह के कर तथा विविध व्यय इत्यादि। जलयान में लगी हुई पूँजी ११ लाख रुपये और १० वार्षिक यात्रायें मान कर वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि १३·६ प्रतिशत का वार्षिक लाभ जहाजी कम्पनी के लिए उचित लाभ कहा जा सकता है तथा इसके आगे प्रति १०० टन माल की वृद्धि से कम्पनी के लाभ में लगभग १·३ प्रतिशत की वृद्धि होती चली जायगी जैसा कि नीचे के आँकड़े बतलाते हैं :—

माल की मात्रा (टनो मे)	लाभ की मात्रा (रुपयो मे)	(११ लाख रु० पूँजी पर लाभ का प्रतिशत	प्रतिशत लाभ वृद्धि
६,०००	१६,०००	१३.६	—
६,१००	१७,६००	१५.३	१.४
६,२००	१६,२००	१६.७	१.४
६,३००	२०,८००	१८.१	१.४
६,४००	२२,४००	१६.४	१.३
६,५००	२४,०००	२०.६	१.५
६,६००	२५,६००	२२.१	१.२
६,७००	२७,२००	२३.६	१.५

इन आँकडो से ज्ञात होता है कि माल की मात्रा मे लगभग ·०१६ (१/६०) प्रतिशत वृद्धि होने पर लाभ मे लगभग १·४ प्रतिशत वृद्धि होती है, अर्थात् लागत व्यय उस अनुपात से नही बढता जिस अनुपात से माल और आय बढती है। अतएव लाभ की मात्रा हर बार अधिक होती चली जाती है।

इसके विपरीत परिस्थितियो मे पोतचालन मे उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) भी इसी प्रकार लागू होता है। जब यातायात कम होने लगता है तो सभी व्ययो मे कमी होना आवश्यक नही है; अनेक स्थायी व्यय ज्यो के त्यो बने रहते हैं या उनमे अपेक्षाकृत बहुत कम कमी होती है। परिणाम यह होता है कि लाभ की मात्रा उसी तेजी से कम होने लगती है (अर्थात् व्यय बढने लगता है) जिस तेजी से माल बढने पर उसमे वृद्धि होती है। *यदि व्यापार कुछ समय तक इसी* भाँति शिथिल रहता है तो जहाजी कम्पनी अपना काम तुरन्त बन्द नही कर देती, क्योकि उसे निरन्तर सेवा प्रदान करने, अपने पूर्व समझौतो इत्यादि को निभाने एवं अन्य प्रकार के उत्तरदायित्व ऐसा करने के लिए बाध्य करते है। ऐसी स्थिति मे उसे लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है जैसा कि नीचे के आँकडे स्पष्ट करते हैं :—

माल (टन)	हानि (रु०)
५,०००	—
४,६००	१,६००
४,८००	३,२००
४,७००	४,८००
—	—
—	—
३,७५०	२,०००

यह स्पष्ट है कि माल की मात्रा की अपेक्षा हानि की मात्रा अधिक अनुपात से बढती है।

उत्पादन ह्रास नियम का प्रभाव माल की मात्रा स्थायी होने और भाड़े की दर मे कमी होने से भी भली-भाँति समझा जा सकता है। नीचे की तालिका इस तथ्य की ओर संकेत करती है—

भाडा (प्रति टन)	५००० टन माल ले जाने पर हानि रु०
१६	—
१५	५,०००
१४	१०,०००
१३	१५,०००
१२	२०,०००

भाडे मे एक रुपए प्रतिटन कमी होने पर हानि मे प्रतिबार ५००० रु० की वृद्धि हो जाती है। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि माल की मात्रा में भी कमी होने लगे और भाडे की दर मे भी तो उत्पादन ह्रास नियम का प्रभाव और भी भयानक होगा।

उत्पादन वृद्धि और उत्पादन ह्रास नियमो का पोतचालन से लगाव देखने के लिए यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि माँग के घटने पर माल बनाने वाले कारखाने माल की मात्रा मे घटा-बढी कर सकते हैं; किन्तु जहाज़ी कम्पनी ऐसा करने मे सर्वथा असमर्थ है। माँग बढने पर कारखाने को दो या तीन पालियो (Shifts) मे चला कर उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है और माँग घटने पर पालियो को घटा कर उत्पादन कम किया जा सकता है, क्योकि ऐसे कारखाने सदैव २४ घण्टे निर्माण कार्य नही करते। इसके विपरीत जो जहाज २४ घण्टे चलता रहता है, उसके लिए यातायात मे घटा-बढी होने पर इस प्रकार का समायोजन सम्भव नही। वह इच्छानुसार अपनी माल ढोने की क्षमता में घटा-बढी नही कर सकता। सामान्यत: अभिवृद्धि (Boom) काल मे सब जहाज घिर जाते है और उनमें इतनी भीड-भाड़ हो जाती है जितनी कारखानो मे कभी भी नही हो सकती। ऐसे समय मे पुराने जहाज भी मिलने दुश्वार हो जाते है। नए जहाजो का निर्माण तुरन्त नही हो सकता, क्योकि जहाज बनने में वर्षों का समय लगता है।[1] ऐसी स्थिति मे उनके भाडे की दरो में भारी वृद्धि हो जाती है।

---

१. कोई भी जहाज निर्माता दो वर्ष से कम में जहाज नही बना सकते। कभी-कभी तीन चार वर्ष में जहाज बन कर तैयार होता है।

३३.

भारतीय पोतचालन का विकास (१)

(Development of Indian Shipping–I)

पोतचालन भारत का प्राचीनतम व्यवसाय है। भारतीय सभ्यता के विकास-क्रम के साथ भारतीय इतिहास मे इस उद्योग का भी विस्तृत विवरण मिलता है। इस उद्योग के प्राचीन वैभव और विकास क्रम का क्रमबद्ध वर्णन डा० राधाकुमुद मुकुर्जी द्वारा लिखित 'भारतीय पोतचालन के इतिहास' (A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times) नामक ग्रथ से मिलता है। इस ग्रन्थ मे देशी व विदेशी प्रमाणो द्वारा वैदिक काल से मुगलकाल तक का क्रमबद्ध इतिहास दिया गया है। ऋग्वेद, बाईबिल, सस्कृत, तामिल, पाली व बङ्गाली साहित्य, रोम, यूनान, मिस्र असीरिया, जापान के विद्वान लेखक, तथा चीनी, यूरोपियन और अन्य विदेशी यात्रियो के यात्रा वर्णन इत्यादि के मुख्य प्रमाण दिए गए हैं। यह ग्रथ बतलाता है[1] कि पूरी तीस शताब्दियो तक भारत की स्थिति पुरानी दुनिया के मध्य मे उसी प्रकार महत्वपूर्ण रही जैसे मनुष्य शरीर में हृदय की और भारत ससार के सामुद्रिक राष्ट्रो मे एक अग्रगामी राष्ट्र और महान् सामुद्रिक शक्ति बना रहा। पीगू काम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो व जापान तक के सुदूर पूर्वी देशो मे उस समय भारतीय उपनिवेश थे। दक्षिणी चीन, मलाया प्रायद्वीप, अरब

1. "For full thirty centuries India stood out as the very heart of the Old World, and maintained her position as one of the foremost maritime countries She had colonies in Pegu, in Combodia, in Java, in Sumatra, in Borneo, and even in the countries of the Farther East as far as Japan. She had trading settlements in Southern China, in Malayan Peninsula, in Arabia, and in all the chief cities of Persia and all over the east coast of Africa She cultivated trade relations not only with the countries of Asia, but also with the whole of the then known world, including the countries under the dominion of the Roman Empire, and both the East and the West became the theatre of Indian commercial activity and gave scope to her naval energy and throbbing international life" (p 4)

व ईरान के सभी मुख्य नगरों व अफ्रीका के सारे पूर्वी तट पर भारत की व्यापारिक बस्तियाँ थी। भारत का व्यापारिक सम्पर्क एशिया के ही नही यूरोप के राज्यो के साथ भी था। उस समय भारत का प्रभाव इतना अधिक था कि इस देश को इतिहासकारो ने "पूर्वी सागरो की रानी" की संज्ञा दी है।[1]

पोत-निर्माण कला मे भी भारतवासी अति प्राचीन काल से चतुर थे। भारत मे यह उद्योग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल मे भी समुन्नत अवस्था में रहा और भारतीय कलाकार ब्रिटिश नौकाधिकरण (British Admiralty) के लिए भी जहाज बनाते रहे। यद्यपि ये जहाज लकडी के बने हुए होते थे, किन्तु उस काल के लोहे के जहाजों से वे कहीं अधिक सुदृढ समझे जाते थे। भारतीय जहाजो का जीवन काल ही अङ्ग्रेजी जहाजो से अधिक नही होता था, उनका मूल्य भी बहुत सस्ता होता था। अतएव ब्रिटेन मे इस प्रकार के आन्दोलन प्रारम्भ हुए कि ब्रिटिश जहाज-निर्माण उद्योग भारी संकट मे था, क्योकि वह भारतीय प्रतियोगिता सहन करने मे असमर्थ था। भारतीय पोत-चालन और पोत-निर्माण उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक अपनी समृद्धावस्था मे रहे। किन्तु कालान्तर मे कई कारणो से हमारे इस विश्व-विख्यात व्यवसाय का ह्रास होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अपने निजी जहाजी बेड़े के साथ आगमन, भारतीय पोतचालन विरोधी अँगरेजो नौपरिवहन सम्बन्धी अनेक कानून (Navigational Laws), भाप के प्रयोग के उपरान्त भारतीय-जहाज निर्माण कला का ह्रास और भारत का विदेशी शासन जिसकी दृष्टि सदैव भारतीय उद्योग-धन्धो की मृत्युशय्या पर अपने व्यापार-व्यवसाय की नीव जमाने की ओर रही इत्यादि कारण इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय है। इन सब कारणों का सम्मिलित प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय पोतचालन उद्योग शनैःशनैः क्षीणकाय होता चला गया और ब्रिटेन के उद्योग ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय व्यापार मे सर्वथा एकाधिकार प्राप्त कर लिया। बहुधा यह कहा जाता है कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे लोहे के जहाज के आगमन से, जब कि जहाज-निर्माण मे लकडी का स्थान लोहे और स्पात ने ले लिया, भारत की जहाज-निर्माण-कला और भारतीय पोतचालन का पतन हुआ, किन्तु यह कथन सर्वथा मिथ्या है। भारतीय पोतचालन और पोत निर्माण कला के पतन का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की भारत विरोधी नीति थी जिसके द्वारा उन्होंने भारतीय जहाजो के ब्रिटेन के समुद्रो मे जाने-आने पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिये थे और साथ ही भारत सरकार को भारतीय जहाजो मे लाए जाने वाले माल

---

1. The early growth of her shipping and ship building coupled with the genius and energy of her merchants, the skill and daring of her seamen, the enterprise of her colonists, and the zeal of her missionaries, secured to India the command of the sea for ages, and helped her to attain and long maintain her proud position as the mistress of the Eastern seas (Radhakumund Mookerji: *A History of Indian Shipping*, 1912, p. 5.)

पर पक्षपातपूर्ण एवं विनाशकारी आयात कर लगाने को बाध्य किया था। ब्रिटेन और भारत की सरकारों की इस विरोधी नीति का परिणाम यह हुआ कि शनैः शनैः हमारा यह समुन्नत उद्योग मृतप्राय हो गया। भारतीय पोतचालन के दुर्दिन से लाभ उठा कर विदेशी उद्योग पनप उठा, देशी उद्योग की चिता पर विदेशी पोतचालन की नींव जमी। भारतीय समुद्रों में विदेशी जहाजों का ताँता लग गया और वे हमारी छाती पर दाल दलने लगे।

सन् १९१९ में जब सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना हुई, भारतीय पोतचालन सर्वथा शून्यवत था और तभी से यह उद्योग साहस के साथ विषम परिस्थितियों का सामना करता हुआ पुनर्जीवन प्राप्त करने के प्रयत्न करता रहा है। भारतीय जहाजी कम्पनियों के इन प्रयत्नों का इतिहास अनवरत युद्ध और महान् त्याग की एक करुण कहानी है, भारतवासियों के लिए यह घोर निराशा की एक दुःखदायी कथा है, क्योंकि भारत सरकार ने उनकी इस उद्योग के प्रसार एवं स्थिरता सम्बन्धी अनेक माँगों पर कभी ध्यान नहीं दिया, वह उन्हें सदैव ठुकराती ही रही। भारत सरकार के लिए यह करुण इतिहास प्रतिज्ञाभंग, अपूर्ण आश्वासनों और उपेक्षित अवसरों का लेखा है। इस दुःखदाई कहानी का संक्षिप्त दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

(क) अवसर उपेक्षा—प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त तक भारतीय पोतचालन को समुन्नत बनाने के अनेक अवसर आए, किन्तु हमारी विदेशी सरकार ने इन अवसरों की जान-बूझ कर उपेक्षा की और उनसे कोई लाभ नहीं उठाया। प्रथम विश्व युद्ध ने हमारे लिए दो प्रकार के अवसर उपस्थित किए। प्रथम यह कि पनडुब्बी-आतंक इतना अधिक था कि यह प्रश्न गम्भीर हो गया था कि क्या ऐसी स्थिति में भारत अपने व्यापार के लिए विदेशी जहाजों पर निर्भर रह सकता था। दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि विश्व के पोतचालन का इतना अधःपतन हो गया था और जहाजों की इतनी कमी हो गई थी कि भारत को अपने जहाजी बेड़े को पुनर्जीवित करने का यह एक स्वर्ण अवसर था। हमारी सरकार ने इस स्वर्ण अवसर से कोई लाभ नहीं उठाया। केवल भारतीय आग्नेयक बोर्ड (Indian Munitions Board) की पोत-निर्माण शाला का स्थापन भर किया और भारत में पोत-निर्माण सम्बन्धी सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए ब्रिटिश नौकाधिकरण (British Admiralty) के एक अधिकारी को यहाँ बुलाया। इस अधिकारी के परामर्श से भारत सरकार इस निर्णय पर पहुँची कि यद्यपि लोहे के जहाज बनाने के लिए अवसर अनुकूल न था, लकड़ी के जहाज युद्धकाल में भी भारत में बनाए जा सकते थे। इस निर्णय के अनुसार भी कार्य किया गया होता और सरकार द्वारा लकड़ी के जहाज बनाने के निमित्त कोई प्रत्यक्ष सहायता और प्रोत्साहन दिया गया होता, तो भारतीय कलाकारों को अपना कौशल दिखाने का कुछ अवसर तो मिल ही जाता। किन्तु भारत सरकार ने केवल कुछ अप्रत्यक्ष सहायता भर प्रदान की। भारत सरकार का यह कार्य नीतिविरोधी और प्रतिज्ञाभंग करने का प्रथम उदाहरण है।

दूसरा अनुकूल अवसर हमारे लिए १९१८ और १९३९ के बीच का समय था जब कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने जहाजी बेड़े को समुन्नत बनाने में संलग्न था। प्रथम महायुद्ध में पूर्णतः सिद्ध हो चुका था कि जलशक्ति ही किसी राष्ट्र के सैनिक बल का मूलाधार है और विजयश्री उन्हीं के गले में जयमाला डालती है जिनका जहाजी बेड़ा समुन्नत एवं जिनका समुद्र बल अजेय हो। अतएव राष्ट्र रक्षा और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी राष्ट्रों ने अपनी सामुद्रिक शक्ति बढाने के भरसक प्रयत्न किए। जिन राष्ट्रों के पास इस से पूर्व अपना कोई जहाजी बेड़ा नहीं था उन्होंने भी उसका निर्माण प्रारम्भ कर दिया और जिनके पास अपना बेड़ा था उन राष्ट्रों ने अनेक प्रकार की आर्थिक और अन्य सहायता प्रदान करके उसे बढाया। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, यूनान, इटली, जापान और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकारों ने अनेक प्रकार की सहायता द्वारा अपने पोतचालन उद्योग को सुविकसित और समुन्नत बनाने के अनेक प्रयत्न किए; बेल्जियम, ब्राजील और चिली इत्यादि राष्ट्रों ने सक्रिय प्रयत्नों द्वारा अपने पोतचालन का विकास किया, तथा क्यूबा, मिस्र, ईरान और स्याम इत्यादि देशों ने अपने यहाँ नया जहाजी बेड़ा स्थापित करने की योजनायें कार्यान्वित की। विभिन्न राष्ट्रों के इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि १९१३ और १९३२ के बीच विश्व के जहाजों की माल ले जाने की क्षमता में ४८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि विश्व के सामुद्रिक व्यापार की मात्रा १९३२ में भी उतनी ही थी जितनी १९१३ में। यद्यपि प्रथम युद्ध पूर्व ब्रिटेन के जहाज विश्व के आधे व्यापार को ले जाते थे अर्थात् ब्रिटेन का जहाजी बेड़ा विश्व में सर्वोपरि था, तो भी १९१४ और १९३१ के बीच ब्रिटेन ने अपने बेड़े में १२·७ प्रतिशत वृद्धि की। संयुक्त राष्ट्र ने अपनी जहाजी शक्ति में ४१५ प्रतिशत, जापान ने १५३ प्रतिशत, इटली ने १३६ प्रतिशत, नीदरलैंड ने १०७ प्रतिशत, नार्वे ने १०५ प्रतिशत और फ्रांस ने ८४ प्रतिशत वृद्धि की।[1] यह वृद्धि अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता (subsidies), ऋण, प्रत्याभूति (guarantee), व्यापारिक सुविधाओं, कानूनों और प्रोत्साहन द्वारा की जा सकी। किसी भी राष्ट्र ने अपनी सामुद्रिक शक्ति बढाने के लिए कोई बात उठा नहीं रखी।

इस विश्वव्यापी चेतना से भारतीय जनता सर्वथा अनभिज्ञ न थी। देश के पोतचालन को समृद्ध बनाने के पक्ष में लोकमत जागृत हो उठा था और १९१८ से ही एक देशव्यापी आन्दोलन चल पडा था। पराधीनता के पिंजडे में जकडी हुई जनता धारासभाओं के प्रस्तावों द्वारा अपनी आवाज उठा रही थी कि भारतीय पोतचालन को भारत के आत्मगौरव और उसके विश्वव्यापी व्यापारिक सम्बन्धों के अनुरूप ही पद प्राप्त होना चाहिए। २४ सितम्बर १९१८, १२ जनवरी १९२२, १५ मार्च १९२२, १६ मार्च १९२२, १९ मार्च १९२६, ९ फरवरी १९२८, ७ सितम्बर १९३२

1. Report of the Reconstruction Policy Sub-Committee on Shipping, 1949, pp. 7-8.

७ मार्च १६३५ और २३ मार्च १६३६ को केन्द्रीय धारासभाओं में प्रस्ताव पारित (Pass) हुए जिन में माँग की गई कि भारत में पोतचालन सम्बन्धी सम्भावनाओं की खोज की जाए, भारतीय पोतचालन की स्थापना के सुझाव दिये जायें, भारत में पोत निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाए; इंजीनियरों के प्रशिक्षण के लिए एक राष्ट्रीय कॉलेज खोला जाए, इस व्यवसाय में अधिकाधिक संख्या में भारतीयों की भरती की जाए; समुद्र तटीय व्यापार केवल भारतीय जहाजों के लिए रक्षित (Reserve) कर दिया जाए, तथा भारतीय वणिक-पोत (Indian Mercantile Marine) का प्रसार किया जाए और उसे सरक्षण प्रदान किया जाए, इत्यादि। लगभग प्रतिवर्ष बजट की बहस के अवसर पर पोतचालन सम्बन्धी ऐसे ही प्रश्न पूछे जाते थे।

भारत सरकार इस विश्वव्यापी प्रगति और राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर से सर्वथा आँखें मीचे रही। न उसने अन्य राष्ट्रों की देखा-देखी स्वयं कोई सक्रिय प्रयत्न किए और न भारतीय जनता को ही किसी प्रकार का अवसर, सहायता अथवा प्रोत्साहन प्रदान किया। जनता की उक्त माँगों को बराबर ठुकराया जाता रहा। इस स्वर्ण अवसर को हमारी सरकार ने खो दिया और भारी उपेक्षा एवं उत्तरदायित्वहीनता का परिचय दिया। इस राष्ट्र विरोधी नीति का परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के समय भी भारत की जहाजी क्षमता विश्व के ०·२४ प्रतिशत के बराबर थी।

द्वितीय विश्व युद्ध ने फिर उसी सिद्धान्त का समर्थन किया कि सामुद्रिक शक्ति ही युद्ध का अजेय अस्त्र और राष्ट्रीय विजयनी देवी है। १६४१ से ही दोनों पक्षों की ओर से इस प्रकार के नारे लगाये जाने लगे कि विजय प्राप्ति के लिए उन्हें अधिकाधिक संख्या में अनेक प्रकार के और नए-नए जहाजों की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्र ने इस अवसर से सबसे अधिक लाभ उठाया और ३५० लाख टन से अधिक के जहाज बनाए, जिसके फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के अन्त में संयुक्त-राष्ट्र विश्व की सबसे बड़ी सामुद्रिक शक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। १६४५ में उसका जहाजी बेड़ा विश्व के बेड़े का ५१ प्रतिशत था, जबकि युद्ध से पूर्व १६३६ में वह केवल १३·६ प्रतिशत था। संयुक्त-राष्ट्र ने घोर सकट काल में इतने जहाज बनाकर मित्र राष्ट्रों का ही महान् उपकार नहीं किया, अपने राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय शक्ति को भी अत्यन्त बढ़ा लिया। इसी प्रकार का सराहनीय कार्य कनाडा और आस्ट्रेलिया ने किया। कनाडा ने दोनों विश्व युद्धों के बीच के समय में एक भी जहाज नहीं बनाया था, किन्तु द्वितीय युद्धकाल में उसने इतने जहाज बनाए (लगभग ३० लाख टन) कि युद्ध के अन्त में उसका विश्व के सामुद्रिक राष्ट्रों में तृतीय स्थान (२·७ प्रतिशत) था। १६३६ में आस्ट्रेलिया में भी जहाज-निर्माण का नाम तक नहीं था। आस्ट्रेलिया में इस उद्योग के लिए उपयुक्त साधनों का अभाव होते हुए भी, वहाँ के प्रत्येक राज्य में जहाजों के लगभग सभी आवश्यक अंग-प्रत्यंग युद्धकाल में बनने लगे और आस्ट्रेलिया ने अपनी नौसेना के लिए लगभग २०० जहाज बनाए। इस

भाँति विश्व के कई राष्ट्रों ने युद्ध की प्रगति और सफलता में अपूर्व सहयोग दिया, किन्तु भारत सरकार ने इस अवसर से भी कोई लाभ नहीं उठाया और अपनी पुरानी चाल जारी रखी। हाँ, जहाजों की मरम्मत के लिए अवश्य कुछ अतिरिक्त सुविधायें उपलब्ध की गई जो सागर में एक बूँद के समान थी। १९४३ में भारत के बन्दरगाहों में २२१६ जहाजों की मरम्मत की गई। युद्धकाल में रेलों का कार्य-भार इतना बढ़ गया था जो उन्हें असह्य हो रहा था। कोयला और खाद्यान्न जैसे जीवनोपयोगी पदार्थों के परिवहन के लिए समुद्रतटीय जहाजों पर माँग दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में देश की सरकार का कर्तव्य पोतचालन में आवश्यकतानुसार विस्तार करने का था, किन्तु हमारी सरकार ने इसके सर्वथा विपरीत काम किया। १९४३ के सितम्बर मास में समुद्रतटीय जहाजों पर नियन्त्रण लगा दिया। फ्रांस, चीन, नार्वे इत्यादि राष्ट्रों ने अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए अमेरिका से जहाज मोल लिए। यहाँ तक कि ब्रिटेन ने भी, जिसकी जहाज निर्माण क्षमता अपार थी, अमेरिका से जहाज मोल अथवा भाड़े पर मँगाए क्योंकि उन्हें अपने देश की सेवा श्रेयस्कर थी। किन्तु भारत सरकार ने, यह जान कर भी कि देश में लाखों की जानें केवल इसलिए जा रही थीं कि देश जहाजों के अभाव में विदेशों से खाद्यान्न मँगाने में असमर्थ था, न तो देश में जहाज बनाए या बनवाए, न विदेश से मोल अथवा भाड़े .र लिए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रथम युद्धकाल, युद्धों के मध्यकाल, और द्वितीय महायुद्ध काल में जो अनेक स्वर्ण अवसर देश के पोतचालन और पोत-निर्माण उद्योग के पुनरुद्धार के आए, उनकी भारत सरकार ने सर्वथा उपेक्षा की। भारत में राष्ट्रीय सरकार न थी, अतएव भारत राष्ट्रीय पोतचालन से भी सर्वथा वंचित रहा।

(ख) ब्रिटिश पोतचालन को आश्रय (Patronage)—भारतीय समुद्रों में अनेक विदेशी कम्पनियाँ काम करती थीं। इन सब में ब्रिटिश इंडिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी का भारत के समुद्रतटीय व्यापार पर अनेक वर्षों से अबाध अधिकार रहा था। इस कम्पनी ने अपनी साधन सम्पन्नता और निर्दयी भाटक द्वन्द्वयुद्धों (Freight wars) द्वारा एक-एक करके अनेक भारतीय कम्पनियों को यहाँ के समुद्रतटीय व्यापार से मिटा दिया। गत साठ-सत्तर वर्षों में अनेक भारतीय कम्पनियाँ तटीय क्षेत्र में आईं। भारत सरकार ने विदेशी कम्पनी की उक्त अनुचित और राष्ट्र विरोधी प्रतियोगिता के विरुद्ध देशी कम्पनियों को संरक्षण देने के स्थान पर विदेशी कम्पनियों को संरक्षण दिया और सदैव उनका पक्ष लिया। इस भाँति सरकार ने उन्हें देश के आर्थिक हित विरोधी कार्य करने के लिए अनेक बार प्रोत्साहन और बढ़ावा दिया। इस संरक्षण और बढ़ावे के अनेक रूप थे जिनमें से, राजकीय डाक साहाय्य (Royal Mail subsidy), सरकारी और रेल विभाग के माल और यात्रियों को ले जाने का अनन्य अधिकार, यातायात का रेलों और अंग्रेजी पोत कम्पनी में बँटवारा

इत्यादि कुछ उल्लेखनीय ढंग थे जिनके द्वारा भारतीय व्यापारी वर्ग को अधिकार वंचित कर विदेशियों को आश्रय दिया गया और उनका एकाधिकार स्थापित किया गया। इस प्रतिक्रियावादी नीति से भारतीय पोतचालन को कितनी हानि हुई, इसके लिए एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(१) भारतीय कम्पनियों को मूल्यकथन (To quote prices) तक का अधिकार नहीं दिया जाता था। जनता में इसके प्रति भारी असंतोष था। १५ मार्च १९२२ को स्वर्गीय श्री लल्लूभाई सामलदास ने केन्द्रीय राज्य-परिषद् (Council of State) में एक प्रस्ताव रखा जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ कि गवर्नर जनरल सरकारी विभागों को यह आदेश दे कि विदेश से सरकारी और रेल-विभागों के लिए माल लाने के निमित्त भारतीय जहाजी कम्पनियों को मूल्यकथन (Quoting) के अवसर दिए जायें और यदि देशी कम्पनियों के कथित भाड़े विदेशी कम्पनियों के भाड़ों के समान ही हों, तो देशी कम्पनियों को पूर्वाधिकार दिया जाए। जब इस प्रस्ताव पर वाद-विवाद चल रहा था, उसी समय सिंधिया कम्पनी ने ब्रह्मा की रेलों के लिए कोयला ले जाने की आज्ञा माँगी जो उसे नहीं दी गई। राज्य-परिषद् में इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया कि क्या सिंधिया कम्पनी को उक्त अधिकार दिया जायगा। उत्तर मिला कि कोयला ले जाने के सम्बन्ध में आदेश पहले ही दिया जा चुका है; अतः सिंधिया कम्पनी को अधिकार देने का प्रश्न ही अब नहीं उठता।

(२) सारे अन्तरयुद्धकाल (Inter-war period) में ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी डाक ले जाने के सम्बन्ध में भारत सरकार के डाक व तार विभाग से अर्थसाहाय्य (Subsidies) प्राप्त करती रही जो लगभग १५ लाख रुपए प्रति वर्ष थी। अपने एकाधिकार द्वारा कम्पनी भारत सरकार को मनमानी सहायता देने पर बाध्य करती रही जिससे भारत सरकार को भी भारी हानि हुई और देशी कम्पनियाँ अधिकार वंचित रखी गईं। यदि देशी कम्पनियों को डाक ले जाने का अधिकार दिया गया होता तो भारतीय कर दाता पर उतना भार न पड़ा होता जितना विदेशी कम्पनियों के चंगुल में फँसकर सरकार ने डाला। यही नहीं राजकीय डाक विभाग का झण्डा फहराने वाले जहाजों को कुछ और भी विशेषाधिकार दिए जाते थे। उन अधिकारों द्वारा भी यह कम्पनी देशी कम्पनियों को भारी धक्का पहुँचाती थी। एक विशेषाधिकार बन्दरगाह पर पहले जहाज लगाने का था। कभी-कभी देशी कम्पनियों के जहाज कई-कई दिन तक खड़े रहते थे और विदेशी जहाज अपने विशेषाधिकार द्वारा शीघ्र तट पर लग जाते थे। भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों और रेलों का माल ढोने का एकाधिकार तो विदेशी कम्पननियों को मिला हुआ ही था। १९३५ में भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को यह आदेश भी दिया कि वे अपने आधीन स्थानीय संस्थाओं (नगर पालिकाओं इत्यादि) से यह आग्रह करें कि वे अपना माल और वस्तुएँ साम्राज्य के जहाजों (Empire vessels) में ही मँगाया करें।

(३) सरकारी कर्मचारियों के लिए विदेशी जहाजों द्वारा ही विदेश जाने की

आज्ञा थी। यह विदेशी कम्पनियों के लिये लगभग ५५ लाख रुपये की वार्षिक आर्थिक सहायता के समान था। यहाँ तक कि जिन गैर-सरकारी व्यक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे भाग लेने के लिए देशी जहाजों मे यात्रा की, उन्हे दण्ड तक दिया गया। एक प्रकार से सभी यात्रियों के लिए यह अनिवार्य सा था कि वे अंग्रेजी जहाजों से ही यात्रा करें।

(४) कभी-कभी बन्दर अधिकारी भी विदेशियों के साथ मिलकर भारतीय कम्पनियों को भारी हानि पहुँचाते थे। भारतीय जहाजो के लिए निर्धारत स्थान पर विदेशी जहाज रुकने की आज्ञा दे दी जाती थी और वे यात्री जो देशी जहाजों से जाने की टिकट ले चुकते थे, उन्हे विदेशी जहाज ले जाते थे। बंगाल स्टीम नैवीगेशन कम्पनी (भारतीय) को इस युक्ति द्वारा असह्य हानि पहुँचाई गई।

(ग) भाटक-द्वन्द्व (Rate wars)—अन्तर युद्धकाल मे भारतीय कम्पनियों को अंग्रेज कम्पनियों से भारी टक्करें लेनी पडी। भाडे घटाकर विदेशी कम्पनियों ने कई सुदृढ आर्थिक स्थिति वाली और सुशासित देशी कम्पनियों के प्राण हर लिए। बिना पोत-सम्मेलन (Shipping Conference) में सम्मिलित हुए कोई कम्पनी सुरक्षित नही समझी जाती थी और सम्मेलन मे प्रविष्ट होने के उपरान्त भी नवागन्तुक को अपने प्रबल साझीदार का लोहा मानना पडता था। ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन (B. I S. N.) और पैनुन्सुला एण्ड ओरियट (P. & O.) कम्पनियां सब से शक्तिशाली थी और इन्ही से बहुधा भारतीय कम्पनियों को टक्कर लेनी पड़ती थी।

१६२० मे रंगून बम्बई मार्ग पर चावल ले जाने का भाड़ा १८ रुपए प्रति टन था; जब कि सचालन व्यय इस मार्ग पर लगभग १४ रुपए प्रति टन पडता था। इस समय सिंधिया कम्पनी ने अपने कुछ नए जहाज इस मार्ग पर चलाने प्रारम्भ किए। सिंधिया कम्पनी के जहाजो के आते ही ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी ने भाड़ा सम्बन्धी द्वन्द्वयुद्ध प्रारम्भ कर दिया और इस मार्ग पर चावल का भाडा १८ रुपए से घटा कर ६ रुपए प्रति टन कर दिया। इस द्वन्द्वयुद्ध के कारण सिंधिया को भारी हानि उठानी पडी और कम्पनी के भागीदारों (Shareholders) मे असन्तोष फैल गया। संकट ग्रसित देख कर विदेशी कम्पनियों के सभापति की ओर से सिंधिया को मोल लेने के प्रस्ताव रखे गए जिन्हे सिंधिया कम्पनी ने केवल राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ठुकरा दिया।

भारत से चीन को अमित मात्रा मे सूत जाता था, भारतीय व्यापारी वर्ग के लिए यह व्यापार अत्यन्त लाभदायक था। पैनुन्सुला एण्ड ओरियट (P. & O.) कम्पनी ने सूत का भाडा २५० से ३०० प्रतिशत तक बढा दिया। इस भाड़े वृद्धि से भारत का सूत का व्यापार संकट मे पड गया। श्री जमशेदजी नसरवान जी ताता को यह सह्य न था। उन्होंने उचित भाडे पर सूत ले जाने के निमित्त कुछ जहाज पट्टे (Chartered) पर ले लिए और भारत-चीन मार्ग पर चालू कर दिए। विदेशी

कम्पनी को यह बात खटकी और उसने ताता के विरुद्ध भाडा-द्वन्द्व प्रारम्भ कर दिया। विदेशी कम्पनी ने अपना भाडा १६ रु० टन से घटा कर १ रु० टन कर दिया। भारतीय कम्पनी इस प्रतियोगिता को सहने मे असमर्थ रही। इस कम्पनी के हटते ही विदेशी कम्पनी ने भाडे की दर बढा कर १७ रु० टन कर दी और द्वन्द्व-काल की हानि को पूरा कर लिया।

१९०५ मे बंगाल स्टीम नैवीगेशन कम्पनी ने चिटगाँव-रंगून मार्ग पर अपने जहाज चलाने प्रारम्भ किए। इस भारतीय कम्पनी के क्षेत्र मे आते ही ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी ने निम्न श्रेणी के यात्रियो के किराए की दर १२ रु० से ६ रु० और भाडे की दर १४ रु० से ४ रु० प्रति मन कर दी। जो लोग ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी को पसन्द करते थे उन्हे मिठाइयाँ और रूमाल मुफ्त दिए जाते थे। तो भी पाँच वर्ष तक भारतीय कम्पनी इस द्वन्द्वयुद्ध मे वीरतापूर्वक भाग लेती रही। १९१० मे उस कम्पनी का सर्वथा अन्त हो गया। इस कम्पनी की मृत्यु के उपरान्त तुरन्त ही ब्रिटिश कम्पनी ने किराए की दर बढा कर १४ रुपये कर दी और अपनी पिछली हानि पूरी कर ली।

एक बार बम्बई से तूतीकोरन बन्दर तक भाडे की दर १२ आने से घटा कर ३ आना प्रति बोरा कर दी थी जिसके फलस्वरूप पश्चिमी तट की चार छोटी-छोटी कम्पनियो म से एक का अन्त हो गया था।[1] १९३४ मे एशियाटिक (ब्रिटिश) कम्पनी ने चावल का भाडा १४ रुपए से ८ आने प्रति टन कर दिया था। १९३७ मे सिंधिया कम्पनी ने हज यातायात के क्षेत्र मे मुगल लाइन[2] से टक्कर लेने का साहस किया, किन्तु भारी प्रतियोगिता के कारण उन्हे शीघ्र ही वहाँ से हटना पडा। इसी प्रकार के अगणित उदाहरण दिए जा सकते हैं।

एक विशेष युक्ति और प्रयुक्त की जाती थी जिसके द्वारा विदेशी कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियो को नीचा दिखाने मे सफल होती थी। यह आस्थगित फिरौती सिद्धान्त (Deferred Rebate System) था। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया गया है। भारतीय समुद्रतट पर चलने वाले अधिकतर जहाज ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी के थे। अत वह इस युक्ति के द्वारा किसी भी नई भारतीय कम्पनी को यातायात उपलब्धि से वंचित रखने में समर्थ थी।

इस द्वन्द्व युद्ध के परिणाम भारतीय पोतचालन के लिए घातक होते थे। अप्रैल १९२७ तक अकेले बम्बई नगर मे ३२ भारतीय कम्पनियाँ बनी, किन्तु चार को छोड कर सब की सब विलीन हो गई।

---

1. The Eastern Navigation Co The Malabar Steamship Companies, The Merchant Steam Navigation Co, and the National Steamship Companies, the last one had disappeared
2. A subsidiary to British India Steam Navigation Co.

(घ) भारत सरकार की प्रतिज्ञा भंजक और उदासीनतापूर्ण नीति— जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त से ही भारतवासी एक स्वर से भारतीय पोतचालन के संरक्षण की माँग उपस्थित कर रहे थे। भारतीय पोतचालन शीघ्र से शीघ्र अपने खोए प्राचीन वैभव को प्राप्त करे, यह सभी लोगों की अभिलाषा थी। इस माँग को व्यक्त करने के निमित्त देश में एक आन्दोलन चल पड़ा था। भारत सरकार इस सार्वजनिक माँग और देश-व्यापी आन्दोलन की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अतएव ३ फरवरी १९२३ को भारत सरकार ने भारतीय वणिक-पोत समिति (Indian Mercantile Marine Committee) की नियुक्ति की। इस समिति से आग्रह किया गया कि भारतीय वणिव-पोत की समृद्धि और भारतवासियों के सामुद्रिक प्रशिक्षण के लिए क्या-क्या युक्तियाँ काम में लाई जा सकती हैं और क्या-क्या सुविधायें सम्भव हैं। इस समिति ने मार्च १९२४ में अपना प्रतिवेदन सरकार के पास भेजा जिसमें उन्होंने निम्नांकित सुझाव दिए—

(१) भारतीय जहाजों के लिए भारत के समुद्रतटीय व्यापार का लाइसेंस (Licences) द्वारा पूर्ण रक्षण (Reservation);

(२) समुद्रतट पर कार्य करने वाली एक बड़ी अंगरेजी कम्पनी को भारत सरकार हथिया ले और कालान्तर में उसे भारतीय पोत चालकों को बेच दे;

(३) डाक सम्बन्धी अर्थ साहाय्य (Mail subsidies) के निमित्त सस्ता निविदा (most economical tender) स्वीकार करने का सिद्धान्त अपनाया जाए;

(४) एक प्रशिक्षण-पोत (Training ship) की स्थापना की जाय जहाँ भारतीय नौ सेना के अधिकारी और कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण पा सकें।

(५) भारतीय जहाजों की तटीय और सामुद्रिक व्यापार दोनों के लिए अध्युपकार (bounty), डाक संविदा (mail contracts) एवं सरकारी सामग्री (Government stores) द्वारा सहायता की जाय।

समिति के इन सुझावों में भारतीय जनता की माँगें पूर्णतः व्यक्त की गई थी और समिति का निर्णय सोलह आना लोकमत के अनुरूप था और यदि भारत सरकार की नीयत समिति के नियुक्त करते समय ठीक थी, तो उसे समिति के सुझावों के अनुसार तुरन्त कार्य करना चाहिए था। किन्तु सत्य बात कुछ और ही थी। कई वर्ष तो समिति के सुझावों पर विचार करने में लगे और तब भी भारत सरकार ने समिति के केवल एक सुझाव को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। अन्य सब सुझावों को ठुकरा दिया। समुद्रतटीय व्यापार को भारतवासियों के लिए रक्षित करने की सब से आवश्यक व उचित माँग पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

१९२७ में प्रशिक्षण पोत डफरिन (Training ship "Dufferin)" की स्थापना अवश्य की गई। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि अन्ततोगत्वा भारतीय जहाजों का संचालन और प्रबन्ध सर्वथा भारतीय इञ्जीनियरों और अधिकारियों द्वारा होने लगे। समिति के सुझावों के अनुसार प्रशिक्षित भारतवासियों को अधिकाधिक

सख्या मे जहाजो पर नियुक्त करना चाहिए था। देशी कम्पनियाँ इसके अनुरूप कार्य करने लगी किन्तु विदेशी कम्पनियाँ कोई सहयोगी भावना न दिखा सकी। १९४१ तक सिन्धिया कम्पनी ने डफरिन के प्रशिक्षित लोगो मे से ४० को नौकरी मे लिया जब कि पी० एण्ड ओ० (P. & O), कम्पनी ने केवल ४ को। भारत सरकार विदेशियो की इन चालो को उदासीन भाव से देखती और सहन करती रही। वस्तुतः उन्हे राजद्रोह का दोषी ठहरा कर दण्ड दिया जाना चाहिए था।

साराभाई नेमीचन्द हाजी का बिल—यद्यपि भारत सरकार भारतीय पोतचालन की ओर से सर्वथा उदासीन थी, भारतीय जनता का उत्साह किसी भाँति कम नही हुआ। ६ फर्वरी १९२८ को श्री साराभाई नेमीचन्द हाजी ने केन्द्रीय विधानसभा (Legislative Assembly) मे एक बिल रखा जिसका मन्तव्य भारतीय तटवर्ती व्यापार को भारतीय जहाजो के लिए रक्षित (Reserve) करने का था। सरकारी वक्ताओ ने इस बिल का भारी विरोध किया। उन्होने जातीय भेदभाव और अधिकारहरण सम्बन्धी तर्क उपस्थित किए और बिल को ब्रह्मावासियो और प्रवासी भारतीयो के लिए अनुचित बतलाया। सरकारी वक्ताओ के तर्कों का गैर-सरकारी वक्ताओ ने (जिनमे पंडित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय मुख्य थे) मुँहतोड उत्तर दिया और अन्त मे सितम्बर १९२८ म २५ के बहुमत से बिल स्वीकृत हुआ। तो भी सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करके उसे टालती रही। विधान सभा मे लाने से पूर्व बिल प्रकाशित किया जा चुका था। विधान सभा से निकलने पर उसे प्रवर समिति के सुपुर्द कर दिया गया। सितम्बर १९२९ मे प्रवर समिति के निर्णय के आने पर फिर उसे प्रकाशित किया गया और जनमत माँगा गया।

इसी बीच मे सरकार ने देशी-विदेशी दोनो विरोधी हितो मे पत्र-व्यवहार और सहयोग द्वारा समझौता कराने का निश्चय किया। इस समझौते के निमित्त जनवरी १९३० मे भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन के सभापतित्व मे ब्रिटिश और भारतीय हितो का एक सम्मेलन बुलाया गया। विदेशी हितो के असहयोग के कारण यह सम्मेलन असफल रहा। तब तक देश का राष्ट्रीय आन्दोलन छिड गया और बिल के निर्माता श्री हाजी ने विधान सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। आन्दोलन के फलस्वरूप विधान सभा का भी अन्त हो गया और यह प्रश्न अनन्तकाल के लिए स्थगित हो गया।

भोर-पचाट (Bhore Award)—यद्यपि देशी-विदेशी हितो मे परस्पर सन्धि की वार्ता कई बार असफल हो चुकी थी और सरकार ने भारतीय जनता को इस बात के अनेक आश्वासन दिये थे कि सरकार जनता की भावना के अनुकूल भारतीय पोतचालन की वृद्धि के लिए समझौते के अतिरिक्त और भी प्रयत्न करेगी, किन्तु उसने कभी किया कुछ भी नही। सन् १९२४ मे सिंधिया और ब्रिटिश कम्पनियो मे परस्पर सद्भावना बरतने का समझौता हो चुका था, तो भी विदेशी कम्पनी सिंधिया कम्पनी से बराबर द्वन्द्वयुद्ध करती रही और हमारी सरकार सब सुनती और देखती रही,

उसने कभी इस द्वन्द्वयुद्ध से सिंधिया को बचाने का प्रयत्न नही किया। सरकार अनेक बार यह भी कह चुकी थी कि भारतीय कम्पनियो को भारतीय (तटीय और समुद्री) व्यापार मे उचित भाग अवश्य मिलना चाहिए, किन्तु अपनी इस प्रतिज्ञा को भी उसने सार्थक करके नही दिखाया। यहाँ तक कि १६३३ मे जब कि तत्कालीन वाणिज्य-सदस्य (Commerce Member) सर जोसफ भोर की मध्यस्थता द्वारा सिंधिया और ब्रिटिश इण्डिया कम्पनियो मे जो समझौता हुआ और उसमे सिंधिया कम्पनी को भारत के विदेशी व्यापार मे उचित स्थान नही दिया गया, तो भी सरकार ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही किया और वह भारतीय पोतचालन की असहायावस्था को बैठी-बैठी देखती रही।

त्रिदलीय समझौता (Tripartite Agreement)—सन् १६३४ मे सिंधिया, एशियाटिक और ब्रिटिश इण्डिया कम्पनियो मे परस्पर एक समझौता हुआ जिसके अनुसार तीनो कम्पनिया सहयोगपूर्वक कार्य करने के लिए बाध्य हुईं। इस समझौते के अनुसार सिंधिया कम्पनी को भारतीय समुद्रतट, ब्रह्मा और लंका के व्यापार मे उचित भाग, रंगून-चिटगाँव और रंगून-कारोमण्डल मार्गो पर यात्री ले जाने और एक लाख टन के जहाज रखने का अधिकार मिल गया। १ अप्रैल १६३४ से यह समझौता कार्यान्वित हुआ और १६३६ मे इसका संशोधन होना था। १६३६ के उपरान्त लगभग सात वर्षों तक बार-बार प्रयत्न और प्रार्थना करने पर भी इस समझौते का संशोधन न हुआ और यह प्रश्न युद्ध काल के अन्त तक संदिग्ध स्थिति मे पड़ा रहा।

परस्पर समझौते के प्रयत्न कई बार असफल होने के उपरान्त भी १६३५ मे भारत सरकार ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण उन्ही प्राचीन शब्दो मे किया[1] और भारतीय पोतचालन को न किसी प्रकार का सरक्षण दिया और न किसी प्रकार की सहायता अथवा प्रोत्साहन। वस्तुतः भारत सरकार का कर्तव्य वही होना चाहिए था जो विश्व के अन्य राष्ट्रो का अन्तर युद्धकाल मे रहा। भारतीय पोतचालन की उन्नति और विकास मे सबसे बडी बाधा विदेशी कम्पनियो की अपार शक्ति और उनका एकाधिकार तथा उनकी असहयोग भावना थी। भारत सरकार को इस एकाधिकार, विदेशी पशु-बल और द्वन्द्वयुद्ध से देशी उद्योग को संरक्षण देना चाहिए था और विदेशियो के आस्थगित फिरौती सिद्धान्त (Deferred Rebate System) के अचूक अस्त्र

---

1. Sir Thomas Stewart, who was Commerce Secretary in 1935, *declared Governments policy in the Council of State on 7th March* 1935. He said—

"The Policy to be pursued has been the subject of much thought by the Government of India and after much thought they have come to the conclusion...that the best hope for the sound, economic, strong establishment of an Indian Mercantile marine lay in the development of cooperation and a spirit of mutual accommodation between various interests operating on the coast".

को गैर-कानूनी घोषित करना चाहिए था। अन्य राष्ट्रों की भाँति देशी पोतचालन की समृद्धि के अनेक प्रयत्न करना भी भारत सरकार का आवश्यक और नीतिसंगत कर्तव्य था। किन्तु भारत सरकार ने कोई सक्रिय प्रयत्न भारतीय पोतचालन की समृद्धि के लिए नहीं किया। वह सदैव उदासीनता की नीति बरतती रही और भारत का यह उद्योग पततोन्मुख होता चला गया। युद्ध से पूर्व भारतीय जहाजी बेड़े में १,५०,००० टन का स्थान था, किन्तु युद्ध के अन्त में यह बहुत कम हो गया। १९४६ में हमारे जहाजों की क्षमता केवल १,२७,००० टन थी।

उपर्युक्त अध्ययन भारतीय पोतचालन की मन्द गति और अविकसित अवस्था के कारणों का स्पष्टीकरण है। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी प्रबल हित और उनका एकाधिकार भारतीय पोतचालन की दुर्बलता का मुख्य कारण था किन्तु भारत सरकार की उदासीनता और उसकी ढिलमिल नीति भी देशी पोतचालन की असहायावस्था के लिए कम उत्तरदायी नहीं थी। इस अध्ययन से यह भी भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि हमारे विदेशी स्वामी देशी उद्योग के प्रति उदासीन भाव ही नहीं बरतते थे, अनेक अवसरों पर वे विदेशियों का पक्ष लेकर सक्रिय विरोध तक करने में नहीं हिचकते थे। द्वितीय महायुद्ध में इस नीति का खोखलापन प्रगट हो गया था। अतएव युद्धोपरान्त काल की योजनाओं में उक्त नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखाई दिये, किन्तु इसका कारण सरकारी मनोवृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं था, वरन् परिस्थितियों का अवश्यम्भावी परिणाम था। अब देश की राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे और इसी के साथ देश की औद्योगिक और पोतचालन सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन होने स्वाभाविक थे। सरकार की प्राचीन हठवादिता की नीति अब नहीं चल सकती थी। अगले अध्याय में इसका वर्णन किया जाएगा।

३४.

भारतीय पोतचालन का विकास (२)

(Development of Indian Shipping—II)

परिस्थितियाँ सैनिक और शासन बल से भी प्रबल होती हैं। चौथाई शताब्दी का लोकमत और राष्ट्रीय आन्दोलन जिसे कराने मे असमर्थ रहा, उसे परिस्थितियो ने कुछ ही काल में करा लिया। लगभग २५ वर्ष तक भारत सरकार भारतीय जनमत का अनादर करती हुई भारतीय पोतचालन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता की नीति बरतती रही, किन्तु द्वितीय महायुद्ध काल की परिस्थितियो के प्रबल थपेड़ो ने सरकार को अपनी नीति-परिवर्तन के लिए बाध्य किया। युद्धोपरान्त काल के लिए बनने वाली योजनाओ मे भारत सरकार की मनोवृत्ति और नीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। १६ मार्च १६२६ को सर पी० एस० शिवस्वामी अय्यर के भारतीय वणिकपोत की उन्नति और विकास सम्बन्धी प्रस्ताव पर बोलते हुए तत्कालीन वाणिज्य सदस्य (Commerce Member) सर चार्ल्स इन्स (Sir Charles Innes) ने सरकारी नीति का स्पष्टीकरण इन शब्दो मे किया था—

इसमे सन्देह नही कि "युद्ध के समय अपने लोगो को आवश्यक खाद्य पदार्थ उपलब्ध करने और नौसेना (Navy) के द्वितीय अङ्ग (Second Line) के रूप मे, भारतवासी निजी वणिकपोत की इच्छा करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध मे मैं उन्हें यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि इस देश के लिए ऐसी दूरदर्शिता की कोई आवश्यकता नही, क्योंकि सामुद्रिक युद्ध से भारत की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश नौसेना सदैव प्रस्तुत रहती है और भारतवासी विश्वासपूर्वक उस पर निर्भर रह सकते हैं।"

इसके विपरीत, १६४५ मे प्रकाशित पुनर्निर्माण नियोजन सम्बन्धी द्वितीय प्रतिवेदन (Report) मे, 'युद्धोपरान्त कालीन पोतचालन नीति' निम्न शब्दों मे घोषित की गई :—

"विशाल आकार, विस्तृत समुद्रतट, एवं विश्व के मुख्य सामुद्रिक मार्ग पर महत्वपूर्ण स्थिति वाले इस देश मे गहरे समुद्रों मे चलने वाले जहाजों की क्षोभजनक

कमी है"……"युद्धकालीन परिस्थितियों ने भारत की इस वेधनीय स्थिति का भेद खोल दिया है, किन्तु युद्ध से भी अधिक अपने निजी जहाजों में खाद्यसामग्री लाने की भारत की असमर्थता ने इस स्थिति का भेद खोला है। युद्धोपरान्त कालीन नीति का प्रमुख उद्देश्य इस कमी को पूरा करने का होना चाहिए और यह न केवल व्यापारिक कारणों से वरन् इस कारण भी कि नौसेना का विकास देश के वणिकपोत के विकास से सर्वथा सम्बद्ध होता है।"

पोतचालन-पुनर्निर्माण नीति समिति

परिवर्तित परिस्थितियों में परिवर्तित नीति के अनुसार भारतीय पोतचालन के विकास के लिए पहला पग १९४४ में उठाया गया जबकि पोतचालन पुनर्निर्माण-नीति-समिति (Reconstruction Policy Committee on Shipping) की नियुक्ति की गई। तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री सर अजीजुलहक़ को इस समिति के सभापति का पद दिया गया। इस समिति ने भारतीय पोतचालन और भारतीय नौसेना की और उसके भारतीय स्वरूप की रूपरेखा निर्धारित की। तदुपरान्त नवम्बर १९४५ में सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर के सभापतित्व में पोतचालन पुनर्निर्माण नीति उपसमिति (Reconstruction Policy Sub-committee on Shipping) नियुक्त की गई। इसका उद्देश्य भारत के पोतचालन के भावी विकास के लिए सुझाव देने और अपनी आवश्यकतानुसार इस विकास की सीमा निर्धारित करने का था। इस उपसमिति का निर्णय २ अप्रैल १९४७ में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने निम्न सुझाव दिए :—

(१) भारतीय व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए देश को २० लाख टन के जहाजों की आवश्यकता है और इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमें अपने पोतचालन की उन्नति के लिए अग्रसर होना चाहिए,

(२) भारत के कुल तटवर्ती व्यापार को भारतीय जहाजों के लिए रक्षित (Reserve) कर देना चाहिए और सामुद्रिक (विदेशी) व्यापार में भी भारतीय जहाजों को उपयुक्त भाग मिलना चाहिए;

(३) आगामी पाँच अथवा सात वर्ष में भारतीय पोतों के लिए

(क) भारतीय तटवर्ती व्यापार में शत प्रतिशत,

(ख) निकटवर्ती पड़ौसी देशों जैसे ब्रह्मा, लंका इत्यादि के साथ व्यापार में ७५ प्रतिशत,

(ग) दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार में ५० प्रतिशत, और

(घ) पूर्वी देशों के साथ व्यापार में (जो अब से पूर्व धुरीराष्ट्रों के जहाजों से होता था) ३० प्रतिशत,

भाग प्राप्त करना चाहिए,

(४) देश के विदेशी व्यापार में भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए ;

(५) इन सब सुझावों को पूर्णत: कार्यान्वित करने के निमित्त एक पोतचालन बोर्ड (Shipping Board) की स्थापना की जानी चाहिए जिसे तटीय व्यापार के

लिए जहाजो को लाइसेंस (Licence) देने, सरकारी सहायता का स्वरूप और सीमा निर्धारित करने तथा एकाधिकारी शोषण जनित दोषो को दूर करने का अधिकार मिलना चाहिए। भाड़ा-द्वन्द्व (Rate-cutting) और आस्थगित फिरौती प्रथा (Deferred rebate system) इत्यादि प्रमुख दोषो के नियन्त्रण का भी पूर्ण अधिकार बोर्ड को दिया जाना चाहिए।

समिति ने भारतीय पोतचालन की परिभाषा भी की और उपर्युक्त लक्ष्य प्राप्ति के साधन भी बतलाए। ब्रिटेन की सरकार और जहाजी कम्पनियो से समझौता वार्ता, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका से बचे हुए जहाज मोल लेना और भारत व ब्रिटेन मे जहाज बनवाने इत्यादि साधन मुख्य बतलाए गए।

भारत सरकार ने समिति के उपर्युक्त सुझावो को स्वीकार कर लिया और भारतीय पोतचालन के विकास के लिए समिति के ये सुझाव भारत की भावी नीति और भावी योजनाओ के आधारभूत केन्द्र बिन्दु बन गए। हमारी वर्तमान नीति इसी नीति पर आधारित है और पचवर्षीय योजना मे भी इसी को अपना लिया गया है।

इस नीति को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि ब्रिटेन की सरकार और ब्रिटेन की जहाजी कम्पनियो के साथ समझौता हो। फलत: सेठ वालचन्द हीराचन्द के नेतृत्व मे भारत सरकार ने भारतीय पोतस्वामियों का एक शिष्ट मण्डल (Delegation) जुलाई १९४७ मे लन्दन भेजा और लन्दन मे ब्रिटिश पोतचालक हितो के साथ एक सम्मेलन किया गया। कई कारणो से यह सम्मेलन असफल रहा। अधिकार वंचित जाति से सहयोग की आशा करना हमारी भूल थी।

अब भारत सरकार ने अपने पैरो पर खडे होनेकी सोची। ३ नवम्बर १९४७ को बम्बई मे एक पोतचालन सम्मेलन (Shipping Conference) बुलाया गया इसके सभापति तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री श्री सी० एच० भाभा थे। इसमे भारतीय पोतचालको के भी प्रतिनिधि थे। इस सम्मेलन ने भारतीय पोतचालन की मूल समस्याओ की ओर संकेत करते हुए निर्णय किया कि भारत सरकार इन समस्याओ के हल करने मे पोतचालको को पूर्ण-सहयोग और यथाशक्ति सहायता देगी। ये समस्याये दो थी : (१) जहाजो की कमी तथा (२) योग्य और प्रशिक्षित कर्मचारियो की कमी। इन दोनो कमियो की पूर्ति के लिए सरकार और पोत-स्वामियो ने मिल कर बीडा उठाया और रचनात्मक कार्यक्रम की ओर अग्रसर हुए। इस स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता की भावना से अमित लाभ हुआ है और हमारा पोतचालन उद्योग नित प्रति उन्नति के पथ पर अग्रसर होता चला जा रहा है। विभिन्न क्षेत्रो मे कैसे-कैसे और कितनी-कितनी प्रगति हुई है, यह नीचे के विवरण से ज्ञात होता है।

स्थान विस्तार (Expansion of Tonnage)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १९४६ मे भारतीय बेडे मे १,२७,०८३ टन के ४९ जहाज थे। १ अप्रैल १९५१ को अर्थात् प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे ३,७२,३७८ टन के ९४ जहाज, १ अप्रैल १९५६ को (द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे) ४,७९,८८० टन के १२६ जहाज हो गए। ३१ मार्च १९६१ को हमारे यहाँ

८,५७,८३३ टन के १७२ जहाज थे। तृतीय योजना के अन्त तक १०.९ लाख टन जहाजी क्षमता हो जाने की सम्भावना है। गत दो योजनाओं की अवधि में लगभग १३०% वृद्धि हुई है और तृतीय योजना में २१% वृद्धि और हो जाएगी।

भारतीय पोतचालन की प्रगति (१५० टन और अधिक के जहाज)

वर्ष	तटीय (Coastal)		सामुद्रिक (Overseas)		कुल (Total)	
	संख्या	स्थान (टन) (G. R. T.)	संख्या	स्थान (टन) (G. R. T.)	संख्या	स्थान (टन) (G. R. T.)
१ जनवरी १९४६	—	—	—	—	४९	१,२७,०८३
३१ दिसम्बर १९४८	५९	१,५०,५५८	२४	१,६८,७३५	८३	३,१९,२९३
१ अप्रैल १९५१	७१	२,०५,६९९	२३	१,६६,६७९	९४	३,७२,३७८
१ अप्रैल १९५६	९०	२,३९,९२७	३६	२, ९,९५३	१२६	४,७९,८८०
३१ मार्च १९६१	९७	३,१३,६९४	७५	५,४४ १३९	१७२	८,५७,८३३
३१ मार्च १९६६		—	—	—	—	१०,९०,०००

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भारतीय पोतचालकों को अनेक प्रयत्न करने पड़े हैं। इनमें से मुख्य ये हैं —

(क) भारत में जहाज निर्माण—भारत में छोटे-छोटे जहाज बनाने के कई कारखाने हैं, किन्तु बड़े (८,००० टन और अधिक) जहाज बनाने के कोई कारखाने न थे। १९४१ में विजिगापत्तनम में सिंधिया कम्पनी ने एक ऐसा कारखाना प्रारम्भ किया जो १९४७ में बन कर तैयार हुआ। १९४८ से इस कारखाने में प्रति वर्ष दो जहाज बनने लगे। १९४९ में कई कारणों से इस कारखाने को चलाने में सिंधिया कम्पनी ने असमर्थता प्रगट की। फलत १ मार्च १९५० से उसे भारत सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया और एक कम्पनी बना दी जिसका नाम 'हिंदुस्तान शिपयार्ड, लिमिटेड' रखा गया। इस कारखाने में अब तक २४ समुद्रगामी बड़े जहाज और दो छोटे जहाज बन चुके हैं। इस का विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया गया है।

(ख) तटीय व्यापार से बड़े जहाजों का सामुद्रिक व्यापार में अपवर्तन (Diversion)—साधारणत जितनी ही यात्रा बड़ी होती है उतने ही बड़े जहाज उसके लिए उपयुक्त समझे जाते हैं। भारत के समुद्रतटीय व्यापार में १९५० में १५ ऐसे जहाज थे जो लगभग ७००० टन और अधिक के थे और २० जहाज ऐसे थे जो ६००० टन अथवा अधिक के थे।[1] इन जहाजों को विदेशी व्यापार के लिए लेने और उनके स्थान पर समुद्रतट के लिए छोटे जहाज छोटे छोटे कारखानों में बनाने की नीति उपयुक्त समझी गई। इस नीति से हमारे जहाजी बेड़े का कितना विस्तार हुआ, इसके आँकड़े उपलब्ध नहीं। तो भी इसका कुछ उपयोग अवश्य किया गया है।

1 Kaybee's Indian Shipping Annual 1951, p 122,

(ग) पाल-पोतों का उपयोग (Utilization of Sailing Vessels)—भारत के समुद्रतटीय व्यापार में अनेक पाल-पोतो (Sailing Vessels) का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। द्वितीय महायुद्ध में इनकी सेवा का महत्त्व और भी बढ़ गया। अतएव युद्धोपरान्त काल में इनकी सेवा को सुव्यवस्थित रूप में प्रयोग करने की सरकार को सूझ सूझी। १६४८ में इस प्रश्न पर विचार करने के निमित्त एक समिति नियुक्त की गई जिसने अनुमान लगाया कि देश में लगभग ८०,००० पालपोत (Sailing vessels) हैं जो लगभग १५ लाख टन माल समुद्रतट पर प्रतिवर्ष ले जाते है।[2] इन की माल ले जाने की क्षमता लगभग १६ लाख टन के बताई जाती है।[3] देश के समुद्रतटीय व्यापार के लगभग एक चौथाई पर इनका अधिकार है। किन्तु इन पोतो और पोत-स्वामियों की दशा बड़ी शोचनीय है। इसका मुख्य कारण उनमें सगठन और व्यवस्था का अभाव। अतएव उक्त समिति ने सुझाव रखा कि उनको सेवा का समुचित उपयोग करने के निमित्त उन्हे सुसंगठित अवस्था मे लाया जाये। भारत सरकार ने समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया और अब इन पाल-पोतो के पूर्ण उपयोग के निमित्त उन्हे सुसंगठित करने के प्रयत्न किए जा रहे है। १६५२ मे पोतचालन सामान्य संचालकालय (Directorate General of Shipping) के अन्तर्गत एक विशेष अधिकारी (Officer on Special Duty) की नियुक्ति इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए की गई। साथ ही संगठन कार्य की प्रगति बढ़ाने के निमित्त तीन प्रादेशिक अधिकारी (Regional Officers) और नियुक्त किए गए। इस सम्बन्ध में एक नया कानून भी बनाया गया है। देश के पाल-पोतों के सुसंगठित होने पर समुद्र-तटीय व्यापार की स्थिति बहुत कुछ सुधरने की आशा है।

(घ) विदेशों में जहाजों का निर्माण—युद्धोपरान्त काल मे भारत को केवल इंगलैण्ड मे जहाज बनवाने का अवसर मिला और कई जहाज बनवा कर मँगाए गए। भारतीय कम्पनियाँ अब भी बहुधा इंगलैण्ड में ही आदेश भेजती है। किन्तु गत वर्षों में हालैण्ड, जर्मनी और जापान में भी जहाज-निर्माण के आदेश दिए गए है।

(ङ) पुराने जहाज मोल लेना—नए जहाजों का मूल्य युद्धोपरान्त काल में बहुत बढ़ गया है। अतएव जितने जहाजों की हमें आवश्यकता होती है, वे सब नए नहीं बनवाये जा सकते। कुछ पुराने जहाज भी लिए जाते हैं। अमेरिका ने युद्धकाल मे अनेक 'लिबर्टी' (Liberty) और 'विक्टरी' (Victory) जहाज बनाए थे जिनमें से कुछ तो अमेरिका ने अपने रक्षित बेडे (Reserve Fleet) मे रख लिए और कुछ युद्धोपरान्त काल मे बेच दिए गए। जून १६४६ और मार्च १६४८ के बीच में भार-तीय कम्पनियों ने १५ जहाज अमेरिका के इन जहाजो में से लिए जिनकी क्षमता लगभग १,१०,००० टन थी। १ मार्च १६४८ मे 'लिबर्टी' जहाजों की बिक्री अमेरिका ने बन्द कर दी। ये जहाज अब बहुत पुराने भी हो गए हैं। अतः ये बहुत आकर्षक

2. Report of the Sailing Vessels Committee, 1949, p. 49.
3. Commerce dated 25. 8 1956, p. 366.

नही रहे, यद्यपि इनका मूल्य अब बहुत कम हो गया है। तो भी भारतीय कम्पनियाँ इस प्रयत्न मे है कि अमेरिका से ये जहाज मिल सकें तो अच्छा है। अन्यत्र से भी पुराने जहाज लिए जा रहे हैं। पूर्वी पोतचालन निगम (Eastern Shipping Corporation) के कार्य सचालन के लिए भारत सरकार ने दो जहाज सर्वप्रथम कनाडा के 'विक्टरी' नामक जहाज लिए थे। १६५२-५३ मे भारतीय कम्पनियो ने भारत सरकार से ऋण लेकर ५७·१६ लाख रुपये और १६५३-५४ मे ६० ८२ लाख रुपये के पुराने जहाज तटीय व्यापार के निमित्त विदेशो से मोल लिए।

इस भाति भारतीय पोत-स्वामियो ने विविध प्रयत्नो द्वारा अपने बेडे की शक्ति बढाने मे अपार उत्साह दिखलाया है। इस उत्साह को और अधिक बढाने की आवश्यकता है, क्योकि अभी भारतीय बेडा अपने व्यापार-विस्तार को देखते हुए बहुत अनुपयुक्त है और ससार के सामुद्रिक राष्ट्रो मे हमारा स्थान अत्यन्त नीचा है जैसा कि नीचे की तालिका से ज्ञात होता है —

विश्व के व्यापार और पोतचालन मे भारत का स्थान (३० जून १६६०)

देश	पोतचालन (१०० टन तथा अधिक)		देशी व्यापार
	लाख टन	विश्व बेडे का %	विश्व-व्यापार का %
१. सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	२४८	१६ १४	१६ ४१
२. ब्रिटेन	२११	१६ २८	१० ०३
३. लाइबेरिया	११३	८ ६६	० ०३
४ नार्वे	११२	८ ६३	१ ०३
५ जापान	६६	५ ३४	३ ३६
६. इटली	५१	३ ६५	३ ००
७. नीदरलैंड	४६	३ ७६	३ ६३
८. फ्रास	४८	३ ७१	५ १५
६. प० जर्मनी	४५	३ ५०	८ ७६
१० यूनान	४२	३ ४६	० ३७
११. पनामा	३७	३ २६	० ०७
१२ स्वेडन	३४	२ ८६	२ ७२
१३. रूस	२३	२ ६४	५ ०१
१४ डेनमार्क	१८	१ ७५	१ ४४
१५. स्पेन	११	१ ३६	० ६२
१६. कनाडा	१६	० ८१	१ २८
१७. ब्राजील	१०	१ २२	५ ७२
१८ अर्जेनटाइन	९	० ८०	० ६६
१६ भारत	६	० ६६	१ ५२
विश्व का कुल जोड	१२६८	१००	१००

इन आँकड़ों से ज्ञात होता है कि यद्यपि भारत का विश्व के व्यापारिक राष्ट्रों मे ग्यारहवाँ स्थान है, किन्तु भारतीय पोतचालन विश्व के सामुद्रिक राष्ट्रों मे १६ वें स्थान पर है। संयुक्त-राष्ट्र का व्यापार विश्व के व्यापार का १६·४% है, किन्तु उसका जहाजी बेड़ा विश्व के १६·१% के बराबर है। इसी भाँति ब्रिटेन, लाइबेरिया, नार्वे, जापान, इटली, यूनान इत्यादि देशो के ये प्रतिशत क्रमशः १० व १६·३, ०·०३ व ८·७, १·० व ८·६, ३·४ व ५·३, ३·० व ४, ०·४ व ३·५ इत्यादि हैं। भारत का व्यापार विश्व का १·५२% है, किन्तु जहाजी बेड़ा केवल ०·६६% ही है। जब हम यह ध्यान देते हैं कि भारत विश्व का चौथा बड़ा राष्ट्र है, तब इस निम्न स्थिति का ठीक अर्थ समझ मे आता है। अतएव इस बात की भारी आवश्यकता है (यह प्रश्न स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय गौरव से सीधा सम्बन्धित है) कि विभिन्न प्रयत्नो द्वारा भारतीय पोतचालन को समुन्नत बनाया जाय। इस कार्य मे देश की सरकार का उत्तरदायित्व मुख्य है, क्योंकि विश्व की सभी सरकारें अनेक प्रकार की सहायता द्वारा अपने पोतचालन की वृद्धि कर रही हैं[1], किन्तु व्यापारी वर्ग का योग भी कम महत्व-पूर्ण नही। यदि व्यापारी वर्ग स्वदेशी' की भावना से प्रेरित होकर अपने देश के जहाजो का ही उपयोग (माल के आयात और निर्यात दोनों के लिए) करने का व्रत ले, तो हमारा यह उद्योग शीघ्र अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सकता है।

पोतचालन निगम (Shipping Corporations)

१६४६ के पोतचालन सम्मेलन के उपरान्त भारत सरकार ने तीन पोतचालन निगम स्थापित करने की घोषणा की थी। पोतचालन पुनर्निर्माण नीति उपसमिति के निर्णय के अनुसार ५ या ७ वर्ष मे २० लाख टन जहाजी क्षमता बढ़ाना सरल काम न था। भारतीय कम्पनियो के पास पूँजी का भारी अभाव था। अतएव भारत सरकार ने कुछ पूँजी अपनी ओर से लगाकर इस काम मे सहयोग देने और भारतीय कम्पनियो के अपने विदेशी व्यापार मे भाग लेने के कार्य को सुविधाजनक बनाने के लिए यह निर्णय किया। इन निगमो मे ५१ प्रतिशत पूँजी भारत सरकार, २६ प्रतिशत प्रबन्ध अभिकर्त्ता और शेष २३ प्रतिशत जनता द्वारा लगाने की योजना बनाई गई। इसमे प्रत्येक की अधिकृत पूँजी १० करोड रुपये आँकी गई। प्रत्येक निगम एक लाख टन के जहाज रखेगी। इन निगमो के अलग-अलग मार्ग और क्षेत्र होंगे, ताकि इनमे परस्पर प्रतिस्पर्धा न हो। इस योजना के अन्तर्गत अब तक दो निगम बन चुकी हैं।

मार्च १६५० मे प्रथम निगम 'पूर्वी पोतचालन निगम' (Eastern Shipping Corporation) के नाम से १० करोड़ अधिकृत पूँजी से स्थापित की गई। भारत, ईरान की खाडी, लाल सागर, मिस्र, चीन, जापान और आस्ट्रेलिया इत्यादि मार्गों का क्षेत्र इसके लिए निर्धारित किया गया। भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-जापान,

---

१ सरकारी सहायता के विभिन्न स्वरूपो का वर्णन अन्यत्र दिया गया है।

भारत-सिंगापुर और भारत-पूर्वी अफ्रीका मार्गों पर इसके जहाज चलते है। भारत-अडमन मार्ग पर भी निगम के जहाज चलने लगे है। अगस्त १९५६ मे निगम का प्रबन्ध भारत सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया। उससे पूर्व सिंधिया कम्पनी प्रबन्ध अभिकर्त्ता की हैसियत से इसका प्रबन्ध करती थी। सारी पूँजी पर भी अब भारत सरकार का अधिकार हो गया है।

जून १९५६ मे पश्चिमी पोतचालन निगम (Western Shipping Corporation) की स्थापना की गई। यह व्यक्तिगत (Private) कम्पनी है जिसकी सारी पूँजी भारत सरकार की है। इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड रुपए है। भारत-ईरान की खाडी, भारत-लाल सागर, भारत-पोलेड तथा भारत-रूस मार्ग इसके निर्धारित सेवा-क्षेत्र हैं। इसन मुगल लाइन के चार जहाजो पर भी अब अधिकार कर लिया है जो भारत-लाल सागर मार्ग पर चलते हैं।

तीसरा निगम (Corporation) बनाने का अब सरकार ने विचार छोड़ दिया है और उक्त दोनो निगमो को मिलाकर एक इकाई मान लिया गया है जिसका नाम भारतीय पोतचालन निगम (Shipping Corporation of India) रखा गया है।

समुद्रतटीय व्यापार का रक्षण (Reservation of Coastal Trade)

किसी देश का समुद्रतटीय व्यापार उस देश के जहाजो का जन्मसिद्ध अधिकार जाता है। इस क्षेत्र मे विदेशी जहाजों को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही होता। इस नीति का पालन विश्व के लगभग सभी सामुद्रिक राष्ट्रो मे हो रहा है। ब्रिटेन और यूरोप के लगभग सभी राष्ट्रो ने अपने समुद्रतटीय व्यापार को अपने जहाजो के लिए रक्षित करने के कानून बनाए हैं। १९३१ मे प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय सघ (League of Nations) के एक प्रतिवेदन के अनुसार विश्व के ३६ सामुद्रिक राष्ट्रो मे से २७ का तटीय व्यापार इस भाँति रक्षित था। फ्रान्स ने अपने समुद्रतटीय व्यापार को १७९३ मे, जर्मनी ने १८८० मे और इटली ने १९०४ मे अपने जहाजो के लिए रक्षित कर दिया था। जापान और सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने भी इस सम्बन्ध मे कानून बनाए हैं और व्यापार को पूर्णत. रक्षित कर दिया है। ब्रिटेन ने १९१८ मे भारतीय समुद्रतटीय व्यापार को अपने जहाजो के लिए रक्षित कराने की माँग की थी।

भारतीय जनता की भी यह माँग अति प्राचीन थी। सर्वप्रथम १९१८ मे यह माँग की गई थी। १९२३ मे भारतीय वणिक्पोत समिति (Indian Mercantile Marine Committee) ने इस माँग को उचित बताया और सरकार द्वारा इसे स्वीकार करने का आग्रह किया। १९२९ मे तटीय व्यापार को रक्षित करने का सिद्धान्त केन्द्रीय विधान मण्डल ने स्वीकार कर लिया था। अन्तर युद्धकाल मे कई गैर-सरकारी बिल इस सम्बन्ध मे लाए गए थे जिनमे श्री हाजी का बिल मुख्य था। १९४८ मे पोत चालन पुनर्निर्माण उपसमिति (Reconstruction Policy Sub-Committee on Shipping) ने इस माँग को तुरन्त स्वीकार करने का सरकार

से आग्रह किया था, किन्तु भारत सरकार ने इसे अगस्त १९५० में स्वीकार किया। यद्यपि भारतीय जहाज अपने तटीय व्यापार में अधिकाधिक भाग लेते जा रहे थे, तो भी इस सम्बन्ध में स्थायी नीति की आवश्यकता थी। १९३९ में अपने तटीय व्यापार का केवल ३३ प्रतिशत भारतीय जहाज ले जाते थे। १९४८ में उनका भाग ५३ प्रतिशत, १९४९ में ६२ प्रतिशत और १९५० के प्रारम्भिक महीनों में ७५ प्रतिशत से अधिक हो गया था। अगस्त १९५० में भारत सरकार ने अपनी नीति की अन्तिम घोषणा की। तब से इस क्षेत्र में सन्तोषजनक प्रगति हुई है जैसा कि नीचे के आँकड़ों से विदित होता है :—

भारतीय जहाजों का तटीय व्यापार में भाग

वर्ष	तटीय व्यापार मे चलने वाले जहाजो की क्षमता (टनो मे)	भारतीय तटीय व्यापार का प्रतिशत जो भारतीय जहाज ले गए
१९५०-५१	२,०५,०००	८०
१९५१-५२	२,१०,०००	९४
१९५२-५३	२,५४,०००	९६
१९५३-५४	२,५६,०००	१००

इस भाँति हमारी यह समस्या अब हल हो गई है और सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजो के अधिकार में आ गया है।

समुद्रतटीय सम्मेलन (Coastal Conference)

१९२३ तक भारतीय समुद्रतटीय सम्मेलन पूर्णत: विदेशी कम्पनियो का था। १९२४ में सिंधिया कम्पनी को इस सम्मेलन मे सम्मिलित कर लिया गया था। १९२४ मे इस सम्मेलन के समझौते में कुछ परिवर्तन किए गए। इस समझौते के अनुसार पश्चिमी तट के व्यापार का ८५ प्रतिशत उस तट की छोटी कम्पनियो के लिए रक्षित कर दिया गया और १५ प्रतिशत सम्मेलन सदस्यो के लिए सुरक्षित रखा गया। यद्यपि इस समझौते का १९३९ मे संशोधन होना चाहिए था, किन्तु यह १९५० तक चलता रहा। स्वतन्त्र भारत की समुद्रतटीय व्यापार की रक्षण सम्बन्धी नीति के कार्यान्वित होने पर १९५१ मे इसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और पूर्णत: भारतीय कम्पनियो का समुद्रतटीय सम्मेलन बना। अपनी विशाल हृदयता और उदारता का परिचय देते हुए, भारतीय कम्पनियो ने इस सम्मेलन मे इग्लैंड की दोनो कम्पनियो को भी भाग लेने का अधिकार दिया, यद्यपि उन्हे कोई मताधिकार नही दिया गया। सम्मेलन के सदस्यो में सहयोग की भावना के अभाव मे सिंधिया कम्पनी को इसकी सदस्यता से त्याग-पत्र देना पड़ा।

भारत सरकार ने भारत-संयुक्त साम्राज्य-यूरोप, भारत-उत्तरी अमेरिका, भारत-आस्ट्रेलिया, और भारत-मलाया इत्यादि क्षेत्रों में कार्य करने वाले सम्मेलनों की सदस्यता प्राप्त करने में भी भारतीय कम्पनियों की सहायता की है।

सरकारी संगठन

भारतीय पोतचालन को समुन्नत बनाने के अनेक सुझावों में पोतचालन पुनर्निर्माण उपसमिति ने पोतचालन बोर्ड की स्थापना के लिए सुझाव रखा था। भारत सरकार ने बोर्ड के स्थान पर पोतचालन के सामान्य संचालक (Director General of Shipping) की नियुक्ति की। अभी तक भारत सरकार की पोतचालन विषयक नीति निर्धारण करने का काम कई छोटे-छोटे दफ्तरों, भारतीय पोतचालन नियन्त्रक (Controller of India Shipping), नाविक कल्याण संचालकालय (Directorate of Seamen's Welfare) दीप स्तम्भ विभाग (Lighthouse Dept.) में विभाजित था। अब यह सब काम इस सामान्य संचालक (Director General) के सुपुर्द कर दिया गया। प्रथम सामान्य संचालक ने जून १९४९ में अपना कार्य आरम्भ किया। सामान्य-संचालक वाणिज्य मंत्री के आधीन समझा जाता था। अब भी पोतचालन विषय तीन मंत्रालयों में बँटा हुआ था। वाणिज्य मंत्रालय कानून सम्बन्धी विषयों से सम्बन्धित था, उद्योग मंत्रालय पोत निर्माण से, और परिवहन मंत्रालय बन्दरगाह विकास से। फर्वरी १९५१ से ये सारे विषय परिवहन मंत्रालय के अन्तर्गत आ गये। इस भाँति इस विषय की अखिल भारतीय नीति के एकीकरण का कार्य आरम्भ हुआ। अब नीति सम्बन्धी विषय मंत्रालय से सम्बन्ध रखते हैं और उनको क्रियात्मक स्वरूप देना सामान्य संचालकालय का उत्तरदायित्व है। प्रत्येक बन्दरगाह पर वणिकपोत विभाग (Mercantile Marine Department) के कुछ मुख्य अधिकारी रहते हैं जो वणिक-पोत सम्बन्धी कानूनों और नियमों के प्रशासन का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं। नाविकों के कल्याण सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक कल्याण सहायक संचालक (Assistant Director of Seamen's Welfare) की नियुक्ति की गई है। भारत सरकार और पोतचालन के उद्योग के बीच सम्पर्क बनाए रखने के उद्देश्य से सरकार ने १९५२-५३ में एक परामर्शदात्री संस्था स्थापित की जिसका नाम पोत स्वामियों की परामर्शदात्री समिति (Consultative Committee of Shipowners) है। इस समिति में ६ प्रतिनिधि भारतीय राष्ट्रीय पोतस्वामियों के संघ (Indian National Steamship Owner's Association) के, एक पूर्वी पोतचालन निगम (Eastern Shipping Corporation) का और एक प्रतिनिधि छोटी जहाजी कम्पनियों का है जो उक्त संघ के सदस्य नहीं हैं।

पोतचालन सम्बन्धी विविध नियमों और कानूनों के स्थान पर सन् १९५८ में भारत सरकार ने केवल एक वणिकपोत कानून (Merchant Shipping Act) बना दिया है। इसके अन्तर्गत पोतचालन के विकास के लिए एक पोतचालन विकास निधि (Shipping Development Fund) और एक राष्ट्रीय पोत-मण्डल (National

Shipping Board) मार्च १९५८ में बना दिए गए थे। राष्ट्रीय पोत-मण्डल एक नीति निर्मात्री सर्वोच्च संस्था है।

जनवरी १९५८ मे भारत सरकार ने पोतचालन एकीकरण समिति (Shipping Coordination Committee) की नियुक्ति की जिसका उद्देश्य विभिन्न सरकारी विभागो और संस्थाओ से सम्पर्क स्थापित करके उनके माल का आयात-निर्यात देशी जहाजो द्वारा कराने का आग्रह करना है। इस व्यवस्था से देशी जहाजी कम्पनियो को यातायात मिलने मे सुविधा हो गई है।

वणिकपोत कानून के अन्तर्गत पालपोतो का विधिवत् संगठन किया गया है। पालपोतो के सारे क्षेत्र को चार प्रदेशो मे बाँट दिया गया है और प्रत्येक का अधिकार एक प्रादेशिक अधिकारी के हाथ म दे दिया है। प्रत्येक प्रदेश के लिए एक-एक प्रादेशिक सलाहकार समिति और एक केन्द्रीय सलाहकार समिति भी नियुक्ति की गई है।

बन्दरगाहो के विकास-कार्यो मे केन्द्रीय और राज्यो की सरकारो के बीच एकीकरण लाने के विचार से सन् १९५० मे एक राष्ट्रीय बन्दरगाह बोर्ड (National Harbour Board) की स्थापना की थी। इस बोर्ड की एक उपसमिति की बैठकें होती रहती है जो विविध योजनाओ पर विचार करती रहती है।

भारत सरकार संयुक्त-राष्ट्र संघ से सम्बन्धित है। यह सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक परामर्शदात्री संघ (Inter Governmental Maritime Consultative Organization) के द्वारा है।

प्रशिक्षण सुविधायें (Training Facilities)

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है १९४७ के पोतचालन सम्मेलन ने यह अनुभव किया था कि देश के पोतचालन उद्योग की प्रगति मे एक बड़ी बाधा योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्तियो की कमी थी। इस उद्योग के प्रसार और विस्तार के लिए हमे और भी अधिक प्रशिक्षित अधिकारियो और नाविको की आवश्यकता थी। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि अपनी पोतचालन विस्तार योजना को सफल बनाने के लिए हमे लगभग १७०० कार्यपालक अधिकारियो (Executive Officers) और २,१२४ इंजीनियरो की और आवश्यकता होगी।[1] फलतः भारत सरकार ने देश में प्रशिक्षण सुविधाये बढाने के भरसक प्रयत्न किए। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप स्थापित हुई प्रशिक्षण संस्थाओ मे निम्नांकित मुख्य है :—

(१) वणिक पोत अधिकारियों का प्रशिक्षण

(क) प्रशिक्षण-पोत 'डफरिन'—इसकी स्थापना १९२७ मे हुई थी। तभी से यह जहाज इस क्षेत्र मे भारतीय नाविको की सेवा करता रहा है। पिछले ३५ वर्षों

---

1. Kaybee's Indian Shipping Annual, 1951, p. 197.

मे भारत के विभिन्न भागो के हजारो शिक्षार्थी अधिकारी इस पोत पर सामुद्रिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं। भारत ही नही, ब्रह्मा, लंका और पाकिस्तान के पडौसी देशो के अधिकारियो को भी इस जहाज पर प्रशिक्षण दिया गया है। परिवर्तित परिस्थितियो और देश की बढती हुई आवश्यक्ताओं को ध्यान मे रख कर सन् १६४६ से इस जहाज को प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओ को बढा दिया गया है और उसकी प्रशिक्षण पद्धति को आधुनिकतम स्वरूप दे दिया गया है। पहले यहाँ केवल २५ शिक्षार्थी अधिकारी एक साथ प्रविष्ट होते थे, अब ८० होने लगे हैं। इनमे से ७ स्थान विदेशी शिक्षार्थियो (लका, मलाया, द्वीप समूह इत्यादि) के लिए नियत कर दिए गए है। यहाँ की शिक्षा पद्धति पाश्चात्य देशो की आधुनिक शिक्षा से किसी भी भाँति निम्नकोटि की नही है। यहाँ समुद्रगमन पूर्व प्रशिक्षण दिया जाता है।

(ख) नाविक तथा इंजीनियरी कालेज, बम्बई (Nautical and Engineering College)—वणिकपोत प्रशिक्षण समिति (Merchant Navy Training Committee) की सिफारिश के अनुसार १ अक्टूबर १६४८ मे इस कालेज की स्थापना की गई थी। १ सितम्बर १६५२ मे इसे स्थायी घोषित कर दिया गया। यह कालेज अल्पकालीन किन्तु गहन समुद्रोत्तरी (Post Sea) प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करता है। प्रशिक्षण काल बहुधा ३ महीने होता है। यहाँ शिक्षार्थी विदेशगामी (Foreign-going) मास्टर (Masters), मेट (Mates), द्वितीय मेट (Second Mate), प्रथम और द्वितीय श्रेणी के इंजीनियर, तथा गृह-व्यापार (Home Trade) सम्बन्धी मास्टर (Masters) और मेट (Mates) के प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकते हैं जो परिवहन मत्रालय द्वारा मान्य हैं। यहाँ पर सज्ञपन (Signalling) शिक्षण भी होने लगा है जिससे विदेशो कम्पनियाँ भी लाभ उठाती है। हाल मे वणिकपोत तेजोन्वेष कन्द्र (Merchant Navy Radar Centre) भी यहाँ स्थापित हो गया है। अपने अब तक के जीवन काल मे यहाँ लगभग ५,००० शिक्षार्थी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके है। इस कालेज म अब दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशो जैसे पाकिस्तान, ब्रह्मा, लंका के लोग भी प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे है।

(ग) सामुद्रिक इंजीनियरी प्रशिक्षण सचालकालय (Directorate of Marine Engineering Training)—कुछ काल पूर्व तक नाविको को इंजीनियरी प्रशिक्षण केवल 'डफरिन' जहाज पर बम्बई मे देने का प्रबन्ध था। यहाँ तीन वर्ष तक सैद्धान्तिक प्रशिक्षण दिया जाता था। तदुपरान्त ३ वर्ष किसी सामुद्रिक कार्यालय (Workshop) मे व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक था। वणिकपोत अधिकारी प्रशिक्षण समिति (Merchant Navy Officer's Training Committee) ने जो १६४७ मे भारत सरकार द्वारा नियुक्ति की गई थी, इस प्रशिक्षण विधि को दोषपूर्ण बतलाया और यह सुझाव दिया कि सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के साथ ही व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। फलत, भारत सरकार ने अक्टूबर १६४८ मे सामुद्रिक इंजीनियरी प्रशिक्षण सचालकालय (Directorate) की बम्बई मे स्थापना की।

इसका उद्देश्य प्रशिक्षण सुविधाओं में सुधार और प्रसार करने का था ताकि देश की विकासोन्मुख नौपरिवहन शक्ति को पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित व्यक्ति प्राप्त हो सकें। मई १९५२ में इसका मुख्यालय (Headquarters) कलकत्ता भेज दिया गया और एक शाखा बम्बई में रह गई। संचालकालय (Directorate) को सितम्बर १९५२ में स्थायी जीवन प्राप्त हो गया। इस नई योजना के अनुसार, तीन वर्ष से लिए सरकार द्वारा स्वीकृत किसी सामुद्रिक कार्यालय (Workshop) में शिशिक्षु (Apprentice) की भाँति प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है। तदुपरान्त एक वर्ष का नाविक इंजीनियरी कालेज (Marine Engineering College) कलकत्ता का पाठ्यक्रम पूर्ण करना पड़ता है।

संचालकालय (Directorate) का मुख्य कार्य इस प्रशिक्षण के निमित्त प्रतिवर्ष इंजीनियरी शिशिक्षु (Engineering Apprentices) चुनना और उन्हें प्रशिक्षण के लिये भेजना है। बम्बई और कलकत्ता के दोनों केन्द्रों से ३०-४० शिक्षार्थी प्रतिवर्ष चुने जाते हैं। नवम्बर १९५३ में नाविक इन्जीनियरी कालेज, कलकत्ता के भवन बन कर तैयार हो गये और १९४९ में भर्ती किया गया ४९ शिशिक्षुओं का प्रथम जत्था १९५३ में अपना प्रशिक्षण समाप्त कर चुका था। तब से प्रतिवर्ष ४६ या ४७ शिशिक्षुओं का एक जत्था प्रतिवर्ष यहाँ से प्रशिक्षण पाकर निकलता है।

(२) नाविकों का प्रशिक्षण (Training of Ratings)

इन कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण सुविधायें तीन जहाजों पर उपलब्ध हैं। प्रशिक्षण पोत 'भद्र' (Bhadra) कलकत्ता में 'मेखला' (Mekhala) विशाखापत्तनम और नौलक्खी, नवलक्खी (गुजरात) में स्थित है। यहाँ डैक (Deck) एवं इंजन कार्यालय (Engine room) प्रशिक्षण दिया जाता है। १९६० के अन्त तक यहाँ से ७,००० डैक शिक्षार्थी और ६,००० इंजन कार्यालय शिक्षार्थी निकल चुके थे। पश्चिमी तट पर एक चौथा केन्द्र भी स्थापित किए जाने का विचार है।

भारतीय पोतचालन की कुछ समस्यायें

(१) विदेशी जहाजों की बढ़ती हुई क्रिया—यद्यपि भारतीय बेड़ा अपने व्यापार के लिए सर्वथा अपर्याप्त है तो भी हमारे समुद्रों में विदेशी जहाजों का प्रभुत्व प्रधान है। हमारे पोतचालन के लिए यह कठिन समस्या बन गई है। ब्रिटेन के जहाजों का अभी भी हमारे विदेशी व्यापार में प्रमुख स्थान है। १९५३-५४ में ५१·७४ प्रतिशत हमारा आयात व्यापार और ४६·३२ प्रतिशत निर्यात व्यापार ब्रिटेन के जहाजों में हुआ। अमेरिकन जहाजों का भाग इसी वर्ष क्रमशः ७·७१ प्रतिशत और ९·२२ प्रतिशत था। यद्यपि इन दोनों देशों का भाग भारतीय व्यापार में हाल में कुछ कम हुआ है, किन्तु जापान, जर्मन, इटली तथा नार्वे के जहाजों का भाग प्रतिवर्ष बढ़ता चला जारहा है, यहाँ तक कि जापान १९५३-५४ में भारतीय आयात और निर्यात व्यापार का क्रमशः ५·४८ और ८·६९ प्रतिशत भाग ले गया, जबकि भारतीय जहाज केवल ४·०२ और ४·८३% ले गए। १९५५-५६ में जापान का भाग भारतीय आयात

और निर्यात व्यापार मे क्रमश: ६.४८% और १०.५३% हो गया। यह भी ध्यान देने की बात है कि जापानी जहाजो की यह बढती हुई क्रिया जापानी आयात के कम होने पर भी जारी है। इसी भांति भारत से इटली को जाने वाले माल मे १९५३-५४ मे पिछले वर्ष की अपेक्षा ५० प्रतिशत कमी हो गई तो भी वहाँ के जहाजो की संख्या भारतीय व्यापार मे बढ गई। विदेशी जहाजो की इस क्रियाशीलता से भारतीय पोत-कम्पनियों को भारी हानि होती है। देशी जहाज खाली चलते हैं जबकि विदेशी पूरे भरे चले जाते हैं। देश के जहाजी बेडे के विकास मे यह विदेशी हस्तक्षेप अत्यन्त बाधक है। हमारी सरकार को शीघ्र इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(२) **तडाग-पोतो (Tanker Tonnage) का अभाव**—युद्धोपरान्त काल मे विश्व भर मे अधिकाधिक तडाग-पोत प्राप्त करने की भावना बढती जा रही है। इस भावना का परिणाम यह हुआ है कि विश्व के तडाग-पोतो की क्षमता और आकार कुछ ही वर्षों मे बहुत बढ गया है। विश्व की तेल-उत्पादन वृद्धि को देखते हुए यह उचित ही प्रतीत होता है। १ मई १९४८ को विश्व मे तडाग पोतो की कुल क्षमता[1] लगभग २३४ लाख टन थी। १ जनवरी १९५४ को यह ३६० लाख टन अर्थात् ५४ प्रतिशत अधिक हो गई। द्वितीय युद्ध के उपरान्त काल मे तेल का उपयोग लगभग दूना हो गया है और आगामी बीस वर्ष मे उसके फिर से दूने होने की आशा है। अतएव सभी देशो मे तडाग-पोत लेने और बनवाने की प्रतिस्पर्धा चल रही है। इस समय जितने जहाज विश्व के जहाज घाटो मे बन रहे हैं उनका लगभग ५६% तडाग-पोत है। भारत मे कई तेल शोधनशालाये खुल चुकी है और लगभग ५० लाख टन कच्चा अथवा शोधा हुआ तेल हमे बाहर से प्रतिवर्ष मँगाना पडता है तथा लगभग १५ लाख टन तेल समुद्रतट से आता-जाता है। अभी तक हमारे पास तीन तडाग पोत है। एक निजी क्षेत्र मे और दो सरकारी क्षेत्र मे। इन तीनो को ही तेल-शोधनशालाओ ने तटीय व्यापार के लिए ले लिया है। विदेशी व्यापार के लिए कोई तडागपोत हमारे पास नही है।

देश की आवश्यकता पूर्ति के लिए देश मे तडागपोत बनने आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब दूसरे जहाज घाट के बनने पर वहाँ इसका प्रबन्ध किया जाए। हमारी सरकार इस बात को ओर पूर्णत: जागरूक है।

(३) **देश मे यात्री पोतों (Passenger Ships) का भी भारी अभाव है।** संसार के सभी आधुनिक देश पर्याप्त संख्या में यात्री पोत रखते हैं, क्योंकि इनसे देश-वासियो को ही यात्रा करने मे सुविधा नही रहती, वरन् देश की प्रतिष्ठा और सम्मान भी बढता है। यात्री-पोतो के सचालन मे बहुधा व्यय अधिक होता है। अतएव अनेक देशो में ऐसी सेवाये सरकारी सहायता और प्रोत्साहन के बल पर चलती है। भारत और ब्रिटेन के बीच सिंधियाँ कम्पनी कई वर्ष से इस आशा से नियमित यात्रा-सेवा

---

1. Vessels over 500 tons gross register.

प्रदान करती रही थी कि सरकार इस कार्य में उनकी सहायता करेगी किन्तु उनकी आशा को सरकार की ओर से कोई सहानुभूति न दी गई। फलतः उन्हें इस सेवा को समाप्त कर देना पड़ा। अब हमारे यात्रियों को ही कठिनाइयाँ नहीं हो रही; विदेश से हमारे यहाँ पर्यटन (Tourist) करने वाले लोगों को भी बड़ी असुविधायें होती हैं। अतएव हमें इस क्षेत्र में शीघ्र प्रयत्न करना है। **हमारे पास प्रशीतन-पोतों (Refrigerator Ships) तथा ट्राम्प जहाजों (Tramps) का भी सर्वथा अभाव है।**

(४) **जहाजों की मूल्य वृद्धि**—हमारे जहाजी बेड़े के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा जहाजों के मूल्य में नित प्रति होने वाली वृद्धि है। ब्रिटेन में नए जहाजों का मूल्य-स्तर १९३९ की अपेक्षा ३७५% और १९४५ की अपेक्षा १६०% ऊँचा है। भारत में ब्रिटेन से भी लगभग २०% ऊँचे मूल्य हैं। 'फेयरप्ले' (Fairplay) के नमूने के ९,५०० टन के डीजिल जहाज का मूल्य दिसम्बर १९५५ में ९२ लाख रुपये था जो जून १९५६ में ९७·३३ लाख रुपए और दिसम्बर १९५६ में १०० लाख रुपए हो गया। इसी प्रकार के ११,०००—१३,००० टन के जहाज के भावी मूल्य जून १९५६ में १३५·३३ लाख रुपए और दिसम्बर १९५६ में १३९·३३ लाख रुपए बताए गए। इस भाँति जहाजों के बढ़ते हुये मूल्य ही भारतीय पोत-कम्पनियों के मार्ग की बाधा नहीं हैं, १९६२ से पूर्व सुपुर्दगी देने के लिए विश्व के कोई जहाजी निर्माता कतई तैयार नहीं हैं, क्योंकि उनके पास इतने आदेश आ चुके हैं कि १९६१-६२ से पूर्व और अधिक काम लेने में वे असमर्थ हैं। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मूल्य हमारे योजना सम्बन्धी अनुमानों को विफल कर देते है। भारत सरकार को चाहिए कि सस्ते जहाज बनवाकर जहाजी कम्पनियों को दे। सरकारी सहायता भी ब्रिटेन मूल्य-स्तर पर नहीं, जापान व जर्मनी के मूल्य-स्तर पर दी जानी चाहिए।

(५) **रेल-प्रतियोगिता**—भारत के समुद्रतट पर अनेक जहाज और पालपोत चलते हैं जो एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह को माल ढोते हैं। अनेक वस्तुओं के लिए उनका ढुलाई-व्यय रेल के भाड़े की अपेक्षा कम है। ओखा से बम्बई तक सीमेंट का सामुद्रिक भाड़ा २१ रु० प्रति टन है जब कि रेल-भाड़ा २९ रु० १४ आ० ७ पाई अर्थात् ४७% अधिक है। इसी भाँति ओखा से कलकत्ता तक सीमेंट का सामुद्रिक भाड़ा ३५ रु० ८ आ० प्रति टन है जब कि रेल-भाड़ा ५० रु० ९ पाई प्रति टन अर्थात् लगभग ४०% अधिक है, यद्यपि ओखा-कलकत्ता सामुद्रिक मार्ग रेल-मार्ग से बहुत लम्बा है। कोचीन से बम्बई तक तिलहन का सामुद्रिक भाड़ा २१ रु० प्रतिटन है, किन्तु रेल-भाड़ा ४९ रु० ५ आ० ५ पा० प्रति टन अर्थात् १३३% अधिक। इसी भाँति रुई, सूती वस्त्र, जटा, काली मिर्च, मूँगफली का तेल, चावल, बीड़ी बनाने की पत्तियाँ, जूट के बोरे, चाय इत्यादि वस्तुओं के भाड़े सामुद्रिक मार्ग पर रेल मार्ग की अपेक्षा बहुत कम हैं। अतएव साधारण परिस्थितियों में इन वस्तुओं का परिवहन सामुद्रिक मार्ग से होना चाहिए किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यातायात अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कुछ वस्तुओं के लिए रेलें प्रतियोगी भाड़े लेने लगी हैं।

कोयला इस प्रकार की प्रतियोगिता का मुख्य उदाहरण है। यद्यपि कोयले का रेल द्वारा ढुलाई व्यय रानीगंज से बम्बई तक ३६ रु० ६ आ० प्रति टन से ४५ रु० ७ आ० ६ पा० प्रति टन बैठता है किन्तु रेल-भाडा केवल २० रु० १४ आ० प्रति टन लिया जाता है अर्थात् १५ रु० ८ आन से २९ रु० ४ आ० ६ पा० प्रति टन हानि सहकर रेलें कोयले को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। पोत स्वामियो को इस यातायात के रेलो की ओर चले जाने से भारी हानि होती है। यह प्रतियोगिता गत वर्षों मे अपनी चरम सीमा को पहुंच गई है जिसकी आवाज भारत सरकार के कानो तक पहुँच चुकी है। अतएव जून १९५५ म एक समिति (Rail-Sea Coordination Committee) नियुक्त की गई। इस समिति ने रेल-भाडे लागत व्यय के अनुसार लगाने का सुझाव दिया था, किन्तु रेलो की प्रतियोगिता अभी जारी है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कोयला, सीमेंट, नमक, खाद इत्यादि ऐसी वस्तुये हैं जो बडे परिमाण म सामुद्रिक मार्ग से रेलमार्ग की अपेक्षा बहुत सस्ती ले जाई जा सकती हैं और उपभोक्ता तक समुद्र मार्ग से सस्ते मूल्य पर पहुँचाई जा सकती है। दूसरे, रेलो के पास डिब्बो का भारी अभाव है। ऐसी स्थिति मे यदि कुछ यातायात समुद्रतट की ओर चला जाता है तो इससे रेलो का कार्य भार ही कम नही हो जायगा, उद्योग-व्यवसाय की विलम्ब सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ भी दूर हो जायेगी।

(६) श्रम की अवरोधात्मक चाल—बन्दरगाहो पर काम करने वाले श्रमिक भी पोतस्वामियो को एक भयानक समस्या बन गए है। गत वर्षों मे श्रमिको की अवरोधात्मक चाल और हडतालो के कारण पोत स्वामियो को भारी हानि उठानी पडी है। यहाँ तक कि कभी-कभी श्रम-क्षमता केवल ५०% रह गई। १९५६ म इस समस्या पर विचार करने के लिए भारत सरकार की ओर से एक समिति (Dock Workers Enquiry Committee) बिठाई गई जिसकी सिफारिश के अनुसार बम्बई और कलकत्ता बन्दरगाहो पर कार्य के परिमाण के अनुसार पारिश्रमिक दया जाने लगा है। तब से इस ओर कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु यह स्थायी हल प्रतीत नही होता। वस्तुत: इस समस्या का कोई मनोवैज्ञानिक कारण प्रतीत होता है, क्योकि यह हमारे बन्दरगाहो की ही समस्या नही, विश्वभर के बन्दरगाहो की समस्या है। हाल मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I. L. O.) ने २८ देशो के आँकडे लेकर एक अध्ययन किया है जिससे ज्ञात हुआ है कि श्रमिको के कार्य बन्द करने की चाल के कारण गत सात वर्ष मे ५० करोड मनुष्य-दिवस व्यर्थ गए तथा परिवहन क्षेत्र मे काम करने वाले सभी श्रमिको मे से बन्दरगाहो पर काम करने वाले श्रमिक इस सम्बन्ध मे सबसे बडे अपराधी हैं।

(७) ध्वजा भेदभाव (Flag Discrimination)—विदेशी जहाजी कम्पनियो ने अपने शक्तिशाली सगठन बना लिए हैं जो भारतीय कम्पनियो को इन

सम्मेलनों की सदस्यता से वंचित रखना चाहते हैं। सम्मेलन की सदस्यता के अभाव में भारतीय कम्पनियों को किसी मार्ग के बीच के बन्दरगाह से माल लेने का अधिकार नहीं। अतएव हमारी कम्पनियों को अनेक बार खाली लौटना पड़ता है।

भारत सरकार का कर्तव्य है कि अपनी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले सम्मेलनों की सदस्यता प्राप्त करने में सहायता करे। इस सम्बन्ध में राजदूतावास द्वारा उन देशों की सरकार के पास पहुँचने की आवश्यकता है जैसा अन्य देशों की सरकार करती हैं।

(८) **बढ़ते हुए संचालन व्यय**—गत वर्षों में जहाजी कम्पनियों के संचालन व्यय तेजी से बढ़ते गए हैं और दिनो-दिन और बढ़ते जा रहे हैं। यह वृद्धि कोयला व तेल के मूल्यों की वृद्धि और लदाई-व्यय, सामुद्रिक करों, नहर-करों, मजदूरी-वेतन इत्यादि सभी की वृद्धि के कारण हुई है। इनमें सबसे अधिक वृद्धि वेतन-मजदूरी में हुई है। विदेशगामी जहाजों पर काम करने वाले कर्मचारियों एवं अधिकारियों को अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों एवं प्रथाओं के अनुसार ऊँचे वेतन-मजदूरी देने पड़ते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में जहाजों का मरम्मत व्यय ब्रिटेन व जापान इत्यादि देशों की अपेक्षा २५% ऊँचा है।[1] इसका इलाज जहाजी भाड़ों को बढ़ते हुए संचालन व्यय के अनुरूप समायोजन करना अथवा कम्पनियों को सरकार द्वारा उतनी आर्थिक सहायता (Subsidies) देना है।

(९) **विदेशी विनिमय**—भारतीय कम्पनियों को नए जहाज बनवाने के लिए पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं है। अतएव वे अपनी जहाजी क्षमता वांछनीय सीमा तक नहीं बढ़ा सकती। भारत सरकार को पर्याप्त विदेशी विनिमय देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(१०) **बन्दरगाहों की भीड़-भाड़ और जमघट**—भारतीय बन्दरगाहों का उतना विस्तार नहीं हो सका जितना गत वर्षों में यातायात बढ़ गया है। स्थान के अभाव के कारण वहाँ भारी भीड़-भाड़ और यातायात का जमघट हो जाता है जिससे जहाजों को माल उतारने-चढ़ाने में देरी होती है तथा उनका पूरा उपयोग नहीं हो पाता। बड़े बन्दरगाहों के विकास-विस्तार व आधुनिकीकरण का कार्यक्रम उठाया गया है; कुछ मझले बन्दरगाहों को बड़े बन्दरगाहों में परिवर्तित किया जा रहा है; तथा कुछ छोटे बन्दरगाहों को पुनर्जीवित किया जा रहा है।

भारतीय पोतचालन की अन्य कठिनाइयाँ अपर्याप्त सरकारी सहायता एवं प्रोत्साहन, भर्ती तथा प्रशिक्षण केन्द्रों एवं निर्माण घाटों का अभाव हैं।

---

1. Indian Shipping, March, 1961, p. 13.

३५.

पोतचालन व्यय

(Shipping Expenditure)

पोतचालन व्यय के दो वर्ग किए जा सकते हैं : पूँजीगत व्यय और संचालन व्यय। मार्ग-निर्माण के लिए पोत कम्पनी को कोई पूँजी नहीं लगानी पड़ती, केवल जहाज लेने के लिए उसे पूँजी की आवश्यकता होती है। जहाजों का मूल्य समयानुसार बदलता रहता है। यह कई बातों पर निर्भर होता है। जहाज का प्रकार, उसका आकार, व्यापार का प्रकार तथा समय जब जहाज लिया जाता है, इत्यादि। विभिन्न देशों में मूल्य स्तर भिन्न होने से भी जहाजों का मूल्य भिन्न होता है। ६,००० टन के जहाज का विदेशों में वर्तमान मूल्य लगभग ४५,००,००० रु० और ५०,००,००० रु० के बीच में है और भारत में लगभग ७५,००,००० रु०। सिंधिया कम्पनी को इंगलैंड से लिए हुए ८,४२५ टन के 'जल-आजाद' और 'जल-जवाहर' का मूल्य १,२०,००,००० रु० प्रत्येक के लिए देना पड़ा तथा ३,७५० टन के 'सरस्वती' व 'साबरमती' का ७०,००,००० रु० प्रत्येक का। ६,००० टन के बीस वर्ष पुराने जहाज का मूल्य भी इस समय १५,००,००० रु० और २०,००,००० रु० के बीच में समझना चाहिए जबकि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ऐसे जहाजों का मूल्य लगभग इसका आधा और एक तिहाई तक था।[1] युद्ध काल में अमेरिका में बने हुए लिबर्टी नामक जहाजों का मूल्य गत वर्षों में १,०५,००० पौण्ड (जून १९५०) और ६,००,००० पौंड (जनवरी १९५२) के बीच में घटता-बढ़ता रहा। १९५४ में इनका मूल्य २८·६६ लाख और ३३·३३ लाख रुपये के बीच में था।

रेलों को इंजन व डिब्बों के अतिरिक्त, अपना पथ बनाने और उसे सुरक्षित रखने के लिए भी अपार धन व्यय करना पड़ता है। रेल की अपेक्षा पोतचालन के लिए कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। रेलों में लगी हुई पूँजी उनकी वार्षिक आय का लगभग दस गुना तक होती है किन्तु जहाजों की पूँजी उनकी वार्षिक आय के लगभग बराबर अथवा उससे भी कम होती है।[2] सन् १९५२-५३ में भारत की

1. Kaybee's Indian Shipping Annual 1951, p. 26.
2. S. N. Haji : Economics of Shipping, p. 41.

सात जहाजी कम्पनियो की पूँजी (ऋण समेत) लगभग १८·७५ करोड़ रुपए और उसी वर्ष की आय २०·८५ करोड़ रुपए थी। उसी वर्ष की भारतीय रेलो की पूँजी और वार्षिक आय ८६६ करोड़ रुपए और २७२ करोड़ रुपए थी। यद्यपि रेलो की अपेक्षा जहाजी कम्पनियो की पूँजी अपनी वार्षिक आय से बहुत कम होती है, किन्तु तो भी अन्य आधुनिक उद्योगो की अपेक्षा उसका अनुपात अधिक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि पोतचालन व्यवसाय पर विश्व की आर्थिक उथल-पुथल का तुरन्त प्रभाव पडता है। आर्थिक अवसादकाल मे यातायात मे कमी आने पर उसके स्थायी पूँजीगत व्यय कम नही होते और न सचालन व्यय ही यातायात की कमी के अनुपात से ही कम होते हैं। इसके विपरीत स्थिति (अभिवृद्धिकाल) आने पर यातायात मे वृद्धि होने से आय मे इतनी वृद्धि हो जाती है जितनी सचालन व्यय मे नही होती। परिणाम यह होता है कि व्यापार के उतार-चढाव के साथ पोत-व्यवसाय के लाभ मे भारी उतार-चढाव होते रहते हैं। अतएव इस व्यवसाय को वही लोग सफलतापूर्वक चला सकते है जो अत्यन्त धैर्यवान और अत्यन्त धनी हो। अच्छे वर्षों के लाभ के साथ मिला कर देखने से ही इस उद्योग की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा सकते है, अन्यथा नही।

जहाज मोल लेने के उपरान्त पोत-कम्पनी को केवल सचालन व्यय के लिए [जी की आवश्यकता पडती है; उसे पूँजीगत व्यय के लिए विशेष धन व्यय नही रना पडता।

पोतचालन के संचालन व्यय को निम्न वर्गों मे विभाजित किया जा कता है :—

१. स्थायी व्यय : (क) देखरेख (Upkeep)
(ख) प्रबन्ध (Management)
(ग) बीमा (Insurance)
२. अस्थायी व्यय: (क) जलावन (Bunkers)
(ख) बन्दर, निवेश व प्रकाश व्यय (Port, dock and light dues)
(ग) लदाई (Stevedoring)
(घ) दावा (Claims)

देख-रेख सम्बन्धी व्यय मे मजदूरी, सामग्री (Stores), खाद्यपदार्थ, मरम्मत इत्यादि व्यय सम्मिलित हैं। जहाज चाहे बन्दर पर खडा हो, चाहे वह समुद्रतल पर यात्रा कर रहा हो, देख-रेख सम्बन्धी व्यय ज्यो के त्यो बने रहते हैं। यातायात की घटा-बढी से भी इसमे विशेष अन्तर नही पडता। यही नही जहाज के आकार के अनुपात से भी उनमे परिवर्तन नही होता। श्री साराभाई नेमचन्द हाजी ने १९२४ मे ७४०० टन के जहाज की देख-रेख का व्यय ४३४ रु० प्रतिदिन और उसके आधे आकार अर्थात् ४,३०० टन के जहाज का ४०१ रु० प्रतिदिन आँका था। देख-रेख

सम्बन्धी व्यय मे मुख्य भाग मजदूरी का होता है। ७४०० टन के जहाज पर ५ इ जीनियरा, ४ अधिकारियों तथा ५५ नाविको की आवश्यकता बताई गई है और ४३०० टन के जहाज पर ४ इ जीनियरो, ४ अधिकारियो व ३६ नाविको की। श्री हाजी द्वारा बडे जहाज के कर्मचारियो की कुल मजदूरी १४४ रु० प्रति दिन और छोटे जहाज की १२७ रु० प्रति दिन आँकी गई है। इसी भाँति भोजन व्यय दोनो प्रकार के जहाजा का क्रमश ८० और ६५ रु० प्रति दिन आँका गया है। यद्यपि तब से अब मूल्य स्तर बहुत ऊँचे उठ गए हैं किन्तु इनके अनुपाता मे विशेष अन्तर नही हुआ। अतएव ये आँकडे अब भी महत्वपूर्ण है।

प्रत्येक जहाज को आवश्यक सामग्री से भी सदैव सन्नद्ध रहना पडता है। इसम जहाज की रगाई इत्यादि के व्यय भी सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक जहाज को सुदृढ बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि कम से कम वर्ष मे दो बार उसकी रगाई-सफाई की जाय। जिन जहाजो की इस सावधानी से देख-रेख की जाती है उनका जीवन-काल ही नही बढ जाता, वरन् उनकी चाल भी अच्छी आती है।

देख-रेख का एक मुख्य अग मरम्मत (Repairs) का है। यद्यपि मरम्मत की कभी-कभी आवश्यकता पडती है, किन्तु तो भी जहाज के जीवन-काल के प्रतिदिन के लिए उसका प्रबन्ध करना आवश्यक है, क्योकि जब यह काम करना पडता है तो इसमे अपार धन लगाना पडता है। साधारण मरम्मत व्यय के अतिरिक्त प्रति चौथे वर्ष विशेष आपरीक्षण (Survey) करना होता है जिसमे बहुत खर्च करना पडता है। इनमे से भी प्रथम आपरीक्षण बहुत खर्चीला नही होता, द्वितीय कुछ अधिक खर्चीला होता है, किन्तु तृतीय के लिए बहुत अधिक खर्च करना पडता है। यदि किसी जहाज की वार्षिक मरम्मत ठीक न हुई तो इसकी बारहवें वर्ष की मरम्मत का खर्च इतना हो सकता है जितना उसका तत्कालीन विक्रय मूल्य। तृतीय आपरीक्षण (Survey) के उपरान्त तेरह वर्ष का जहाज ग्यारह वर्ष के जहाज से कही अधिक सुदृढ और उपयोगी होता है। इस बारह वर्षीय व्यय का पोत स्वामी को सदैव ध्यान रखना चाहिए और चतुराई इसी म है कि किसी यात्रा सम्बन्धी व्यय आकते समय सामग्री और मरम्मत के लिए लगभग १०० रुपए प्रति दिन का अनुमान लगा लेना चाहिए।

प्रबन्ध—प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यय म दफ्तर के मुख्य सहायक व छोटे अधिकारियो का वेतन, मुख्यालय व शाखाओ का किराया, लेखन सामग्री व विज्ञापन व्यय, विदेशी प्रतिनिधियो का मेहनताना इत्यादि सम्मिलित हैं।

इस व्यय म भी यातायात के अनुसार घटा-बढी नही होती और न जहाज के आकार के अनुसार ही। श्री हाजी ने ७४०० टन और ४३०० टन के जहाज के लिए प्रबन्ध व्यय का अनुमान १५० रु० प्रति दिन आँका है। इसम सन्देह नहीं कि किसी पोत कम्पनी के प्रबन्ध व्यय म प्रति जहाज पीछे कमी होती चली जाती है यद्यपि यह ठीक अनुपातानुसार नही होती।

बीमा (Insurance)—सामुद्रिक जोखिम से बचने के लिए जहाज, उसके अंग-प्रत्यंगों [पेटा (hull), मशीनें, मस्तूल], तथा प्राप्य भाड़े इत्यादि सभी का बीमा आवश्यक होता है। बीमा व्यय जहाज के सचालन व्यय का लगभग ६ प्रतिशत होता है। बीमा व्यय का यातायात से घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता।

जलावन (Bunkers)—ऊपरवर्णित व्यय बहुधा स्थायी होते हैं, किन्तु जलावन एक ऐसा व्यय है जो परिवर्तित होता रहता है। भाप से चलने वाले जहाजों में कोयला और इंजन (Motor) से चलने वालों में तेल काम आता है। कोयला जलाने वाले जलावन (Bunkers) का व्यय कुल सचालन व्यय का लगभग ४० से ५० प्रतिशत तक होता है। जलावन के लिए चाहे तेल काम में लिया जाय, चाहे कोयला, यह व्यय दूरी के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जलावन उसी समय नहीं काम आता जब जहाज यात्रा करता होता है, वरन् उस समय भी जलता है जब वह माल लादता व उतारता है अथवा बन्दर पर खड़ा होता है। इञ्जन में जलने के अतिरिक्त कोयला कुछ और भी सहायक कामों में जलता है, जैसे जहाज को गर्म करने के लिए, रोशनी के लिए अथवा जहाज को चलता करने के लिए। श्री हाजी के अनुसार भारत के तटीय व्यापार में ११ नाट (Knots) की चाल से चलते हुए जहाज में यदि ३० टन कोयला प्रतिदिन जलता है तो माल चढ़ाते-उतारते समय ५ टन प्रति दिन।[1]

सन् १९१० तक साधारणतः सामुद्रिक इञ्जनों में कोयला ही काम आता था, किन्तु अब तेल का अधिक प्रचार हो गया है और दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि कई बातों में तेल कोयले की अपेक्षा उत्तम समझा जाता है।

(१) **समय की बचत**—सवारियों और सामग्री के साथ ही तेल (fuel) के लादने की सुविधा के कारण समय की बचत होती है। जहाज को तेल लेने में भी कोयले की अपेक्षा कम समय लगता है। यात्रा आरम्भ करते समय तेल पूरी यात्रा के लिए भर लिया जाता है और मार्ग में बार-बार तेल लेने के लिए जहाज को नहीं रुकना पड़ता।

(२) **स्थान की बचत**—कोयले की अपेक्षा तेल रखने के लिए ५० से ६०% तक स्थान पर्याप्त समझा जाता है। भट्टी (Boiler), प्रकाश तथा वायु प्रवेश की नलियों तथा चिमनियों के न होने के कारण लगभग ३० प्रतिशत स्थान की बचत हो जाती है।

(३) **भार की मितव्ययता**—कोयले व उसके इंजन की अपेक्षा तेल व उसके इञ्जन दोनों का भार कम होता है। कोयले का लगभग $\frac{1}{2}$ भाग तेल पर्याप्त समझा जाता है अर्थात् ५५% भार की बचत हो जाती है। तेल का इञ्जन लगभग

1. S. N. Hajj : Economics of Shipping, 1924, p. 106.

१०० टन हलका बताया जाता है। ऐसा अनुमान है कि समान आकार का तेल का जहाज लगभग १५ टन अधिक माल लाद सकता है।

(४) **सचालन व्यय**—तेल का मूल्य कोयले के मूल्य से चार गुने से कम रहे तब तक तेल जलाना लाभदायक है, क्योंकि तल से चार-पाँच गुना कोयला जलता है। कोयले मे आग जलाने तथा आग निकालने मे कुछ खर्च करना पडता है। तेल मे इसकी आवश्यकता नही। श्री हाजा द्वारा दस हजार टन के तेल के जहाज का वार्षिक सचालन व्यय २०,६८८ पौंड और कोयले के जहाज का ३० १४४ पौंड आका गया है।

(५) तेल के इञ्जन के लिए कम कर्मचारियो की आवश्यकता पडती है। अतएव वेतन व्यय बहुत कम होता है।[1] श्री हाजी के अनुसार किसी कोयले के इञ्जन पर २७ व्यक्ति काम करते हो तो उसी प्रकार के तेल के इञ्जन के लिए १८ व्यक्ति पर्याप्त होगे और मासिक वेतन क्रमश ४८२ पौंड और ४०० पौड होगा।

(६) तेल से चलने वाले जहाज मे स्वच्छता अधिक रहती है। कोयले का जहाज उतना साफ सुथरा नही हो सकता।

तेल की इन विशेषताओ के कारण ही पोतचालन मे उसका प्रयोग अधिकाधिक होता चला जा रहा है जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट होता है —

विश्व मे तेल व कोयला जलाने वाले जहाजो का सापेक्षक महत्व

वर्ष	जहाजो की सख्या %		जहाजो की भार क्षमता %	
	भाप के जहाज	मोटर वाले जहाज	भाप के जहाज	मोटर वाले जहाज
१९१४	९७	३	—	—
१९३९	४५	५५	—	—
१९५२	—	—	७१	२९
१९५४	१३	८७	६९	३१

अब जहाज चलाने के लिए अणुशक्ति का उपयोग भी होने लगा है। २१ जनवरी १९५४ को अणुशक्ति से चलने वाली सयुक्त राष्ट्र की नौसेना (Navy) की नाटीलस' (Nautilus) नामक पनडुब्बी (Submarine) का समुद्र प्रवेश हुआ। यह आशा की जाती है कि आगामी दस वर्षों म अणुशक्ति से चलने वाले

---

1 S N Haji *Economics of Shipping*, 1924, p 103

अनेक नए जहाज बन जावेंगे और सम्भवतः इस नई शक्ति का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय हो जाएगा।

कर (Dues)—बन्दर, निवेश व दीपस्तम्भ सम्बन्धी कर जहाजों को देने पड़ते हैं। व्यापारिक वृद्धि के साथ-साथ इन करों का भार कम होने की आशा की जाती है, किन्तु तो भी किसी बन्दरगाह द्वारा भारी कर लिए जाते हैं जो जहाज कम्पनियों को भार-स्वरूप प्रतीत होने लगते हैं।

लदाई (Stevedoring)—जहाज पर माल लादने व उतारने से सम्बन्धित व्यय कुल संचालन व्यय के दस-बारह प्रतिशत के बराबर होते हैं। ये व्यय प्रत्येक प्रकार के माल के लिए अलग-अलग लगाए जाते हैं। संयुक्त व्यय की उलझन इनके पास भी नहीं फटकने पाती। माल लादने तथा उसे जहाज में सँभाल कर लगाने का काम बड़ी चतुराई का है। इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए दफ्तर के कर्मचारियों, माल लादने वाले मजदूरों एवं जहाज के अधिकारियों के परस्पर पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है। जहाज के कोष्ठकों (Holds) का स्थान सोना समझा जाता है। अतएव तनिक भी स्थान रिक्त नहीं छोड़ना चाहिए।

कलकत्ता और बम्बई के बन्दरों पर लदाई का काम करने वाले मजदूरों ने कुछ दिन से जहाजी कम्पनियों के लिए एक भारी समस्या खड़ी कर दी है। ये लोग माल लादने व उतारने में भारी सुस्ती दिखाते हैं और जहाजों को अकारण बन्दर पर आवश्यकता से अधिक समय तक रुका रहना पड़ता है। देश में यों ही जहाजों की भारी कमी है। लदाई वालों के इस व्यवहार से व्यापार को भारी धक्का पहुँचता है।

दावा (Claims)—माल के मार्ग में कम होने अथवा नष्ट-भ्रष्ट होने के कारण पोत स्वामियों को अपने ग्राहकों (Shippers) को प्रतिकर (Compensation) देना पड़ता है। यह प्रतिकर तभी देना पड़ता है जब माल उनकी असावधानी से नष्ट-भ्रष्ट अथवा कम हो गया हो। यदि माल की हानि पोत-अधिकारियों के अधिकार के बाहर की घटनाओं द्वारा हुई हो तो उनके उत्तरदायित्व का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी घटनाओं के द्वारा होने वाली हानि के दायित्व से अपना बचाव करने के लिए जहाजी बिल्टी की प्रतिज्ञाओं में यह बात स्पष्ट कर दी जाती है कि दैवी प्रकोप, शत्रुओं के आक्रमण इत्यादि से होने वाली हानि के लिए पोत स्वामी उत्तरदायी नहीं होंगे। इसी भाँति विशेष प्रकार की वस्तुओं के लिए कुछ विशेष नियम भी होते हैं। सामान्य परिस्थितियों में यह व्यय संचालन व्यय का दो तीन प्रतिशत समझा जा सकता है।

किसी जहाज के संचालन सम्बन्धी विभिन्न व्ययों का सापेक्षक महत्व समझने के लिए निम्न आँकड़े महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे :—

बम्बई-रंगून मार्ग पर चावल ले जाने वाले दो जहाजों के
कुल व्यय का प्रतिशत[1]

शीर्षक	७,४०० टन के जहाज का व्यय	४,३०० टन के जहाज का व्यय
देख रेख (Upkeep)	२५.०%	३७.२%
प्रबन्ध (Management)	८.६%	९.६%
बीमा (Insurance)	५.७%	६.०%
ज्वालन (Bunkers)	४१.३%	३९.७%
कर (Port, Dock and light dues)	६.७%	५.९%
लदाई (Stevedoring)	१०.०%	८.२%
दावा (Claims)	.७%	२.३%
कुल जोड़	१००%	१००%

बड़े अथवा छोटे जहाज—उपर्युक्त तालिका से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बड़ा जहाज छोटे जहाज की अपेक्षा उत्तम है, क्योंकि बड़े जहाज के स्थायी व्यय कम और अस्थायी व्यय अधिक होते हैं। इस कथन की सत्यता बहुधा परिस्थितियों पर निर्भर है। छोटे और बड़े जहाज का प्रयोग प्रत्येक व्यापार की स्थिति के अनुसार ही किया जा सकता है। किस व्यापार में कैसा जहाज उपयोगी सिद्ध होगा यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि व्यापार किस प्रकार का है, बन्दर जहां जहाज माल लादेगा अथवा उतारेगा कैसे हैं, तथा और भी अनेक बातें देखनी होंगी।

तो भी इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक बातों का समझ लेना आवश्यक है। यदि पर्याप्त यातायात उपलब्ध हो, माल लादने उतारने के बन्दर उपयुक्त हों तथा यात्रा लम्बी हो, तो बड़े जहाज का सचालन व्यय निश्चयपूर्वक कम पड़ेगा। कर्मचारियों की मितव्ययिता के अतिरिक्त उसकी आय-क्षमता अधिक होती है। यदि कभी बड़े जहाज को खाली भी लौटना पड़े तो भी कोई जोखिम की बात नहीं, क्योंकि अपनी एक यात्रा में ही उसे बहुत लाभ हो जाता है।

जहाज के आकार की वृद्धि के साथ उसके मूल्य में प्रति टन की कमी होती है और आकार छोटा होने के साथ-साथ उसके मूल्य में प्रति टन वृद्धि होती चली जाती है। ८,१०० टन के जहाज का मूल्य आधारभूत मान ले तो ज्ञात होगा कि ४,५०० टन के जहाज का मूल्य प्रति टन पर एक पौंड बढ़ जायगा। इसी भांति आकार और छोटा करने में मूल्य में और भी वृद्धि होती जायगी अर्थात् ३,५०० टन के जहाज का

1 S N Haji *Economics of Shipping*, 1924, p. 119.

मूल्य प्रति टन पीछे १ पौंड और बढ़ जायगा तथा २,७५० टन, २,२५० टन व १८०० टन पर और भी इसी अनुपातानुसार वृद्धि होती जायगी। इसमें भी छोटे जहाज के मूल्य में प्रति टन पीछे एक पौंड से भी अधिक वृद्धि होगी।[1]

इन बातों को ध्यान में रख कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बड़ा जहाज उत्तम समझना चाहिए। किन्तु यह कथन सोलहों आने ठीक नहीं। भाड़े सम्बन्धी द्वन्द्व युद्ध (Rate War) के समय छोटे जहाज की चढ़ बनती है। ऐसे समय में नई कम्पनी को पुरानी कम्पनी से टक्कर लेने के लिए छोटे जहाजों का प्रयोग वांछनीय होगा क्योंकि छोटे जहाज पर ऐसे समय में हानि कम होती है जिसे बिना विशेष कठिनाई के सहन किया जा सकता है।

छोटे जहाज के पक्ष में और भी कई बातें कही जा सकती हैं। छोटी यात्राओं के लिये जहाँ बीच के अथवा अन्तिम बन्दरगाहों पर अधिक यातायात नहीं मिल सकता, छोटा जहाज लाभदायक सिद्ध होगा। यदि कोई बन्दरगाह ज्वार भाटे के प्रवाह पर स्थित हो और वहाँ नियमित सेवा का प्रबन्ध हो तो छोटा जहाज ही काम दे सकता है। छोटा जहाज थोड़े यातायात से भर जाता है और बड़े जहाज की अपेक्षा शीघ्र यात्रा आरम्भ कर देता है, उसे बड़े जहाज की भाँति शिथिल काल में यातायात की प्रतीक्षा देखनी नहीं पड़ती। भारत जैसे अविकसित देश में छोटे जहाजों का विशेष महत्व है। अनेक छोटे-छोटे अवनतावस्था को प्राप्त होने वाले बन्दरगाहों को जीवन दान देने के लिए छोटे जहाजों का विशेष महत्व है। बड़े जहाज ऐसे बन्दरों तक नहीं जाते।

मितव्ययता के साथ जहाज चलाने के लिए बहुधा यह सिद्धान्त माना जाता है कि जितनी लम्बी यात्रा हो, उतना ही बड़ा जहाज अच्छा होता है। यदि दोनों ओर से पर्याप्त मात्रा में यातायात उपलब्ध हो सके तो यह सिद्धान्त व्यावहारिक कहा जा सकता है और युद्ध अथवा युद्धोपरान्त काल में बिना किसी कठिनाइयों के उसका पालन किया जा सकता है। किन्तु आर्थिक अवसाद (Depression) काल में बड़े जहाजों में बहुधा खाली स्थान बना रहता है और कोयले इत्यादि का व्यय ऐसे समय में बढ़ जाता है।

युद्धोपरान्त काल की एक उल्लेखनीय घटना बड़े जहाजों का अधिकाधिक निर्माण है। तड़ागपोत (Tankers) व धातु ढोने वाले जहाजों (Ore carriers) का भी विशेष प्रचार बढ़ रहा है। १९५३ में ४५,००० टन के आकार के तीन तड़ागपोत (Tankers) चालू हुए। हाल में एक ६०,००० टन का धातु ढोने वाला जहाज जापान में बना है। दो ऐसे ही और जहाज बन रहे हैं और छः ४५,००० टन के तड़ागपोत। ३० सितम्बर १९५४ को १,०६५ जहाज विश्व के विभिन्न देशों में बन रहे थे जिनमें से २३५ अर्थात् लगभग पाँचवें भाग से अधिक १०,००० टन से

1. S. N. Haji : *Economics of Shipping* : 1924, p. 21.

बडे थे, १४४ जहाज १०,००० व १५,००० टन के बीच के, ४१ जहाज १५,००० व २०,००० टन के बीच के, ४९ जहाज २०,००० व ३०,००० टन के बीच के थे।

एक ओर बडे जहाजो का इस प्रकार अधिकाधिक निर्माण हो रहा है और दूसरी ओर छोटे जहाजो का प्रचार भी कम नही हुआ। कुछ लोगो का विचार है कि जहाजो का सीमित आकार विश्व के व्यापार मे बाधक सिद्ध नही होता और वे छोटे और मध्यम आकार के जहाजो का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं। इस पक्ष के समर्थन करने वालो का मत है कि छोटे जहाजो मे पोत स्वामी का व्यक्तित्व विशेष झलकता है। अतएव उनकी सफलता अवश्यम्भावी है। यूगोस्लाविया के पोत स्वामियो का विश्वास है कि अधिक चाल वाला छोटा जहाज यातायात आकर्षित करने का एक उत्तम साधन है। उनके अनुसार ऐसे जहाज को आवश्यकतानुसार एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर बिना कठिनाई के ले जाया जा सकता है। डेनमार्क के लोगो मे भी ऐसी विचारधारा घर कर गई है और वे छोटे जहाज को अधिक कुशल समझते है, शीघ्र चक्कर करने की दृष्टि से भी वह अच्छा समझा जाता है। श्री ए० सी० हार्डी (A C. Hardy) जो ब्रिटेन के नामी लेखक व राज (Architect) है उनका मत है कि २,५०० टन अथवा कम के जहाज भी विश्व के किसी भाग तक नियमित व्यापारिक यात्रा करने के उपयुक्त हैं। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि छोटे-बडे जहाज सदैव से साथ-साथ चलते रहे हैं और भविष्य मे भी उनके चलते रहने की सम्भावना है और विशेषत. नवीन व अविकसित देशो मे।

चाल वृद्धि की ओर भी रुचि बढती दिखाई देती है। माल पोत (Cargo liner) आजकल बहुधा १३ से १५ नाट (Knot) की चाल वाले बनाये जाते हैं और ट्राम्प १० से १२ नाट की। यात्री ले जाने वाले इसी प्रकार के जहाजो की चाल १७-१८ से २४ नाट तक होती है। क्वीन मेरी व क्वीन एलिजाबैथ जैसे कुछ विशेष प्रकार के जहाजो की चाल ३० नाट तक है।

३६.

पोत-सम्मेलन

(Shipping Conferences)

पोतचालन को जो स्वतन्त्रता प्राप्त है वह और किसी उद्योग को प्राप्त नहीं। समुद्र एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति समझी जाती है। उस पर किसी एक देश अथवा जाति का प्रभुत्व नहीं माना जाता। कोई भी देश अपने जहाज बना सकता है और उन्हें समुद्र पर भेज सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून देशों की इस स्वतन्त्रता को पूर्ण मान्यता प्रदान करता है। यह स्वतन्त्रता कभी-कभी स्वार्थपरता का स्वरूप धारण कर लेती है और जहाजी कम्पनियाँ पारस्परिक प्रतियोगिता में एक-दूसरे का गला घोटने को प्रस्तुत हो जाती है।

इस प्रतियोगिता के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) समुद्र एक ऐसा राजमार्ग है जो सभी के लिए समान रूप में खुला रहता है। बिना कोई मार्ग अधिकार प्राप्त किए हुए प्रत्येक जहाज समुद्र में जा सकता है और वह प्रत्येक देश के बन्दरगाहों पर माल उतारने-चढाने के लिए रुक सकता है। बन्दरगाह पर रुकने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाए जा सकते, केवल सुविधाओं के प्रयोग के लिए कम लगाए जा सकते, केवल सुविधाओं के प्रयोग के लिए कर लगाए जा सकते है।

(२) विश्व में एक चौथाई स्थल है और तीन चौथाई समुद्र अर्थात् किसी भी जहाज यात्रा का क्षेत्र अन्य परिवहन के साधनों के क्षेत्र से विस्तृत है।

(३) रेल की अपेक्षा पोत-व्यवसाय में कम पूँजी लगती है। अतः इस व्यवसाय को प्रारम्भ करना अथवा चलाना सरल है। एक तो यों ही कम प्रारम्भिक पूँजी की आवश्यकता होती है और यदि पूँजी भी न हो तो किराए पर जहाज लेकर सेवा चालू की जा सकती है।

(४) पोतचालन किसी मार्ग विशेष से रेल की भाँति बँधा हुआ नहीं होता। यदि एक मार्ग विफल रहता है तो दूसरे मार्ग पर सेवा चालू की जा सकती है।

(५) किसी देश के आन्तरिक साधन केवल अन्तर्देशीय प्रतियोगिता का सामना करते हैं। पोत-चालन उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है।

(६) अन्य परिवहन के साधनो को सभी देशो मे नियन्त्रित एव नियमित किया जाता है। जहाजी उद्योग कुछ सीमा तक नियन्त्रित नही किया जाता, वह स्वतन्त्र उद्योग समझा जाता है। इसके सगठन और सचालन के मूल-आधार अलिखित कानून और नियम है।

इस प्रतियोगिता के परिणाम भयानक होते है। न केवल प्रतियोगी कम्पनियाँ ही अपने विनाश का मार्ग खोल देती है, वरन् व्यापारी वर्ग को भी भारी क्षति उठानी पडती है। इस विनाशोन्मुख प्रवृत्ति से अनेक नई व छोटी कम्पनियाँ हार खाकर बैठ जाती है और व्यापारी वर्ग के लिए परिवहन सेवा का अभाव हो जाता है। प्रतियोगिता के इस द्वन्द्व युद्ध (Rate War) के समय भाडे की दरो की अस्थिरता भी उनके लिए कम हानिकारक नही होती। बने माल क वितरण अथवा कच्चे माल के सचय के सम्बन्ध मे न तो वह कोई दीर्घकालीन योजना बना सकते हैं और न लाभ की मात्रा का कोई ठीक-ठीक अनुमान लगा सकते हैं।

भयानक से भयानक युद्धो का अन्त भी सधि होता है। जब ये कम्पनियाँ लडते-लडते दमटूट हो जाती हैं तो उन्हे पारस्परिक सहयोग और समझौने की बात सूझती है। जैसे घोर अन्धकार से प्रकाश प्रस्फुटित होता है, उसी भाँति उनकी निराशा भरी विफलता से सहयोग रूपी सर्वोदय की झलक दिखाई देती है। वे आत्म-नियन्त्रण व आत्म-शासन पर उतारू हो जाती हैं, उनमे सगठन की भावना जाग्रत हो जाती है। सुदृढ सगठन स्थापित करने की नीयत से सभी प्रतियोगी कम्पनियाँ मिलकर व्यावहारिक नियम बनाती हैं और उनके पालन करने की प्रतिज्ञा करती हैं। इन्ही सम्मिलित प्रयत्नो अथवा समझौतो को पोत-सम्मेलन (Shipping Conference) अथवा पोत-गुट्ट (Shipping Rings) कहा जाता है।

पोत-संयोजन के रूप

जहाजी उद्योग मे सयोजन अथवा सम्मिलन के अनेक रूप हो सकते है: (१) सेवा समझौते (Service agreements), (२) पोत-सम्मेलन (Shipping Conferences), (३) निश्चित भाडा-समझौते (Fixed rate agreements), (४) सनिधि व्यवस्था (Pooling arrangement), (५) आस्थगित फिरोती सिद्धान्त (Deferred Rebate System) इत्यादि।

(१) **सेवा समझौते (Service Agreements)**—जहाजी सेवा के अनुसार सेवा समझौते दो प्रकार के हो सकते हैं. (क) ट्राम्प सेवा समझौते (Tramp Service ag eements) और (ख) लाइनर सेवा समझौते (Liner Service agreements)।

(क) **ट्राम्प सेवा समझौते**—अनियमित सेवा प्रदान करने वाली जहाजी कम्पनियो मे सामयिक सम्मेलन सम्बन्धी समझौतो का क्षेत्र और प्रभाव अत्यन्त सीमित है। ऐसा एक सम्मेलन १९०४ मे सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे उन जहाजी कम्पनियो के बीच यूरोप की मुख्य यात्राओ के सम्बन्ध मे निम्नतम भाडे की दरें निश्चित करने के लिये

हुआ था जो यूरोप के बन्दरगाहो तक सेवा प्रदान करती थी। इसका उद्देश्य हानि का बचाव था। ब्रिटेन मे पोत-स्वामियों के कुछ ऐसे संगठन (Association) हैं जिन्होंने समय-समय पर बड़े बन्दरगाहो के बीच भाड़ा-दरों को नियंत्रित करने का यत्न किया है। उनका मुख्य उद्देश्य बन्दरगाहो पर अनुकूल नियम-निर्माण; विदेशों की पोत-चालन नीति विरुद्ध सरकारी संरक्षण अथवा अन्य सुविधायें प्राप्त करना है।

(ख) लाइनर सेवा समझौते—नियमित सेवा प्रदान करने वाली जहाजी कम्पनियों मे विविध समझौते, सम्मेलन और संनिधि व्यवस्था सहज सम्भव है और उनका चलन बढ रहा है। लिखित समझौतो द्वारा सम्मेलन करके अथवा भद्र वार्ता द्वारा ये कम्पनिया प्रतियोगिता को सीमित करके हानि से बचने के यत्न करती हैं।

(२) **पोत-सम्मेलन**—सम्मेलन का सामान्य से सामान्य स्वरूप किसी मार्ग, क्षेत्र अथवा व्यापार विशेष की भाडे की दरें निर्धारित कर देना है। पारस्परिक समझौते के अनुसार प्रत्येक सदस्य दूसरे की अनुमति के बिना भाडे की दर मे हेर-फेर नही कर सकता। सन् १८८१ मे बम्बई सम्मेलन ने बम्बई-मानचेस्टर मार्ग पर दस प्रतिशत वृद्धि (Primage) के साथ ४० शिलिंग प्रति टन भाडा निर्धारित कर दिया था। तत्कालीन परिस्थितियो मे यह भाडा उचित एव युक्ति संगत समझा जाता था। कभी-कभी भाडे की दर निर्धारित करने के अतिरिक्त सदस्यों के क्षेत्र भी निर्धारित कर दिये जाते है। कोई सदस्य कम्पनी अपनी परिधि के बाहर दूसरे सदस्य के क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकती। प्रतिज्ञा भंग करने के लिये कुछ दण्ड का विधान भी होता है।

कभी-कभी ये सम्मेलन केवल सामयिक बैठको के रूप मे ही होते हैं। जिनमें भाड़ा-दरो, सेवा-सचालन अथवा अन्य पारस्परिक हित की बातो पर विचार-विमर्श होता है। कभी-कभी इनके स्थायी संगठन बन जाते हैं जिनके स्थायी कार्यालय, समितियाँ, नियम और दण्ड-विधान इत्यादि होते हैं। कभी-कभी इन्हे पोत-गुट्ट (Shipping rings) भी कहा जाता है।

(३) **निश्चित भाड़ा-व्यवस्था**—इस प्रकार के समझौते द्वारा सदस्य कम्पनियाँ वास्तविक किराया-भाडा अथवा उसकी दर निर्धारित कर लेती है। बहुधा निम्नतम भाड़ा-दरें निर्धारित करने की प्रथा प्रचलित है।

(४) **संनिधि व्यवस्था**—रेलो की भाँति जहाजी कम्पनियाँ भी अपनी सारी वार्षिक आय को एकत्र कर लेती हैं और इसे खर्च काट कर सदस्य कम्पनियो मे किसी निश्चित अनुपात में बाँट दिया जाता है। यह अनुपात उनकी संनिधि बनाने से पूर्व की वार्षिक आय के अनुसार निश्चित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी कम्पनी जहाजो की संख्या बढ़ाने का यत्न नही करती और पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।

(५) आस्थगित फिरौती सिद्धान्त (Deferred Rebate System)—उपर्युक्त समझौतो के अनुसार जहाजी कम्पनियो की प्रतियोगिता कम हो जाती है और उनके लाभ की मात्रा निश्चित हो जाती है। तो भी कभी-कभी पारस्परिक सहयोग के साथ-साथ पोतस्वामी अपने ग्राहको (shippers) के सहयोग की भी अपेक्षा करते है। इस सहयोग-प्राप्ति के लिए ग्राहको को कोई प्रलोभन देना आवश्यक है। यह प्रलोभन जिस युक्ति से दिया जाता है वह एक प्रकार की फिरौती होती है जिसे आस्थगित फिरौती (Deferred Rebate) कहते हैं। इसका सिद्धान्त इस प्रकार है :—

सम्मेलन की सदस्य कम्पनियाँ अपने-अपने ग्राहको के पास एक सूचना अथवा परिपत्र भेजती हैं और ग्राहको को यह सूचित करती हैं कि यदि वे किसी अवधि के अन्तर्गत (सामान्यत चार या छ महीने) अपना सारा माल सम्मेलन के सदस्यो के जहाजो से ही भेजते रहे और किसी ऐसे जहाज का प्रयोग न करें जो सम्मेलन का सदस्य न हो, तो उस सारे अवधि काल मे ग्राहक ने जितना भाडा किसी सदस्य कम्पनी को दिया है, उसका एक निश्चित भाग बहुधा १० प्रतिशत) उसके अपने एक हिसाब मे जमा कर दिया जाएगा। यह भी आग्रह किया जाता है यदि आगामी महीनो मे उतने ही और समय तक (अर्थात् चार या छ महीने) वह ग्राहक सम्मेलन के जहाजो के अतिरिक्त अन्य जहाजो का प्रयोग नही करता, तो उसके नाम पिछली अवधि मे जमा किया हुआ धन उसे आगामी अवधि (अर्थात् आठ या बारह महीने उपरान्त) काल मे दे दिया जाएगा। इस प्रकार दिया गया धन ग्राहक द्वारा दिए गए भाडे की एक फिरौती समझना चाहिए जिसका ग्राहक को देना किसी अवधि विशेष के लिए स्थगित कर दिया जाता है और उस अवधि काल म उसके भक्तिपूर्ण (Loyalty) व्यवहार पर निर्भर होता है। इस फिरौती को आस्थगित फिरौती (Deferred Rebate) कहा जाता है।

सिद्धान्त का भली भाँति समझने के लिए यह मान ले कि १ जनवरी १९४५ को इस प्रकार का समझौता किसी सम्मेलन और उसके ग्राहको के बीच हुआ जिसने ६ महीने की अवधि के लिए भक्ति भाव बरतने की बात निश्चित हुई, तो १ जनवरी से लेकर ३० जून १९५४ तक ग्राहक ने जितना रुपया भाडे के रूप म सम्मेलन की किसी सदस्य कम्पनी को दिया उसका लगभग दस प्रतिशत उसके नाम से हिसाब खोल कर उसमे जमा कर दिया जाएगा और १ जुलाई से ३१ दिसम्बर तक ग्राहक का व्यवहार और देखा जाएगा। यदि इन बारह महीने के दोनो अवधिकाल मे ग्राहक ने किसी बाहरी जहाज से माल ले जाने की चेष्टा नही की तो १ जनवरी १९५५ को कम्पनी उस ग्राहक को प्रथम अवधि का धन लौटा देगी तथा १ जुलाई ३१ दिसम्बर तक के समय मे उपार्जित उसकी आय के लिए १ जनवरी से ३० जून १९५५ तक उसका व्यवहार देखेगी। सन्तोषजनक व्यवहार दिखाने पर १ जुलाई १९५५ को उसका पिछली अवधि का धन लौटा दिया जाएगा। इस प्रकार ग्राहक को सम्मेलन

के जहाजों द्वारा माल लेजाने का प्रलोभन दिया जाता है। यदि कोई ग्राहक समझौते को भंग करता है तो वह फिरौती पाने का अधिकार खो बैठता है। प्रथम अवधि काल में भक्ति भाव बरतने पर ग्राहक उस काल की फिरौती का अधिकार प्राप्त कर लेता है, किन्तु द्वितीय अवधि काल में भी भक्ति भाव बरतने पर ही वह फिरौती वस्तुतः उसे मिल पाती है। यदि प्रथम अवधि में किसी ग्राहक ने भक्ति दिखा कर कुछ फिरौती का अधिकार प्राप्त किया, किन्तु द्वितीय अवधि काल में उसने थोड़ा भी माल बाहरी जहाजों से भेज दिया, तो वह दोनों कालों की फिरौती का अधिकार खो बैठता है। समझौता भंग करने वाले ग्राहकों को एक और भी दण्ड दिया जाता है। सम्मेलन की सभी सदस्य कंपनियाँ अपने जहाजों में इस ग्राहक का भविष्य में कोई भी माल ले जाने के लिए प्रस्तुत नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में वह ग्राहक संकट में पड़ सकता है, क्योंकि अन्य जहाजों में स्थान न मिलने पर उसका व्यापार नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इस भय की आशंका भी उसे पूर्ण भक्तिभाव बरतने के लिये बाध्य करती है।

फिरौती प्राप्त करने के लिए ग्राहक को लिखित प्रार्थनापत्र भर कर किसी निश्चित अवधि के अन्तर्गत कम्पनी के पास भेजना पड़ता है। यदि एक ही ग्राहक सम्मेलन की कई सदस्य कम्पनियों के जहाजों से माल भेजता है तो वह उन कम्पनियों से अलग-अलग फिरौती मांगता है। सम्मेलन का उसके प्रति कोई दायित्व नहीं होता।

दोष—(क) इस सिद्धान्त के द्वारा जहाजी सम्मेलन अपना एकाधिकार स्थापित करके ग्राहकों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं अथवा उसे अत्यन्त सीमित कर देते हैं।

(ख) सम्मेलन की जहाजी कम्पनियों के स्वामी अपने ग्राहकों को फिरौती द्वारा अपने साथ पूर्णतः बाँध लेते हैं और इस भांति किसी अन्य पोत-स्वामी का सेवा चालू करना असंभव बना देते हैं।

(ग) फिरौती के जब्त करने का भय दिखाकर ग्राहकों को सदस्य कम्पनियों के अतिरिक्त जहाजी कम्पनियों के जहाजों से अनुकूल अवसर पाने पर भी माल ले जाने से वंचित करती हैं। एक बार आस्ट्रेलिया-ब्रिटेन के व्यापार में सम्मेलन के एकाधिकार के कारण सरकारी जहाजों का चलना भी असंभव हो गया था।

(घ) कभी-कभी सम्मेलन की सदस्य कम्पनियाँ परस्पर भी प्रतियोगिता करने लगती हैं। यद्यपि सदस्य कम्पनियों के भाड़े की दरें निश्चित होती हैं और उनमें घटा-बढ़ी नहीं की जा सकती, तो भी वे कम्पनियाँ शीघ्र सुपुर्दगी और अधिक शिष्टाचार दिखाकर सीमित प्रतियोगिता करती पाई गई हैं।

(ङ) अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि आस्थगित फिरौती सिद्धान्त के अन्तर्गत बने सम्मेलनों के भाड़े की दरें स्वतन्त्र कम्पनियों की दरों से ऊँची होती हैं।

सम्मेलनों की इन समाज विरोधी चालों के कारण अनेक देशों में आस्थगित फिरौती सिद्धान्त को कानून द्वारा निषेध ठहरा दिया गया है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में इसे पोतचालन कानून १६१६ के अन्तर्गत समाप्त कर दिया गया था।

(६) **अन्य स्वरूप**—जहाजी कम्पनियाँ परस्पर ऐसे अनेक समझौते कर सकती हैं जिनके अ तर्गत कोई कम्पनी (क) कुल के एक निश्चित भाग से अधिक यातायात नही ले जा सकती, अथवा (ख) प्रत्येक कम्पनी के जहाजो की यात्राएँ निश्चित करदी जाये, अथवा (ग) जहाजो की माल-क्षमता अथवा कम्पनी का वार्षिक यातायात निश्चित कर दिया जाये अथवा (घ) बन्दरगाह निश्चित कर दिये जाये।

बहुधा पोत सम्मेलन या तो किसी मार्ग विशेष से सम्बन्धित होते है, या किसी व्यापार विशेष से। वे किसी यात्रा के लिए हो सकते हैं अथवा किन्ही भाडा-दरो के लिए। कभी-कभी तो कम्पनियाँ ही परस्पर सहयोग करती हैं, किन्तु कभी-कभी वे ग्राहको और मध्यस्थों एव दलालो को भी अपने साथ बाँध लेती है।

यदि सम्मेलन किसी मार्ग से सम्बन्धित होता है तो उस मार्ग पर सदस्य कम्पनियो का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। उनका प्रभाव इतना बढ जाता है कि वे उस मार्ग पर न नई कम्पनियाँ आने देती है और न पुरानी कम्पनियो को बिना सम्मेलन की सदस्यता के सेवा चालू रखने का अवसर देती है। उनकी सम्मिलित शक्ति के विरुद्ध किसी नवागन्तुक अथवा प्रतियोगी के लिए खडा रहना सर्वथा असभव होता है। कभी कभी मार्ग के स्थान पर किसी क्षेत्र विशेष के लिए सम्मेलन बनते हैं। द्वितीय युद्ध से पूर्व तक भारतीय तटीय व्यापार म ब्रिटेन की तीन जहाजी कम्पनियो का पूर्ण एकाधिकार था, यद्यपि सिंधिया भी सम्मेलन की सदस्य थी, किन्तु विदेशी कम्पनियाँ अपनी चालो से उसे उचित सेवा करने का अवसर नही देती थी। कभी-कभी किसी व्यापार विशेष के लिए सम्मेलन बनते है। ऐसे सम्मेलन का एकाधिकार उस व्यापार विशेष मे स्थापित हो जाता है और अन्य कम्पनियो को उस व्यापार की सेवा से वंचित रखती है। बहुधा सम्मेलन, किसी मार्ग विशेष की सेवा से सम्बन्धित होने है और उनका एकाधिकार उस मार्ग तक ही सीमित होता है।

सम्मेलन मे सम्मिलित होने वाली कम्पनियाँ मन-मानी भाडा-दरे ही नही लगाती, कभी-कभी ग्राहको को अपने साथ इस भाँति बाँध लेती हैं कि वे कभी किसी दूसरी कम्पनी की सेवा का उपयोग नही कर सकते। एक बार यदि कोई ग्राहक उनके चगुल मे फँस जाता है तो वह सदैव के लिए उनके साथ बँध जाता है।

आन्तरिक सगठन—सम्मेलन के आन्तरिक सगठन का स्वरूप सदस्यो के पारस्परिक समझौते पर निर्भर है। सब से सामान्य स्वरूप वह होता है जिसके अनुसार सम्मेलन मे भाग लेने वाली कम्पनियाँ समय समय पर विचार विनिमय के लिए, बहुधा पत्र-व्यवहार द्वारा, एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करती है। ऐसे अवसर उस समय आते है जब भाडे की दरो मे कोई परिवर्तन करना होता है। इस प्रकार के सम्मेलन के लिए किसी प्रकार के सगठन की आवश्यकता नही होती।

कभी-कभी कोई छोटी और दुर्बल कम्पनी किसी बडी शक्तिशाली कम्पनी के भाडे की दरो को मानने को राजी हो जाती है। इस स्थिति मे भी पत्र-व्यवहार द्वारा

समझौता हो जाता है और किसी विशेष प्रकार के संगठन की कोई आवश्यकता नहीं होती।

उच्च कोटि का संगठन स्थापित करने की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब कि पत्र-व्यवहार द्वारा काम नहीं चलता और सदस्य कम्पनियों को किसी सम्मिलित अधिवेशन अथवा बैठक की आवश्यकता प्रतीत होती है। ये बैठके (Meetings) नियमित भी हो सकती हैं और सामयिक भी। इन बैठकों में पारस्परिक हित साधन की बातों पर वाद-विवाद व समझौते किए जाते हैं। ये समझौते भाड़े की दरों, सेवा के स्वरूप, अथवा अन्य बातों से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे सम्मेलनों को किसी न किसी प्रकार का संगठन रखना आवश्यक होता है। बैठकों के लिए कोई सुविधाजनक स्थान, कुछ अधिकारी, कुछ कर्मचारी, कुछ धन इत्यादि बातें आवश्यक होती हैं।

कभी-कभी सम्मेलनों का अपना अलग दफ्तर होता है जिसमें स्थायी रूप में अधिकारी व कर्मचारी रखने पड़ते हैं तथा दैनिक काम काज की देख-भाल के लिए समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। ऐसे सम्मेलनों की नियमित रूप में बैठकें होती हैं; सम्मेलनों का कोई विधान व नियम होते हैं तथा नियम भंग करने वालों के लिए दण्ड का विधान किया जाता है। ऐसे सम्मेलन सदैव सदस्यों के हित साधन में लगे रहते हैं। उन्हें सदस्यों के हिसाब-किताब व कागज-पत्र देखने, जाँचने व आँकड़े एकत्रित करने का अधिकार होता है। सम्पादित आँकड़ों को सदस्यों के सूचनार्थ उनके पास भेजा जाता है। उनसे लाभदायक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सम्मेलन के भाड़े की दरों पर नियन्त्रण रखना, सदस्यों से चन्दा वसूल करना उनके पारस्परिक भेद-भाव दूर करना, अनेक काम सम्मेलनों को करने पड़ते हैं।

सम्मेलन के लाभ—सम्मेलन के समर्थकों द्वारा उसके निम्न मुख्य लाभ बतलाए जाते हैं :—

(क) नियमित सेवा (Regular Sailings)।

(ख) भाड़े की स्थायी दरें (Stable Rates of Freight)।

(ग) उच्च कोटि के जहाज (High Class Steamers)।

(घ) भाड़े की दरों में समता (Uniform Rates of Freight) व कमी।

हानियाँ—सम्मेलनों के विरुद्ध कई बातें कही जाती हैं। उन पर सबसे बड़ा लाछन यह लगाया जाता है कि सम्मेलन बनने से पोत व्यवसाय में एकाधिकार स्थापित हो जाता है जो अपने अनेक दुर्गुणों द्वारा व्यापारी वर्ग को हानि पहुँचाता है। प्रतियोगिता सीमित होने के कारण भाड़े की दरें ऊँची हो जाती हैं। यह अनुभव से सिद्ध हो चुका है। यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन बनने से प्रतियोगिता का सर्वथा अन्त हो जाता है। बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। जो कम्पनियाँ सम्मेलन की सदस्य नहीं उनके प्रति प्रतियोगिता जारी रहती है और वे कम्पनियाँ उस शक्तिशाली एकाधिकार की प्रतियोगिता में बहुधा ठहर नहीं सकती। कभी-कभी यहाँ तक कहा जा सकता है कि सम्मेलन के सदस्यों में भी परस्पर प्रतियोगिता होने लगती है।

इसम सन्देह नही कि फिरौती के सिद्धान्त द्वारा सम्मेलन अपने ग्राहको की स्वतन्त्रता को बहुत कुछ सीमित कर देते है और इस प्रकार नई पोत कम्पनियो के क्षेत्र मे आने के लिए सर्वथा मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह प्रवृत्ति विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिए और विशेषत भारत जैसे विस्तृत एव अविकसित देश के लिए भयानक है।

नियमित सेवा, भाडे की दरो की स्थिरता व समता, उच्च कोटि के जहाजो का प्रयोग, इत्यादि सम्मेलनो के कथित लाभ भी वास्तविक नही कहे जा सकते, क्योकि सम्मेलनो के जन्म से पूर्व भी ये सब लाभ ग्राहको को उपलब्ध थे और अब भी जिन क्षेत्रो मे सम्मेलन नही है, वहाँ भी ये सब सुविधाएँ प्राप्त हैं।

तो भी पोत-व्यवसाय मे सम्मेलन तीन-चौथाई शताब्दी से अधिक समय से चल रहे हैं और अब इनका प्रभाव विश्वव्यापी हो चुका है। विश्व के एक बडे भाग पर इनका अधिकार एव नियन्त्रण है। अस्वस्थ प्रतियोगिता और विनाशकारी स्वार्थ-परता को सीमित करने मे सम्मेलनो ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सम्मेलनों का इतिहास—उन्नीसवी शताब्दी मे पोतचालन व्यवसाय मे किसी देश की सरकार की न कोई रुचि थी, न कोई नियन्त्रण। सभी देशो के पोतचालक अपूर्व स्वच्छन्दता बरतते थे। उनके अपने अलग-अलग नियम थे। ऐसी स्थिति मे विनाशकारी प्रतियोगिता उस काल की एक सामान्य घटना थी। इस विनाशकारी प्रवृत्ति से बचने के लिए कलकत्ता के साथ व्यापार करने वाली पाश्चात्य जहाजी कम्पनियो ने सन् १८७५ मे पहली बार सम्मेलन बनाने का निश्चय किया। इस सम्मेलन का नाम कलकत्ता सम्मेलन रखा गया जिसने सदस्यो के भाडे, सेवा इत्यादि नियमबद्ध कर दिए। १८७७ मे मानचेस्टर के वस्त्र यातायात मे सर्वप्रथम आस्थगित फिरौती सिद्धान्त लागू किया गया। इससे लाभ होते देखकर कम्पनियो ने इसके प्रयोग अन्य व्यापार व व्यापारिक क्षेत्रो म भी किए। १८७९ मे चीन के व्यापार मे, १८८४ में आस्ट्रेलिया के व्यापार मे, १८८६ में दक्षिणी अफ्रीका के व्यापार मे, १८९५ मे पश्चिमी अफ्रीका व उत्तरी ब्राजील के व्यापार मे, १८९६ मे प्लेट नदी व दक्षिणी ब्राजील के व्यापार मे तथा १९०४ मे दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के व्यापार मे इस जारी किया गया। इस भाँति उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक पोत-व्यवसाय का यह एक आवश्यक अग बन गया और तब से इसका विस्तार व प्रचार अधिकाधिक होता चला गया है।

भारतीय विदेशी व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले इस समय लगभग ३२ सम्मेलन हैं जिनमे से मुख्य निम्नांकित है :[1]

भारत-ब्रिटेन-यूरोप के बीच :

(१) कलकत्ता पंक्तियान सम्मेलन (Calcutta Liners Conference)—कलकत्ता से ब्रिटेन के मुख्य बन्दरो तक।

1. Indian Shipping, Vol 4, Nos. 11, 12 (Nov -Dec. 1952)—pp. 26 27 and vol. IX, No. 3 (March, 1957) pp. 21-22.

(२) कलकत्ता यूरोप सम्मेलन (Calcutta Continental Conference)—कलकत्ता से बेल्जियम, हालैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, नार्वे व स्वेडन के मुख्य बन्दरों तथा वाल्टिक सागर के सभी बन्दरगाहों तक।

(३) कर्महम सम्मेलन (Karamhom Conference)—बम्बई, मारमागोआ, काठियावाड के बन्दर तथा करांची से ब्रिटेन व यूरोप के सभी मुख्य बन्दरगाहों तक। ट्रीम्ट, नेपिल्स, जिनोआ, मारसेल्स, वार्सिलोना, , देलेशिया, हावरे, बोलोन, डनकिर्क, एंटवर्प, राटरडम; एम्स्टर्डम, ब्रेमिन, हैम्बर्ग, केपिनहेगिन, ओस्लो, गोथिनवर्ग ,तथा डायना इत्यादि यूरोप के बन्दरगाह इसमे सम्मिलित हैं।

(४) मद्रास स्वदेशी भाड़ा सम्मेलन (Madras Homeward Freight Conferece)—तथा

(५) मद्रास यूरोपीय सम्मेलन (Madras Continental Conference)—मद्रास व पाण्डुचेरी से ब्रिटेन, आयरलैंड एव यूरोप के बन्दरगाहो तक।

(६) चिटगाँव-ब्रिटेन-यूरोप सम्मेलन (Chittogong. U. K., Continental Conference)—चिटगांव से ब्रिटेन, बेलजियम, हालैएड, जर्मनी, डेनमार्क, नार्वे, स्वेडन तथा वाल्टिक सागर के बन्दरगाहो तक।

(७) विजगापट्टम, स्वदेशीय सम्मेलन (Vizagapattam Homeward Conferncc)—विजगापट्टम से ब्रिटेन के बन्दरगाहो तक।

(८) मालाबार तट स्वदेशीय सम्मेलन (Malabar Coast Homeward Conference)—कालीकट व कोचीन से ब्रिटेन के बन्दरगाहो तक।

(९) यूरोप मालाबार तट सम्मेलन (Continental Malabar Coast Cenference)।

(१०) वाह्य ब्रिटेन-बम्बई/करांची सम्मेलन (Outward U. K-Bombay/Karachi Conference)।

(११) वाह्य यूरोपीय-बम्बई/करांची सम्मेलन (Outward Continental Bombay/Karachi Conference)।

(१२) वाह्य कलकत्ता सम्मेलन (Outward Calcutta Conference)। ब्रिटेन के बन्दरगाहो से कलकत्ता तक।

(१३) वाह्य मद्रास व कलकत्ता सम्मेलन (Outward Madras and Calcutta Conference)—ब्रिटेन-यूरोप से भारत के पूर्वी तट तक।

(१४) पश्चिमी इटली-भारत-पाकिस्तान-सम्मेलन (Western Italy-India Pakistan Conference)।

(१५) पश्चिमी इटली-लंका सम्मेलन (Western Italy-Ceylon Conference)।

(१६) यूरोप-कोलम्बो सम्मेलन (Continent-Colombo Conference)।

(१७) यूरोप-अदन सम्मेलन (Continent-Aden Conference)।

(१८) यूरोप-पोर्ट सूडान सम्मेलन (Continent Port Sudan Conference)।

(१६) यूरोप-पोर्ट सय्यद सम्मेलन (Continent-Port Said Conference)।
(२०) पश्चिमी इटली-भारत पाकिस्तान-लंका-ब्रह्मा सम्मेलन (Western Italy-India-Pakistan Ceylon-Burma Conference)।
(२१) मार्सेल्ज-भारत सम्मेलन (Marseilles-India Conference)।
बम्बई की सिंधिया कम्पनी (Scindia Steam Navigation Company) तथा कलकत्ता की भारत स्टीमशिप कम्पनी (India Steamship Company) इन सम्मेलनो के सदस्य हैं।

भारत व अमेरिका के बीच :

(१) कलकत्ता-संयुक्त-राष्ट्र सम्मेलन (Calcutta-U S A Conference)—कलकत्ता से बाल्टीमोर, नारफाक, फिलेडलफिया, बोस्टन तथा न्यूयार्क इत्यादि उत्तरी अटलांटिक बन्दरगाहो तक।
(२) भारत लंका-पाकिस्तान तथा ब्रह्मा बाह्य भाड़ा समिति (India, Ceylon, Pakistan and Burma Outward Freight Committee)—संयुक्त राष्ट्र के उत्तरी अटलांटिक मे स्थित बन्दरगाहो से बम्बई, करांची, काठियावाड के बन्दरगाह, मारमागोम्रा, कलकत्ता, मद्रास, कोलम्बो, रंगून तथा अन्य भारतीय बन्दरगाह।
(३) भारत संयुक्त राष्ट्र पंक्तियान सम्मेलन (India-U S A Liners Conference)—भारत के पश्चिमी तट के बन्दरगाहो व पश्चिमी पाकिस्तान के बन्दरगाहो से अटलांटिक मे स्थित संयुक्त-राष्ट्र के बन्दरगाह तथा मैक्सीको की खाडी के बन्दरगाहों तक।
सिंधिया कम्पनी इन तीनों सम्मेलनों की सदस्य है —

भारत-सुदूरपूर्व व आस्ट्रेलिया के बीच

(१) कलकत्ता-सुदूरपूर्व सम्मेलन (Calcutta-Far East Conference)
(२) बम्बई सुदूरपूर्व सम्मेलन (Bombay Far East Conference)
(३) बम्बई-मलाया व्यापार सम्मेलन (Bombay Straits Trade Conference)
(४) भारत-न्यूजीलेंड व्यापार सम्मेलन (India-Newzealand Trade Conference)
(५) बम्बई-आस्ट्रेलिया सम्मेलन (Bombay-Australia Conference)
(६) कलकत्ता-आस्ट्रेलिया सम्मेलन (Calcutta-Australia Conference)
(७) मालाबार व्यापारिक समझौता (Malabar Trade Agreemert)—अलिपे, कोचीन, कालीकट व तैलीचेरी से आस्ट्रेलिया तक।
(८) बंगाल की खाडी-जापान-बंगाल की खाडी सम्मेलन।
पूर्वी पोतचालन निगम (Eastern Shipping Corporation) इनमे से अंतिम पांच की सदस्य है।

३७.

बन्दरगाह-विकास

(Port Development)

बन्दरगाह पोतचालन का एक अभिन्न अंग है। बन्दर-विकास के बिना पोतचालन के विकास की कल्पना नही की जा सकती। बन्दर विकास और विस्तार सामुद्रिक और स्थलीय दोनो प्रकार के परिवहन के सुचारु संचालन मे आवश्यक कड़ी का काम देता है। अतएव किसी देश के औद्योगिक विकास और व्यापारिक विस्तार से पूर्व बन्दर विकास अनिवार्य है। इस समय जो अनेक विकास योजनायें छिड़ी हुई हैं उन्हें देखते हुए देश के बन्दरगाहो के विकास और सुधार की योजनाओ का महत्व समझने मे कठिनाई नही होनी चाहिए।

बन्दरगाह के कार्य

किसी बन्दरगाह का मुख्य कार्य माल और यात्रियों के लिए जहाज और समुद्रतट के बीच मार्ग उपस्थित करना है। यह मार्ग सुसज्जित जहाजघाट (docks), उपघाट (quays), जहाजमंच (berths), जेटी (jetties), इत्यादि के द्वारा उपलब्ध किया जाता है। आँधी, लहरो और तरंगो से बचाव के लिए कभी महत्वपूर्ण बन्दरगाहो पर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम आश्रयस्थान (harbours) होते हैं। बन्दरगाह का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उस पहुँचधार को मिट्टी हटाकर गहरे बनाए रखना है जो समुद्र और जहाजघाट को जोड़ती है। जहाजो के लिए सुरक्षा-व्यवस्था करना भी बन्दरगाह का ही कार्य है। जहाजघाट पर माल लाने-लेजाने के लिए वे रेल, सड़क अथवा जलमार्ग द्वारा अपने पृष्ठदेश से जुड़े रहते हैं। मार्गवर्ती माल के सुरक्षित रखने के लिए बन्दरगाहो पर छावन (sheds) और भण्डार (warehouses) इत्यादि होते है, बिजली पानी तथा जलावन (bunkering) की व्यवस्था होती है। कुछ महत्वपूर्ण बन्दरगाहो की अपनी रेलें, तरणियां (tugs), नावें (barges), अग्नि-निरोध इकाइयां, दीप-स्तम्भ, प्रकाश-चिन्ह, तार-सचार एवं अन्य सुविधायें भी होती हैं। कर्मचारियो और मजदूरो के लिए आवास-व्यवस्था, अस्पताल, दवाखाने, उपाहारगृह तथा शिक्षा संस्थायें भी होती हैं। जो जहाज बन्दरगाह पर आकर रुकते हैं उनके

अनुरक्षण (maintenance) की व्यवस्था भी स्वाभाविक है। इन सब सेवाओं और सुविधाओं के लिए अमित धन की आवश्यकता होती है। किसी बन्दरगाह द्वारा इन सेवाओं और सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था करने के लिए इतने कर लगाने चाहिये जो उक्त सारा व्यय वसूल करने के लिए पर्याप्त हो सकें। अतएव कर-व्यवस्था भी बन्दरगाह का एक स्वाभाविक कार्य है।

३५०० मील लम्बे विस्तृत भारतीय समुद्रतट पर ६ बड़े बन्दरगाह (Major Ports), लगभग २२६ छोटे बन्दरगाह (Minor Ports), और १८ मँझले बन्दरगाह (Intermediate Ports) हैं। २२६ छोटे बन्दरगाहो मे लगभग १५६ बन्दरगाह चालू अवस्था मे हैं। इनम से २ उड़ीसा मे, १८ मद्रास म, १२ केरल म, ६ आन्ध्र म, २१ मैसूर मे और ९७ बम्बई म हे। शेष छोटे बन्दरगाह सुषुप्त अवस्था म है।

छोटे और बड़े बन्दरगाह

बडे और छोटे ब दरगाह म कोई निश्चित अन्तर नही है, यह अन्तर बहुत कुछ ऐच्छिक एव काल्पनिक है। अतएव किसी बन्दरगाह के विषय मे हम तुरन्त यह नही कह सकते कि यह छोटा बन्दरगाह है और वह बडा। यद्यपि किसी बन्दरगाह का आकार अर्थात् यातायात सभालने की क्षमता उसके इस अन्तर को जताने का महत्वपूर्ण मापदण्ड माना जाता है, किन्तु ब दरगाहो का वर्गीकरण एकमात्र आकार पर ही निर्भर नही। उसके लिए कई बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। केन्द्रीय आधिपत्य बडे ब दरगाह का सब से बडा लक्षण है। यदि किसी छोटे बन्दरगाह की वित्त-व्यवस्था उसके आकार अथवा अ य कारणो से केन्द्रीय सरकार के अधिकार म चली जाए तो उस बन्दरगाह की गिनती बडे बन्दरगाहो मे की जाने लगती है। अन्य सभी ब दरगाह जिन पर केन्द्र का आधिपत्य नही होता छोटे बन्दरगाह माने जाते है। चाहे उन मे से किसी बन्दरगाह से आने जाने वाला यातायात बडे ब दरगाह के यातायात से भी अधिक क्यो न हो। छोटे-बडे बन्दरगाह का व्यावहारिक अ तर कई बातो पर निर्भर है। बडा बन्दरगाह व्यावहारिक दृष्टि मे उसे कहा जा सकता है जिसका बन्दर पूर्णत सुरक्षित हो, जहा पहुँच-मार्ग (approach channels) भली भाति बन हो, जहा जहाजघाट (docks) जेटी (jetty) तथा मूरिंग (Moorings) की पर्याप्त सुविधाये हो, जहाँ मार्गवर्ती छाजन (transit sheds) व्यवस्था अच्छी हो, जहाँ रेल-पथ सयोग (rail connections) प्रभावशाली हो, जिससे बन्दर के पीछे के पृष्ठदेश (hinterland) को सेवा प्रदान करने की समुचित शक्ति हो, जहा देशरक्षा तथा सैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने की सुविधाये हो, तथा जहा यातायात की अधिक मात्रा और जहाजो के लिए वर्ष भर काम देने की अपेक्षाकृत सभावना अधिक हो। इन सब विशेषताओ के अतिरिक्त बडे बन्दरगाह मे एक गुण जहाजो को शीघ्रता से फेरने (turn round) की योग्यता भी है। बडे बन्दरगाह पर बडे-बडे आधुनिक जहाज आसानी सरलता से ठहर सकते और माल उतार-चढा सकते है, किन्तु छोटे

बन्दरगाह पर जहाजो को तट से कुछ दूर ही लंगर डालना पड़ता है और धुँआकशो अथवा नावों द्वारा माल उतार कर तट तक लाया जाता है और इसी भाँति तट से जहाज पर लादने के लिए माल ले जाया जाता है।

यातायात के दृष्टिकोण से इस देश में एक लाख टन वार्षिक से अधिक यातायात संभालने वाले बन्दरगाह को बड़ा, एक लाख टन वाले को मंझला (Intermediate) एक लाख टन से कम १५०० टन तक वाले को छोटा और १५०० टन से कम यातायात वाले को उपबन्दर (Sub-port) माना जाता है। सामान्यतः बड़े बन्दरगाह के लिए १०,००,००० टन वार्षिक यातायात स्वीकार किया जाता है। श्री के० वी० वैद्य ने बड़े और मझले बन्दरगाह के बीच का एक और वर्ग बताया है जिसे वे बड़ा उपबन्दर (Submajor port) कहते हैं।[1] बड़े उपबन्दर का न्यूनतम वार्षिक यातायात ५०,००० टन वार्षिक माना गया है। इस वर्ग के अन्तर्गत (१) मंगलौर, (२) भावनगर (३) ओखा (४) पोरबन्दर, (५) वीरावल, (६), बेदी, (७) नवलक्खी, (८) कालीकट (कोजीकोद), (९) कडालौर, (१०) काकिनाडा, (११) अलिप्पी, (१२) भड़ौच तथा (१३) कोइलथोतम इत्यादि के नाम गिनाए गये हैं।[1] तूतीकोरन को श्री वैद्य का एक अलग स्वतन्त्र वर्ग बताते हैं, क्योंकि बड़े बन्दरगाहों की भाँति इसका न्यासधारी मण्डल (Board of Trustees) है जिसका सभापति केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त होता है। यहाँ यातायात की मात्रा भी बड़े उपबन्दरों की अपेक्षा अधिक है।

बड़े बन्दरगाहों का सारा उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार के ऊपर है और अन्य सब बन्दरगाह राज्य की सरकारों के अधिकार में है। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास का प्रबन्ध वैधानिक पत्तन-अधिकारियों (Statutory Port Authorities) द्वारा किया जाता है, यद्यपि ये अधिकारी केन्द्रीय सरकार की देख-रेख और नियन्त्रण में काम करते है। कोचीन, विशाखापत्तनम और कांधला का प्रबन्ध-प्रशासन केन्द्रीय सरकार स्वयं करती है। सभी बन्दरगाहों के प्रबन्ध-प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में समता लाने के विचार से बन्दर न्यास एवं बन्दर (संशोधन) कानून (Port Trusts and Ports Amendment Act) १९५१ में बनाया गया था। बन्दर-विकास सम्बन्धी नीति निर्धारण के लिए सन् १९५० में भारत सरकार ने राष्ट्रीय पत्तन बोर्ड (National Harbour Board) की स्थापना की जिसमें भारत सरकार, सामुद्रिक राज्य और बड़े बन्दरों के अधिकारी प्रतिनिधि है। समय-समय पर बोर्ड की बैठकें होती है और नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

बड़े बन्दरगाह (Major Ports)

बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कोचीन, विशाखापत्तनम और कांधला भारत के बड़े बन्दरगाह है। ये बन्दरगाह सामुद्रिक व्यापार में भाग लेने वाले चार हजार टन

1. Kajbee's Indian Shipping Annual, 1951, pp. 417-18.

अथवा अधिक भार क्षमता के जहाज ठहराने मे समर्थ है। देश के विभाजन के समय पाच बडे बन्दरगाहो की यातायात क्षमता २०० लाख टन के लगभग थी। विकास योजना के कार्यान्वित होने और काधला के बनने के उपरान्त अब इनकी क्षमता ३१० लाख टन हो गई है। द्रुतगति से होते हुए आर्थिक विकास और यातायात वृद्धि के कारण इन बन्दरगाहो की यह क्षमता अपर्याप्त है। यातायात के जमघट, रुकावट और देरी की घटनाये नित्य प्रति देखने म आती हैं जिनका अस्वस्थ प्रभाव व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धन्धा तथा देश की अर्थ-व्यवस्था पर पडता है। अतएव उनकी यातायात क्षमता बढाने की नितान्त आवश्यकता है।

यद्यपि भारतीय समुद्रतट पर लगभग २३० बन्दरगाह हैं, किन्तु देश के विदेशी सामुद्रिक व्यापार का एक बडा भाग बम्बई, कलकत्ता और मद्रास बन्दरगाहो से ही होता है। १९५९-६० मे छहो मुख्य बन्दरगाहो से ३.१० करोड टन माल का आवागमन हुआ जिसम से २.५५ करोड टन माल (अर्थात् ८२%) केवल इन्ही तीन बन्दरगाहो से आया-गया। छोटे सभी क्रियाशील बन्दरगाहो से लगभग ५० लाख टन माल का व्यापार होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छोटे-बडे सभी बन्दरगाहो के कुल व्यापार के ७०% के लिए बम्बई, कलकत्ता और मद्रास ही उत्तरदायी हैं। कुछ वर्षों का इन बन्दरगाहो का यातायात निम्न तालिका मे दिया गया है :—

भारत के बड़े बन्दरगाहो का वार्षिक व्यापार
(लाख टन)

	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६०
बम्बई	१३१·१०	११७·५१	१३१·४६
कलकत्ता	१०१·५७	९१·९८	९६·२९
मद्रास	२६·७६	२४·४०	२७·१९
कोचीन	१८·००	१७·८०	१९ ४६
विशाखापत्तनम	२४·९३	२५ ०४	२४·४७
काधला	८·४४	१०·७०	११·२४
कुल व्यापार	३१०·८०	२८७·४३	३१०·१२

विकास योजनाएँ

स्वतन्त्रता के उपरान्त बन्दरगाहो के विस्तार और आधुनिकीकरण की समस्या विशेष महत्वपूर्ण हो गई थी। युद्धकालीन कार्य-भार के कारण बडे बन्दरगाहो की साज-सज्जा और सुविधाएँ अत्यन्त क्षीण हो गई थीं। कराँची पाकिस्तान मे चला गया और भारत के पास केवल पाच बडे बन्दरगाह रह गए जिनकी वार्षिक यातायात-क्षमता लगभग २ करोड टन थी। यह देश की बढती हुई आवश्यकताओ के लिए अत्यन्त अपर्याप्त थी। अतएव एक कठिन समस्या कराँची का स्थान लेने के लिए

पश्चिमी तट पर एक बड़े बन्दरगाह का विकास था। कई समितियों और आयोगों की रचना की गई जिन्होंने बन्दर विकास की योजनाएँ बनाईं। इनके सुझावों को भारत सरकार ने सामान्यतः स्वीकार कर लिया। पश्चिमी तट बड़े बन्दरगाह विकास समिति (अप्रैल १६४८) के अनेक सुझावों के अनुसार कांधला को बड़े बन्दरगाह में परिवर्तित करने का कार्यक्रम उठाया गया। सन् १६५० में भारत सरकार ने बन्दरगाहों के विकास से सम्बन्धित आवश्यक परामर्श के लिए राष्ट्रीय हार्बर बोर्ड की स्थापना की। १६५१ में भारत सरकार ने छोटे बन्दरगाहों का एक विशेष सर्वेक्षण कराके इन बन्दरगाहों के विकास की ओर भी ध्यान दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में बन्दर-विकास के निम्नांकित मुख्य उद्देश्य अपनाए गए: (१) बन्दर-सुविधाओं का आधुनिकीकरण और पुनर्स्थापन, (२) अतिरिक्त घाट व गोदी सुविधाएँ बढ़ा कर कोचीन और मद्रास की कार्य-क्षमता बढ़ाना, (३) कांधला को बड़े बन्दरगाह में परिवर्तित करना, (४) बम्बई और विशाखापत्तनम में तेल उतारने-चढ़ाने के घाट बनाना, तथा (५) कुछ महत्वपूर्ण छोटे बन्दरगाहों के सुधार कार्य करना।

प्रथम योजना में बन्दरगाहों के विकास के लिए ३३ करोड़ रुपए नियत किए गए थे (जिसे कालान्तर में बढ़ा कर ३७ करोड़ रुपए कर दिया गया था)। वास्तविक व्यय केवल २७.५७ करोड़ रुपए हुआ। उस समय देश में पांच बड़े बन्दरगाह थे जिनकी कार्य-क्षमता २ करोड़ टन थी जो योजना के अन्त तक २.५ करोड़ टन हो गई।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत उन आयोजनाओं के पूरा करने का कार्यक्रम उठाया गया जिन्हें प्रथम योजना में प्रारम्भ किया गया था। साथ ही साथ कलकत्ता, मद्रास, विशाखापत्तनम एवं कोचीन में अतिरिक्त घाट सुविधाएँ करने का निश्चय किया गया। योजना के प्रथम दो वर्षों में भारी-भारी वस्तुओं के आयात के कारण भारी जमघट हो गया। इस जमघट को दूर करने के निमित्त बड़े बन्दरगाहों की कार्य-क्षमता बढ़ते हुए यातायात के अनुरूप बढ़ाने का यथाशक्ति यत्न किया गया। हुगली नदी की बिगड़ती हुई परिचालन स्थिति पर काबू पाने के लिए कलकत्ता के निकट नदी की गहराई बनाए रखने का एक विशेष कार्यक्रम छेड़ा गया। इस भाँति बड़े बन्दरगाहों की कार्य-क्षमता द्वितीय योजना के अन्त तक ३.३ करोड़ टन हो गई।

द्वितीय योजना में बन्दरगाहों के विकास के लिए ६६ करोड़ रुपए दिए गए थे, किन्तु वास्तविक व्यय केवल ३३.४ करोड़ रुपए हुआ।

तृतीय योजना में उन्हीं परियोजनाओं को पूरा करने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया है जिन्हें द्वितीय योजना में अथवा उससे पूर्व चालू किया जा चुका था। केवल बम्बई बन्दरगाह पर गोदी सुविधाओं के विस्तार एवं आधुनिकीकरण की व्यवस्था की गई है; अन्य बन्दरगाहों की क्षमता बढ़ाने की कोई परियोजनाएँ तृतीय

योजना मे नही सम्मिलित की गई । तृतीय योजना का मुख्य उद्देश्य बन्दरगाहो की वर्तमान सुविधाओ को ठीक स्थिति म रखना एव उनका सुधार है। उन परियोजनाओ के पूर्ण होन पर जिन्हे द्वितीय योजना को अवधि म प्रारम्भ किया गया था, यह आशा की जाती है कि बडे बन्दरगाहो की कार्य-क्षमता ४६ करोड टन हो जाएगी जो कि तृतीय योजना की अवधि म बढे हुए यातायात के लिए पर्याप्त होगी।

हाँ, कलकत्ता बन्दरगाह की स्थिति सुधारने के लिए दो महत्वपूर्ण कार्यक्रम तृतीय योजना म अवश्य सम्मिलित किए गए हैं: (क) हलदिया नामक स्थान पर कलकत्ता का एक सहायक बन्दरगाह बनाना, (ख) गगा पर फरक्का नामक स्थान पर एक बाँध बनाना। हलदिया कलकत्ता से ५६ मील नीचे है। यहाँ कोयला, खनिज लोहा, खाद्यान्न इत्यादि एक साथ अधिक परिमाण म जाने वाले माल के उतारने-चढाने की सुविधाएँ की जायेगी। सामान्य माल और वस्तुओ की लदाई कलकत्ते से होती रहगी। इस योजना का अनुमानित व्यय २५ करोड रुपए है। तृतीय योजना मे इसके लिए ७ करोड रुपए दिए गए हैं। इस योजना का एक बडा भाग चतुर्थ योजना के लिए बच रहेगा।

गगा बाँध-योजना हुगली नदी को परिवहन योग्य बनाए रखने और कलकत्ता बन्दरगाह के सुधार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण समझी जाती है। इस बाँध के बनने से हुगली नदी मे अधिक पानी रह सकेगा और इस भाति उसे नौपरिवहन के लिए प्रयोग किया जा सकेगा। इस योजना का कुल अनुमानित व्यय ५६ करोड रुपए है और नव-वर्षीय कार्यक्रम के अनुसार तृतीय योजना मे इसके निमित्त २५ करोड रुपए का अनुमान है।

योजना आयोग ने बडे बन्दरगाहो के लिए तृतीय योजना मे ७५ करोड रुपए के व्यय का अनुमान लगाया है जिसका बँटवारा इस भाँति किया गया है, कलकत्ता २८·५५ क० रु०, बम्बई २५·६१ क० रु०, मद्रास ७·३२ क० रु०, कोचीन १·७३ क० रु०, विशाखापत्तनम ६·२८ क० रु०, काधला ४·३० क० रु० तथा १·२१ क० रु० सुरक्षित रखे गए हैं। इसम ३७ क० रु० द्वितीय योजना से लाई गई परियोजनाओ के और ७ क० रु० हलदिया योजना के भी सम्मिलित हैं।

योजना म तूतीकोरन और मगलौर को बारहमासी बन्दरगाहो म परिवर्तित करने का *कार्यक्रम भी सम्मिलित किया गया है* जिसका अनुमानित व्यय १० करोड रुपए है। ८० करोड रुपए बडे बन्दरगाहो के और २५ करोड रुपए फरक्का बाँध के तथा १५ करोड रुपए छोटे बन्दरगाहो के मिला कर तृतीय योजना मे बन्दरगाहो पर कुल १३० क० रु० के व्यय का अनुमान है।

मँझले और छोटे बन्दरगाह (Intermediate and Minor Ports)

गत वर्षों म बडे बन्दरगाहो मे भारी भीड-भाड और जमघट की घटनाये साधारणत: देखने मे आई हैं। यद्यपि यह देश की विकासो-मुख आर्थिक स्थिति और बढने

हुए यातायात का सूचक है, किन्तु इसमे व्यापारी-व्यवसायी वर्ग को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और हानि भी सहनी पड़ती है। इसका अस्वस्थ प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त अनेक ऐसे यत्न किए गए हैं जिनमें यह जमघट कम हो, किन्तु स्थिति मे विशेष सुधार नहीं हुआ। कारण यह है कि पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के समय से ही देश का उत्पादन और यातायात इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि हमारे सारे सुधार सम्बन्धी यत्न उससे पीछे छिकते जाते है। इस सम्बन्ध मे एक विचारणीय विचित्र बात यह है कि जहाँ कुछ बड़े बन्दरगाहों मे इस भाँति भीड-भाड और जमघट दिखाई देता है वहाँ कुछ अन्य बन्दरगाहों (कोचीन, काँधला, भावनगर, ओखा इत्यादि और अनेक मँझले और छोटे बन्दरगाहो) की क्षमता का पूर्ण उपयोग नही हो रहा।

इस स्थिति के उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह है कि हमारे आयात-निर्यात व्यापार का बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बड़े बन्दरगाहों पर ही आवश्यकता से अधिक केन्द्रीकरण हुआ है और अन्य बन्दरगाहो की सदैव से उपेक्षा की गई है, विशेषतः छोटे बन्दरगाहों की। योजना काल मे यह स्थिति और नीति बदलने की नितान्त आवश्यकता थी।

अतएव कुछ छोटे बन्दरगाहों के विकास की ओर भी हमारा ध्यान प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल मे गया। १९५१ मे छोटे बन्दरगाहों का एक विशेष सर्वेक्षण कराया गया। इस सर्वेक्षण के उपरान्त प्रथम पंचवर्षीय योजना मे उनके विकास का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जहाज घाट (Wharves), खम्भे (Piers), जेटी (Jetties), सागरोन्मुख दीवारे, सडके, यात्रियो के लिए सायबान (Sheds), भण्डार घर (Warehouses), माल घर (Cargo-sheds) इत्यादि का निर्माण सम्मिलित था। इस सब काम मे १ करोड़ रुपए व्यय हुआ और वलियापुरा (केरल), माण्डवी, मुन्द्रा, जखाऊ और कुटेश्वर बन्दरों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया। योजना के अन्त मे एक विशेष अधिकारी ने ६७ छोटे बन्दरगाहों का निरीक्षण किया जहाँ विकास योजनाएँ चालू थी अथवा द्वितीय योजना के लिए प्रस्तावित की गई थी। इस सर्वेक्षण के अनुसार दिये गये सुझाव भी भारत सरकार ने मान लिये और द्वितीय योजना मे २६५ लाख रुपए की नई विकास योजनाएँ सम्मिलित की गई। कुल धन राशि के व्यय का अनुमान ५·३३ करोड़ रुपए लगाया गया जिसमे से ३ करोड़ बन्दरगाहों के विकास के निमित्त और १·९० करोड़ रुपए तीन जालो (Dredgers) की एक सन्निधि (Pool) के लिये, २२ लाख रुपए सर्वेक्षण सम्बन्धी संयंत्रो के लिए और ४२·४८ लाख रुपये अण्डमन-निकोबार द्वीपों के छोटे बन्दरगाहों के विकास के लिए थे। यह सारा धन व्यय कर लिया गया।

द्वितीय योजना मे ओखा, वेदी, भावनगर, पोरबन्दर, वीरावल, नवलखी, नागापत्तीनम, पांडुचेरी, कडालोर, काकीनाडा, मछली-पत्तनम, क्विलन, वदागरा, प्रदीप और पोर्ट ब्लेयर इत्यादि बन्दरगाहों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। यह

आशा की जाती है कि द्वितीय योजना के अन्त मे छोटे और मंझले बन्दरगाहो की यातायात क्षमता बढ कर ५० से ७० लाख टन हो जायेगी।

अक्टूबर १९५८ म मंझले बन्दरगाह विकास समिति (Intermediate Ports Development Committee) नियुक्त की गई। इस समिति ने १९५९ से सभी मंझले बन्दरगाहो का निरीक्षण किया और १९६० मे उनके सुधार के अनेक सुझाव दिए। इस समिति के सुझावो के अनुसार तृतीय पचवर्षीय योजना के कार्यक्रम को अन्तिम रूप दिया गया और योजना आयोग के पास ३९·९६ करोड रुपए के कार्यक्रम तृतीय योजना म सम्मिलित करने के लिये भेजे गए। योजना आयोग ने केवल १५ करोड रुपए इन बन्दरगाहो के लिए स्वीकार किए है।

उक्त समिति ने आगामी पाँच से दस वर्ष तक के विकास की योजनाओ का सुझाव दिया है और तदनुसार ही तृतीय योजना का कार्यक्रम बनाया गया है। इस कार्यक्रम म से कुछ महत्वपूर्ण परियोजनाएं निम्नांकित है :—

(क) प्रदीप को ५ लाख टन खनिज लोहा ले जाने योग्य मंझले बन्दरगाह के रूप म विकसित करना,

(ख) नीन्दकर (केरल) को मंझले बन्दरगाह के रूप मे विकसित करना,

(ग) कारवार मे अन्वेषण के उपरान्त एक गहरा घाट बनाना,

(घ) काकीनादा, मछलीपत्तनम, कडालौर, रत्नागिरी, रेड्डी, भावनगर, पोरबन्दर तथा ओखा इत्यादि के सुधार के लिए आवश्यक सयन्त्र उपलब्ध करना।

इन सब योजनाओ के पूर्ण होने पर छोटे बन्दरगाहो की क्षमता ९० लाख टन होने की सम्भावना है।

छोटे और मंझले बन्दरगाहो के विकास के लिए हाल मे प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) ने निम्नांकित सुझाव दिए हैं —

(१) छोटे और मंझले बन्दरगाहो की सेवा क्षमता बढाने की बहुत कुछ सम्भावना है जो देश के बढते हुए सामुद्रिक व्यापार के लिए पर्याप्त होगी। इस सम्भावना की जाँच के लिए परिवहन मन्त्रालय को चाहिए कि वह सभी सामुद्रिक राज्यो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन बुलाये।

(२) देश के बन्दरगाहो से आने जाने वाले सभी आयात-निर्यात माल पर एक आना प्रति टन का एक अतिरिक्त-कर (Sur-charge) लगाया जाय तथा इस प्रकार प्राप्त धन से एक बन्दर विकास निधि (Port Development Fund) बनाया जाय।

(३) छोटे बन्दरगाहो के विकास सम्बन्धी योजनाये बनाते समय स्थानीय हितो का परामर्श आवश्यक है, क्योकि इन बन्दरगाहो की मुख्य समस्याओ को ये लोग भली भाँति समझते हैं। ये समस्याये मुख्यत: (१) बन्दरो और प्रवेश मार्गो म मिट्टी जमना, (२) बन्दरगाहो का पर्यवेक्षण (Survey), (३) नौपरिवहन उपचार (Navigat-

ional aids), (४) जहाजों और बन्दरगाहों के बीच संचार (Communication), (५) उतरने-चढने का प्रबन्ध (६) माल-संभालने की सुविधायें तथा (७) उचित सड़क-रेल पथ-संयोग (Connection) इत्यादि हैं।

(४) मंझले और अन्य महत्वपूर्ण छोटे बन्दरगाहों के विकास-कार्य का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार को अपने अधिकार में ले लेना चाहिए।

(५) बड़े बन्दरगाहों की भीड़-भाड़ और जमघट को कम करने के लिए कुछ मंझले बन्दरगाहों को बड़े बन्दरगाहों में परिवर्तित कर देना उचित प्रतीत होता है। इस परिवर्तन सम्बन्धी योजनायें तृतीय पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित की जायें।

(६) परिवहन मंत्रालय को यातायात के अभिनवीकरण और छोटे, मंझले एवं बड़े बन्दरगाहों में सम्यक् वितरण के कार्यक्रम को पूर्वाधिकार देना चाहिए और भीड़-भाड़ वाले बन्दरों से यातायात हटाकर उन बन्दरगाहों की ओर ले जाना चाहिए जिनमें यातायात की कमी है।

(७) छोटे बन्दरगाहों का विषय समवर्ती सूची (Concurrent list) से हटा कर संघ सूची (Union list) में सम्मिलित किए जाने के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार होना चाहिए। जब तक इस विषय में अन्तिम निर्णय हो तब तक राज्यों की सरकारें महत्वपूर्ण छोटे बन्दरगाहों को केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि की हैसियत से देखभाल करती रहें।

(८) १८ मंझले बन्दरगाहों में से प्रत्येक पर एक बन्दरगाह परामर्श समिति (Port Advisory Committee) बननी चाहिए जिस पर स्थानीय हितों का भी प्रतिनिधित्व हो।

(९) महत्वपूर्ण मंझले बन्दरगाहों पर तूतीकोरन और मंगलौर के समान पत्तन न्यास (Port Trust) बनाये जाने चाहियें।

(१०) मंझले और महत्वपूर्ण छोटे बन्दरगाहों के लिए प्रबन्ध एवं जहाजी फीस समितियाँ (Hardling and Shipping Fees Committees) और सफाई बोर्ड (Conservancy Board) बनने चाहियें।

(११) पत्तन-कर (Port Dues) के प्रतिमानीकरण के प्रश्न पर तुरन्त अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

(१२) भारत के सारे समुद्रतट को सुविधाजनक क्षेत्रों (Zones) में बाँट देना चाहिये और प्रत्येक क्षेत्र एक बड़े अथवा मंझले बन्दरगाह के अधिकार में दे देना चाहिये। इस क्षेत्र के प्रत्येक छोटे बन्दरगाह का विकास और देख-रेख उसी क्षेत्र का उत्तरदायित्व समझा जाना चाहिए।

३८.

पोत-निर्माण

(Ship-Building)

पोत-निर्माण (Ship-building) किसी देश की अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अङ्ग गिना जाता है। इसकी गणना आधारभूत उद्योगो मे की जाती है। सम्भवत: इसी कारण भारत सरकार ने पोत-निर्माण को अपने औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ की 'ए' अनुसूची मे स्थान दिया है और उसके विकास का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। यह सर्वमान्य है कि इस उद्योग की उन्नति से भारत को १५० करोड रुपए वार्षिक की बचत हो सकती है जो कि अब जहाजी भाडा के रूप मे हम विदेशी कम्पनियो को देने पडते हैं।

जहाज-निर्माण भारत के ऐसे प्राचीनतम समुन्नत व्यवसायो म से है जिस पर हम गर्व कर सकत हैं। यद्यपि इस विषय का प्राचीन काल से कोई क्रमबद्ध इतिहास नही मिलता, यह निस्सदेह सिद्ध हो चुका है कि पोत-निर्माण कला भारत म विश्व के अन्य देशो से हजारो वर्ष पूर्व अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। ऋग्वेद, सस्कृत, पाली, तामिल और अन्य प्राचीन साहित्य मे जहाजो, सामुद्रिक यात्राओ एवम् नाविको के अनेक विवरण मिलते हैं। सस्कृत साहित्य मे युक्ति कल्पतरु नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिला है जो इस विषय का विस्तृत विवरण बतलाता है। इसमे लिखा है कि भारत मे नदियो और समुद्रो मे चलने वाले दोनो प्रकार के जहाज बनते थे जिनके २७ प्रकार गिनाए गए हैं। बडे से बडे सामुद्रिक जहाज का आकार २७६ फीट × ३६ फीट × २७ फीट बतलाया गया है जिसकी भार-क्षमता लगभग २,३०० टन होती है। इस कथन का महत्व उस समय समझ मे आता है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि जब यूरोपियन जातियाँ भारत आई तो उन्हे अपने जहाज भारतीय जहाजो के सामने खिलौने जैसे प्रतीत हुए। सत्रहवी शताब्दी तक यूरोप मे जहाजो का साधारण आकार २५० टन था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पाँच पथ रक्षको (Convoys) मे से सबसे बडा ६०० टन और सबसे छोटा १०० टन का था। यद्यपि प्राचीन भारतीय जहाज लकडी के बनते थे, किन्तु इनका जीवन

काल लम्बा होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पत्रों में भावनगर में बने हुए "दरिया दौलत" नामक जहाज के सम्बन्ध में लिखा है कि वह सन् १७५० में बना था और १८३७ तक अर्थात् ८७ वर्ष उपरान्त भी हर प्रकार सुदृढ़ था और काम दे रहा था जब कि ग्रेट ब्रिटेन के तत्कालीन जहाजों का प्रत्येक १२ वर्ष उपरान्त नवकरण (Renewal) करना पड़ता था। अतएव ईस्ट इण्डिया कम्पनी अठारहवीं और १९वीं शताब्दी में अपने लिए भारत में ही जहाज बनवाती थी।[1] कम्पनी का यह विश्वास था कि भारतीय जहाज कभी पुराने नहीं होते, उनका जीवन तभी समाप्त होता था जब वे डूब जाते थे अथवा कालतिरोहित (Obsolete) हो जाते थे।[2]

ब्रिटेन में कम्पनी द्वारा भारत में जहाज बनवाने की नीति का भारी विरोध हुआ और भारतीय उद्योग के विनाश के सक्रिय प्रयत्न किए गए। वहाँ की संसद (Parliament) ने भारतीय जहाजों का ब्रिटेन-भारत के व्यापार में प्रयोग कानून द्वारा बन्द कर दिया और भारत सरकार ने उस माल पर पक्षपातपूर्ण ऊँचे आयात कर लगाए जो भारतीय जहाजों में आता था। परिणाम यह हुआ कि १८५६-६० में भारतीय समुद्रों में एक तिहाई जहाज भारत के होते थे, किन्तु १८९८-९९ में अर्थात् ४० वर्ष उपरान्त केवल १·४% रह गए। अनेक पोत निर्माण घाट (Ship-building yards) जो भारतीय तट पर थे वे लुप्त हो गये और हमारे नामी जहाज निर्माताओं का नाम तक मिट गया।[3] भारतवासियों ने अपने इस कला-कौशल को सुरक्षित रखने और पुनर्जीवित करने के लिए अनेक बार आवाज उठाई और भारत सरकार ने वायदे भी किए, किन्तु विदेशी सरकार ने अपना कोई वायदा पूरा नहीं किया और न भारत के इस व्यवसाय को पनपने ही दिया।

---

1. Between the years 1736 and 1863 the Bombay Dock-yard of the Company, built no less than 300 small and large ships of all known varieties like Grab, Ketch, Snow, Schooner, Brig, Merchants Ship, Port Craft, Tender, Pilot Vessels, and even Line of Battle-ships, and other war craft for the Royal Navy of England

2. The East India Company were naturally convinced that India built ships, in the words of Stanley Rogers, ended only when they "were wrecked or they became obsolete, but "they never wore out."

3. माडवी (कच्छ), भावनगर, वेसीन, अलीबाग, अगशी, विजयदुर्ग, मालवां, कालीकट, ट्रिंकोमाली, मछलीपट्टम, कोरिंगापट्टम, बालासोर, कलकत्ता, ढाका, सिलहट, चिटगाँव इत्यादि जहाज बनाने के प्रसिद्ध केन्द्र थे और सिंध के जाट, कच्छ के नसवास, काठियावाड़ के घोघरी, गुजरात के कोली, अलीबाग और मालवां के मरहठा, अय्यर तथा डोम और अनेक जातियाँ जहाज बनाने में नाम पा चुकी थीं।

विदेशी सरकार की घातक नीति से भारतीय पोत निर्माण कला का ह्रास अवश्य हो गया, किन्तु वह लुप्त नही हुई। अत्याचार से अवनति हो सकती है, किसी जीवित कला का प्राणान्त नही। भारतीय कलाकारो ने साहस नही छोड़ा और विषम परिस्थितियो का सामना करते हुए प्रयत्न करते रहे। अब हमारे पोत-निर्माताओ और नाविको के दुर्दिन की काली घटाये फट चुकी है और सुख वैभव की सुहावनी घडियाँ आ गई है। तो भी अभी हमे लम्बा रास्ता तय करना है।

इस समय बम्बई, कलकत्ता और कोचीन मे पाँच जहाज बनाने वाली कम्पनियाँ हैं,[1] किन्तु ये छोटे-छोटे जहाज[2] बनाती है। ये कम्पनियाँ बडे-बडे धुआँकशो की मरम्मत भी करती हैं।

पाल-पोत (Sailing vessel) बनाने के भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट पर अनेक घाट (Yards) है जहाँ उत्तम पोत बनते हैं: इनमे से कुछ महत्वपूर्ण घाट ये हैं: माडवी, अजार, सलाया, जोदा, जामनगर (वेदी), सीका, नवलखी, पोरबन्दर, वीरावल, भावनगर, नवसारी, बुलसर, बिलीमोरा, डामन, बेसीन, थाना, ऊरन, पनवेल, अलीबाग, अजनवल, जँगढ, रत्नागिरी, देवगढ, मालवाँ, वेंगुरला, मारमागोआ, कारवर, अङ्कोला, हुसावर, मंगलौर, कसरगोद, बेपुर (कालीकट), कोचीन, तूतीकोरन, मछलीपट्टम, राजमुन्द्री, कोकोनाडा और कलकत्ता।[3]

विशाखापत्तनम कारखाना—ये छोटे जहाज और पालपोत केवल तटीय व्यापार के लिए उपयोगी है, विदेशी व्यापार के लिए नही। वस्तुत आज हमे बडे जहाजो की अधिक आवश्यकता है। ऐसे जहाज बनाने का देश मे केवल एक कारखाना है जिसके स्थापन का श्रेय पूर्णत. सिंधिया कम्पनी को है।

१६१६ मे सिंधिया कम्पनी के बनने के साथ ही इस कम्पनी ने एक जहाज बनाने का कारखाना स्थापित करने का विचार किया, किन्तु कम्पनी द्वारा इस काम के लिए बुलाए गए विदेशी विशेषज्ञ की अनायास मृत्यु हो जाने के कारण यह सारी योजना ताक मे रख गई। १६३३ मे इस योजना पर फिर विचार किया गया और कारखाने के लिए बम्बई अथवा कलकत्ता को उपयुक्त स्थान चुना गया। सरकार ने इन दोनो स्थानो मे पोत-निर्माण घाट स्थापित करने की कम्पनी को आज्ञा न दी। द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने के उपरान्त सिंधिया कम्पनी ने विजगापट्टम स्थान को इस उद्योग

---

1 The Bombay Steam Navigation Co, Bombay, Alcock Ashdown & Co, Ltd, Bombay, Bruton & Co, (Engineering) Ltd, Cochin, Garden Reach Workshops Ltd, Calcutta and Shalimar Works Ltd, Calcutta (*Kaybee's Indian Shipping Annual, 1951, p 32*)

2 Such as, Launches, trawlers, floating docks barges, mine-sweepers, Paddle-steamers, Coasting-vessels, river craft etc (*Kaybee's Indian Shipping Annual, 1951, p 32*).

3 Ibid, p 32.

के लिए चुना और आठ दस हजार टन जहाज बनाने का कारखाना बनाना प्रारम्भ कर दिया। २१ जून १९४१ को डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस घाट का उद्घाटन किया, किन्तु ६ अप्रैल १९४२ को जापान ने इस कारखाने पर बम बरसाए और भारत सरकार ने इसका काम कुछ समय के लिए बन्द करा दिया। तुरन्त कुछ मशीनें बम्बई ले आई गईं। १९४२ के अन्त में फिर काम चालू किया गया; किन्तु आवश्यक साधन सामग्री की कठिनाई के कारण काम अत्यन्त मन्दगति से चलता रहा। अनेक कठिनाइयों के उपरान्त १९४७ में कारखाना बन कर तैयार हो सका और निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया। आर्थिक कठिनाइयों और अन्य कारणों से मार्च १९५२ में कारखाने का प्रबन्ध भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। १४ मार्च १९४८ को यहाँ बने प्रथम जहाज ने समुद्र में प्रवेश किया। यह दिवस भारतीय पोत-निर्माण कला के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। यह दिन देश के आधुनिक पोत-उद्योग की उषाकाल माना जा सकता है जबकि गहन अँधेरी का अवसान हुआ और उषा सुनहरी किरणों के साथ उदय हुई। अनुकूल अवसर के अनुरूप ही हमने अपने उस जहाज का नाम "जल-उषा" रखा। 'जल-उषा' ने अपनी आभा प्रस्फुटित की और २० नवम्बर १९४८ तक उसकी प्रभा सागरतल पर उतराती दृष्टिगोचर होने लगी अर्थात् "जल-प्रभा' का जन्म हुआ। दो नवजात शिशु भारतीय समुद्र रूपी आगन में क्रीडा करने लगे जिनके तेज और मनोविनोद से जल-स्थल प्रकाशित हो गया और ९ अगस्त १९४९ को 'जल प्रकाश' नामक जलयान समुद्र में उतरा। इस भाँति एक के उपरान्त अनेक जहाज इस कारखाने में बनने लगे। अब तक १,१७,००० टन (G. R. T.) के २७ जहाज यहाँ बन चुके हैं जिनमें से २४ समुद्रगामी बड़े और ३ छोटे जहाज हैं।

इस भाँति यह कारखाना दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इसकी निर्माण-क्षमता बढ़ाने और एक शुष्कनिवेष (dry dock) बनाने का निश्चय किया गया था और २·६० करोड़ रुपए के अनुमानित व्यय की एक विस्तार योजना बनाई गई थी। इसके प्रथम और द्वितीय चरण (phases) पूरे हो चुके हैं। इस विस्तार योजना के पूर्ण होने पर इस घाट की निर्माण-क्षमता ५०,०००-६०,००० टन वार्षिक हो जाएगी।

द्वितीय निर्माण घाट—बढ़ते हुए यातायात और परिवहन सुविधाओं की कमी को ध्यान में रख कर एक दूसरा पोत-निर्माण घाट स्थापित करने का भी निश्चय किया गया है और प्रारम्भिक कार्यक्रम चालू कर दिया गया है। यह कारखाना कोचीन में स्थापित किया जाएगा। इसके लिये विशाखापत्तनम कारखाने में पाँच-छः सौ व्यक्तियों को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जा रहा है। भारत सरकार जहाजों के लिए तेल के इञ्जन (Diesel engines) बनाने का एक कारखाना भी खोलना चाहती है जिसके लिए तृतीय योजना में ५ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है।

लागत व्यय—विशाखापत्तनम कारखाने के चालू होने के समय से अब तक कई कठिनाइयाँ और समस्यायें हमारे जहाज निर्माताओं के सम्मुख उपस्थित हुई हैं। हमारे

इस शिशु उद्योग की भावी उन्नति के लिए इन समस्याओं का समाधान आवश्यक है। सबसे बड़ी समस्या इस कारखाने में बनने वाले जहाजों का ऊँचा मूल्य है। इसका कारण मजूरी में वृद्धि, कार्य की मन्दगति तथा आवश्यक सामग्री एवं उपकरणों का अभाव है। जहाजों की मूल्य वृद्धि एक मात्र भारत की समस्या नहीं अन्य पाश्चात्य देशों में भी युद्धोपरान्त काल में इसने सिर उठाया है। ब्रिटेन में जो कि विश्व का सबसे बड़ा जहाज निर्माता है सन् १९४८ और १९५६ के बीच के दस वर्ष में नए जहाजों के मूल्य में १६०% वृद्धि हो गई है। द्वितीय युद्ध से पूर्व के मूल्यों को आधार मान लें तो यह वृद्धि ३७५% होती है। ९,५०० टन के जिस जहाज का मूल्य अगस्त १९३९ में १९'३३ लाख रुपए था, दिसम्बर १९४५ में उसका मूल्य ३५'३३ लाख रुपए और जनवरी १९५६ में १०३'०६ लाख रुपए हो गया। दूसरे शब्दों में यदि प्रतिटन मूल्य १९३९ में २०३ रु० था तो १९४५ में ३७३, दिसम्बर १९५० में ६१६ रु० और अप्रैल १९५६ में १००३ रु० हो गया। लाइबेरिया के १९४३ के बने ६,८६७ टन के एक जहाज की बिक्री ३८ लाख रुपए में हुई, किन्तु १९४९ में ऐसे ही जहाज का विक्रय मूल्य ६६ लाख रुपए था। ब्रिटेन जैसे प्राचीन और प्रसिद्ध जहाज निर्माता देश में मूल्य इतने ऊँचे हैं और और भी अधिक ऊँचे होते जा रहे हैं तो भारतीय जहाजों के मूल्य का ऊँचा होना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि हमारा उद्योग अभी अपनी बाल्यावस्था में है और न केवल हमारे पास अनुभव की ही कमी है, वरन् योग्य व्यक्तियों और आवश्यक साधन-सामग्री एवं उपकरणों का भी भारी अभाव है। इस्पात, बायलर (Boilers) तथा प्लेट (Plates) विदेश से मँगाने पड़ते हैं, जो बहुत मँहगे पड़ते हैं। यद्यपि ब्रिटेन में नए जहाजों का मूल्य अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा है, किन्तु भारत में ब्रिटेन से भी लगभग २०% अधिक है। अतएव विशाखापत्तनम में बने हुए जहाजों के लिए मूल्य के २०% के बराबर भारत सरकार आर्थिक सहायता (Subsidy) देती है। भारतीय जहाजी कम्पनियों ने एक भी जहाज के लिए ब्रिटेन में आदेश नहीं दिया। सन् १९५५-५६ में सात जहाजों के लिए जर्मनी में और एक जहाज के लिए जापान में आदेश भेजे गये, क्योंकि इन देशों में ब्रिटेन की अपेक्षा जहाज सस्ते बनते हैं। जिस जहाज का मूल्य ब्रिटेन में ८० लाख रुपए है, जर्मनी में उसका मूल्य ६० लाख रुपए है। यह स्वाभाविक है कि जब अन्यत्र ६० लाख रुपये में जहाज मिल सकते हैं तो ८० लाख रुपए में विशाखापत्तनम से क्यों कोई कम्पनी लेने लगी। *अतएव सरकारी सहायता का आधार भी जर्मनी और जापान का* मूल्य-स्तर होना चाहिए न कि ब्रिटेन का। भारत सरकार की जहाज-निर्माण सम्बन्धी सहायता भी अपर्याप्त बतलाई जाती है।[1] जहाज-निर्माण के लिए जापान की सरकार

---

१. १९५६ के लिए ब्रिटेन ने ३० करोड़ रुपये, और फ्रांस ने २५ करोड़ रुपये जहाज निर्माण सम्बन्धी आर्थिक सहायता के लिए बजट में रखे थे, जबकि भारत सरकार ने केवल ६० लाख रुपए ही रखे थे।

ने इस्पात का मूल्य बाजार भाव से १०० रुपये प्रति टन कम कर दिया है। इस्पात और अन्य सामग्री का मूल्य कम करके भारत सरकार भी विशाखापत्तनम में बनने वाले जहाजों का मूल्य कम कर सकती है और जो धन अब विदेश से जहाज लेने में व्यय किया जाता है, वह देश में ही रह सकता है और निर्माण-गति भी बढ़ाई जा सकती है। जहाजों का मूल्य कम करने का एक सुभाव फ्रान्स के विशेषज्ञों के स्थान पर जर्मनी और जापान के विशेषज्ञ विशाखापत्तनम में रखने के सम्बन्ध में दिया जाता है। इस समय फ्रान्स के विशेषज्ञों को ९ लाख रुपए वार्षिक दिया जाता है। ऐसे ही जर्मनी और जापानी विशेषज्ञ २ लाख रुपये वार्षिक में मिल सकते हैं और सम्भवतः इन देशों के जहाज-निर्माता फ्रांसीसियों की अपेक्षा अधिक चतुर और अनुभवी हो सकते हैं, क्योंकि १९५५ में फ्रान्स में केवल ५५ जहाज बने जबकि जर्मनी में ३८९ और जापान में १८८ जहाज बने।[1]

लम्बा निर्माण-काल—दूसरी समस्या जो हमारे जहाज-निर्माताओं के सामने उपस्थित है वह जहाजों के देरी से बनने की है। हमारे किसी जहाज के पूरे होने में तीन-चार वर्ष का समय लगता है, जबकि जर्मनी में केवल दो वर्ष। इस देरी के कारण प्रबन्ध का ढीलापन, तथा अनुभवी और योग्य विशेषज्ञों की कमी हो सकते हैं। अधिकारियों को इन बातों की ओर विशेष सचेत रहने की आवश्यकता है।

प्रतिमानीकरण—विशाखापत्तनम में बनने वाले जहाजों के प्रतिमानीकरण की आवश्यकता पूर्णतः प्रगट हो गई है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की थी जिसने निम्नांकित सुझाव दिए :—

(क) विदेशी सामुद्रिक व्यापार के लिए ९,५०० टन के खुले और ११,००० टन के बन्द जहाज बनने चाहियें जिनकी चाल १६ से १७ नॉट (Knot) हो।

(ख) समुद्रतटीय व्यापार के लिये ८००० टन के खुले और ९,५०० टन के बन्द जहाज बनें जिनकी चाल १३ नॉट (Knot) हो।

(ग) समुद्रतटीय व्यापार के लिए एक छोटा आकार भी हो। ५,००० टन के खुले और ६,००० टन के बन्द जहाज जिनकी चाल १३ नॉट (Knot) हो।

भारत सरकार ने इन सुझावों को मान लिया है और तदनुसार काम होने लगा है।

प्रशिक्षण सुविधायें—विशाखापत्तनम में अभी तक औद्योगिक प्रशिक्षण संबंधी कोई सुविधायें न थी। झलाई करने वाले (Welders) और चित्रकारों (Draughtsmen) के लिए कुछ प्रशिक्षण सुविधायें अवश्य थी और शिक्षार्थियों (Apprentices) के लिए संध्या समय कुछ व्याख्यानों का आयोजन किया जाता था। हाल में एक प्रशिक्षण स्कूल खोला गया है जहाँ कारखाने के दक्ष कर्मियों को प्रशिक्षण दिया

---

1. Indian Shipping, Vol. VIII, No. 5 (May 1956), p. 19.

जाता है तथा द्वितीय कारखाने के लिए कुछ दक्ष कर्मी तैयार किए जा रहे हैं। जहाज निर्माण व्यवसाय का चार-वर्षीय पाठ्यक्रम यहाँ चालू किया गया है।

पोत-निर्माण सम्बन्धी उपर्युक्त कार्यक्रम वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए बड़ा सराहनीय प्रयत्न है, किन्तु आज विश्व में जहाज-निर्माण सम्बन्धी जो स्पर्द्धा चल रही है और हमारे यातायात में जिस तीव्रगति से वृद्धि हो रही है उसे देखते हुए यह कार्यक्रम अपर्याप्त है। ब्रिटेन के जहाजी बेड़े की शक्ति १९४६ में ११·२१ लाख टन थी, १९५५ में यह १४·७४ लाख टन हो गई। फ्रांस की सामुद्रिक शक्ति इसी अवधि में ०·२३ लाख टन से बढ़कर ३·२६ लाख टन; नीदरलैंड की ·३३ लाख टन से बढ़कर ३·९७ लाख टन, स्वीडन की १·४७ लाख टन से ९·२६ लाख टन, इटली की ·६२ लाख टन से १·६७ लाख टन हो गई। इसी भांति जर्मनी ने अपने जहाजी बेड़े से १९५० की अपेक्षा ६ गुनी और जापान ने १९४९ की अपेक्षा साढ़े-पाँच गुनी वृद्धि कर ली है। इन सब वृद्धियों के उपरान्त भी उनके उत्साह में कमी नहीं आई। १ अप्रैल १९५६ को ब्रिटेन में ४५·३३ लाख टन के ४५८ जहाज, जापान में ३३·५२ लाख टन के २०७ जहाज, जर्मनी में २९·२८ लाख टन के ३५८ जहाज तथा स्वीडन में १९·४५ लाख टन के १८९ जहाज बन रहे थे, जबकि भारत में उक्त तिथि को केवल ४४ हजार टन के ९ जहाज बन रहे थे। हमारा लक्ष्य २० लाख टन के जहाजी बेड़े का है, किन्तु अभी हमारी पोत-क्षमता केवल ९ लाख टन की है। तृतीय योजना के अन्त तक यह ११ लाख टन होने की सभावना है। यह प्रगति बड़ी धीमी है। अतएव दो पोत-निर्माण घाटों से हमारा काम नहीं चल सकता। इतने ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमें कम से कम पाँच निर्माण केन्द्रों की आवश्यकता है। इस पर हमें गम्भीरता से विचार करके भावी योजनायें बनानी चाहिये।

३९.

पोतचालन को राजकीय सहायता

(State Aid to Shipping)

गत दो विश्वयुद्धों म पोतचालन की सैनिक शक्ति तथा उसके सैनिक महत्व का सभी को पूर्ण ज्ञान हो चुका है। पिछले पृष्ठो म इस उद्योग की अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं का वर्णन किया जा चुका है। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, औद्योगिक विकास तथा जाति गौरव की दृष्टि से इस उद्योग को महत्ता सर्वमान्य है। इसकी गणना देश के आधारभूत उद्योगो म की जाती है। किसी भी देश के आर्थिक विकास की योजनायें बिना पोतचालन के विकास के अपूर्ण समझी जाती है। राष्ट्रीय नीति के चक्रव्यूह का यह केन्द्र बिन्दु माना जाता है और नियोजन रूपी साज-सज्जा इसी के इर्द-गिर्द सजाई जाती है। आधुनिक युग मे इस उद्योग की उपेक्षा करके कोई भी जाति जीवित नही रह सकती।

पोतचालन की इस महत्वपूर्ण स्थिति को ध्यान मे रख कर ही प्रत्येक सामुद्रिक राष्ट्र इस के विकास के लिए गत वर्षों मे प्रयत्नशील एवं चिन्तित रहा है और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष राजकीय सहायता द्वारा इसकी उन्नति के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया है। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त से पोतचालन के क्षेत्र मे प्रतियोगी सामुद्रिक देशों की एक घुड-दौड सी होता दिखाई दी है जिसके फलस्वरूप विश्व की तथा विश्व के सामुद्रिक राष्ट्रो की सामुद्रिक शक्ति मे अपार वृद्धि हुई है जैसा कि पृष्ठ ४८७ की तालिका से विदित होता है।

१९३९ (६८५ ०९ लाख टन) मे विश्व के सामुद्रिक बेडे की शक्ति १९१४ (४२५'१४ लाख टन) की अपेक्षा १६१ प्रतिशत हो गई। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फिर इस क्षेत्र मे उसी प्रकार की प्रतियोगिता जारी रही जैसी प्रथम युद्ध के उपरान्त प्रारम्भ हुई थी। इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण अब (१२९७'७ लाख टन) विश्व की सामुद्रिक शक्ति १९३९ अपेक्षा १९० प्रतिशत और १९५० की अपेक्षा १५३ प्रतिशत हो गई है और प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि होती चली जा रही है।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने प्रथम महायुद्ध काल म अपने जहाजी बेडे को पाँच गुने से अधिक बढ़ा लिया था। १९३९ की अपेक्षा संयुक्त-राष्ट्र का वर्तमान जहाजी

विश्व की वणिक्‌पोत शक्ति (३० जून को)
(१०० टन और अधिक के जहाज) (लाख टन)

	१९३९	१९५०	१९६०	
			टन	विश्व का प्रतिशत
संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका	११३·६२	२७५·१३	२४८·३७	१९·१४
ब्रिटेन	१७८ ९१	१८२ १९	२११ ३१	१६·२८
लाइबेरिया	—	२ ४५	११२·८२	८·६९
नार्वे	४८ ३४	५४ ५६	११२·०३	८·६३
जापान	५६ ३०	१८ ७१	६९ ३१	५·३४
इटली	३४·२५	२५ ८०	५१ २२	३·९५
नादिरलैण्ड	२९ ७०	३१ ०९	४८ ८४	३·७६
फ्रास	२९ ३४	३२ ०७	४८ ०९	३·७१
प० जर्मनी	४४·८३	४·६०	४५ ३७	३·५०
यूनान	१७·८१	१३·४९	४५·२९	३·४९
पनामा	७·१८	३३·६१	४२·३६	३·२६
स्वीडन	१५·७७	२० ४८	३७·४८	२·८९
रूस	११·५४	२१·२५	३४·२९	२·६४
डेनमार्क	११ ७५	१२ ६९	२२·७०	१·७५
स्पेन	९·०२	११ ९०	१८·०१	१·३९
कनाडा	४·८५	६ ९८	१०·५५	०·८१
ब्राजील	३·५८	११ ३१	१५·७८	१·२२
अर्जेनटाइना	२·९१	९ १४	१०·४२	०·८०
भारत	१·५०	४·२०	८·५९	०·६६
बेलजियम	४ ०८	४ ८२	७·२९	०·५६
फिनलैण्ड	५ ९०	५ ०३	७·१४	०·५५
युगोस्लाविया	४ १०	२ १५	६·६१	०·५१
तुर्की	२ २४	३ ८८	६·५१	०·५०
अन्य देश	४७·५७	५० ४०	६७ २२	६·०७
विश्व का जोड	६८५ ०९	८४५·८३	१२९७·७०	१००

बेडा दुगने से अधिक है और आज वह विश्व की सबसे बडी सामुद्रिक शक्ति है। १९३९ तक ब्रिटेन (और आयरलेंड) विश्व की सबसे बडी शक्ति थी। सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने अब उसे पीछे छोड दिया है। द्वितीय युद्ध से पूर्व तक जिन राष्ट्रो के बेडे की कोई गिनती नही थी ऐसे कई राष्ट्रो ने भी युद्धोपरान्त काल म अच्छा बेडा बना लिया है और उनकी गणना अब विश्व के महत्वपूर्ण सामुद्रिक राष्ट्रो मे होने लगी

है। पनामा, ब्राजील, कनाडा, लाइबेरिया इत्यादि देश नए सामुद्रिक राष्ट्रों में उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मा, पाकिस्तान, अर्जेनटाइना, इण्डोनेशिया, इसराईल, तुर्की, मिस्र, इत्यादि कुछ अर्द्ध विकसित राष्ट्र भी आज अपना राष्ट्रीय बेड़ा बनाने में प्रयत्नशील हैं।

इस अनन्य प्रतिस्पर्धा और अनन्त प्रयत्न के पीछे सरकारी सहायता रूपी प्रेरक शक्तियाँ अपना जादू दिखला रही हैं। बिना राजकीय सहायता के विभिन्न देशों के जहाजी बेड़े में उतनी वृद्धि नहीं हो सकती थी जितना आज होती दिखाई देती है। सरकारी सहायता देशकाल के अनुसार बदलती रहती है और भिन्न-भिन्न देशों में उस के भिन्न-भिन्न स्वरूप है जो उस देश की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप हैं।

राजकीय सहायता के स्वरूप

सरकारी सहायता प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार की हो सकती है। प्रत्यक्ष सहायता वह है जिसके द्वारा देश की सरकार प्रत्यक्ष रूप में पोतचालन की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में सहायक होती है। यह सहायता नियमित भी हो सकती है और सामयिक भी। नियमित सहायता सदैव बनी रहती है। सामयिक सहायता किसी संकटकालीन स्थिति पर काबू पाने के लिए होती है और संकट से पार उतरते ही बन्द हो जाती है। अप्रत्यक्ष सहायता सहारा देकर उद्योग की आन्तरिक शक्ति बढ़ाने और उसे प्रोत्साहन प्रदान करने के निमित्त होती है।

(१) प्रत्यक्ष सहायता

प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता दो प्रकार की होती है। पोत-निर्माण के लिए पोत बनाने वालों को धन दिया जाता है और पोतचालकों को संचालन व्यय कम करने के लिए। बिना ब्याज अथवा कम ब्याज पर ऋण देकर भी जहाज बनाने अथवा मोल लेने के लिए राजकीय सहायता दी जाती है। कभी-कभी सरकार स्वयं जहाज खरीद लेती है और उन्हें जहाजी कम्पनियों को किस्तों पर दे देती है। प्रत्यक्ष सहायता के निम्नांकित स्वरूप बहुधा विश्व के देशों में प्रचलित हैं :—

(क) निर्माण-साहाय्य (Construction Subsidy)—जिन देशों का सामुद्रिक प्रभुत्व बढ़ा है, उन देशों ने सरकारी सहायता द्वारा ही वह वैभव पाया है। फ्रांस, इटली और जापान जैसे देशों की सरकारों ने जहाज-निर्माण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में ही आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर दिया था।[1] प्रथम महायुद्ध के उपरान्त तो लगभग सभी पाश्चात्य सामुद्रिक राष्ट्रों की सरकारें जहाज-निर्माण के लिए सक्रिय सहायता प्रदान करने लगी थीं और वैधानिक रूप में इसका प्रबन्ध किया

---

१. फ्रांस की सरकार ने सन् १८८१ से १९२० तक लगभग २५ करोड़ फ्रैंक (५ करोड़ डालर), इटली की सरकार ने सन् १८८६ से १९१४ तक ६.१ करोड़ लायर, तथा जापान की सरकार ने सन् १८९७ से १९०७ तक २.३ करोड़ येन अपने देश के जहाज बनाने वालों को दिये।

गया था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त यह प्रवृत्ति और भी देशों में फैल गई है। युद्धोपरान्त काल में जहाज निर्माण व्यय में वृद्धि होने के कारण सरकारी सहायता अनिवार्य सी हो गई है। लगभग सभी सामुद्रिक राष्ट्रों की सरकारें अपने देश के निर्माताओं को अपने ही देश में जहाज बनवाने की प्रेरणा देने के लिए आज जहाज बनाने के लिए किसी न किसी प्रकार की सहायता अवश्य दे रही है। नार्वे, स्वीडन, हालैंड, जर्मनी, बेलजियम, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल इत्यादि देशों में जहाज बनाने के लिए पूँजी जुटाने के निमित्त सरकार की ओर से विशेष प्रकार की संस्थायें बनाई गई है अथवा विशेष प्रकार का कोई प्रबन्ध किया गया है।

१९३६ के वाणिज्यपोत कानून (Merchant Marine Act) के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र अमरिका की सरकार जहाज बनाने के लिए प्रतिवर्ष अपार धन राशि देती है और अप्रैल १९४७ तक लगभग १५० करोड़ रुपए निर्माण मूल्यान्तर (Construction differential subsidy) के दिए। जुलाई १९५२ से जून १९५३ के वर्ष में १०६ करोड़ रुपए का धन बजट में पोत सम्बन्धी सेवाओं के लिए रखा गया जिसमें से ७० करोड़ रुपए केवल जहाज निर्माण के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता के निमित्त थे। हाल में एक नया कानून बनाया गया है जिसके अनुसार सरकार कुछ निश्चित विषयों के अन्तर्गत अपना वार्षिक कार्यक्रम बनाती है। इस कानून का मुख्य उद्देश्य जहाज निर्माण तथा जीर्णोद्धार को प्रगति प्रदान करना है। इस नए कानून के अन्तर्गत प्रथम कार्यक्रम में जो १९५५ के लिए था लगभग ४० करोड़ डालर (लगभग १९० करोड़ रुपए) व्यय करके ३३ नए जहाज बनाने व ६६ पुराने जहाजों का नवीनकरण करने का निश्चय किया गया। इस धन में से १७.३६ करोड़ डालर (लगभग ८३ करोड़ रुपए) वहां की सरकार देगी। नए कानून के अन्तर्गत कई नए कार्यक्रम सम्मिलित हैं —

(१) बंधक वणिकपोतों की बिक्री से प्राप्त धन को नए जहाज बनाने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने में प्रयुक्त किया जाय (२) १९३९ के कानून द्वारा बनाए गए पोत निर्माण आवर्त निधि (Ship Construction Revolving Fund) को पुनर्जीवित किया जाय (३) आस्थगित टैक्स द्वारा नव निर्माण निधि बनाने का अधिकार दिया जाय (४) नए जहाजों के लिए अधिकाधिक मूल्य शोधन सुविधायें दी जायं (५) पोत निर्माण साहाय्य (Vessel Construction Subsidies) सम्बन्धी नियम सरल एवं व्यापक बनाये जायं (६) सरकारी बंधक पोत बीमा (Government Ship Mortgage Insurance) सम्बन्धी नियम उदार बनाये जायं। इस नूतन कार्यक्रम का उद्देश्य विविध प्रकार की सरकारी सहायता द्वारा जहाज निर्माण कार्य को प्रोत्साहन प्रदान करना है। १९५६-५७ में संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस ने पोतचालन की सहायता सम्बन्धी १६ नये कानून बनाये।

फ्रांस दूसरा देश है जहां के जहाजी बेड़े का निर्माण सरकारी सहायता के बल बूते हुआ है। सन् १९५१ में वहां पोत निर्माण साहाय्य सम्बन्धी एक कानून

बनाया गया था जिसे डैफरे कानून (Defferre Law) कहा जाता है। इसका उद्देश्य फ्रांस के निर्माण मूल्य और विदेशों के निर्माण मूल्य के अन्तर को सरकार द्वारा देने का था। इस कानून के अन्तर्गत अगस्त १६५१ से अक्टूबर १६५३ तक लगभग ७ करोड़ डालर (लगभग ३२ करोड रुपए) की सरकारी सहायता द्वारा, १६५२ में २,१०,००० टन और १६५३ में १,८६,००० टन के जहाज बने। १६५४ में लगभग २,००,००० टन के और जहाज बने। फ्रांस के जहाज निर्माता द्वितीय युद्ध से पूर्व फ्रांस में प्रचलित सामुद्रिक उधारी प्रथा (System of Maritime Credit) के पुनर्जीवन के प्रयत्न कर रहे हैं।

इटली ने १६५४ में एक कानून बनाया जिसके अन्तर्गत वहाँ के जहाज निर्माताओं को जहाज के मूल्य के २० प्रतिशत के बराबर सरकारी सहायता मिलती है।

भारत सरकार ने पोत-निर्माण मूल्यान्तर (Construction Differential Subsidy) के सिद्धान्त को मान लिया है। १ अप्रैल १६५१ से ३१ मार्च १६५४ के तीन वर्षों में १५६·६४ लाख रुपया उन पोत कम्पनियों को दिया गया जिन्होंने विशाखापत्तनम पोत निर्माणशाला के बने जहाज लिए, किन्तु भारत सरकार की सहायता का यह सिद्धान्त उतना उदार नहीं जितना अन्य देशों में है। अन्य देशों में अपने देश के मूल्य और विदेश के किसी देश के मूल्य के आधार पर यह अन्तर लगाया जाता है। भारत में केवल ब्रिटेन के मूल्य का अन्तर लेकर सहायता दी जाती है, ब्रिटेन के पोत निर्माण मूल्य अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचे हैं। वस्तुतः यह मूल्यान्तर निम्नतम मूल्य के आधार पर दिया जाना चाहिए। जर्मनी और जापान ऐसे देश हैं जहाँ जहाज बनाने के मूल्य अन्य देशों से कम हैं। अतः इन देशों के मूल्य को आधार मान लिया जाय तो ठीक है।

(ख) ऋण (Loans)—प्रत्यक्ष सहायता का दूसरा प्रकार बिना ब्याज अथवा कम ब्याज पर जहाज बनाने अथवा मोल लेने के लिए ऋण देना है। निर्माण साहाय्य (Construction Subsidy) के चुकता करने का कोई प्रश्न नहीं उठता, किन्तु ऋण चुकता अवश्य करना पड़ता है। यह ऋण दीर्घकालीन होते हैं और छोटी-छोटी किश्तों में चुकता करने होते हैं।

सन् १६१६ से १६४६ तक के समय में संयुक्त-राष्ट्र-अमेरिका की सरकार ने लगभग ४८·३७ करोड डालर (लगभग २२३·७ करोड रुपये) के ऋण जहाज निर्माण के लिए दिए। ब्रिटेन की सरकार ने १६०३ में २६,००,००० पौंड के दो ऋण दो जहाज बनाने के लिए दिए जो २० वर्ष में चुकता होने थे, १६३५ के ब्रिटिश पोत-चालन सहायता कानून (British Shipping Assistance Act) के अन्तर्गत एक करोड़ पौंड के ऋण दिये गये; तथा १६३६ में व्यापार मण्डली (Board of Trade) को जहाज निर्माण के लिए एक करोड पौंड तक ऋण देने का अधिकार दे दिया गया था।

जर्मनी की सरकार ने १९२५ मे ५ करोड मार्क की एक ऋण निधि (Loan Fund) स्थापित की जिसमे से जहाज के मूल्य के आधे के बराबर धन जहाज बनाने के लिए ऋण के रूप म दिया जाता था। इस निधि के समाप्त होने पर अक्टूबर १९२६ म ३० लाख मार्क वार्षिक की योजना बनाई गई जो कई वर्ष तक चलती रही। गत वर्षो म पुनर्निर्माण ऋण (Reconstruction Loan) योजना के अन्तर्गत ७० करोड मार्क (८० करोड रुपए) दिए जा चुके हैं। इस योजना के अनुसार यदि कोई पोत-निर्माता कुल व्यय का १० प्रतिशत अपने पास से लगाने को प्रस्तुत हो, तो ४० प्रतिशत के बराबर उस पुनर्निमाण ऋण सरकार की ओर से मिल जाता है। इस ऋण पर ४ प्रतिशत ब्याज लिया जाता है तथा दस बारह वर्ष म इसे चुकता करना पड़ता है। सन् १९५० से आयकर कानून म नया सशोधन किया गया जिसके अनुसार पोत-कम्पनिया व्यक्तिगत पूँजीपतियो से पोत-निर्माण के लिए बिना ब्याज ऋण ले सकती हैं। कोई उद्योग अपने लाभ के ५० प्रतिशत को जहाज निर्माण के लिए दे दे तो उसे वह आय-कर के लिए व्यापारिक व्यय (Business expense) मान सकता है अर्थात् लाभ के उस भाग पर उसे आयकर नही देना पडता। सन् १९५३-५४ तक इस नय नियम के अतगत पोत निर्माण के लिए ६० करोड मार्क (७२ करोड रुपए) मिल चुके थे। १९५४ म यह नियम निकाल दिया गया। जापान की सरकार ने १९५३ म ऐसे नियम बनाए जिनके द्वारा वहा के जहाज निर्माता ११ प्रतिशत कम मूल्य पर आर्डेश स्वीकार करने लगे, क्योकि उन्हे लोहा ६ पौंड १० शि० प्रति टन कम मूल्य पर मिलने लगा और निर्माण-व्यय कम हो गया। बैंको से ब्याज पर ऋण लेने का अधिकार भी पोत-निर्माताओ को दिया गया है।

फ्रास मे एक कानून बनाया गया है जिसके अनुसार जहाज निर्माण के लिए ३॥ प्रतिशत ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण लिए जाते हैं। इटली म भी इसी प्रकार का एक कानून है। इसके अनुसार जहाज-निर्माण के लिए सरकार की प्रत्याभूति (Guarantee) पर बैंको से १॥ प्रतिशत ब्याज पर ऋण मिल सकता है।

भारत सरकार भी इस प्रकार के ऋण देती है। ये ऋण जहाज बनवाने अथवा मोल लेने के लिए दिए जाते हैं। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के समय से भारत सरकार प्रतिवर्ष ३ करोड रुपए पोत-निर्माण के लिए ऋण के रूप मे बजट मे रखती रही है। इसमे से एक करोड का ऋण तटीय व्यापार के जहाजो के लिए तथा शेष दो करोड रुपए विदेशी व्यापार करने वाले जहाजो के लिए रखा जाता रहा है, किन्तु ये ऋण (ब्याज की दर एव अवधि की दृष्टि से) बहुत आकर्षक सिद्ध नहीं हुए। अतएव बहुत कम ऋण लिए गए हैं। प्रथम तीन वर्षो म केवल ६.५४ करोड रुपए (जिसमे से केवल १९५२-५४ म ३.७६ करोड रुपए) लिए गये। १९५३-५४ म ऋण की शर्तो म कुछ परिवर्तन किए गये। अब ३% ब्याज पर १६ वर्ष के लिए ऋण दिए जाते हैं। पोत कम्पनिया इस सुविधा से अब अधिक लाभ उठाने लगी हैं, यद्यपि

इन शर्तों को और भी उदार करने की उनकी माँग अभी जारी है। नए जहाजों के ऋण की अवधि २५ वर्ष और पुरानो की आय-कर की पूर्ण अवधि के लिए करने की माँग की गई है।

(ग) नौपरिवहन साहाय्य (Navigation Bounties)—प्रत्यक्ष राजकीय सहायता का तीसरा स्वरूप संचालन व्यय में कमी करना है। विदेशी प्रतियोगिता के कारण जिन क्षेत्रो अथवा मार्गों पर देशी कम्पनियाँ जहाज चलाने मे असमर्थ रहती हैं, वहाँ की सरकार उनके संचालन व्यय को भरने के लिये सहायता प्रदान करती है। ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, जापान, इटली इत्यादि देशो ने अन्तर्युद्ध काल (Inter war Period) या उससे भी पूर्व अपनी पोत कम्पनियो को इस प्रकार की सहायता प्रदान कर उन्हे प्रोत्साहन दिया। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की सरकार १६३६ के कानून के अन्तर्गत अपनी पोत-कम्पनियो को मजदूरी व जीविका (Subsistence), सामान (Supply), बीमा एवं मरम्मत व्यय के ४०% तक संचालन सहायता (Operating Subsidies) के रूप मे देती है।

भारतीय पोतचालन अभी अपनी बाल्यावस्था मे है। विदेशी प्रतियोगिता को सहन करने की उसकी क्षमता उतनी ही है जितनी अन्य अनेक उद्योगो की। अतएव अन्य उद्योगो की भाँति भारतीय पोत-कम्पनियाँ कई वर्ष से सरकारी सहायता के लिए प्रार्थना करती रही है, किन्तु भारत सरकार ने उनकी इस प्रार्थना पर अभी तक कोई ध्यान नही दिया। इस आशा से कि आवश्यकता पडने पर सरकार उसकी सहायता करेगी सिंधिया कम्पनी ने भारत-ब्रिटेन-यूरोप मार्ग पर दो यात्री-पोत (Passenger ships) चलाने प्रारम्भ किए थे। कम्पनी ने चार वर्ष तक लगभग ६ लाख रुपए वार्षिक की हानि सहकर भी उन्हे चलाया, किन्तु अन्त मे बन्द करना पड़ा। ब्रिटेन-यूरोप मार्ग पर भारतीय सेवा के अभाव मे उधर जाने वाले भारतीय यात्रियो को अब अपार कष्ट उठाना पडता है। यह देश के वर्तमान गौरव के प्रतिकूल है। अतएव यह आशा की जाती है कि भारत सरकार इस समस्या की ओर शीघ्र ध्यान देगी।

(घ) सरकार द्वारा जहाज बनवाना अथवा मोल लेना—अन्य देशो की सरकारो की भाँति भारत सरकार ने जहाज बनवाने मे बडी सहायता की है। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है भारत मे बडे जहाज बनाने का केवल एक कारखाना सन् १६४७ में सिंधिया कम्पनी के प्रयत्न से बन कर तैयार हुआ। इस काम मे सिंधिया को बहुत धन लगाना पड़ा और कुछ ही वर्षो मे स्थिति उसके काबू से बाहर हो गई। उनकी असमर्थता पर तरस खा कर १ मार्च १६५२ मे भारत सरकार इस साहसपूर्ण काम मे साझीदार बन गई और उसने दो तिहाई पूँजी पर अपना अधिकार कर लिया। तब से सरकार इस निर्माण-शाला में अपना धन लगा कर जहाज बनवाती है और उन्हे पोत-कम्पनियो को किश्तो पर अथवा ऋण देकर बेच

देती है। इस सुविधा से भारतीय जहाजी बेडे की क्षमता बढ़ने मे गत वर्षों म बडी सहायता मिली है।[1]

१६४८ म भारत सरकार न दो जहाज कनाडा से मोल लिए थे जो उसने १६५० म पूर्वी पोतचालन निगम (Eastern Shipping Corporation) को बेच दिए थे।

अमेरिका, ब्रिटेन व अन्य देशो की सरकारें भी गत वर्षों म इस प्रकार अपने जहाजी बेडे की शक्ति बढाते रहे हैं।

(ड) सरकारी सेवा— भारत सरकार पोतचालन-क्षेत्र मे स्वयं सेवा करने के लिए भी उतर आई है। उसने तीन अर्द्ध सरकारी निगम (Shipping Corporations) बनाने का निश्चय किया था जिनमे से दो (पूर्वी और पश्चिमी पोतचालन निगम) अब तक बन चुकी हैं और इस क्षेत्र में काम कर रही हैं।

फ्रास की सामुद्रिक उधारी प्रथा (Maritime Credit) तथा जापान के बैंको के सस्ते ऋण सम्बन्धी सुविधायें अन्य सरकारी सहायता के प्रत्यक्ष प्रमाण है। १६५४ म नार्वे की सरकार ने पोत-कम्पनियो के लिए ८६ लाख पौंड का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण दिलवाने म सहायता की। इसी प्रकार के प्रयत्न भारत सरकार भी कर सकती है।

(२) अप्रत्यक्ष सहायता

राष्ट्रीय पोत चालन को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने और समुन्नत करने के लिए विश्व के सामुद्रिक देशो की सरकारें उन्हे अप्रत्यक्ष सहायता प्रदान करके अनेक प्रकार के प्रोत्साहन देती है। अप्रत्यक्ष सहायता के अनेक प्रकार हो सकते हैं जो देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। गत वर्षों मे इस प्रकार के निम्नांकित यत्न किये गये हैं —

(क) तटीय व्यापार का सुरक्षित करना—आधुनिक युग का प्रत्येक सामुद्रिक राष्ट्र अपने तटीय व्यापार को अपना एकाधिकार मानता है। विदेशी जहाजो को उसमे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही। यह नीति आजकल सभी सामुद्रिक देशो में

१. एक दुखदाई घटना का वर्णन इस विषय म आवश्यक प्रतीत होता है। जब तक विशाखापत्तनम की पोत निर्माणशाला सिंधिया कम्पनी के अधिकार म थी, वहाँ पर लगभग १२ महीने मे कोई जहाज बन जाया करता था, किन्तु जब से सरकारी प्रबन्ध मे यह कारखाना आया है, ३० महीने म भी जहाज बनकर तैयार नही हुए। ऐसी स्थिति मे भारतीय कम्पनियों को हाल मे जहाजों के लिए विदेशो मे निर्माण-आदेश देने पडे हैं। ऐसा कहा जाता है कि जर्मनी मे आजकल कम मूल्य पर और कम समय मे (लगभग ६ महीने मे) जहाज बन कर तैयार हो जाते हैं।

अपनाई जा रही है। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने भी १९५० में अपने इस अधिकार की रक्षा करने की घोषणा कर दी थी। अब भारत का सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के अधिकार में है। इसका विशेष विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है।

(ख) राष्ट्रीय पोतचालन को आश्रय (Patronage)—संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की सरकार ने देश के वणिक पोत की सहायता के विचार से सितम्बर १९५४ में एक कानून बनाया जिसके अनुसार सरकारी माल का ५० प्रतिशत अमेरिकन जहाजों में ले जाना आवश्यक है। १९५४ में ब्रिटेन को निर्यात किए जाने वाले कोयले और सेवों के व्यापार के सम्बन्ध में इस कानून को लागू किया गया और अमेरिकन सरकार इस शर्त पर य वस्तुयें ब्रिटेन को देने को राजी हुई कि कम से कम आधा माल अमेरिकन जहाजों में ले जाना होगा।

दक्षिणी अरब की सरकार की ओर से भी हाल में इसी प्रकार का एक प्रस्ताव रखा गया है। वहां की सरकार ने एक पोत स्वामी के साथ एक समझौता किया है कि वह एक तडाग कम्पनी (Tanker Company) बनाए[1] जिसका प्रथम कर्त्तव्य तेल ले जाना होगा।

अन्य कई देशों की सरकारों ने भी अपनी पोत कम्पनियों को विदेशी व्यापार का उचित भाग दिलाने के सम्बन्ध में आज्ञप्तियों (Decrees) अथवा व्यापारिक समझौतों द्वारा प्रबन्ध किये हैं। अर्जनटाइना की सरकार ने एक ऐसा नियम बनाया है कि सरकारी अथवा अर्द्ध सरकारी संस्थाओं द्वारा विदेश भेजा जाने वाला सारा माल अर्जनटाइना के जहाजों में ही भेजा जाय तथा आयात किये जाने वाले माल को भी अपने जहाजों में लाने के ही आदेश दिए जायें। ब्राजील की सरकार ने आयात नियंत्रण (Import licence) और विदेशी विनिमय के अधिकार द्वारा आयात व निर्यात व्यापार पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है और इसी जहाजों में ही बहुधा माल आता-जाता है। चिली की सरकार आयात नियन्त्रण (Import licence) द्वारा अपने जहाजों के लिये बहुत कुछ यातायात आकर्षित करने में सफल हुई है। टर्की के प्रधान मन्त्री ने सरकारी विभागों को यह आदेश दे दिया है कि जहां तक सम्भव हो विदेश जाने और विदेश से आने वाला माल टर्की के जहाजों में ही ले जाया जाय और उसका बीमा भी स्थानीय बीमा कम्पनियों में कराया जाय।

स्पेन-ब्राजील, ब्राजील-चिली, चिली-अर्जनटाइना, अर्जनटाइना-जर्मनी में हुए पारस्परिक व्यापारिक समझौतों में यह नियम रखा गया है कि प्रत्येक देश के जहाजों को आधा-आधा माल लाने ले जाने का अधिकार मिलेगा।

---

1. The Saudi Arabian Tankers Ltd. (Indian Shipping, Vol. VII. No. 2, p. 8.)

पोतचालन पुनर्निर्माण नीति समिति के प्रतिवेदन प्रकाशित होने के उपरान्त से और विशेषत. स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय पोत कम्पनियाँ भी इसी प्रकार के किसी नियम के लिए आग्रह करती रही है। अमेरिका जैसे समृद्धिशाली देश के सामने अपने पोतचालन व्यवसाय को केवल जीवित रखने का प्रश्न है, किन्तु भारत जैसे पिछड़े देश मे पोतचालन के सामने दुहरी समस्या है: प्रथम पोतचालन की उन्नति की ओर फिर उसे उन्नतावस्था म रखने की। गत वर्षो मे विदेशी जहाजो की क्रिया देश म इतनी बढ गई है कि देशी कम्पनियाँ यातायात का अभाव अनुभव करने लगी है। इस स्थिति से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि अन्य देशो की भाँति सरकारी यातायात का एक भाग भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित करने का नियम बना दिया जाय।

(ग) कर-मुक्ति (Concession in dues)—देशी जहाजो से जाने अथवा आने वाले माल को सर्वथा कर-मुक्त कर दिया जाता है अथवा उस पर कम कर लगाये जाते है। इस प्रकार के कानूनो अथवा नियमो द्वारा स्वदेशी पोत-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाता है। अर्जेनटाइना की सरकार ने एक कानून बनाया है जिसके अनुसार उस माल का जो अर्जेनटाइना के जहाजो मे लदता है वाणिज्यदूत-कर (Consular fees', बीजक व्यय Manifest Charges), तथा बिल्टी-कर (Bills of landing fees) नही देनी पडती। एक दूसरे कानून द्वारा अर्जेनटाइना के जहाजो को अन्य जहाजो द्वारा दिये जाने वाले प्रकाश-कर (Light dues) का केवल ½ भाग देना पडता है। इसी प्रकार का कानून ब्राजील म है जिसके द्वारा कई प्रकार के करो मे देशी जहाजो से आने जाने वाले माल को छूट दी जाती है। विदेशी जहाजो को दीप-स्तम्भ कर (Light house dues) देने पडते है, किन्तु ब्राजील के जहाज इस कर से सर्वथा मुक्त है। कुछ माल को माँझी-कर (Pilotage dues) म भी छूट मिलती है। इक्वेडोर मे १९४६ मे एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार विदेश से विदेशी जहाजो से आने वाले माल को ७ प्रतिशत और देशी जहाजो मे आने वाले माल को ३॥ प्रतिशत कर देना पडता है। टर्की मे एक कानून बना है जिसके अनुसार विदेशी जहाजी कम्पनियो को निर्यात भाडो (Outward freights) पर एक प्रकार का विशेष कर देना पडता है जो देशी कम्पनियों से नही लिया जाता। इसी प्रकार का एक विशेष कर क्यूबा की सरकार ने विदेशी कम्पनियों पर लगा रक्खा है।

भारतीय पोतचालन की अनुपयुक्तता (Inadequacy) को देखते हुए इस प्रकार के कानूनो की यहाँ विशेष आवश्यकता है।

(घ) आय-कर मे छूट—आज भारत के प्रत्येक उद्योग को आय-कर मे छूट देकर प्रोत्साहन प्रदान करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, किन्तु पोत-व्यवसाय मे अन्य उद्योगो की अपेक्षा ऐसी छूट की अधिक और तुरन्त आवश्यकता है, क्योकि अपने वार्षिक लाभ का जितना अधिक भाग पोत व्यवसाय अनुरक्षण (Depreciation) मे

लगाता है उतना अन्य कोई उद्योग नहीं लगाता। इसी सिद्धान्त के अनुसार पोत-व्यवसाय को आय-कर एवं अवक्षयण (Depreciation) के लिए विशेष पक्षपात दिखाया जाता है। आस्ट्रेलिया की सरकार ने युद्धोपरान्त काल में पोतचालन से कम दर से आयकर लेने की नीति बरती है; १९४७ से १९५० तक प्रथम ५०० पौंड के लाभ पर एक पौंड में एक शिलिंग की छूट दे दी गई थी; सन् १९५०-५१ में प्रथम ५००० पौंड पर आयकर की दर ६ शि० प्रति पौंड थी, किन्तु अब वह घटाकर केवल ४ शि० प्रति पौंड करदी गई है; ५००० पौंड से अधिक लाभ पर १९५१-५२ में आय-कर की दर ६ शि० प्रति पौंड थी जो अब ६ शि० प्रतिपौंड कर दी गई है। यही नहीं, कुछ और भी छूट दी जाती है। उक्त दरो से कर देय आय में से आय-कर घटाने के उपरांत व्यक्तिगत पोत कम्पनियो को प्रथम १,००० पौंड में से ५०० पौंड, द्वितीय १,००० पौंड में से ४०० पौंड, तृतीय १,००० पौंड में से ३५० पौंड, चतुर्थ १,००० पौंड में से ३०० पौंड और ४,००० पौंड से अधिक में से एक चौथाई आय निकाल कर रखने का अधिकार दिया गया है। इसे प्रतिधारण भत्ता (Retention allowance) कहते हैं। व्यक्तिगत कम्पनियो की सम्पत्ति (Property) की आय में से भी १० प्रतिशत रखने का अधिकार है। इन छूटो और विशेषाधिकारों द्वारा लाभ का एक अंश व्यावसायिक उन्नति के लिए लगाने का प्रलोभन दिया जाता है।

भारत में पोत कम्पनियाँ इसी प्रकार के प्रोत्साहन एवं आयकर सम्बन्धी छूट के लिए वर्षों से प्रार्थना कर रही है, किन्तु अभी तक भारत सरकार ने कुछ नहीं किया। इस माँग पर शीघ्र ध्यान देने की आवश्यकता है।

(ङ) विनियोग भत्ता (**Investment Allowance**)—नए जहाज बनवाने का मूल्य अधिक होने के कारण, विश्व के सभी देशो के सामने पुराने जहाजों के प्रतिस्थापन (Replacement) की समस्या बडी विकट हो गई है। ९,५०० टन के एक जहाज को १९४५ में २,६५,००० पौंड में बनवाया जा सकता था, तो अब उस पर कम से कम ६,२५ ००० पौंड व्यय करने पडते हैं। कुछ देशो की सरकारो ने पोतस्वामियो की इस कठिनाई को दूर करने के प्रयत्न किए हैं। ब्रिटेन की सरकार सामान्य अवक्षयण (Depreciation) के अतिरिक्त २० प्रतिशत का विशेष विनियोग भत्ता (Investment Allowance) और देती है। इसी भाँति नार्वे में साधारण अवक्षयण के अतिरिक्त १० प्रतिशत का एक प्रारम्भिक भत्ता (Initial Allowance) भी दिया जाता है।

ब्रिटेन और नार्वे के समुन्नत एवं सुदृढ उद्योगो के लिए इस प्रकार के विशेष प्रयत्न व प्रोत्साहन की आवश्यकता है, तो भारत जैसे देश के अनुन्नत पोतचालन के लिए इसकी और भी अधिक आवश्यकता है, क्योकि भारतीय पोत कम्पनियो को कोई संचित निधि (Reserve Fund) इत्यादि बनाने का अवसर नहीं मिला। भारतीय पोत-कम्पनियों की ओर से इसी प्रकार के विनियोग भत्ते की माँग की गई है।

अप्रत्यक्ष सरकारी सहायता के उल्लिखित यत्नो के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियो द्वारा पोत चालन को प्रोत्साहन प्रदान किया जा सकता है। बन्दरगाह पर लिए जाने वाले करो से मुक्ति, जहाज बनाने के लिए विदेश से आने वाली सामग्री को आयात कर से मुक्त करना, व्यापारियो को अपने जहाजो का प्रयोग करने का प्रलोभन देना, इत्यादि ऐसे अनेक यत्न हैं जिनके द्वारा राष्ट्रीय पोतचालन को सरकार समुन्नत बनाने मे सहायक हो सकती है। भारतीय पोतचालन की वर्तमान अविकसित अवस्था को देखते हुए भारत सरकार का कर्तव्य है कि वह अपनी ऋण सम्बन्धी नीति को अधिक उदार बनाए, आयकर में छूट देकर लाभ का कुछ अश उद्योग मे लगाने का प्रलोभन दे, मूल्य-ह्रास (Depreciation) की दर मे वृद्धि करे ताकि पोत कम्पनियाँ नए जहाजो के ऊँचे मूल्यो को सहन कर सके, जहाजो द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले कोयले, तेल तथा अन्य सामग्री को सीमा-शुल्क (Customs duty) व विक्रय कर (Sales Tax) से मुक्त करे, तथा सरकारी माल की अधिकाधिक ढुलाई देशी जहाजो से करने के नियम बनाए। भारत सरकार ने पोतस्वामियो की परामर्शदात्री समिति (Consultative Committee of Shipowners) बना कर देश से इस महत्वपूर्ण व्यवसाय के साथ निकट सम्पर्क स्थापित कर उसकी समस्याओ को समझने व उन पर विचार करने का मार्ग अपनाया है। देश की सरकार का यह कार्य अत्यन्त सराहनीय है। इसके साथ यह आशा की जाती है कि भारत सरकार देशी जहाजी कम्पनियो को सहायता सम्बन्धी अन्य माँगो पर भी शीघ्र ध्यान देगी। भारतीय जहाजी कम्पनियो की कुछ माँग निम्नाकित है: (क) भारतीय कम्पनियो को आर्थिक भाड़ा-दरे देकर व्यवसाय विस्तार का अवसर दिया जाए तथा अमेरिका के खाद्यान्न-समझौते से लाभ उठाया जाए; (ख) विकास फिरौती (Development rebate) का ७५% जहाज लेने के प्रथम वर्ष मे ही सचित निधि मे ले जाने के लिए विवश करने के स्थान पर उसे ६ से ८ वर्ष तक मे लगाने की आज्ञा दे दी जाए, (ग) डीजिल तेल के उत्पादन कर से भारतीय जहाजी कम्पनियो को छूट मिलनी चाहिए क्योंकि डीजिल के नए जहाजो का मूल्य अधिक है, (घ) यद्यपि भारत सरकार का बम्बई और कलकत्ता के मरम्मत घाटो को विदेशी कम्पनियो से लेने का कार्य सराहनीय है, तो भी इन घाटो मे समय और व्यय दोनो बहुत अधिक लगते है। इन्हे कम करने की आवश्यकता है।

भारत सरकार पोतचालन से निकट सम्पर्क रखती और उन से विचार-विमर्श करती रहती है तथा उनकी कठिनाइयो को दूर करने का भरसक यत्न करती है।

४०.

विमान परिवहन की विशेषतायें

(Characteristics of Air Transport)

विमान आधुनिकतम वाहन है जो मनुष्य की आकाश मे उड़ने की चिर अभिलाषा की पूर्ति करता है। यद्यपि इसका उपयोग अभी यात्री यातायात के लिए ही विशेष किया जाता है, तो भी इसका महत्व दिनो दिन बढ़ता जा रहा है और नित नई सेवाओ के लिए इसका प्रयोग किया जा रहा है।

तीव्रगति (Speed)—तेज चाल इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। विमान-विकास के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण अग उसकी चाल-वृद्धि है। यह चाल वायुयान ने पिछले पच्चीस-तीस वर्ष मे ही प्राप्त की है।[1] १९१० तक विमानो की चाल मोटर साईकिल की चाल की आधी मात्र थी, किन्तु १९१८ तक (प्रथम विश्व-युद्ध के समाप्त होने-होते) १३० मील प्रति घण्टे की चाल से चलने वाले विमान बनने लगे।[2] द्वितीय महायुद्ध से पूर्व विमानो की सामान्य चाल १०० से १५० मील प्रति घण्टे थी; किन्तु अब ७०० मील की चाल सामान्य समझी जाती है यद्यपि कुछ विमान १००० मील की चाल से जाने की क्षमता रखते है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि आगामी १० वर्ष मे दो हजार मील की चाल सामान्य हो जाएगी। ब्रिटेन के विमान विशेषज्ञो के अनुसार लन्दन से आस्ट्रेलिया की दूरी तीन-चार घंटे मे ३००० मील प्रति घंटे से अधिक चाल से पार की जा सकती है। संयुक्त-राष्ट्र का राकेट विमान (X—१५) २,१५० मील की चाल प्राप्त कर चुका है। जर्मनी के एक विज्ञानवेत्ता ने ऐसी योजना बनाई है कि उनका बनाया हुआ नया राकेट Rocket) विमान लगभग ३७ मील ऊँचा चढ सकेगा तथा उसकी चाल ९,९०० मील प्रति घण्टे होगी।

---

१. संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे चाल-वृद्धि के सम्बन्ध मे निम्न आंकडे संकलित किए गए है : १९३० मे १०५ मील, १९३५ मे १४५ मील, १९४० मे १७० मील, १९४५ मे २३० मील, १९४७ मे ३०० मील तथा १९५२ मे ५०० मील (Joseph L. Nicholson *Air Transportation Management*, 1951, p. 316).

2. I bid, p. 2.

यह भी ध्यान रखने की बात है कि जितनी ही अधिक चाल से विमान चलता है उसका शक्ति सम्बन्धी व्यय उतना ही अधिक होता चला जाता है। १०० मील की चाल से चलने के लिए जितनी शक्ति और तेल (fuel) की एक विमान को आवश्यकता होती हो, २०० मील की चाल प्राप्त करने के लिए उसे उससे आठ गुनी शक्ति और तेल की आवश्यकता पडती है।[1]

समय का आधुनिक जीवन में विशेष महत्व है, विमान अपनी अधिक चाल के द्वारा आधुनिक मानव का समय बचा कर उसका महान उपकार करता है। विमान की कृपा से आज का ससार हमे घर आँगन सा प्रतीत होता है। दिन भर में तेज वायुयानो द्वारा सारी पृथ्वी की परिक्रमा की जा सकती है।

भौगोलिक बाधाओ का उल्लघन—वायुयान का वास्तविक महत्व समझने के लिए उडान के भौतिक सिद्धान्तो पर ध्यान देने की आवश्यकता है। भूमि वायुमण्डल मे एक गेंद के समान लटकी हुई है। विमान के आविष्कार से यह वायुमण्डल एक अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग बन गया है जिसकी पहुच विश्व के प्रत्येक व्यवसाय और प्रत्येक घर-द्वार तक है। इस वायुपथ पर चलने के लिए सडकों, पटरियो, पुलो, सुरगो इत्यादि की आवश्यकता नहीं। वन, पर्वत, रेगिस्तान, दलदली भूमि, बर्फीले प्रदेश, नदी-नाले इत्यादि इस मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही करते। वायु के विश्वव्यापी राजमार्ग पर विमान जल-थल, वन-पर्वत, कन्दर-खाई इत्यादि की उपेक्षा करता हुआ लगातार यात्रा करता चला जाता है। इस प्रकार की बेरोक यात्रा अन्य परिवहन के साधनों द्वारा सभव नही। रेल अथवा सडक से माल बन्दरगाह पर उतार कर समुद्र पर ले जाने के लिए जहाज पर लादना पडता है और फिर आयात करने वाले देश मे बन्दरगाह पर उतार कर देश के अन्तर्गत भाग म अन्य साधनो से पहुँचाना पडता है। बार-बार उतार-चढाव की यह असुविधा वायुमार्ग मे नहीं उपस्थित होती। विमान की यह सबसे बडी विशेषता है।

बहुमूल्य धातुओ का परिवहन—बहुमूल्य वस्तुओ के एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे जितना ही अन्तर अधिक होता है और जितना ही अधिक समय लगता है उतना ही अधिक जोखिम उठाना पडता है। यह जोखिम उनके चोरी जाने अथवा पथ-भ्रष्ट होने के सम्बन्ध म हो सकता है और उनके मूल्य परिवर्तन के सम्बन्ध मे भी। ऐसी वस्तुओ के स्थानान्तर मे जितना ही अधिक समय लगता है उनके लाभ की मात्रा उतनी ही कम होती चली जाती है। इसके विपरीत उनका परिवहन जितना ही शीघ्र हो सके लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक हो सकती है। वायु परिवहन ने ऐसी वस्तुओ के परिवहन व जोखिम का समय कम करके तथा उनके लाभ की मात्रा बढा कर उनके अधिकाधिक परिवहन की प्रेरणा प्रदान की है। इससे उनके मूल्यो मे समता स्थापित होती है। आजकल बहुधा बहुमूल्य वस्तुये और धातुये दूरवर्ती स्थानो को विमान द्वारा ही भेजी जाती हैं।

1. Joseph L. Nicholson : *Air Transportation Management*, 1951, p. 197.

सैनिक महत्व—आधुनिक युद्ध मे विमान का महत्व किसी से छिपा नहीं। दो विश्व-युद्धो मे विमान ने अपने अपूर्व कौशल और अपार शक्ति का प्रदर्शन किया है। यह कहा जाय तो अधिक ठीक होगा कि युद्ध-काल मे ही विमान परिवहन का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। युद्ध छिड़ने पर आक्रमण की प्रथम क्रिया शत्रु क्षेत्र पर बम अथवा अन्य विस्फोटक पदार्थ गिराना होता है। यह क्रिया विमान द्वारा ही सम्पन्न की जाती है। वस्तुत: विमान आधुनिक युद्ध का अमोघ अस्त्र व विजयदूत है।

युद्ध-क्षेत्र मे संकटापन्न होने पर गोला-बारूद, अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिको का सत्वर परिवहन विमान द्वारा ही सम्भव है। घिरी हुई सेनाओ को युद्ध क्षेत्र से निकाल कर लाने मे भी वायुयान का प्रयोग किया जाता है। घायल सैनिको को शीघ्रता से औषधियाँ व चिकित्सा-सहायता पहुँचा कर उनकी प्राणरक्षा का श्रेय भी विमान को मिल चुका है।

शान्तिदूत—युद्ध के उपरान्त शान्ति स्थापन मे भी विमान का सहयोग श्लाघनीय है। १९५३ मे कोरिया मे सधिवार्त्ता के सम्बन्ध मे भारत से विमान द्वारा ही अभिरक्षक सैनिक (Custodian troops) भेजे गए थे। ठीक एक वर्ष उपरान्त भारत को इण्डोचीन मे भी शान्ति स्थापित करने का कार्य सौंपा गया। इस अवसर पर भी कलकत्ता से विमान द्वारा ही भारतीय सैनिक इण्डोचीन भेजे गये थे। कांगो को ऐसे सैनिक विमान द्वारा ही भेजे गए है। जिन अवसरो पर प्राण-रक्षा और समय का मूल्य अधिक होता है रुपए का कम, उन अवसरो पर विमान की सेवा अद्वितीय होती है।

संकटकालीन वस्तुओं (Emergency goods) का परिवहन—अनेक अवसरो पर संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाती है और मनुष्यो की प्राण रक्षा के लिए वस्तुओ का शीघ्र परिवहन आवश्यक होता है। संक्रामक रोग फैलने, बाढ अथवा भूकम्प आने, अकाल पड़ने, अन्य परिवहन के साधनो के विच्छिन्न होने, अथवा अन्य ऐसे ही अवसरो पर बहुधा ऐसी सकटकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाया करती है। रोग से लोगो के प्राण बचाने के लिए औषधिया और चिकित्सा सहायता विमान द्वारा शीघ्र विपदग्रस्त लोगो तक पहुँचाई जाती है और रोग का प्रसार रोका जाता है। बाढ अथवा भूकम्प आने पर अनेक बार बहुत-सी जनसख्या देश के अन्य भागो से अलग कट जाती है। ऐसे अवसरो पर रेल अथवा सडक मार्ग खुलने तक विमान द्वारा उन्हें खाद्यान्न और अन्य आवश्यक पदार्थ पहुँचाए जाते हैं। आसाम के गत भूकम्प मे विमान से इस प्रकार का काम लिया गया था। अगस्त १९५४ मे पश्चिमी बंगाल के कुछ बिहार प्रान्त मे बाढ़ आने पर वहाँ लगभग एक हजार मन चावल विमानों द्वारा भेजा गया था। अप्रैल-मई १९५५ मे नेपाल के कुछ क्षेत्रो मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। वहाँ की सरकार ने भारत सरकार से विमान द्वारा चावल भेजने की प्रार्थना की। इस अवसर पर भारतीय विमानो ने कई दिन तक ५० मन प्रतिदिन के हिसाब से वहाँ चावल पहुँचाया। इसी भाँति अगस्त १९५४ मे भारत-काठमाण्डू सड़क के भूपतन (landslide) के द्वारा बन्द हो जाने पर काठमाण्डू मे मिट्टी के तेल की

भारी कमी हो गई और विमान द्वारा तेल भेज कर कमी को पूरा किया गया। विमान की ये सेवाये कितनी महत्वपूर्ण है।

आन्तरिक शान्ति—किसी देश के अन्तर्गत गृह युद्ध छिड़ने, साम्प्रदायिक झगड़े होने अथवा अन्य कारणों से अराजकता फैलने पर विमान द्वारा पुलिस अथवा सेनाये भेज कर तुरन्त शान्ति स्थापित की जा सकती है। दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिक दगे भारत की एक सामान्य घटना हो गई है और अनेक ऐसे अवसरो पर नेताओं ने विमान से अपनी शान्ति अपीलें जनता को बाँट कर उन्हें बुद्धिमत्ता का पाठ पढाया है। भारत जैसे निर्धन देश अपने विस्तार के अनुरूप अनेक स्थल पर वाछनीय सख्या मे पुलिस अथवा फौज रखने मे असमर्थ है। अतएव इस देश के लिये विमान की सेवा और भी उपयोगी है।

स्वास्थ्य सुधार—जिस तेजी से विमान परिवहन का विकास हुआ है और आजकल हो रहा है, उसे देखते हुए वह दिन दूर नही जब नगरो मे स्थित कारखानो मे काम करने वाले व्यक्ति कारखानो के निकट जमघट न करके दूर-दूर तक स्वस्थ वातावरण मे जा बसेंगे। इससे हमारे नगरो के सामाजिक वातावरण मे ही परिवर्तन नही होगा, लोगो का स्वास्थ्य भी बहुत कुछ सुधर जायेगा। जनसख्या के प्रसार मे भी सहायता मिलेगी।

मलेरिया से प्रतिवर्ष देश की भारी आर्थिक हानि होती है। यह लोगो के स्वास्थ्य स्तर को भी शोचनीय बनाने मे कुछ उठा नही रखता। विमान द्वारा मच्छरो को मार कर इस रोग से छुटकारा मिल सकता है। ऐसे अनेक सफल प्रयोग किए जा चुके है।

औद्योगिक हित—उद्योगो के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध आज सभी देशो मे भारी प्रतिक्रिया हो रही है और विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई जा रही है। विमान का अधिकाधिक विकास मनुष्य की इस अभिलाषा की पूर्ति मे सहायक सिद्ध होगा, इसमे सन्देह नही।

वाणिज्य-विस्तार—व्यवसाय के लिए भी विमान अति हितकारी सिद्ध हुआ है। बाजार के प्रसार मे विमान का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। तार द्वारा आदेश प्राप्त करके अल्प-काल मे माल भेज कर बाजार का क्षेत्र विस्तृत किया जा सकता है। क्रेता और विक्रेता दोनो का अपने बाजार से अधिकाधिक सम्पर्क बनाए रखने मे विमान सहायक होता है। नाशवान वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र भी व्यापक बनाया जा सकता है। भारत से ताजे आम विदेश भेजे जाने लगे है और भारतीय आमो का बाजार दिनो-दिन विस्तृत होता जारहा है। अन्य फलो के बाजार विस्तार के लिए भी विमान का प्रयोग किया जा सकता है। केलीफोर्निया के फल-फूलो का बाजार विमान के आगमन से सयुक्त राष्ट्र के पूर्वी क्षेत्र मे दिनादिन बढता जारहा है।

व्यावसायिक प्रबन्ध मे विमान से बड़ी सुविधा हो जाती है। उद्योगपति

मुख्यालय से व्यवसाय की अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं का सुचारु प्रबन्ध सहज कर सकता है।

कृषि-रक्षा—टिड्डी फसल का सबसे बड़ा शत्रु है। जहाँ टिड्डी दल निकल जाता है, वहाँ की सारी फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। विमान द्वारा एक प्रकार का विषैला चूर्ण खेतो पर छिड़क कर टिड्डियो को मारा जाता है और इस प्रकार फसल की रक्षा की जाती है।

इसी भाँति कृषि सम्बन्धी रोगो स फसल की रक्षा करने और कीटाणुओं को मारने के लिए भी विमान का उपयोग किया जाता है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में कपास के कीडे को मारने मे यह युक्ति काम मे लाई जाती है।

वन-रक्षा—भारत के वनो मे आग लगने पर उनके चारो ओर खाइयाँ खोद दी जाती है ताकि आग आगे न बढ सके और अग्निग्रस्त वन को जलने के लिए स्वतंत्र छोड दिया जाता है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे वनो को इस भाँति नष्ट नही होने दिया जाता। वहाँ विमानो द्वारा वन की आग बुझा दी जाती है और वन की रक्षा की जाती है। भारत मे भी वन-रक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

वायु फोटोग्राफी—वायुयान द्वारा वायु फोटोग्राफी सहज सम्भव है। आज वायु फोटोग्राफी का महत्त्व बहुत अधिक है। युद्धकाल मे वायु द्वारा फोटो लेने का काम जगत-प्रसिद्ध हो चुका है। खाइया खोदने व गुप्त स्थानो को सुरक्षित रखने का काम वायु चित्रण (Air photography) द्वारा ही सम्भव है जिससे युद्ध की प्रगति बढ़ती है। ठीक-ठीक नक्शे बनाने का काम भी आजकल वायुचित्रण द्वारा ही किया जाता है। इसी भाँति ठीक-ठीक चित्र बनाने के लिए उपयुक्त आँकडे उपलब्ध करना विमान का ही काम है। विमान द्वारा सर्वेक्षण (Survey) कार्य भी सरल एव सस्ता हो जाता है। इसीलिए रेल व सडक बनाने, प्रादेशिक नियोजन तथा शक्ति योजनाओ को सफल बनाने का काम वायुचित्रण द्वारा ही किया जाता है।

कनाडा मे मछलियो के संरक्षण के लिए और कनाडा एवं संयुक्त-राष्ट्र में चौर्यपरण (Smuggling) की रोक-थाम के लिए विमानो का उपयोग प्रसिद्ध है।

विमान परिवहन की सीमाएँ

विमान परिवहन के उक्त गुणो का वास्तविक मूल्य समझने के लिए उसके दोषो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) मँहगाई—किराए-भाडे की अधिकता इसका सबसे बडा दोष है। भारत जैसे कंगाल देश मे ऐसे मँहगे साधन का प्रयोग करने वाले लोगो की संख्या बहुत कम है। इस देश को सस्ते से सस्ते साधनो की आवश्यकता है। विमान का किराया रेल के प्रथम श्रेणी के किराये से भी अधिक होता है और वस्तु-भाडा और भी अधिक होता है। केवल धनी व्यक्ति और मूल्यवान वस्तुये ही विमान का उपयोग कर सकती हैं। इसकी मँहगाई के कारण ही यहाँ की जनसंख्या का केवल ·०२ प्रतिशत हो अभी तक इसका उपयोग कर सका है।

(ख) सीमित क्षेत्र—विमान का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। इसका प्रयोग धनी यात्रियो तथा बहुमूल्य एव हल्की वस्तुओ के लिए ही किया जाता है। रेल, सडक व जहाज से भारी से भारी माल ले जाया जा सकता है और गरीब से गरीब लोग भी यात्रा कर सकते है। विमान अभी उतना लोकप्रिय नही हो सका किन्तु धीरे-धीरे उसका प्रयोग अधिक माल ले जाने के लिए किया जा रहा है और सम्भव है कुछ ही काल मे वह अन्य साधनो की प्रतियोगिता करने लगे।

(ग) ऋतु प्रभाव—ऋतु का प्रभाव विमान पर तुरन्त पडता है। घोर वर्षा होने, तेज आधी आने, कुहरा पडने, बर्फ जमने, बादल छा जाने पर वायुयान को अपना कार्यक्रम बदलने के लिए बाध्य होना पडता है। अन्य परिवहन के साधन इन घटनाओ से उतने प्रभावित नही होते और उनका कार्यक्रम निर्विघ्न चालू रहता है। अतएव विमान परिवहन उतना भरोसे वाला साधन नही जितना रेले अथवा अन्य साधन। भारत जैसे मानसूनी देशो मे वर्षा ऋतु मे कार्यक्रम का पालन कठिन कार्य है, अनेक बार मूल कार्यक्रम को स्थगित करना पडता है।

(घ) विश्व के कानून—एक देश के विमान को दूसरे देश के ऊपर होकर उडने के लिए उस देश की सरकार की आज्ञा लेनी पडती है और वहाँ के कानून व नियम मानने पडते है। विमान को वह स्वतन्त्रता प्राप्त नही जो जहाज को प्राप्त है। इस बाधा को हटाने के प्रयत्न हो रहे है और आशा की जाती है कि शीघ्र ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय नियम बन जायेगे जो सब देशो को मान्य होगे और जिनके अनुसार विमान को जहाज की सी स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाएगी तथा राजनीतिक सीमाये उसके मार्ग से हट जायेगी।

(ङ) दुर्घटनायें—विमानो की दुर्घटनाये भी अनेक एव भयानक होती है जिनकी आशका से अनेक लोग विमान द्वारा यात्रा करना अच्छा नही समझते। अभी विमान उतने सुरक्षित नही समझे जाते जितने अन्य परिवहन के साधन।

(च) शब्द—घोर शब्द के कारण भी बहुत से लोगो को विमान यात्रा दूभर प्रतीत होती है। शब्द को कम करने के प्रयत्न हो रहे हैं और आशा की जाती है इसमे शीघ्र सफलता मिल सकेगी।

भविष्य

इन सब दोषो एव सीमाओ के होते हुए भी विमान इस युग का एक महत्वपूर्ण साधन है जिसका प्रयोग दिनो दिन बढ रहा है। विमान परिवहन आधुनिक विमान की एक अपूर्व देन है। सभ्य मानव का कर्तव्य है कि आधुनिक सभ्यता के विनाश के लिए उनका प्रयोग न करके सभ्यता के विकास तथा उसे और भी आधुनिकतम बनाने के लिए उनका प्रयोग करे। इसी मे उनका अपना हित है और सारे ससार का हित है। ऐसा करने से विमान के प्रति जो भय की आशका लोगो को होने लगी है वह दूर हो जायगी और विमान का लोग अधिकाधिक स्वागत करेगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो घनी आबादी वाले प्रदेशों से बिरली आबादी वाले क्षेत्रों की ओर जनसंख्या का प्रस्थान अनन्तकाल से होता रहा है। विमान के द्वारा इस प्रगति को प्रोत्साहन मिलेगा और एशिया, अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका के आन्तरिक भागों तथा अन्य अविकसित क्षेत्रों में जनसंख्या का भारी पुनर्वास होगा जिससे उन क्षेत्रों के अविकसित साधनों को विकसित होने का अवसर मिल सकेगा। घनी आबादी वाले प्रदेशों तथा नगरों की अवांछित भीड़-भाड़ और अनावश्यक जमघट को कम करके विमान परिवहन जनसंख्या का नये सिरे से बटवारा करने में सहायक होगा। इससे स्वस्थ वातावरण का ही उदय नहीं होगा, अनेक सामाजिक कुरीतियाँ भी दूर होंगी और लोगों का स्वास्थ्य स्तर ऊँचा हो सकेगा।

विमान अपनी चाल के लिए ही नहीं, नये क्षेत्रों की खोज और उनके सर्वेक्षण (Survey) के लिए भी अद्वितीय है। किसी नए क्षेत्र में सड़कें अथवा रेलें बनाने में वर्षों का समय लग जाता है किन्तु विमान तुरन्त ऐसे क्षेत्रों में औद्योगिक साज-सज्जा व सामग्री पहुँचा सकता है। न्यूगिनी व अलास्का में कई खनिज क्षेत्र ऐसे हैं जो परिवहन के लिये विमान पर ही निर्भर हैं।

विमान परिवहन के विकास के साथ-साथ मनोरंजक एवं रमणीय स्थानों के लिए यात्रायें उसी भाँति बढ़ती जा रही हैं जैसे मोटर के आवागमन से उनमें वृद्धि हुई थी।[1] जिन स्थानों पर खेल-कूद होते हैं उनका क्षेत्र विस्तृत हो जायगा। चलचित्रों द्वारा फिल्म लिए जाने के लिए विमान का प्रयोग बढ़ रहा है जिसकी सम्भावना और भी होती जा रही है।

शिक्षा पद्धति के विकास की बड़ी सम्भावना है। उड़ान के भौतिकविज्ञान तथा वायु में विचरण करने वाले जीवों से सम्बन्धित जीवशास्त्र (Biology) का पुस्तकों में समावेश होना स्वाभाविक है। हमारी भौगोलिक धारणाओं में भी परिवर्तन हो जायगा। वायुमार्ग में किसी प्रकार की रुकावटें नहीं होतीं, अतः विमान सीधे से सीधे मार्ग से यात्रा कर सकता है जो छोटे से छोटा मार्ग होगा, (बम्बई से दिल्ली रेल से ९५७ मील और वायुयान से ७०८ मील है) और छोटे मार्ग वे हैं जो गोलाकार हैं। अतएव दूरी की नाप मीलों में न होकर भविष्य में घंटों में होने लगेगी। इसी भाँति वायु-प्रवाह, वायु-भार तथा वायु-तल इत्यादि का अध्ययन वायु-युग के भूगोल का एक अंग बन जायेंगे, क्योंकि ऋतु परिवर्तन का उड़ान पर भारी प्रभाव पड़ता है।

डाक वितरण का कार्य विमान द्वारा शीघ्रता एवं तत्परता से होने लगा है। आगे इसमें और भी प्रगति की सम्भावना है। जिन क्षेत्रों का मार्ग दुर्गम है उनमें भी डाक का नियमित वितरण विमान द्वारा किया जाता है। असम के अनेक पर्वतीय

---

१. संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में मोटर के प्रचार से वहाँ के उपवनों के दर्शकों की संख्या १९२० में ६,००,००० से बढ़ कर १९३१ में ३०,००,००० हो गई। (Joseph L. Nicholson . Air Transportation Management 1951, p. 5).

क्षेत्र परिवहन के साधनो के अभाव मे देश के अन्य भागा से सर्वथा अलग हैं। वहाँ हाल मे भारतीय डाक विभाग ने हेलीकोप्टर (Helicopter) द्वारा नियमित सेवा प्रदान करनी प्रारम्भ कर दी है।

नित प्रति नए नए विमानो का आविष्कार हो रहा है जो मानव समाज की विविध प्रकार की कम समय मे और सस्ती सेवा करने की क्षमता रखते हैं और वह दिन दूर नही जब विमान उतने ही लोकप्रिय हो जावेगे जितनी कि आज मोटर और रेल हो गई है। विमान भारी माल का परिवहन भी करने लगे हैं और आशा की जाती है कि कुछ ही काल म वे परिवहन के अन्य साधना की उसी भाति प्रतियोगिता करने लगेंगे जैसे आज कल रेल की मोटर प्रतियोगिता करता है। विमान के आगमन से विश्व बहुत छोटा हो गया है और वह दिनो दिन छोटा होता जा रहा है। इस भाति विमान परिवहन का भविष्य उज्ज्वल ही नह विलक्षण प्रतीत होता है।

देश के विस्तार और भौगोलिक स्थिति को देखते हुए, भारत इसकी उन्नति के लिए विशेष उपयोगी क्षेत्र है। भारत की स्थिति पूर्व और पश्चिम को जाने वाले वायु-मार्गों के बीच मे होने के कारण बडी महत्वपूर्ण है। उपयुक्त स्थिति के इस प्राकृतिक वरदान से हम पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये।

भारत आज अपने पुनर्निर्माण मे लगा हुआ है। इस राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक पुनर्गठन के महान् कार्य को सफल बनाने म विमान की सेवा का बहुमुखी प्रयोग सम्भव है। भारत के भविष्य के बनाने मे विमान की निम्नाकित सेवाये सम्भव ह —

बहुमूल्य वस्तुओ का परिवहन—सोना, चादी, सरकारी ऋण पत्र इत्यादि बहुमूल्य वस्तुओ के शीघ्र परिवहन द्वारा उनके विभिन्न नगरो के बीच मूल्य म समता स्थापित की जा सकती है। व्यापारी वर्ग इनके शीघ्र परिवहन द्वारा मूल्यो के उतार-चढाव से लाभ कमा सकते है। वायदा व्यापार के बढाने मे इसका समुचित उपयोग सम्भव है।

सकटकालीन वस्तुओ का परिवहन—भारत की कुछ सामयिक घटनायें बडी भयानक होती हैं और बहुधा सकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो जाया करती है। बाढ, अकाल, सक्रामक रोग, भूपतन, भूचाल इत्यादि भारत की एसी ही घटनाये ह। विमान द्वारा एसे अवसरो पर लोगो की प्राण-रक्षा सहज सम्भव है।

औद्योगिक प्रबन्ध—भारत अपनी औद्योगिक क्रान्ति मे सलग्न है किन्तु हमारे पास योग्य प्रबन्धकर्त्ताओं का भारी अभाव है। सीमित औद्योगिक योग्यता का विमान द्वारा अधिकतम उपयोग करके हम अपने औद्योगिक सुप्रबन्ध के अच्छे नमूने उपस्थित कर सकते है और उत्तम परम्परायें स्थापित कर सकते हैं। सरकारी क्षेत्र के उद्योगो मे उसका विशेष लाभ उठाया जा सकता है।

व्यापार-विस्तार—आम, सन्तरे, अमरूद, केले, नारियल, अगूर इत्यादि फल देश के सीमित क्षेत्रो म ही उत्पन्न होते हैं। विमान द्वारा इनके आतरिक व्यापार

का प्रसार सम्भव है। साथ ही इनका निर्यात किया जा सकता है। ताजे आम विमान द्वारा ब्रिटेन लाने लगे हैं। अन्य फल भी इसी भाँति निर्यात किए जा सकते है।

पर्यवेक्षण—भारत के विविध क्षेत्रो मे पर्यवेक्षण कार्य बडे पैमाने पर हो रहा है। नहरें, बाँध, रेलें, सड़कें, पुल बनाने, बाढ-निरोध, खनिज अन्वेषण इत्यादि विषयो से सम्बन्धित पर्यवेक्षण कार्य विमान द्वारा सहज एव शीघ्र सम्भव है।

आन्तरिक शान्ति—इतने बडे किन्तु इस कंगाल देश मे सर्वत्र पर्याप्त पुलिस अथवा सेना रखना सम्भव नही। सीमित पुलिस द्वारा विमान की सहायता से शान्ति बनाए रखना सम्भव है।

विमान का प्रयोग फसलो के रोग निवारण, टिड्डो के बचाव, वनरक्षा, स्वास्थ्य सुधार इत्यादि के लिये भी किया जा सकता है। इस भाँति विमान-सेवा का विकास भारत के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक विकास मे सहायक होगा। देश-रक्षा का प्रश्न तो आज पूर्णत: वैमानिक क्षमता पर ही निर्भर है। चीन के साथ तनातनी के कारण विमान का महत्व और भी बढ गया है।

४१.

विमान परिवहन का विकास
(Development of Air Transport)

भारतीय पौराणिक कथाओ मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जिनसे यहा पर प्राचीन काल मे विमान द्वारा यात्रा करने के प्रमाण मिलते हैं। देवता लोग बहुधा विमानो म बैठ कर ही कही जाते थे। अयोध्या के लोकप्रिय राजा राम लका से रावण को परास्त करने के अनन्तर पुष्पक विमान मे बैठकर अयोध्या लौटे थे। उनकी सारी सेना भी उसी मे बैठकर आई थी। इससे उसके आकार का भी अनुमान होता है। रामायण मे कई स्थलो पर आकाश मार्ग से यात्रा करने का विवरण मिलता है।[1]

यूनानी कथाओ मे भी विमान सम्बन्धी सकेत मिलते हैं। एक व्यक्ति ने मोम के पख लगाकर जेल से भागने का प्रयत्न किया था। परियाँ स्वय ही उडकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकती थी। अब उन प्राचीन विमानो का कुछ भी अवशेष नही है। आधुनिक युग मे उडने का प्रथम प्रयत्न गुब्बारो द्वारा किया गया और जर्मनी के जैपलिन नामक व्यक्ति ने इस प्रयत्न म आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। तभी से आधुनिक विमान परिवहन एक व्यावहारिक साधन बन गया है।

प्रथम युग (१६२७–४५)

यद्यपि प्रयोगात्मक उडाने १६११ मे प्रारम्भ हो गई थी (जब कि बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने बम्बई-करांची के बीच विमान सेवा चालू की), किन्तु आधुनिक विमान परिवहन का वास्तविक आरम्भ यहाँ १६२७ से हुआ जब कि भारत सरकार ने अपने नागरिक उड्डयन विभाग की स्थापना की। तभी से यहाँ हवाई अड्डे बनने लगे और सरकारी सहायता से उड्डयन क्लबो की स्थापना होने लगी। १६२६ मे ब्रिटेन, फ्रास व हालैण्ड की साम्राज्य वायु-सेवा (Empire Air Services) का भारत मे आगमन होने पर अनुसूचित विमान सेवा का यहाँ प्रथम बार आविर्भाव हुआ।

---

१. रावण सीता जी को आकाश मार्ग से लंका ले गया था। लक्ष्मण जी के मूर्छित होने पर हनुमान जी आकाश मार्ग से ही औषधि लाए थे।

भारत सरकार की अनुमति से इम्पीरियल एयरवेज नामक ब्रिटिश कम्पनी के जहाज जो क्रायडन से करांची तक आया करते थे अब दिल्ली तक आने लगे। इसी समय भारत सरकार ने करांची और कलकत्ता के बीच एक राजकीय वायु सेवा की योजना बनाई जो धनाभाव के कारण सफल न हो सकी। इम्पीरियल एयरवेज के साथ जो समझौता था वह भी सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। अतः १९३१ में उसे समाप्त कर दिया और केवल डाक ले जाने का काम दिल्ली उड्डयन क्लब (Delhi Flying Club) के सुपुर्द कर दिया गया। यह व्यवस्था भी १९३२ में समाप्त हो गई। १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने अपनी वायु सेवा सिंगापुर तक बढ़ाई। भारत सरकार ने एक भारतीय कम्पनी (इण्डियन ट्रान्स-काण्टीनेण्टल एयरवेज) द्वारा जिसकी पूँजी में भारत सरकार का २४ प्रतिशत भाग था इस सेवा में साझीदार बनने का समझौता किया। यद्यपि यह व्यवस्था अलाभकर न थी, तो भी भारतीय वायुसेवा के विकास की दृष्टि से वाछनीय नहीं थी, क्योंकि इसका संचालन व प्रबन्ध सर्वथा इम्पीरियल एयरवेज के हाथ में था।

१९३२ में ताता सन्स लिमिटेड के प्रयत्न से इस क्षेत्र में भारतीय पूँजी और भारतीय साहस का प्रथम बार पदार्पण हुआ। भारतीय वृहत्काय व्यवसाय के जन्म-दाता ताता बन्धुओं ने १५ अक्टूबर १९३२ को करांची और मद्रास के बीच विमान सेवा प्रारम्भ की। भारतीय डाक व तार विभाग से इस कम्पनी को डाक ले जाने का अधिकार मिल गया जो उनकी आय का मुख्य साधन था। ताता कम्पनी के इस प्रयत्न की सफलता को देखकर १९३३ में इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड नामक एक और भारतीय कम्पनी दिल्ली में बनी। इसने करांची से लाहौर तक अपनी सेवा प्रारम्भ की। ताता की भाँति इस कम्पनी को भी भारत सरकार से डाक ले जाने का अधिकार मिल गया। १९३५ में ताता कम्पनी ने बम्बई-त्रिवेन्द्रम तथा १९३७ में बम्बई-दिल्ली मार्गों पर अपनी सेवा चालू की। ये सेवायें वर्षाऋतु में बन्द हो जाती थीं। दूसरी भारतीय कम्पनी ने भी कलकत्ता-ढाका-रंगून मार्ग पर एक सेवा चालू की थी, किन्तु लगभग ५ लाख रुपए की हानि होने के कारण उसे बन्द कर दिया। १९३६ में तीसरी कम्पनी एयर सर्विसेज आव इण्डिया लिमिटेड (Air Services of India Ltd.) बनी जिसने बम्बई और काठियावाड़ के बीच सेवा प्रारम्भ की, किन्तु भारी हानि होने के कारण १९३९ में बन्द हो गई।

१९३८ में ब्रिटेन की सरकार ने साम्राज्य के सभी देशों के बीच सुसंगठित वायु सेवा डाक ले जाने के लिए चालू की। लंका की सरकार के सहयोग से भारत सरकार ने भी इसमें भाग लिया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने ताता कम्पनी के करांची-मद्रास मार्ग और इण्डियन नेशनल एयरवेज के करांची-लाहौर मार्ग पर डाक ले जाने के लिए इन दोनों कम्पनियों के साथ पन्द्रह वर्षीय समझौता किया। इस समझौते से कम्पनियों को अपार लाभ हुआ और उन्हें यात्री और माल यातायात सेवाओं के विकास के लिए अच्छा अवसर मिल सका।

१९३८ मे भारतीय अनुसूचित सेवाओ की स्थिति इस प्रकार थी : चालू मार्ग ५,१९० मील; कुल उडाने १५,१४,००० मील, प्रनिशत नियमितता ९९·८ । उसी वर्ष यातायात सम्बन्धी आँकडे निम्न थे :—

	डाक (पौंड)	यात्री (संख्या)	माल (पौंड)
करांची-कोलम्बो सेवा	४,३०,०००	५१४	११,८४५
करांची-लाहौर सेवा	१,१७,२७०	६३	६८
बम्बई-काठियावाड सेवा	१,३३०	२,१७५	८६,१९६

अपने विकास काल के प्रथम युग के अन्त मे तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से ठीक पूर्व भारतीय विमान परिवहन की यह स्थिति थी । यद्यपि इस युग मे प्रगति धीमी रही, किन्तु वह स्थिर और परिस्थितियो के अनुकूल थी । अल्प सरकारी सहायता पाकर भी भारतीय कम्पनियो ने देश मे अनुसूचित वायु सेवा की सुदृढ नीवें डाल दी थी । मानसून के प्रबल झकोरो को सहकर भी भारतीय कम्पनियाँ करांची-कोलम्बो जैसे लम्बे (१८४० मील) मार्ग पर तत्परता से अपने कार्यक्रम को सफलतापूर्वक पूरा करती थी, वे उससे तनिक भी विचलित नही होती थी । भारत सरकार इस युग मे भूतल संगठन (ground organization) को विस्तृत और सुदृढ बनाने मे सलग्न थी । १९३९ तक हवाई अड्डे, विमानशाला (Hangar), शिल्पशाला (Workshop), मकान इत्यादि बनाने एव प्रकाश-व्यवस्था करने मे लगभग १½ करोड रुपया सरकार व्यय कर चुकी थी । उड्डयन क्लबो की सहायता लेकर सरकार ने विमान चालको के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया था ।

यद्यपि भारतीय विमान चालको की यह प्रगति सन्तोषजनक थी, तो भी १९३९ तक भारतीय कम्पनियाँ केवल साम्राज्य वायुसेना (Imperial Airways) के एक उपाग (appendage) के समान थी । देश के विभिन्न भागो से करांची तक डाक ले जाना और यूरोप से आई हुई डाक को देश मे वितरित करना उनका मुख्य काम था । अभी उन्हे अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर नही मिला था ।

द्वितीय युद्धकाल—द्वितीय युद्ध के छिडते ही स्थिति बदल गई । साम्राज्य वायुसेवा (Imperial Air Services) बन्द कर दी गई और ब्रिटेन का सारा वायु-बल युद्धकार्य मे लग गया । भारत की दोनो कम्पनियाँ भी देश रक्षा और सरकारी काम मे लग गई । युद्ध के प्रारम्भिक वर्षो मे उनका कार्यक्षेत्र कुछ सकुचित हो गया था, किन्तु युद्ध की प्रगति के साथ उसमे वृद्धि हुई और लगभग १६ मार्गों पर उनके विमान चलने लगे । युद्ध सम्बन्धी और भी कई विशेष कार्य उन्हे सौंपे गये; दक्षिणी अरब वायुमार्ग का भूमापन कराया गया ; ईराक को सेना, अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध सामग्री भिजवाई गई ; ब्रह्मा से शरणार्थियो को मँगाया गया इत्यादि । इन सेवाओ के बदले भारत सरकार ने कम्पनियो को अच्छा महनताना दिया जिससे कम्पनियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ हो गई । युद्ध के अन्तिम वर्षों मे सरकार ने कम्पनियों को

नये प्रकार के विमान भी दिये। इस भाँति युद्ध काल में भारतीय कम्पनियों को अपनी दशा सुधारने, अनुभव प्राप्त करने, नए जहाज चलाने तथा विमान चालकों और अन्य लोगों को प्रशिक्षण (Trainning) देने का स्वर्ण अवसर मिला। इस काल में उनकी क्षमता और मान वृद्धि भी हुई।

द्वितीय युग (१९४५–५३)

द्वितीय युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही भारत सरकार ने युद्धोपरान्त काल के लिए विमान परिवहन के विकास की योजनाओं पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। नागरिक उड्डयन के तत्कालीन संचालक (Director) सर फ्रेडरिक टिम्स (Sir Frederick Tymms) ने इस विषय पर कई महत्वपूर्ण लेख लिख कर सरकार के पास भेजे। देश की आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर उन्होंने चार से कम व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा देश की वायु सेवा संचालन करने का सुझाव रखा। उन्होंने यह भी कहा कि कोई भी कम्पनी बिना लाइसेंस लिए इस क्षेत्र में काम न करे और लाइसेंस की व्यवस्था के लिए सरकार एक केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना करे। सर टिम्स के इन सुझावों को डाक तथा उड्डयन नीति (Reconstruction Policy Committee for Posts and Aviation) ने १९४४-४५ में मान लिया तथा सरकार ने भी स्वीकृति दे दी। अतएव मई १९४५ में तदनुसार सरकारी नीति की घोषणा कर दी गई और यह कहा गया कि सरकार सीमित संख्या में विमान कम्पनियाँ बनाने की आज्ञा देगी और कोई भी विमान चालक बिना लाइसेंस के इस क्षेत्र में काम नहीं करेगा।

इस नीति को कार्यान्वित करने के निमित्त सरकार ने भारतीय विमान कानून (Indian Aircraft Act) में आवश्यक संशोधन किए और यह घोषित कर दिया कि १ अक्टूबर १९४६ के उपरान्त कोई भी विमान सेवा बिना विमान परिवहन बोर्ड (Air Transport Licencing Board) की आज्ञा लिए देश में काम नहीं कर सकेगी। फलतः जुलाई १९४६ को बोर्ड की स्थापना की गई और विमान परिवहन सरकारी नियन्त्रण में काम करने लगा।

युद्ध काल में विमान कम्पनियों को अच्छा लाभ हुआ और अनेक उद्योगपति इस क्षेत्र को लाभ कमाने का सुलभ साधन समझने लगे। आकर्षण इतना अधिक था कि विमान परिवहन बोर्ड (Air Transport Licencing Board) के कार्य प्रारम्भ करने के उपरान्त ६ महीने के अन्तर्गत उसके पास २२ कम्पनियों से १०० अर्जियाँ आईं जिनमें ९६ मार्गों पर विमान सेवा चालू करने की आज्ञा माँगी गई। १९४७ के प्रारम्भ तक २१ कम्पनियाँ बनी जिनकी अधिकृत पूँजी ४२ करोड़ रुपये थी। लाइसेंस लेने के लिए कम्पनियों में परस्पर ऐसी प्रतिस्पर्धा चल पड़ी कि कम्पनियों ने अपना-अपना पूर्वाधिकार जताने के लिए भारत सरकार से युद्ध के निकले हुए नेक डकोटा (Dakotas) और वाईकिंग (Viking) जहाज ले लिए। कम्पनियों की

पारस्परिक प्रतियोगिता से प्रशिक्षित लोगो की कमी हो गई और मजदूरी एवं वेतन की दरे बहुत बढने लगी।

युद्धकाल मे भूतल सगठन (Ground organization) बहुत कुछ सुदृढ हो चुका था, उडान पथ (Runway), विमानशालायें (Hangars), शिल्पशालाये (Workshops), प्रशासन भवन इत्यादि हवाई अड्डे सम्बन्धी अनेक सुविधाये की गई। युद्ध समाप्त होने के उपरान्त नागरिक उडडयन सम्बन्धी विषय उक्त विभाग के महासचालक (Director General) के सुपुर्द कर दिया गया। जिसने उड्डयन-विकास सम्बन्धी बातो को ध्यान मे रख कर उसमे आवश्यक हेर-फेर किए तथा लगभग २ करोड रुपए वार्षिक व्यय किये। प्रशिक्षण सुविधाओ की वृद्धि के लिये १९४६ मे सहारनपुर मे एक वैमानिक स्कूल खोला गया तथा १९४८ मे इलाहाबाद म एक विमानचालक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गई। वायुयानो की मरम्मत के लिये भी प्रबन्ध किया गया। हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी ने इस ओर सराहनीय कार्य किया। इस प्रकार विमान परिवहन बोर्ड की स्थापना के उपरान्त देश का यह उद्योग विकास पथ पर अग्रसर होता हुआ दिखाई दिया।

देश विभाजन—देश के विभाजन का इस उद्योग पर स्वस्थ और अस्वस्थ दुहरा प्रभाव पडा। स्वस्थ प्रभाव इस दृष्टि से पडा कि विमान कम्पनियो की बढती हुई सख्या को कुछ दिन के लिए अच्छा काम मिल गया। पाकिस्तान से अनेक शरणार्थी विमानो द्वारा आये। इसी भाँति कश्मीर से भी विपत्तग्रस्त लोगो को लाने मे विमानो की सहायता ली गई। इस समय तक विमान क्षेत्र मे इतनी कम्पनियाँ बन चुकी थी जिन्हे पर्याप्त काम नही मिल रहा था। शरणार्थी समस्या न उन्हे कुछ समय के लिए काम दे कर उनका सचालन सफल बनाया। यदि यह काम उन्हे न मिला होता तो उनकी आर्थिक दशा शीघ्र दुरावस्था को पहुँच जाती। अस्वस्थ प्रभाव इस दृष्टि से पडा कि पाकिस्तान का कार्य-क्षेत्र कम्पनियो से निकल गया। इण्डियन नेशनल एयरवेज को अपने कई मार्ग (जो पाकिस्तान मे थे) छोड देने पडे। एक कम्पनी (Oriental Airways) को अपना मुख्यालय पाकिस्तान बनाना पडा। देश म विमान कम्पनियो की सख्या कम न थी। विभाजन सम्बन्धी क्षणिक अभिवृद्धि काल मे और कई नई कम्पनियाँ बन गई। इससे पारस्परिक प्रतियोगिता बढ गई तथा उनका कार्य-क्षेत्र और भी सीमित हो गया। अक्टूबर १९४८ मे ज्यूपीटर कम्पनी *(Jupiter Airways) तथा १९४९ के आरम्भ मे अम्बिका कम्पनी* (Ambica Airlines) को अपना विघटन (Liquidation) करना पडा। इसी भाति जून १९४९ म डालमिया (Dalmia Jain Airways) को अपनी अनुसूचित सेवा समाप्त कर देनी पडी। ये घटनाये विमान परिवहन पर आने वाले भावी सकट की सूचक थी।

१९४९ भारतीय विमान कम्पनियो के लिए भारी उथल पुथल एव सकट का वर्ष था। उनकी बिगडती हुई दशा पर तरस खाकर सरकार ने उन्हे कीचड से निका-

लने का प्रयत्न किया। कम्पनियों को काम दिलाने के उद्देश्य से सरकार ने १ अप्रैल १९४९ को डाक का वायु महसूल बन्द कर दिया और सभी डाक जो विमान द्वारा शीघ्रता से ले जाई जा सकती थी उसे विमान से ले जाए जाने की व्यवस्था की। तेल (Petrol) के बढते हुए मूल्य से मुक्ति देने के लिए १ मार्च १९४९ से उसके आयात कर में ६ आने प्रति गैलन की फिरौती (Rebate) देनी प्रारम्भ करदी। कालान्तर में यह फिरौती बढ़ा कर ९ आने गैलन करदी गई। सरकार की इस सहानुभूति से कम्पनियों की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ, किन्तु इसी बीच अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण वह सुधार आशाजनक नहीं रहा। डाक महसूल घटने और तेल (Petrol) का मूल्य बढने से उनकी स्थिति विशेष सुधर न सकी। इस वर्ष के अन्तिम दिनों में पश्चिमी बंगाल में साम्प्रदायिक दंगों के कारण संकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो गई। विमान परिवहन के लिए यह घटना 'बिल्ली के लिए छीका टूट पड़ा' जैसा अवसर था। पूर्वी व पश्चिमी बंगाल और असम-त्रिपुरा के बीच शरणार्थियों के आवागमन का ताँता बँध गया और विमान कम्पनियों का कार्य बढ़ गया।

रात्रि-डाक सेवा—१९४८ में भारत सरकार ने एक योजना बनाई थी जिसके अनुसार देश के चार बडे नगरों, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दिल्ली के बीच की सारी डाक रात्रि के समय ले जाई जाय। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये सरकार ने जब कम्पनियों को आमन्त्रित किया तो केवल एक कम्पनी (Indian Overseas Air Lines) इस काम को करने के लिए राजी हुई। किन्तु वह ६ महीने से अधिक इस काम को न चला सकी और आर्थिक संकट आ जाने के कारण जून १९४९ में यह सेवा बन्द करदी गई। सरकार रात्रि-सेवा के चालू रखने पर तुली हुई थी। फिर से उसने सब कम्पनियों से पत्र-व्यवहार किया, किन्तु सब निष्फल। कोई भी कम्पनी इस काम के लिए तैयार न थी। अनियमित सेवा प्रदान करने वाली केवल हिमालय कम्पनी (Himalayan Aviation) इस काम के लिए प्रस्तुत हुई। अतएव उसे रात्रि सेवा सम्बन्धी लाइसेन्स दे दिया गया। इस कम्पनी के क्षेत्र में आने से विमान कम्पनियों की संख्या बढ़ गई और उनका कार्य-क्षेत्र और भी सीमित हो गया। अनियमित सेवा प्रदान करने वाली कई कम्पनियाँ भी इस क्षेत्र में बन गईं थी।

इस बात की चर्चा होने लगी कि विमान कम्पनियों की गिरती हुई दशा का मुख्य कारण उनके पास काम की कमी है जिससे उनकी आय कम होती है। काम की कमी का मुख्य कारण कम्पनियों की आवश्यकता से अधिक संख्या है। अधिक कम्पनियों के होने से उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ गई थी और वेतन एवं मजदूरी का स्तर उच्च हो गया था। रात्रि डाक-सेवा के निम्न भाड़ों का प्रभाव अन्य विमान कम्पनियों के भाड़ों पर पड़ा। विमान परिवहन की इस दुर्दशा की पत्र-पत्रिकाओं में जोरों से चर्चा होने लगी और संसद में भी इस प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ। सरकार इस स्थिति और लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। इस मांग की जाँच कराने के लिए उसने फरवरी १९५० में विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्ति की।

भारत सरकार विदेशों के लिए भी विमान सेवा सुविधायें चालू करने की चिंता मे थी। उसने कुछ अपनी पूँजी लगाकर मार्च १९४८ मे एक कम्पनी बनाई। जून १९४८ मे उसके जहाज भारत-लन्दन मार्ग पर चलने लगे। प्रथम वर्ष म ही इस कम्पनी को भारी हानि हुई और कम्पनी के साथ हुए समझौते के अनुसार भारत सरकार को लगभग २० लाख रुपए की हानि भरनी पडी। १९४९ म पूर्वी देशो मे विमान सेवा चालू करने के लिए विमान बोर्ड (Air Transport Licencing Board) ने दो कम्पनियो को लाइसेन्स दे दिए। इन्हे लाइसेन्स देते समय भारत सरकार ने अपने ऊपर कोई उत्तरदायित्व नही लिया। इन कम्पनियो का सचालन भी सफल न हुआ।

१९४६ से १९४९ की अवधि म उड्डयन विभाग के महासचालक (Director General) ने ऐसी ग्यारह कम्पनिया को लाइसेन्स दे दिये थे जो नियमित सेवा प्रदान नही करती थी। वह अग्नि मे आहुति देने के समान था। इस भाति विमान परिवहन के लिए १९४९ का वर्ष एक कठिन परीक्षा का समय था जिसने इस उद्योग की काया पलट देने वाली परिस्थितियो को जन्म दिया। विशेषज्ञ समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के उपरान्त दो-तीन वर्ष तक विमान कम्पनियो का जीवन डाँवाडोल रहा और अन्त मे उन्हे राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे हटना पडा।

विमान परिवहन जाँच-समिति (Air Transport Enquiry Committee)

सरकारी सहायता और परिस्थितियो के सामयिक सहारे मे भी भारतीय विमान परिवहन की स्थिति म सुधार की आशा न देखकर भारत सरकार ने विमान परिवहन जाँच समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने प्रत्यक विमान कम्पनी की आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया और देखा कि केवल एयरवेज इण्डिया (Airways India) को छोड कर सभी कम्पनियो का सचालन हानिप्रद था। सरकार द्वारा पैट्रोल पर दी हुई फिरौती का निकाल दे तो एयरवेज इण्डिया का सचालन भी अलाभकर होता था। सब कम्पनियो को सरकार से ३७ ८ लाख रुपय इस फिरौती के मिले। यदि इसे अलग निकाल दे तो कम्पनिया की हानि की मात्रा लगभग ११० लाख रुपए होती थी। कई कम्पनियो ने ह्रास (Depreciation) के लिए पर्याप्त राशि हिसाब मे नही लगाई थी। इसे हिसाब म लगा लेने पर उनकी हानि की मात्रा और भी बढ जाती। इस शोचनीय आर्थिक स्थिति के कई कारण थे।

(क) अधिक कम्पनियाँ—तत्कालीन यातायात को देखते हुए विमान कम्पनियो की संख्या आवश्यकता से अधिक थी। यद्यपि देश म चार से अधिक कम्पनियो के लिए काम नही था, किन्तु उस समय १० कम्पनियाँ नियमित और ११ कम्पनियाँ अनियमित विमान-सेवा प्रदान करती थी। अनेक मार्ग एसे थे जिन पर एक से अधिक कम्पनी के जहाज चलते थे। उनम परस्पर प्रतिस्पर्धा का होना स्वाभाविक था। इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण सभी कम्पनियों का सचालन अलाभकार हो गया था।

सीमित क्षेत्र में अनेक कम्पनियों के होने का परिणाम यह हुआ कि उनके संचालन व्यय में अपार वृद्धि होती गई और प्रतियोगिता के फलस्वरूप आय घटती गई।

(ख) लाइसेन्स देने में देरी—कम्पनियों को लाइसेन्स देने में बोर्ड को अधिक समय लगता था और उन्हें इस बीच में भारी पोषण व्यय करने पड़ते थे। कम्पनियों की दुर्बल आर्थिक अवस्था का यह भी एक कारण था।

(ग) अधिक साज-सज्जा—उस समय यातायात की स्थिति को देख कर ७० विमान देश के लिए पर्याप्त समझे जाते थे, किन्तु कम्पनियों के पास ११३ विमान (६६ डकोटा, १२ वाइकिंग, २ ऐस० ओ०-६५, तथा ३ स्काई मास्टर) और अनेक छोटी मशीनें थीं। १९४६ में भारत का वैमानिक उपयोग १,००० घण्टे था, जबकि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और आस्ट्रेलिया में २,००० घण्टों का वैमानिक उपयोग साधारण समझा जाता था। साज-सज्जा की अधिकता के दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि विमान बोर्ड किसी कम्पनी को लाइसेन्स देने से पूर्व इस बात को देखता था कि उसके पास आवश्यक विमान और साज-सज्जा है अथवा नहीं और जिस कम्पनी की साज-सज्जा अच्छी होती थी उसे पूर्वाधिकार दिया जाता था। इसका दूसरा कारण यह था कि युद्ध से निकले हुए अनेक विमान सस्ते मूल्य पर मिल रहे थे। अधिक साज-सज्जा का प्रारम्भिक व्यय भी अधिक होता था।

(घ) नियोजन का अभाव—कम्पनियों को साज-सज्जा बढ़ाने और योग्य कर्मचारी प्राप्त करने की सनक सवार थी। नियोजित ढङ्ग से कोई काम नहीं होता था। दुर्भाग्यवश उस समय प्रशिक्षित व्यक्तियों की भारी कमी थी। अतएव कम्पनियों की पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण वेतन और मजदूरी की दरें अत्यन्त ऊँची चढ़ गई थी। यह भी संचालन व्यय वृद्धि का एक कारण था।

(ङ) वृहद् संगठन (Large organization)—कुछ कम्पनियों ने अपने सङ्गठन को आवश्यकता से अधिक बढ़ा लिया था। एयर इण्डिया ने अपना संगठन ५०,००० घण्टों के काम के लिए बनाया था, किन्तु वस्तुतः उसके पास २७,००० घण्टों से अधिक का काम न था। कुछ कम्पनियों ने संचालन व्यय का अनुमान लगाए बिना ही नए प्रकार के विमान ले लिए थे जिनका संचालन उनके लिए कभी लाभकर नहीं हो सकता था।

(च) तेल का बढ़ता हुआ मूल्य—वैमानिक तेल (Aviation fuel) का मूल्य १९४६ से ही लगातार बढ़ता चला गया था जिससे कम्पनियों के संचालन व्यय में वृद्धि हो रही थी। अप्रैल १९४६ में तेल का मूल्य बम्बई में ३० आना गैलन था। मार्च १९४९ में यह बढ़ कर ४१ आना गैलन हो गया था। इसके उपरान्त इसमें और भी वृद्धि होती गई। तेल का मूल्य भारत में आस्ट्रेलिया के मूल्य से भी

ऊँचा था जो तेल के उत्पादन केन्द्र से भारत की अपेक्षा कही अधिक दूर है। तेल के मूल्य के अतिरिक्त कुछ राज्य की सरकारो ने उस पर विक्रय कर भी लगा रखे थे।

(छ) किराये में कमी—रात्रि-सेवा के किराए की दर कम रखी गई थी। इन सस्ती सेवाओ के चालू होने पर सभी कम्पनियो को किराए कम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। किराए कम होने से उनकी आय घटने लगी। उनका संचालन व्यय बढता जा रहा था। इस प्रकार एक विषम स्थिति उत्पन्न हो गई। अनियमित सेवा देने वाले विमानो ने भी कम्पनियो को किराए कम करने के लिए बाध्य किया।

विमान परिवहन के इन दोषो पर दृष्टिपात करने के उपरान्त समिति ने उसकी दशा सुधारने के कई सुझाव दिए। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि विमान कम्पनियो की दुर्दशा का मुख्य कारण उनकी अधिक संख्या थी। समिति विमान कम्पनियो की संख्या कम करने के पक्ष मे थी, किन्तु जिन ६ कम्पनियो को दस वर्ष की अवधि के लाइसेन्स दे दिए गए थे, उन्हे हटाने की बात को समिति उचित नही समझती थी। यदि छोटी कम्पनियाँ स्वयं अपने हित मे दूसरी बडी कम्पनियो के साथ मिल जायें तो उनकी दशा सुधर सकती थी। समिति ने इस ओर सकेत करते हुए बताया कि वस्तुत: आदर्श स्थिति यह होगी कि देश मे केवल चार कम्पनियाँ रहे जिनके मुख्यालय बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और हैदराबाद मे हो। जिन ६ कम्पनियो को स्थायी लाइसेन्स दे दिए गए थे उन्हे पर्याप्त काम दिलाने के पक्ष का समर्थन करते हुए समिति ने कहा कि इसका एकमात्र ढङ्ग यही है कि जिन कम्पनियो को अस्थायी लाइसेन्स दिए गए हैं उनकी अवधि समाप्त होने पर उन्हे समाप्त कर दिया जाए और आगे के लिए उन्हे लाइसेन्स न दिये जायें। समिति ने विमान मार्गों के पुनर्बटवारे के लिए भी निर्देश किया। अनियमित सेवा प्रदान करने वाले चालको के नियन्त्रण की व्यवस्था भी आवश्यक समझी गई। नागरिक उड्डयन विभाग से महासचालक को भाडे की न्यूनतम दरें नियुक्त करनी चाहियें। विमान परिवहन के पुनर्सङ्गठन की विस्तृत व्यवस्था के सम्बन्ध मे विचार करने के उपरान्त समिति ने एक योजना बनाई जिसके कार्यान्वित करने पर शीघ्र ही विमान कम्पनियो का सचालन लाभदायक हो सकता था, यद्यपि प्रारम्भिक दिनो मे कुछ हानि की सम्भावना थी जिसे सरकार को भरना चाहिए। समिति ने बताया कि सभी समृद्ध देशो मे यह उद्योग सरकारी सहायता के सहारे समुन्नत हुआ है। अतएव भारतीय उद्योग भी सरकारी सहायता के बिना पनप नही सकता। सरकारी सहायता के तत्कालीन ढङ्ग को समिति उत्तम नही समझती थी।

समिति ने विमान परिवहन के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया तथा पक्ष व विपक्ष मे दिए जाने वाले तर्कों का वर्णन किया। ..१८ सरकार की नीति और तत्कालीन परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर समिति विमान परिवहन के तुरन्त राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे न थी। उसने कहा कि भारत सरकार ५

इस प्रश्न को कम से कम पांच वर्ष के लिए स्थगित कर देना चाहिये। यदि पाँचा वर्ष के उपरान्त भी विमान कम्पनियां अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने मे सफल नही होती तो उस समय सरकार इस प्रश्न पर पुर्नविचार करे।

समिति का प्रतिवेदन सितम्बर १९५० मे प्रकाशित हुआ। तीन वर्ष तक समिति के सुझावों पर विचार-विनिमय चलता रहा। इन वर्षों मे इस बात पर भारी वाद-विवाद होता रहा कि विमान परिवहन का राष्ट्रीयकरण देश के हित मे है अथवा उसका पुनर्गठन। इस बीच मे परिस्थितियाँ कुछ बदल गई और अन्त मे अगस्त १९५३ मे राष्ट्रीयकरण की नीति ही अपनाई गई। इसका विशेष विवेरण आगामी पृष्ठो में दिया गया है।

४२.

विमान परिवहन का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Air Transport)

१९४७ का सम्मेलन—फरवरी १९४७ मे सवहन मन्त्री ने राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाया। तत्कालीन सवादवहन मन्त्रालय ने इस सम्मेलन को एक स्मृतिपत्र (Memorandum) भेजा जिसने विमान परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्नाकित तर्क उपस्थित किए गये —

(१) सरकार को इस उद्योग का लाभ प्राप्त होगा।

(२) हवाई अड्डे बनाने तथा घनवातीय (Meteorological), परिवहन तथा सवादवहन सम्बन्धी सुविधाये उपलब्ध करने के लिये सरकार को इस उद्योग मे लगी हुई पूंजी का एक बडा भाग यो ही व्यय करना पडता है। अच्छा यही है कि सारा उत्तरदायित्व ही सरकार ले ले।

(३) विमान चालको और इस उद्योग मे काम करने वाले दूसरे लोगो के लिए सरकार प्रशिक्षण सुविधायें भी उपलब्ध करती है।

(४) राष्ट्रीयकरण के उपरान्त विमानो का अधिकतम उपयोग हो सकेगा तथा कार्य-केन्द्रो एव कर्मचारियो से सम्बन्धित व्यय मे कम से कम दुहरापन होगा। अधिकतम कार्य-कौशल लाने के लिए सेवा की बडी इकाई आवश्यक है और बडी इकाई राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव है।

(५) इङ्गलैंड, फ्रास, मिस्र इत्यादि देशो म भारत की विशेष रुचि है। इन देशो म राष्ट्रीय सेवाये चालू हैं। इन देशो के साथ सहयोग तभी संभव है जब भारत मे भी इस सेवा का राष्ट्रीयकरण हो जाए।

उक्त स्मृतिपत्र मे **राष्ट्रीयकरण के विपक्ष** मे निम्न तर्क दिए गए थे :—

(१) विमान परिवहन एक नया उद्योग है जो अधिक से अधिक लचकदार प्रबन्ध की अपेक्षा करता है। ऐसा प्रबन्ध सरकारी सेवा के लिए संभव

नहीं। विमान परिवहन के विकास के लिए सरकारी प्रबन्ध अत्यन्त मन्द एवं कठोर समझा जाता है और विशेषतः आर्थिक दृष्टि से।

(२) सरकारी संगठन का कार्यकौशल व्यक्तिगत वणिक-प्रबन्ध की अपेक्षा निम्न कोटि का होता है, क्योंकि अकुशल कर्मचारियों को सरलता से नहीं हटाया जा सकता और पदोन्नति (Promotion) कभी-कभी स्वतः ही हो जाया करती है; योग्यता का विचार न करके बहुधा सेवाकाल (Seniority) का ध्यान रखा जाता है।

(३) विधान-मण्डल का हस्तक्षेप अधिक होने से प्रबन्धकर्ताओं का बहुत-सा अमूल्य समय उनसे माँगी जाने वाली सूचनायें देने में बीतता है।

(४) विमान परिवहन एक विलासी सेवा है और सरकार के सामने अनेक जीवनोपयोगी समस्यायें उपस्थित होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में विमान सेवा के लिए आवश्यकतानुसार धन नहीं मिल सकेगा और उसका विकास रुक जायगा।

(५) भारत सरकार को कुशल औद्योगिक संगठन बनाने में वर्षों लग जायेंगे और जब तक ऐसा संगठन न हो विमान परिवहन जैसी सेवा का संचालन सम्भव नहीं। अतएव विदेशी क्षेत्र में कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही आंतरिक सेवा-संचालन में हाथ डालना चाहिए।

सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्यों में इस विषय में भारी मतभेद था। उन्होंने किसी विशेष नीति पर जोर नहीं दिया। सामान्यतः यही बात सबने स्वीकार की कि प्रत्येक विमान कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर अलग विचार करना चाहिए तथा देश की आवश्यकता को देख कर और उसकी अपनी योग्यता के बल पर निर्णय करना चाहिए।

१९४८ की औद्योगिक नीति—१९४८ की औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा करते समस्त उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण पर पूर्णतः विचार किया गया। इस घोषणा के अनुसार विमान परिवहन को उन उद्योगों में स्थान दिया गया जो व्यक्तिगत साहस के लिए छोड़ दिए जायेंगे, किन्तु आधारभूत उद्योग होने के नाते उन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण आवश्यक होगा।

जुलाई १९४९ में विमान बोर्ड ने ६ कम्पनियों को दसवर्षीय लाइसेन्स दिए जिससे भारत सरकार का विचार इस उद्योग के राष्ट्रीयकरण का न था।

फर्वरी १९५० में विमान परिवहन जाँच समिति नियुक्त हुई जिसने विमान परिवहन के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर फिर विचार किया। समिति ने देश की स्थिति का ध्यान रखकर राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्नांकित बातें कहीं:—

(१) देश भर के लिए एक ही इकाई हो तो देश के साधनों का समुचित सदुपयोग सम्भव है। सरकार देश भर की विमान सेवा का इस भांति संगठन कर सकती है कि कार्य केन्द्रों, साज-सज्जा तथा कर्मचारी वर्ग का अधिकतम उपयोग किया जा सके।

(२) देश-रक्षा के दृष्टिकोण से भी राष्ट्रीय सेवा उत्तम है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उसे सैनिक कार्यों के लिए तुरन्त काम में लिया जा सकता है। राष्ट्रीय कार्य-केन्द्रों (Workshops) का प्रयोग भारतीय विमान बल के विमानों की मरम्मत के लिए और प्रशिक्षण सुविधाओं को एक सूत्रीय कार्यक्रम के लिए प्रयोग किया जा सकेगा।

(३) सरकारी सेवा के सामने लाभ कमाना मुख्य उद्देश्य नहीं होता। अतएव राष्ट्रीय विमान जनता को अच्छी और सस्ती सेवा प्रदान कर सकते हैं। सरकार ऐसी सेवायें चालू कर सकती है जो अधिक लाभदायक न हों किन्तु जिनका समाज-सेवा की दृष्टि से महत्व अधिक हो। व्यक्तिगत पूँजीपति ऐसी सेवायें कभी चालू नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

(४) एक राष्ट्रीय इकाई देश के लिए दूरदर्शिता के साथ व्यापक योजनायें बना सकती है, भिन्न-भिन्न इकाइयाँ नहीं। साज-सज्जा तथा विमान चालन क्रिया सम्बन्धी जो नित नए आविष्कार हो रहे हैं उनसे पूर्ण लाभ उठाने के लिए भी राष्ट्रीय इकाई ही आवश्यक है।

(५) एक सूत्रीय प्रशासन में मितव्ययता द्वारा व्यय कम हो जाता है और सेवा सस्ती हो जाती है। समिति के अनुमान के अनुसार एक ही इकाई होने से स्थायी व्यय में ८½ प्रतिशत की कमी हो सकती है।

(६) बिना सरकारी सहायता के इस उद्योग का सफल होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। अपनी पूर्ण सफलता के लिए यह उद्योग सदैव सरकारी सहायता की अपेक्षा करता है। व्यक्तिगत पूँजीपतियों को धन देने से अच्छा यही है कि सरकार सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले और अपने ढंग से सेवा का संगठन और संचालन करे।

राष्ट्रीयकरण के विरोध में समिति ने निम्न तर्क उपस्थित किए :—

(१) विमान परिवहन एक महान विशेषित उद्योग है। इस उद्योग के क्षेत्र में नित नए परिवर्तन और विकास हो रहे हैं। इन विकास क्रियाओं और आविष्कार से लाभ उठाने के लिए ग्राहकों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करना तथा तत्परता के साथ निर्णय करना आवश्यक है। सरकारी सेवा इस प्रकार के निकट सम्पर्क एवं निर्णयों के लिए अनुपयुक्त होती है, केवल व्यक्तिगत साहस ही इस प्रकार की तत्परता दिखाने में समर्थ है।

(२) विमान सेवा देश के लिए विलासिता की चीज है और भारत सरकार के सामने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनके सामने इस सेवा की उपेक्षा स्वाभाविक है।

(३) विमान परिवहन जैसे विशाल सगठन एव विशेषित उद्योग के लिए सरकारी क्षेत्र में पर्याप्त सख्या में योग्य प्रबन्धको का मिलना लगभग असंभव सा ही है।

(४) युद्धोपरान्त कालीन सरकारी नीति के अनुसार भी इस उद्योग को व्यक्तिगत साहस के लिए ही छोड दिया गया था। १९४९ में दस-वर्षीय लाइसेन्स देकर भी इसी नीति का समर्थन किया गया। इस नीति के विरुद्ध तुरन्त निर्णय करना देश के औद्योगिक विकास के लिए घातक सिद्ध होगा। एक तो देश में पूंजी निर्माण की प्रगति यों ही मन्दगति से होता है, ऐसे नीति विरोधी कार्य से पूंजी निर्माण को भारी धक्का पहुचेगा और देश का औद्योगिक विकास रुक जाएगा।

इस भांति समिति ने बताया कि विमान सेवा के राष्ट्रीयकरण का वह उपयुक्त अवसर नही था। अतएव समिति ने इस प्रश्न को कम से कम पाँच वर्ष के लिए स्थगित करने का मत व्यक्त किया।

समिति ने सितम्बर १९५० म अपना प्रतिवेदन (Report) सरकार के पास भेजा। इस पर सरकारी क्षेत्रों म लगभग दो वर्ष तक गम्भीरता से विचार होता रहा। इसी बीच जनवरी १९५१ मे नागरिक उड्डयन के महासचालक (Director General of Civil Aviation) ने विमान चालको के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने यह निर्णय किया कि विदेशी विमान कम्पनियो से टक्कर लेने के लिए यह आवश्यक है कि डकोटा (Dakota) के स्थान पर भारतीय विमान कम्पनिया नवीनतम विमानो का प्रयोग करे। देश को विमानो के नवीन रूपरग तथा तथा नवीन रचना का ज्ञान कराने तथा अपने विशेषज्ञो को नए विमानो की मरम्मत के लिए प्रशिक्षण देने के लिए भी इन नवीन विमानो का प्रयोग आवश्यक समझा गया। इन नए विमानो को लेने के लिए १० करोड रुपए के व्यय का अनुमान लगाया गया और भारतीय विमान कम्पनियो ने सरकार से प्रार्थना की कि लगभग दो-तिहाई अर्थात् ७ करोड रुपए उन्हे ऋण के रूप मे सरकार कम ब्याज पर दे, क्योंकि इतना व्यय सहन करना कम्पनियो की सामर्थ्य के बाहर था। भारत सरकार लगभग ४० लाख रुपए की वार्षिक सहायता विमान चालको को पहले से ही दे रही थी।

इस प्रश्न पर योजना आयोग ने विचार किया और कहा कि तत्कालीन यातायात और सेवा सुविधाओं को देखते हुए विमान कम्पनियो का सचालन लाभदायक होना संभव नहीं और नये विमानों के आने पर उनकी आर्थिक स्थिति और भी गिरने की सम्भावना बताई गई। अतएव योजना आयोग ने इस सेवा का राष्ट्रीयकरण करने का परामर्श दिया। आयोग ने राष्ट्रीयकरण का एक लाभ यह भी बताया कि २० के स्थान पर केवल १३ नये विमानों से देश का काम चल जायगा।

दो निगम (Corporations)—इस नीति के अनुसार मार्च १९५३ में विमान परिवहन निगम बिल (Air Transport Corporations Bill) लोक सभा में रखा गया और स्वीकृत हो गया। जून १९५३ में इस कानून के अनुसार दो निगमों की स्थापना हुई। एक का उद्देश्य देश के अन्तर्गत और दूसरी का विदेशों में विमान सेवा प्रदान करने का था। भारतीय विमान निगम (Indian Airlines Corporation) ने देश के अन्तर्गत सेवा प्रदान करने वाली निम्न आठ कम्पनियों के काम को अपने हाथ में ले लिया :—

(१) एयरवेज इण्डिया (Airways India)
(२) एयर इण्डिया (Air India)
(३) एयर सर्विसेज आव इण्डिया (Air Services of India)
(४) भारत एयरवेज (Bharat Airways)
(५) दक्षिण एयरवेज (Deccan Airways)
(६) हिमालय एविएशन (Himalayan Aviation)
(७) इण्डियन नेशनल ऐयरवेज (Indian National Airways)
(८) कलिंग ऐयरवेज (Kalinga Airways)

धीरे-धीरे इन सब को एक इकाई मान लिया गया जिसका मुख्यालय नई दिल्ली है। बम्बई, दिल्ली और कलकत्ता तीन केन्द्रों से इस निगम की सेवा सचालन होती है। इसी भाँति अन्तर्राष्ट्रीय सेवा का सारा उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम (Air India International Corporation) ने अपने ऊपर ले लिया। इसका मुख्यालय बम्बई है।

१ अगस्त १९५३ को इन दोनों निगमों ने अपनी सेवा आरम्भ की। विमान परिवहन निगम कानून के अनुसार प्रत्येक निगम के सदस्यों की सख्या ५ से कम और ९ से अधिक नहीं हो सकती। इस समय दोनों निगमों में से प्रत्येक के ९ सदस्य हैं। प्रत्येक निगम का एक सामान्य प्रबन्धकर्त्ता (General Manager) और एक सभापति होता है जिनकी नियुक्ति भारत सरकार करती है। यद्यपि दोनों निगम वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त किए हुए हैं, किन्तु इनका काम केन्द्रीय सरकार की देख-रेख में ही होता है। नई विमान सेवायें चालू करना, चालू सेवाओं को बन्द करना तथा अनुसूचित सेवाओं में अन्य परिवर्तन करना केन्द्रीय सरकार की अनुमति से ही किया जाता है। वर्ष के अन्त में दोनों निगम अपना वार्षिक विवरण भारत सरकार के समक्ष रखते हैं जिसे भारत सरकार ससद में उपस्थित करती है। वायु सेवा प्रदान करने के [illegible] प्रशिक्षण सुविधायें प्रदान करना भी निगमों का उत्तरदायित्व है।

वर्तमान स्थिति

भारतीय विमान निगम—यह निगम देश के लगभग सभी महत्वपूर्ण [illegible] को परस्पर जोड़ती है। इसका अनुसूचित मार्ग २३,००० मील लम्बा है।

विमान वर्ष भर मे ७ लाख यात्री ले जाते है। इन्होंने १९५९-६० मे १९४ लाख मील उड़ानें भरी। निगम के पास ३१ मार्च १९६१ को ५४ डकोटा (Dakotas), ५ स्काई मास्टर (Skymasters) और १० विस्काउन्ट (Viscounts) नामक विमान थे।

अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम—यह निगम भारत का २१ देशो से सम्बन्ध स्थापित करता है। इसका मार्ग लगभग २१,००० मील लम्बा है। इसके विमान ९०,००० यात्री वर्ष भर मे ले जाते है और उन्होने १९५९-६० मे ७४ लाख मील की यात्रा की। इस समय निगम के पास ३ बोइंग (Boeings) तथा ९ सुपर-कास्टलेशन (Super-Constellations) विमान हैं।

विमान परिवहन परिषद् (Air Transport Council)—दोनो निगमों के बीच सामंजस्य स्थापित करने और महत्वपूर्ण सामयिक समस्याओ पर विचार करने के लिए १६ अप्रैल १९५५ को विमान निगम कानून की धारा ३० के अनुसार एक विमान परिवहन परिषद् की स्थापना की गई। परिषद् का एक सभापति और अधिक से अधिक ११ सदस्य हो सकते है जिन्हे भारत सरकार तीन वर्ष के लिए नियुक्ति करती है। इस समय परिषद् के दस सदस्य है जिनमे से प्रत्येक निगम का सभापति और नागरिक उड्डयन का महासञ्चालक (Director General of Civil Aviation) भी है। परिषद् का मुख्य कर्त्तव्य दोनो निगमो के सम्मिलित हित के प्रश्नो पर विचार करना और सरकार को तत्सम्बन्धी सुझाव देना है, जैसे अनुसूचित सेवा-सञ्चालन, उनका घनत्व (frequencies), मार्ग, किराए-भाडे इत्यादि। भारत सरकार नागरिक उड्डयन महा सञ्चालक (D. G C. A.) और डाक-तार विभाग के महा-सञ्चालक (Director General of Posts and Telegraphs) द्वारा भेजे गए प्रश्नो पर विचार करना भी परिषद् का उत्तरदायित्व है। भारत सरकार परिषद् से किराए-भाड़े, हिसाब (Accounting) और गणना (Statistical), शैल्पिक ज्ञान (technique) तथा मितव्ययता सम्बन्धी अन्वेषण (Investigation) कार्य करने का भी आग्रह कर सकती है।

परामर्श समितियाँ (Advisory Committees)—प्रत्येक निगम की एक-एक परामर्श समिति भी है जिसके (सभापति समेत) १५ सदस्य है जिनमे दो लोक सभा के, एक राज्य सभा का, ४ वाणिज्य मण्डलो के तथा ३ उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि भी सम्मिलित है। निगम द्वारा भेजे गए प्रश्नो पर विचार करना और तत्संबंधी परामर्श देना समिति का मुख्य कर्त्तव्य है। ये प्रश्न निम्नांकित हो सकते है :

(१) विमान यात्रियों को सुख-सुविधायें देना,
(२) निगम द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओ और सुविधाओं मे सुधार,
(३) विमान-सेवा सम्बन्धी समय-सारणी (Time-Tables),
(४) नए स्टेशन खोलने के प्रस्ताव, तथा
(५) जनता के हित और सुविधा से सम्बन्धित अन्य कोई प्रश्न।

श्रम सम्बन्ध समिति (Labour Relations Committee)—प्रत्येक निगम की एक श्रम सम्बन्धी समिति भी है जिसका उद्देश्य निगम और उसके कर्मचारियो मे अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना और निगम को कर्मचारियो के कल्याण सम्बन्धी प्रश्नो के सम्बन्ध मे परामर्श देना है। निगम और कर्मचारियो के बराबर-बराबर प्रतिनिधि समिति के सदस्य होते हैं। निगम अपने प्रतिनिधि मनोनीत करती है और कर्मचारी अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करते हैं। सदस्यो की नियुक्ति का अवधिकाल दो वर्ष है। भारतीय विमान निगम की समिति मे २० सदस्य हैं जिनमे से आधे निगम के मनोनीत प्रतिनिधि है।

विमान सेवायें

निम्नांकित मार्गों पर भारतीय विमान अनुसूचित सेवा प्रदान करते है :—

अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमे इत्यादि महाद्वीपो के बीच यह निगम १४ मार्गों पर साप्ताहिक यात्री सेवाएं और एक मार्ग, (कलकत्ता-लन्दन) पर साप्ताहिक माल सेवा सचालित करती है।

भारतीय विमान निगम—बम्बई केन्द्र से २३, कलकत्ता से २२ और ि से १६ सेवाएं प्रदान करती है। इनके अतिरिक्त इसकी ११ माल सम्बन्धी सेवाए भी हैं।

यातायात—गत वर्षों मे निगमो द्वारा ले जाया जाने वाला यातायात गया है और उसमे उत्तरोत्तर और भी वृद्धि होती जारही है। १९४७ से अब तक प्रगति नीचे के आंकडो से स्पष्ट होती है :—

अनुसूचित सेवाएं

वर्ष	उडानें (लाख मील)	यात्री (लाख)	माल (लाख पौंड)	डाक (लाख पौं
१९४७	९३ ६२	२ ५५	५६ ४८	१४·०५
१९५१	१९४ ६८	४·४६	८७६·६५	७१·८२
१९५६	२३४ ८३	५·५६	९६२ ३१	१२६ ८६
१९६०	२५०·५७	८ २४	७८४·६०	१४६ ११

अनियमित सेवाएं

वर्ष	उडानें (लाख मील)	यात्री (लाख)	माल (लाख
१९४७	४० ५१	०·६२	२९·९३
१९५१	६६·१४	०·६६	१३१६·२४
१९५६	५७·३३	१·१४	९७०·८६
१९६०	५८ ७६	० ९७	७५३ ९८

पंचवर्षीय योजनाएँ

(क) अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम ने चार कान्स्टलेशन विमानों से अपनी सेवा प्रारम्भ की थी। पाँच सुपर कन्स्टलेशन (Super Constellations) प्रथम योजना काल में और पाँच और द्वितीय योजना की अवधि में नये लिए गये। इनमें से एक १९५९ में दुर्घटना में खो गया। द्वितीय योजना काल में निगम ने तीन बोइंग ७०७ (Boeing 707) नामक जेट विमान खरीदे और एक के लिए आदेश दिया जो तृतीय योजना की अवधि में मिल सकेगा। इस भाँति निगम के पास इस समय तीन बोइंग और ९ सुपर-कन्स्टलेशन विमान हैं। तृतीय योजना में चार और जेट विमान मोल लिए जायेंगे। निगम के लिए योजना में १४·५ करोड़ रुपए नियत किए गए हैं जिनमें से १३·५ करोड़ रुपए विमानों के लिए हैं और शेष एक करोड़ रुपए शिल्पिशालाओं व विमानशालाओं के विस्तार तथा यंत्र-उपकरण लेने के लिए हैं। तृतीय योजना में बम्बई में जेट इंजन के कायाकल्प (Overhaul) के निमित्त एक केन्द्र स्थापित करने का भी विचार है।

(ख) भारतीय विमान निगम के पास द्वितीय योजना के प्रारम्भ में ९२ विमान थे जिनमें से ६६ डकोटा, १२ वाइकिंग, ६ इस्काईमास्टर और ८ हैरन थे। निगम ने द्वितीय योजना काल में वाइकिंग और हैरन विमानों को सेवा-क्षेत्र से सर्वथा हटा दिया और १० विस्काउंट विमान मोल लिए। डकोटा के स्थान पर ५ फाकर फ्रेंडशिप (Fokker Friendship) विमान भी निगम ने लिए। इस भाँति १९६०-६१ के अन्त में निगम के पास ५४ डकोटा, ५ इस्काईमास्टर और १० विस्काउंट विमान थे। द्वितीय योजना काल में विस्काउंट विमान के आगमन से निगम की कार्य-क्षमता और आय में अच्छी वृद्धि हुई तथा संचालन व्यय कम हो गया। तृतीय योजना में ४ विस्काउंट और २५ आधुनिक विमान डकोटा के स्थान पर लिए जायेंगे। दस डकोटा विमान तृतीय योजना के उपरान्त भी चालू रखे जायेंगे, जिन्हें माल सेवा के लिए प्रयुक्त किया जाएगा। योजना में १५ करोड़ रुपए निगम के लिए दिये गए हैं जिसमें से १० करोड़ रु० डकोटा विमानों के स्थान पर मध्यम आकार के नए विमानों के लिए तथा एक करोड़ रु० पुराने ४ विस्काउंट विमानों के लिए है। २·८ करोड़ रुपए निगम के मुख्यालय के भवनों तथा कर्मचारी निवास-स्थानों के निमित्त तथा शेष १·५ करोड़ रुपए शिल्पिशालाओं के यंत्र-उपकरणों एवं शिक्षण सुविधाओं के लिए हैं।

(ग) विकास कार्य—प्रथम और द्वितीय योजनाओं की अवधि में नागरिक विमान सेवा के निमित्त २४ करोड़ रुपए व्यय किए गए। प्रथम योजना में मुख्यतः हवाई अड्डों, संचार सुविधाओं तथा यंत्र-उपकरण इत्यादि की कमियों की पूर्ति पर जोर दिया गया। द्वितीय योजना ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात की माँग पूर्ति के अनुरूप सुविधायें बढ़ाने का यत्न किया, विशेषतः इस क्षेत्र में गत वर्षों के विधिक विकास और भारत के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से सम्बन्धित आवश्यकताओं

के लिए। इस समय भारत सरकार के ८५ हवाई अड्डे हैं और चार और बन रहे हैं। तृतीय योजना में २५.५ करोड़ रुपए नियत किए गये हैं जो निम्नांकित विषयों पर व्यय किए जायेंगे :—

	लाख रु०
भवन व हवाई अड्डे	१,८५०
वैमानिक तार-संचार	५०६
हवाई मार्ग व हवाई अड्डे	१००
शिक्षण सम्बन्धी यंत्र-उपकरण	८४
अन्वेषण व विकास यंत्र-उपकरण	१६
कुल	२,५५०

हवाई अड्डे—भारत सरकार का नागरिक उड्डयन विभाग ८५ हवाई अड्डों का पोषण करता है। विमानों द्वारा उड़ान लेने अथवा उतरने की सुविधाओं को ध्यान में रखकर भारतीय हवाई अड्डों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है :—

(क) शान्ताक्रूज (बम्बई), डमडम (कलकत्ता) तथा पालम (दिल्ली) अन्तर्राष्ट्रीय (International) अड्डे समझे जाते हैं जहाँ विदेश जाने वाले विदेशी विमान भी ठहर सकते हैं।

(ख) दूसरी श्रेणी बड़े (Major) हवाई अड्डों की है, जहाँ छोटे-बड़े सब विमान उतर-चढ़ सकते हैं। अगरतला, अहमदाबाद, बेगमपत (हैदराबाद), सफदरगंज (दिल्ली), गोहाटी, मद्रास (सेंट टामस माउण्ट), त्रिचुरापल्ली तथा नागपुर इस श्रेणी के अड्डे हैं।

(ग) मध्यम श्रेणी (Intermediate) के अड्डे निम्नांकित हैं इलाहाबाद, अमृतसर, औरंगाबाद (हैदराबाद), बागडोगरा (प० बंगाल), बलुरघाट बनारस, बड़ौदा, बिलगाँव, भावनगर, भोपाल, भुज, कोयम्बटूर, भुवनेश्वर (कटक), गया, इन्दौर, जयपुर, केशोद (जूनागढ़), अमावसी (लखनऊ), मदुराई, बाजपी (मंगलौर), मोहनबरी (आसाम), पटना, पोरबन्दर, राजकोट, त्रिवेन्द्रम, विजयवाड़ा, विशाखापत्तनम, जूहू, (बम्बई), चण्डीगढ़, कूचबिहार, गोरखपुर (कुसमी), कैलाशहार, कमलपुर, खोवाई, कुम्भीरग्राम, लीलाबरी (उ० लखीमपुर), पस्सीघाट, रूपसी।

(घ) शेष अड्डे लघु श्रेणी के समझे जाते हैं। अकोला, आसनसोल, बरेली, बिलासपुर, चकुलिया (बिहार), कडापा (आन्ध्र), डोनाकोंडा (मद्रास), रूसमी (गोरखपुर), झाँसी, झरसुगुडा (उड़ीसा), जब्बलपुर, काँधला, कुलू (कुल्ई), कानपुर, खण्डवा,

कोल्हापुर, कोटा, ललितपुर, मनीपुर रोड (असम), मैसूर, पालनपुर (दीसा), रायपुर, राजमुन्द्री, रामनद, रांची, सहारनपुर, शैला (असम), शोलापुर, तंजोर, उदयपुर, वेलौर, वारंगल, मालदा, रेवाघाट (मुजफ्फरपुर), पानागढ, पन्ना, सतना इत्यादि निम्न श्रेणी के हवाई अड्डे हैं।

प्रशिक्षण सुविधायें—नागरिक उड्डयन प्रशिक्षण केन्द्र इलाहाबाद में उड़ान सम्बन्धी प्रशिक्षण सुविधायें उपलब्ध हैं। इस केन्द्र के चार भाग हैं : (१) उड़ान स्कूल (Flying school), (२) हवाई अड्डे अधिकारियों के प्रशिक्षण का स्कूल (Aerodrome Officer's Training school), (३) इंजीनियरिंग स्कूल, (४) संवहन स्कूल (Communication school)। जनवरी-जून १९५४ मे ४७ व्यक्ति विविध प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त कर प्रथम बार यहाँ से निकले। लगभग ५० शिक्षार्थी प्रतिमास भर्ती होते हैं और इतने ही निकलते हैं। अक्टूबर १९६० तक यहाँ २७८ शिक्षार्थी शिक्षण पा चुके थे तथा ११२ शिक्षार्थी विविध प्रकार का शिक्षण पा रहे थे।

उड़ान क्लब (Flying Clubs)—देश में १७ सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त उड़ान क्लब हैं जिनके मुख्यालय दिल्ली, बम्बई, मद्रास, पटना, बर्कपुर, भुवनेश्वर, लखनऊ, (कानपुर, इलाहाबाद व वाराणसी मे उपकेन्द्र), जलन्धर, हैदराबाद, नागपुर, जयपुर, इन्दौर (भोपाल मे उपकेन्द्र), बंगलोर, गोहाटी, त्रिवेन्द्रम, कोयम्बटूर तथा बड़ौदा इत्यादि है। तीन सरकारी ग्लाइडिंग केन्द्र (Gliding Centres) पूना, बंगलौर और इलाहाबाद मे तथा दो सरकारी सहायता प्राप्त ग्लाइडिंग क्लब नई दिल्ली और पिलानी मे हैं। ये उड़ान क्लब शिक्षण के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं।

इन प्रशिक्षण सुविधाओं के फलस्वरूप अधिकाधिक भारतवासी विमान चालन तथा विमान पोषण सम्बन्धी योग्यता प्राप्त करते जारहे हैं।

वैमानिक संचार संगठन (Aeronautical Communication Organization)—यह नागरिक उड्डयन विभाग की एक शाखा है जिसका काम हवाई अड्डे से लेकर उड़ते हुए जहाज तक सूचना साधन प्रदान करना है। इस समय देश भर में ७५ वैमानिक सूचक केन्द्र हैं। सारे देश को संचार सुविधाओं के निमित्त चार क्षेत्रों मे बाँट दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र एक संचार नियन्त्रक (Controller of Communication) के अधीन है। इस व्यवस्था की तीन सहायक इकाइयाँ हैं : (१) रेडियो निर्माण इकाई; (२) रेडियो विकास इकाई, तथा (३) रेडियो भण्डार शाला (Radio Stores Depot)।

विमान निर्माण—द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने तक देश में विमान बनाने का कोई कार्यालय न था। केवल कुछ कम्पनियाँ मरम्मत का काम कर लेती थी। युद्ध प्रारम्भ होते ही विदेशों पर निर्भर रहना भयानक समझ कर इस ओर प्रयत्न करने का विचार हुआ। १९४० मे श्री वालचन्द हीराचन्द ने ४ करोड़ रुपए की पूंजी लगा कर हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड नामक कारखाना खोला। युद्धकाल मे इसे भारत

सरकार ने ले लिया और मरम्मत सम्बन्धी काम यहाँ होता रहा। अब यह एक निजी कम्पनी (Private Company) बन गई है जिसमे भारत सरकार और मैसूर राज्य की सरकार की साझेदारी है। इस कारखाने म अब विमान बनने लगे है तथा मरम्मत का काम बडे पैमाने पर होने लगा है। जनवरी १६५३ मे प्रथम विमान यहाँ से बन कर निकला जिसे स्वहन मत्री ने मान्य घोषित किया। आशा की जाती है कि आगामी १० वर्ष मे भारत विमान निर्माण मे स्वालम्बी हो सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते—युद्धोपरान्त काल मे भारत सरकार ने अनेक देशो के साथ वैमानिक समझौते किये हैं। सबसे पहला समझौता १६४६ मे सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के साथ हुआ था। इस समझौते के अनुसार दो अमेरिकन कम्पनियो को जिनके विमान भारत म चलते थे भारत से तृतीय देश तथा तृतीय देशो से भारत को यातायात ले जाने व लाने का अधिकार दिया गया था। इस अधिकार को पचम स्वतन्त्रता (Fifth Freedom) कहा जाता है। जिस समय यह समझौता हुआ था उस समय भारत की कोई अन्तर्राष्ट्रीय विमान सेवा न थी। १६४८ से भारतीय कम्पनियाँ विदेशो मे यातायात ले जाने लगी। अमेरिकन कम्पनियो के साथ हुआ यह समझौता भारतीय विमान सेवा के विकास मे बाधक होने लगा, क्योकि नई भारतीय कम्पनियाँ विदेशी कम्पनियो की प्रतियोगिता मे नही ठहर सकती थी। अतएव भारत सरकार ने इस समझौते के स्थान पर अमेरिका के साथ एक नया समझौता करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु अमेरिका ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। विवश होकर जनवरी १६५४ मे भारत सरकार ने अमेरिका को जता दिया कि जनवरी १६५५ से १६४६ का समझौता समाप्त कर दिया जायगा। अब उस समझौते का अन्त हो गया है।

१६४८ मे भारतीय विमानो द्वारा विदेशी सेवा चालू करने के उपरान्त अन्य देशो के साथ हुए प्राचीन समझौतो को बदल दिया गया था और नए समझौते इस प्रकार किये जाते रहे जो भारतीय विमान सेवा के विकास म बाधक न हो। ब्रिटेन, नीदरलैंड, आस्ट्रेलिया और फिलिप्पाइन के साथ पहले ही समझौते हो चुके थे जिन्हे बदल दिया गया था। अब नए समझौता मे भारतीय विमान सेवाओ के विकास का सदैव ध्यान रखा जाता है और भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम की सेवा उत्तरोत्तर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती जा रही है।

अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, लका, मिश्र, फ्रास, जापान, नीदरलैंड, पाकिस्तान, फिलिप्पाइन, स्वेडन, स्विट्जरलैंड, थाईलैंड, ईराक, सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के साथ नए समझौते हो चुके है।

सुधार के सुझाव

भारतीय विमान परिवहन के सन् १६५३ मे राष्ट्रीयकरण करने का मूल उद्देश्य इस व्यवसाय का कार्य-कौशल बढाने, उसका विकास करने तथा जनता को सस्ती सेवा प्रदान करने का था। वस्तुत: इन उद्देश्यो की प्राप्ति नही हो सकी। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त के वर्षों का अनुभव सर्वथा विपरीत स्थिति का सूचक है।

भारतीय विमान निगम (I. A. C.) को सरकारी स्वामित्व में आने के प्रथम वर्ष (आठ महीनों) मे ही ८० लाख रुपये की हानि हुई। सन् १९५४-५५ में यह हानि ६० लाख रुपए एवं सन् १९५५-५६ मे ११६ लाख रुपए हो गई। दोनों ही निगमो ने किराए-भाडे की दरें भी कई बार बढाई है। प्रबन्ध के उत्तम नमूने उपस्थित करने एवं कार्य-कौशल दिखाने में भी निगम सफल नही हुई। दुर्घटनाओ की संख्या भी बढती गई है। इस स्थिति मे सुधार के बहुधा निम्नांकित सुझाव दिए गए है, ताकि इस सेवा का वांछित विकास हो सके और इस सेवा को अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

(क) राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार करते समय राज्याध्यक्ष समिति ने केवल एक निगम बनाने का सुझाव दिया था। सरकार ने दो निगम बनाई। परिणाम यह हुआ कि अनेक क्षेत्रो मे दुहरे व्यय के कारण निगमो के वार्षिक व्यय बहुत अधिक होते चले गये और उनका संचालन हानिकर हो गया। अतएव प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) ने दो के स्थान पर एक निगम बनाने का सुझाव दिया है। संयुक्त-राष्ट्र, फ्रास एवं अन्य देशो मे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे एक ही विमान संगठन सेवा प्रदान करती है।

(ख) यदि भारत सरकार दोनो निगमो के स्थान पर एक निगम न बनाना चाहे तो उनके प्रबन्ध के लिए एक ही बोर्ड होना चाहिए। ऐसा करने मे कोई व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित नही होती, क्योकि दोनो निगमो के वर्तमान बोर्डों के नौ में सात सदस्य एक ही हैं।

(ग) देश मे अनियमित-सेवा संस्थाओ के लिए भी एक विस्तृत क्षेत्र है। अतएव सेवा के समुचित विकास के लिए गैर अनुसूचित संचालको को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(घ) देश मे योग्य व्यक्तियो के अभाव को देखते हुए जो प्रशिक्षित विशेषज्ञ देश मे हैं उनकी सेवाओ का पूर्ण एव समुचित उपयोग होना चाहिए। इसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि एक वैज्ञानिक अन्वेषण परिषद् स्थापित की जाए, जो अन्वेषण कार्य का एकीकरण कर सके।

(ङ) बढती हुई हानि को कम करने के यत्न शीघ्र होने चाहिएँ। संचालन में यथासम्भव मितव्ययता बरतनी चाहिए। कर्मचारियो की नियुक्ति, उनके वेतन-निर्धारण, विमान एवं अन्य आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने और मोल लेने मे दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए।

(च) अन्वेषण कार्य एव शिल्पशाला सुविधाओ के क्षेत्रो मे विमान निगमो को विमान बल (Air Force) से सहयोग करने से अपार लाभ की सम्भावना है।

(छ) सम्भव हो तो विदेशी विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्ति करके निगमो के सेवा-सचालन को लाभदायक बनाने की युक्तियो का पता लगाया जाए और तदनुसार कार्य किया जाए।

(ज) निगमो के केन्द्रीय संगठन मे भी सुधार की सम्भावना है।